निष्काम कर्म के आदर्श
प्रतिष्ठापक श्रीराम
निष्काम प्रेमी श्री
वर्ष ५४
निष्कामकर्मयोगाङ्क
संख्या १

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण' वर्ष-५४ (सन् १९८०)का विशेषाङ्क—'निष्काम-कर्मयोगाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंकी पाठ्यसामग्री है। सूची आदिके ८ पृष्ठ अतिरिक्त हैं। यथास्थान कई बहुरंगे चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कसहित रजिस्ट्रीद्वारा एवं जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको वी० पी० द्वारा ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार भेजा जा सकेगा।

३—कल्याणका वार्षिक शुल्क १६.०० रु० मात्र है, जो विशेषाङ्कका भी मूल्य है। मनीआर्डर-कूपनमें अथवा वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या कृपया स्पष्टरूपसे अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या स्मरण न रहनेकी स्थितिमें 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय'के पतेपर भेजें, किसी व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४—ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा। इससे आपकी सेवामें 'निष्काम-कर्मयोगाङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे सम्भवतः उसकी वी० पी० भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं; कृपापूर्वक प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—विशेषाङ्क—'निष्काम-कर्मयोगाङ्क' फरवरी १९८० के साधारण अङ्कके साथ सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग शीघ्रातिशीघ्र भेजनेकी चेष्टा करेंगे तो भी सभी ग्राहकोंको भेजनेमें लगभग ४-५ सप्ताह तो लग ही सकते हैं। ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही जायगा। इसलिये यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहक हमें क्षमा करेंगे। उनसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी प्रार्थना है।

६—आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफे (या रैपर) पर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये और उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

७—'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' तथा 'व्यवस्थापक—गीताप्रेस' के नाम अलग-अलग पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८—'कल्याण-सम्पादन-विभाग,' 'साधक-संघ' तथा 'नाम-जप-विभाग' को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद 'पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)'—इस प्रकार पूरा पता लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय'—पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

लि० रु० उं० रु—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। दोनों ही ऐसे प्रासादिक एवं आशीर्वादात्मक ग्रन्थ हैं, जिनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके नाना भयसे आक्रान्त, भोगतमसाच्छन्न समयमें तो इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है, अतः धर्मप्राण जनताको इन मङ्गलमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंको—जिनकी संख्या इस समय लगभग चालीस हजार है—श्रीगीताके छः प्रकारके, श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके एवं उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणीमें यथाक्रम रखा गया है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होवें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम २४९३०४ (ऋषिकेश, जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये सदाचार, सत्यता, सरलता, निष्कपटता, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३२ वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी थी। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनंदिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र .४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनंदिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये। संघसे सम्बन्धित सब प्रकारका पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये।

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण' सम्पादकीय विभाग, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय दिव्यतम जीवन-ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको पढ़कर भी अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारसे लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४५० (चार सौ पचास) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम २४९३०४ (ऋषिकेश, जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

'निष्काम-कर्मयोगाङ्क'की विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे-चित्र

रेखा-चित्र

कर्मयोगका उपदेश

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः (गीता)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता २ । ७१)

वर्ष ५४ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०५, जनवरी १९८० { संख्या १
पूर्ण संख्या ६२८

निष्काम-कर्मयोगकी महत्ता

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

(भगवान् श्रीकृष्ण, गीता ४ । १–३)

'मैने इस अविनाशी (निष्काम-) कर्मयोगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा । परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद यह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीमें लुप्तप्राय हो गया था। तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इसलिये वही यह पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुमसे कहा है । यह बड़ा ही उत्तम, रहस्य पूर्ण और गोपनीय है ।'

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

'जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्म-रूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी (कर्मफलोंसे) लिप्त नहीं होता ।' (गीता ५ । ७)

नि० क० अं० १—

विशुद्ध निष्काम-कर्मयोगसे अमरत्वकी प्राप्ति

अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद् यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन न कर्मणा भवति पाप पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। (बृहदा० उप० ४।५)

काममय एवं अकाममय यह ब्रह्म आत्मा है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ 'इदमय' (प्रत्यक्ष) और 'अदोमय' (परोक्ष) है, वह यही है। यह जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला है, वैसा ही हो जाता है। शुभ-कर्म करने वाला शुभ होता है और पापकर्मा पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है और पापकर्मसे पापी होता है। कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है, यह जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। (सकाम कर्म करनेवाला कर्मफल और निष्काम-कर्म करनेवाला नैष्कर्म्य प्राप्त करता है)।

तदेष श्लोको भवति—

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निसक्तमस्य।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानो॥

अथाकामयमानो योऽकामो निष्कामो आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति॥ (बृ० उ० ४।६)

उस विषयमें यह वेदमन्त्र या श्लोक कहा जाता है—इसका लिङ्ग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मके सहित प्राप्त करता है। इस लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्तकर उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः इस लोकमें आ जाता है। अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है। जो कामना न करनेवाला पुरुष है अब (उसके विषयमें कहते हैं,); जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको (नैष्कर्म्यको) प्राप्त करता है।

निष्काम-कर्मयोगसे परमात्माकी प्राप्ति

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥
(वाजसनेयि सं० ४। १)

शुक्ल-यजुर्वेद (वाजसनेयि-श्रुति) का पवित्र आदेश है कि ब्रह्माण्डमे देखने-सुननेमें यह जो चराचरात्मक प्राणियुक्त सृष्टि आ रही है, वह सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्व-कल्याण-गुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्य (आच्छादनीय) है, सदा-सर्वत्र उन्हींसे परिपूर्ण भाव है (गीता ९। ४ का यही मत है)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १०। ३९, ४२)। यों समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए—सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्मे त्यागभावसे केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही आत्मरक्षार्थ कर्म करते रहो और इन्हीं कर्मोद्वारा विश्वरूप ईश्वरकी पूजा करो। (विषयोमे मनको न फँसने दो, इसीमें तुम्हारा कल्याण निश्चित है (गीता २। ६४, ३। ९, १८। ४६)। वस्तुतः ये भोग्यपदार्थ किसीके भी नहीं है। मनुष्य भूलसे ही इनमे ममता और आसक्ति कर बैठता है।) ये सब परमेश्वरके है और उन्हींके लिये इनका उपयोग होना चाहिये। परमेश्वरको समर्पित—परमेश्वरसे प्राप्त प्रसादरूप पदार्थोका उपभोग करो; किसी अन्यके धनकी आकांक्षा न करो।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (ईशावा० उप० २)

(पूर्व-मन्त्रके कथनानुसार जगत्के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वमय परमेश्वरका सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हींका समझकर उन्हींकी पूजाके लिये) शास्त्रनियत कर्तव्यकर्मोका आचरण करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे'—इस प्रकार अपने पूरे जीवनको परमेश्वरके प्रति समर्पित कर दे। ऐसा समझे कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल परमेश्वरकी पूजाके लिये ही है, अपने लिये नहीं, भोग भोगनेके लिये नहीं। ऐसा करनेसे वे कर्म आपको बन्धनमें न डाल सकेगे। कर्म करते हुए कर्मोसे लिप्त न होनेका यही एकमात्र सरल, समान मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है (गीता २। ५०–५१, ५। १०)।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां जायते परमं पदम्॥ (योगवा० १। १। ७)

जैसे पक्षी दोनों पंखोंके सहारे आकाशमें उड़ता है, वैसे ही ज्ञान तथा निष्काम-कर्मके (शब्द एवं परब्रह्मके) अनुष्ठानद्वारा परब्रह्म-परमात्माके पदकी प्राप्ति होती है।

दैवपौरुषविचारचारुभिश्चेदमाचरितमात्मपौरुषम्।
नित्यमेव जयतीति भावितैः कार्य आर्यजनसेवयोद्यमः॥ (योगवा० २। ६। ४२)

पुरुषार्थ दैवसे श्रेष्ठ होता है, यह विचारकर सत्सङ्गादिके सहारे मोक्षप्राप्तिके लिये यथाशक्ति श्रेष्ठ कर्मानुष्ठान (निष्कामकर्म) करना चाहिये।

कर्तव्यमस्ति न ममेह हि किंचिदेव स्थातव्यमित्यतिमना भुवि संस्थितोऽस्मि।
संशान्तया सततसुप्तधियेह वृत्त्या कार्यं करोमि न च किंचिदहं करोमि॥ (योगवा० २। १०। ४४)

महर्षि वसिष्ठ कहते है—यद्यपि मेरे लिये कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं है, फिर भी शान्तबुद्धिसे लोकसंग्रहके लिये कर्मानुष्ठानमे संलग्न रहता हूँ। इस प्रकार मै कार्यरत रहकर भी कुछ नही करता।

कामद निष्काम कर्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण

(निगमागममें निष्काम कर्मयोगपर भगवत्पाद आद्यशंकराचार्यके विचार)

वेद नारायणमय या कृष्णस्वरूप हैं और कृष्ण वेदस्वरूप दोनो ही कामद (विहित मनोरथोंको पूर्ण करते हुए कामनाओंका अन्त करनेवाले) एवं निष्कामकर्मयोगके उपदेष्टा हैं और दोनोंके ही रहस्य परम निगूढ हैं—**'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।'** (श्रीमद्भा० ११ । ३ । ४३ । और **'उमा राम गुन गूढ़'** (मानस ३ । १) । इसी प्रकार गीता आदिके भाष्यकार एवं वेदभाष्य सायणके मार्गदर्शक आचार्य शंकर भी **'शंकरः शंकरः साक्षात्'**के अनुसार शिवावतार माने गये हैं । उन्होने वेद-वेदान्तादिक अनेक गूढ ग्रन्थोपर भाष्य लिखकर जिज्ञासुओंका महान् उपकार किया है । अस्तु ।

अथर्ववेदीय १९ । ५२के 'कामसूक्त'का **'कामस्तदग्रे समवर्तत'** आदि मन्त्र थोडे अन्तरसे ऋक् (१० । १२९ । ४०), तैत्ति०आरण्यक० (१ । २३ । १ । ४०), तै० ब्रा० (२ । ४ । १ । २ । ८९), नृसिंहतापनी (१ । १) आदिमें भी प्राप्त होता है, जिसमें तत्त्वतः द्वैतप्रपञ्च और अविद्यानाशपूर्वक कामापकरण एवं मोक्ष ही उपदिष्ट है । पुण्याचरण करने, बोलने आदिकी इच्छा—चेष्टा भी कामके अन्तर्गत हैं । आचार्यकृत परमश्रेष्ठ ग्रन्थ नृसिंहतापनीके भाष्यके अनुसार सृष्टिके प्रारम्भमें पुष्करपर्ण (कमलपत्र)पर स्थित प्रजापतिके मनमें विश्वसिसृक्षा (ससार रचनेकी कामना) उत्पन्न हुई । फलतः इसका प्रभाव पूरी सृष्टिपर पड़ा । इसलिये ससारी प्राणी तदनुसार संकल्प पूर्वक कुछ भी सोचता, बोलता एवं कार्य करता है ।

वस्तुतः भगवान् कृष्ण, विष्णु एवं नृसिंह, एक ही है—**विष्णुः कृष्णो हृषीकेशः** (अमरकोप) । विष्णुसहस्रनाममें भगवान् विष्णु या कृष्णके लिये 'कामद' पद आया है । भगवान् कृष्णको सभी जानते हैं । गोपियॉं बार-बार श्रीकृष्णके कराम्बुज आदिको **'प्रणतकामदम्'**, **'करसरोरुहं कान्त कामदम्'** (श्रीमद्भा० १० । ३१ । ५) कहती हैं । वैसे आपाततः **कामधेनु सतकोटि समाना । सकल कामदायक भगवाना**'का अर्थ कामदायक ही दीखता है । पर सन्तजन '<u>काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं</u>'का ही सिद्धान्त मानते हैं । अतः आचार्य (शंकर) एवं उनके अनुयायियोंने इसपर बहुत सूक्ष्म विचार किया है । आचार्यने गीताभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, प्रपञ्चसार, प्रबोध-सुधाकर आदि लिखकर जहॉं कृष्णके स्वरूपपर पूर्ण प्रकाश डाला है, वहीं उन्होंने 'कामद' एवं 'कामप्रद' पदपर भी गम्भीर विचार किया है । उन्होंने इन सभी ग्रन्थोमें सर्वत्र 'कामद' या 'कामप्रद' का अर्थ **'कामं द्यति खण्डयति इति कामदः'** कहकर कामदका मुख्यतः 'कामनाशक' अर्थ ही किया है; क्योंकि कामोपभोगमें तो केवल क्लेश, नरक, ज्वाला और अशान्ति है और निष्कामताद्वारा शान्ति, समाधि, सुख एवं पराशान्तिलक्षण—परनिर्वाणकी प्राप्ति होती है । यही भगवान् कृष्ण नृसिंहादिके साथ शिवकी भी कामराजकताका या **'कामहा कामकृत्कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः'** या **'नारसिंहवपुः मान्'** आदिका तात्पर्य है । इस प्रकार साक्षात् काम भी मोक्षकामी, कर्तृत्वभावशून्य निष्कामी संतोका परम मित्र ही है—**'सतो बन्धुः'** (नृसिंहता० १ । १) किंतु अन्य कामकामी अज्ञानियोके लिये तो वह बन्धनकारी है । यहॉं **'ज्योतिश्चरणाभिधानात्'** (ब्रह्मसूत्र १ । १ । २४)का शांकरभाष्य विशेष द्रष्टव्य है । आचार्यचरणने उपर्युक्त सभी मन्त्रोंमें ऋग्वेदकी उक्त (१० । १२९ । ४०) ऋचाकी विशेष महिमा बतलायी है और नारसिंह अनुष्टुभ् मन्त्रकी महिमा सम्पूर्ण तापनीमें ही प्रथित है ।

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं विश्वतो मुखम् ।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्योर्मृत्युं नमाम्यहम् ॥*

* मैं कल्याणमय उग्र, वीर, महाविष्णु, दिव्य तेजोमय, सर्वत्र व्याप्त, (दुष्टोंके लिये भीषण) मृत्युके भी मृत्यु भगवान् नृसिंहको प्रणाम करता हूँ । इसका विस्तृत भाष्य नृसिंहतापनीमें है ।

मूल उपनिषद्में इस ऋचाको चार पादोंमें विभक्तकर चारोंकी अलग-अलग महिमा निरूपित है। इसके प्रथम पादको 'ससागरा वसुधरा,' द्वितीय पादको यक्ष-गन्धर्वादि-सेवित 'अन्तरिक्ष,' तृतीय पादको रुद्रादित्य-सेवित 'वरुण' और चतुर्थ पादको 'निरञ्जन', परम व्योमरूप ब्रह्मका स्वरूप बतलाया गया है। इस मन्त्रके आठवें अक्षरको श्रीदेवीसे अभिषिक्त बतलाया गया है। जो इन्हें जानता है, वह भी ज्ञान, मोक्ष एवं ब्राह्मीश्रीसे अभिषिक्त हो जाता है। इसी प्रकार प्रणव एवं चौबीस अक्षरोंके मन्त्रकी महामहिमा है। पूरी पूर्वतापनीमें मन्त्रराजके अक्षरों एवं यन्त्रकी व्याख्या कर साधकको निष्कामकर्मयोगीके द्वारा विष्णुके उस परमपद—**'तद्विष्णोः परमं पदम्'**की प्राप्तिकी बात बतलायी गयी है। इसके ज्वलन्त उदाहरण आचार्य शंकरके परम अनुयायी वेदभाष्यकार आचार्य महीधर हैं। उन्होंने भी काशीमें अस्सीघाटपर रहकर आचार्यशंकरप्रदिष्ट इस मन्त्रकी आराधनासे सभी ज्ञान प्राप्त किये एवं 'मन्त्रमहोदधि' आदि अद्भुत ग्रन्थ लिखे थे—

अहिच्छत्रद्विजच्छत्रवत्सगोत्रसमुद्भवः। ………
महीधरस्तदुत्पन्नः संसारासारतां विदन्॥
निजदेशं परित्यज्य गतो वाराणसीं पुरीम्।
सेवमानो नरहरिं तत्र ग्रन्थमिमं व्यधात्॥
(मन्त्रमहोद० २५। १२१-२३)

नृसिंह उत्सङ्गमुद्रजा मां
समुद्रजाद्वीपगृहे निषण्णः। (-वही १२९)

'श्रीधरस्वामीके दिव्य ज्ञानमें भी यही उपासना हेतु थी—**'श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः।'** **'तं नृसिंहमहं भजे।'** इत्यादि (भागवतभावप्रकाशिका० १२। ३ टीका, उपोद्घात)। निष्कामताके सम्बन्धमें वेदभाष्यकार श्रीमहीधर भी आचार्य शंकरके 'प्रपञ्चसार'का अनुसरण करते हुए लिखते हैं कि वेद या तन्त्रके मन्त्र सकाम उपासकके शत्रु बन जाते हैं। अतः उनका उपयोग मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि सकाम कर्मोंमें कभी न करे—

शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः।
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रो न तस्मात् तत्परो भवेत्॥
(मन्त्रमहोदधि २५। ७३)

षट्कर्मोपासना-विषयक साधनका निर्देश प्राणियोंको मोक्षकी ओर अग्रसर करनेके लिये है (वही ७४)। सकाम उपासकोंको कथित फलमात्र ही मिलता है, पर निष्कामी साधककी सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं। देवता निष्कामियोंके पूर्ण वशीभूत हो जाते हैं, अतः निष्कामभावसे ही आगमोक्त मार्गोंसे देवोपासना करे—

काम्यकर्मप्रसक्तानां तावन्मात्रं भवेत्फलम्।
निष्कामं भजतां देवमखिलाभीष्टसिद्धयः॥
(मन्त्रमहो० ७५। ७६)

प्रायः ये ही बातें उन्होंने 'अद्भुतविवेक', 'नृसिंहपटल', 'कात्यायनगृह्यसूत्र', 'शुक्लयजुःभाष्य' 'षडङ्ग रुद्रभाष्य', 'पुरुषसूक्तटीका' 'मातृकानिघण्टु' आदिमें लिखी हैं।

इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि निष्कामकर्मयोगी साधक शनैः-शनैः समस्त प्रपञ्चोपशमपूर्वक, शान्त, शुद्ध-बुद्ध, अद्वय, निर्मल, स्वप्रकाश एवं शिवरूप होकर कृत-कृत्य हो जाता है[1]। यही तत्त्वतः कृष्णकी **'कामोऽस्मि भरतर्षभ', 'कामप्रदः प्रभुः'** आदिकी व्याख्या है[2]।

—जानकीनाथ शर्मा

१–द्रष्टव्य—पूर्वमीमांसा १०। ४। २२ तथा उत्तर-मीमांसा १। १। २४ 'ब्रह्म त परादात्' तथा—
'शुद्धान्तःकरणस्तेन लभते ज्ञानमुत्तमम्। जीवो ब्रह्मैव सम्पूर्णमिति ज्ञात्वा विमुच्यते॥

२–इसपर विशेष जानकारीके लिये इसी अङ्कमें प्रकाशित 'निष्कामताका पारमैश्वर्य' लेख देखें।

निष्कामप्रीतिकर्म आत्मसाक्षात्कारका सुगम साधन

(ब्रह्मलीन श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य अनन्त श्रीविभूषित स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थस्वामीजी महाराज)

हम उपनिषदोंकी 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—दुर्बल और क्षीण हृदयवालोंके लिये आत्मप्राप्ति असम्भव है—इस आज्ञाका स्मरण रखें। यहाँ हमें संख्याके न्यूनाधिक्यका विचार नहीं करना है, न स्वार्थकी भावनासे कोई कार्य करना है। हमारे हृदयमें यह प्रश्न भी न हो कि 'ऐसा करनेसे हमें क्या मिलेगा?' प्रश्न तो यह होना चाहिये कि 'भगवान्‌की भक्ति और प्रेमके लिये हम क्या अर्पित करें? यदि हम केवल आदान-प्रदानके भावसे ही काम करेंगे, तब तो व्यापारी लेन-देनसे अधिककी आशा नहीं रख सकते। इस प्रकार तो स्वर्गमें भी हमें उतना ही मिलेगा, जितना हमने यहाँ परिश्रम करके कमाया है। किंतु यदि हम श्रीभगवान्‌के प्रेमवश विश्वास और श्रद्धापूर्वक ही सब कार्य करें तो हमें उनका अपरिसीम प्रेम प्राप्त होगा। लाभ या लेन-देनकी दृष्टिसे भी वह इतना अधिक होगा कि मनुष्यकी बुद्धि ऊँची-से-ऊँची और सुन्दर-से-सुन्दर लोभकी कल्पना करके भी वहाँतक नहीं पहुँच सकती। अतः हमें उचित है कि भगवान्‌के उस अमूल्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिभर शत-प्रतिशत—पूर्णमात्रामें उनकी प्रेमपूर्ण सेवा और अपनी शक्तिभर, उनकी आज्ञाका अनुसरण करनेकी चेष्टा की जाय। इसका परिणाम यह होगा कि अपने नियमके अनुसार श्रीभगवान् जो असीम और अपार हैं, सौ फीसदी बदलेमें अपना प्रेम देंगे। दूसरे शब्दोंमें वे हमें अपने प्रति एकीभाव, सायुज्य मोक्ष प्रदान करेंगे।

निष्काम-कर्मयोगीके लिये कुछ आवश्यक कर्तव्य

[असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः]

(ब्रह्मलीन अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

'ईशावास्योपनिषद्'का प्रथम मन्त्र निष्काम-कर्मयोगियोंके लिये साधनाके प्राणभूत अध्यात्म-तत्त्वका उपदेश करता हुआ कहता है—

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात्—व्यास या परिपूर्ण पृथ्वीमे जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक है, वह सब परमात्माके द्वारा आच्छादित व्याप्त भावनीय है। जिस प्रकार अगरु आदिकी जलादिके सम्बन्धसे उत्पन्न गीलेपन आदिके कारण पैदा हुई औपाधिक दुर्गन्धि चन्दन आदिके घर्षणसे उसकी वास्तविक गन्धसे आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार स्वात्मामें अध्यस्त स्वाभाविक कर्तृत्वादि लक्षणोंवाला जगत् द्वैत-नाम-रूपात्मक आसक्ति, फलाशादि समस्त विकार-समूह परमार्थ-सत्यस्वरूप परमात्माकी भावनासे परित्यक्त हो जाते हैं, अर्थात् सभी आत्मस्वरूप हो जाते हैं। अतः उन सबका त्यागकर अपना पालन करना चाहिये। अपने या पराये किसी भी धनकी कामना-आकाङ्क्षा न करे। तात्पर्य यह कि निष्काम-कर्मयोगीको सभी सांसारिक एषणाओं-(पुत्र-एषणा, वित्त-एषणा एवं लोक-एषणाओं-)को त्यागकर ज्ञाननिष्ठाद्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिये और अगले द्वितीय मन्त्रानुसार कर्मयोगीको सौ वर्षोंतक जीते हुए निष्काम-कर्म अर्थात् शुद्ध धर्मका आचरण करते रहना चाहिये।

जो अभीतक सम्यक् ज्ञानी या निष्काम-कर्मी नहीं हुए है, उन कर्मयोगियोको भी अपनेको निष्कामता (कामत्याग) का अधिकारी बनानेके लिये संसारमे कार्यरत होते हुए तीन

बातोंका ध्यान अवश्य रखना चाहिये; पहली बात है—

'मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥'

परायी स्त्रियोंमें अपनी माताकी भावना होनी चाहिये। कर्मयोगीको परकीय द्रव्यको मार्गमें पड़े मिट्टीके ढेलेकी तरह समझकर उसका आदान नहीं करना चाहिये और सभी प्राणियोंको आत्मवत् समझना चाहिये। अर्थात् जैसे अपनेको इष्ट-अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति एवं मानापमानमें सुख-दुःखका अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरेको भी इन सबका अनुभव होता होगा, अतः उनके प्रति विपरीत आचरण नहीं करना चाहिये। इस विषयमें श्रीव्यासजीने एक बड़े महत्त्वका श्लोक कहा है, उसका सभीको अनुसरण करना चाहिये। वे कहते हैं कि सभी धर्मोंका सार सुनो और सुनकर उसे सदा याद रखते हुए, उसपर चलनेका निश्चय करो। देखो—जो आचरण अपनेको प्रतिकूल जँचता हो, वह दूसरेके प्रति न करो—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

मुख्य काम त्याग **'मातृवत् परदारेषु'**का उज्ज्वल उदाहरण हमें महाभारतमें मिलता है। वनपर्वकी कथा है—पाण्डव वनवासमें थे कि इन्द्रने अर्जुनको स्वर्ग बुलानेके लिये मातलिद्वारा रथ भेजा। अर्जुन उस रथसे स्वर्ग पहुँचे। वहाँ इन्द्रने बड़े आदरसे उनका आलिङ्गनकर अपने अर्धासनपर बैठाया। अर्जुनने सुखपूर्वक वहाँ रहकर युद्धमें विजय प्राप्त करनेमें सहायक अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की। एक दिन इन्द्रने अर्जुनके मनोरञ्जनके लिये उर्वशी आदि अप्सराओंका नृत्य कराया। उस समय अर्जुनने बिना किसी विशेष मनोभावके ही उर्वशीकी ओर कुछ विशेष देखा जिसका अर्थ इन्द्रने यह लगाया कि 'कदाचित् अर्जुन उर्वशीमें भाव चाहते है।' फलतः उन्होंने चित्रसेन नामक गन्धर्वसे कहलवा दिया कि 'आज रात्रिमें उर्वशी अर्जुनके पास जाय।'

उर्वशी अर्धरात्रिमें खूब सज-धजकर सोये हुए अर्जुनके पास गयी! इस प्रकार अपने कमरेमें उर्वशीको आया देख लज्जाके मारे अर्जुनकी आँखें बंद हो गयीं। उन्होंने उसे प्रणाम करते हुए आदरपूर्वक कहा—अप्सराओंमें श्रेष्ठ देवि! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, क्या आज्ञा है? दास सेवाके लिये प्रस्तुत है। यह सुनकर उर्वशी अत्यन्त आश्चर्यचकित हुई। चित्रसेनद्वारा इन्द्रसे कहलवाया, सभी बातें कहीं—तुम्हारे पिता इन्द्रने मुझको तुम्हारे पास तुम्हारी सेवा करनेके लिये भेजा है। तुम्हारे गुणोंसे मैं स्वयं आकृष्ट होकर कामभावोंसे पीड़ित हूँ, कृपाकर मेरा मनोरथ पूरा करो।' वीर अर्जुनको यह शास्त्र-वचन याद था कि नपुंसक हो जाना अच्छा, किंतु परस्त्रीगमन अच्छा नहीं—**'वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम्।'** अतः उसने बड़े नम्र शब्दोंमें उर्वशीसे निवेदन किया कि 'देवि! जैसे माता कुन्ती, माद्री और इन्द्राणी मेरे वंशकी जननी है, वैसे आप भी हमारी जननी और परम पूज्या है। अतः आपके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम करता हूँ। आप पुत्रकी तरह मेरी रक्षा करें और अब प्रसन्नतापूर्वक वापस चली जायँ—

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि।
त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया॥'

उर्वशीने यह सुनकर कुपित हो अर्जुनको शाप दे दिया—'तुम नपुंसक हो जाओ।' वीरवर अर्जुनने नपुंसकता स्वीकार की, किंतु **'मातृवत्परदारेषु'**का उल्लङ्घन नहीं किया।

आजकल स्त्रियोंको बड़ी स्वतन्त्रता—स्वच्छन्दता दी जा रही है। परपुरुषोंसे वे किसी प्रकारका संकोच नहीं करतीं। पुरुष भी उनके साथ रहनेमें किसी प्रकारके संकोचका अनुभव नहीं करते। यह स्थिति देशकी संस्कृति और सच्चरित्रताके लिये अवाञ्छनीय है। शास्त्र तो माँ और बहनके साथ भी एकान्तमें रहनेकी आज्ञा

नहीं देते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

अतः कर्मयोगी मुमुक्षु पुरुषोंको शास्त्रोंके इन नियमोंका पालन करना चाहिये, तभी सिद्धि मिल सकती है।

व्यासजीने भी अपने स्वरचित सभी पुराणोंका तात्पर्य एक ही श्लोकमें संकलित कर दिया है, वे कहते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात्—परोपकारसे पुण्य और परपीडासे पाप होता है।

संत तुलसीदासजीने भी इसीका अनुवाद करते हुए इसका पूर्ण समर्थन किया है—

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥'

निष्कामकर्मके साधकके लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये यम-नियम बताये गये हैं। इन सबका भी आदरसहित सेवन करना चाहिये। आजकल लोग 'शौच'से अर्थ हाथ-पाँवमें मिट्टी लगाना ही समझते हैं। किंतु शास्त्रमें 'अर्थशौच'का बड़ा महत्त्व है। मनुने कहा है कि मृत्तिका-जल-निमित्तक देहशौच, मनःशौचादि सभी शौचोंमें अर्थशौच अर्थात् अन्यायसे दूसरेके धनके अपहरणका परित्याग कर धनविषयक इच्छाको सबसे बड़ा शौच कहा गया है। जो अर्थके विषयमें शुद्ध है वही शुद्ध है; मृत्तिका-जलकी शुद्धि वास्तवमें शुद्धि नहीं है, जो अर्थके विषयमें अशुद्ध है तो वह अशुद्ध ही है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति)

देवीभागवतमें वर्णन आता है कि अपने यज्ञका दुष्परिणाम देखकर जनमेजयने त्रिकालज्ञ ऋषियोंसे उसका कारण पूछा। उन ऋषियोंने उत्तर दिया कि अशुद्ध धनसे यज्ञ सम्पन्न हुआ, इसीसे यह दुष्परिणाम हुआ। इसलिये साधकको अर्थशौचपर भी पूर्णरूपसे ध्यान देना चाहिये। अशुचि अन्नके सेवनसे मन अपवित्र होता है और उससे भाव दुष्ट होता है। दुष्ट भावसे मोक्ष प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। भीष्म पितामह कौरवोंकी ओर थे किंतु भाव पाण्डवोंकी विजयका था। शरीरके विपरीत दिशामें रहनेपर भी भावकी विजय हुई।

निष्काम-कर्मयोगीके लिये ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है। आजके लोग 'ब्रह्मचर्य'के महत्त्व नहीं समझ पाते। शास्त्रोंने उसे बड़ा महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि केवल क्रियानिवृत्ति ही ब्रह्मचर्यका विघातक नहीं, अपितु स्त्रीका स्मरण, उसके रूपादिका कीर्तन, उसके साथ क्रीडा, उसका दर्शन, उसके साथ एकान्तमें भाषण, उससे मिलनेका संकल्प, उसके लिये व्यापार तथा मिलनेपर क्रियानिवृत्ति—इन आठोंको विद्वान् लोग 'मैथुन' कहते हैं। कर्मयोगियोंको इन आठों प्रकारके मैथुनोंके त्यागरूप ब्रह्मचर्य-पालनका अनुष्ठान करना चाहिये। मुमुक्षुओंके लिये यह आवश्यक है।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

इस प्रकार कर्मयोगीके लिये शास्त्रोंमें जो मोक्षोपाय बताये गये हैं, उनका समादरपूर्वक अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये। साथ ही बड़ी दृढतासे भगवान्‌की शरण भी जाना चाहिये। फिर तो ज्ञानप्राप्ति, जीवन्मुक्ति एवं भगवत्प्राप्तिरूप शुद्ध कल्याण अवश्य प्राप्त होकर रहेगा।

('जगद्गुरुगौरव'से)

योगः कर्मसु कौशलम्

(जगद्गुरु शंकराचार्य दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'**— कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। अपने जीवनमें भी इस बातकी सत्यता सभीको ज्ञात है। और, जो कोई कर्म हो उसका फल भी अवश्यम्भावी है। शास्त्रविहित सन्ध्यादिका फल सुख है और शास्त्रनिषिद्ध मांस-भक्षणादिका फल दुःख होता है। सुख-दुःख भोगना ही भवबन्धन है। कर्मसे सुख-दुःख-भोग, भोगसे वासना, वासनासे फिर कर्म। इस प्रकार अनादि कालसे जो चक्र चलता आया है, उससे छूटना तभी सम्भव हो सकता है, जब हम ज्ञानद्वारा आत्माका यथार्थ स्वरूप समझ लें— **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'** ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मोंको जला देती है।

किंतु उस ज्ञानकी प्राप्ति सुलभतासे नहीं होती।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

'अनेक जन्मोंके पुण्यकर्मोंके कारण असंख्य मनुष्योंमें कोई एक ही आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करता है। श्रवणादि साधनोंसे प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई एक मेरे स्वरूपको तत्त्वतः जान जाता है। ज्ञान प्राप्त होनेपर किसी भी कर्मकी आवश्यकता नहीं रह जाती। लोकसंग्रहके लिये कृपावश ज्ञानियोंसे किये जानेवाले कर्म बन्धक नहीं होते, क्योंकि वे फल नहीं दे सकते। (योगवा० व्युत्पत्तिप्रक० अन्तिम अध्याय)

जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके कर्म अवश्य कोई-न-कोई फल देते है। साधारण मनुष्य ज्ञान पानेमें असमर्थ होते हैं और कर्म सर्वथा छोड़ नहीं सकते। ऐसी परिस्थितिमें वे कर्मफलरूप भवबन्धनसे छुटकारा कैसे पा सकते हैं? भगवान्‌ने इसका उत्तर गीतामें सुचारुरूपसे दिया है। ये कर्म यदि फलेच्छा छोड़कर भगवदर्थ किये जायँ तो बन्धक नहीं, मोक्षप्रद हो सकते हैं। उनसे चित्तकी शुद्धता प्राप्त होगी। चित्तशुद्धि प्राप्त होनेपर क्रियमाण श्रवणादि साधन आत्मज्ञानके साधक होते हैं। अहंकार और फलासक्तिसे जो क्रियमाण कर्म बन्धक होते थे, वे ही अहंकार और फलासक्ति त्यागकर किये जायँ तो मोक्षप्रद होंगे। इसी 'योग:'को गीतामें कर्मोंमें कौशल कहा है। अतः हम जो कोई कर्म करें, भगवत्प्रीतिके लिये करें, कर्मफलकी आशा छोड़ दें, कर्तृत्वाभिमान, अहंकार त्याग दें तो भगवान्‌की कृपासे पात्र बनके ज्ञान प्राप्त कर कृतार्थता प्राप्त कर सकेंगे। श्रीभगवान्‌ने ही कहा है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

निष्कामताका असीम आनन्द

संतुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्। कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥
सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः। शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। १६-१७)

'जो आनन्द संतुष्ट और कामनाओंसे मुक्त, अपनी आत्मा (परमात्मा)में रमण करनेवाले पुरुषको मिलता है, वैसा सुख कामलालसा तथा धनकी अभिलाषासे चारों दिशाओंमें दौड़नेवालेको कैसे प्राप्त हो सकता है? जिस प्रकार उपानहद्वारा कंटक तथा कंकड़-पत्थरोंसे पैरकी रक्षा होती है उसी प्रकार सदा संतुष्ट (कामनाहीन या निष्काम) मनवालेके लिये सभी दिशाएँ सुखद हैं, उसे कहीं दुःख नहीं है।'

निष्काम-कर्मयोगद्वारा भगवत्प्राप्ति

(पश्चिमाम्नाय द्वारका-शारदा-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अभिनवसच्चिदानन्द तीर्थ-महाराजके आशीर्वचन)

वेद-वेदान्त एवं शांकराद्वैतमतानुसार शुद्ध-बुद्ध आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे असंस्पृष्ट है । प्रकृतिके संसर्गसे ही उसमें कर्तृत्वादिका आरोप होता है । **'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** (गीता ५ । १४), **'शमः कारणमुच्यते'** (गी० ६ । ५) आदिमे भगवान् श्रीकृष्णने भी यही बात सुस्पष्ट की है । आदिशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें जैमिनिका बहुधा बड़ा आदर किया है । मीमांसकोंके मतसे अपूर्व कर्म (प्रभावक होनेसे) प्रकारान्तरसे ईश्वर ही है—**'कर्मेति मीमांसकाः ।'** इधर साक्षात् श्रीभगवान् भी अवाप्ति, अनवाप्ति, अवाप्तव्यता आदिसे परे होकर भी **'लोकसंग्रह'** निष्काम धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त रहते हैं—**'वर्त एव च कर्मणि'** (गी० ३ । २२) । अतः उभय मीमांसाके अनुसार धर्मानुष्ठान-क्रमसे ही **'ब्रह्मजिज्ञासा'**का अधिकारी होकर शनैः-शनैः वेदान्तके श्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा स्वरूपको प्राप्तकर वह कृतकृत्य होता है । यह बात **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** के भाष्य, भामती, कल्पतरु आदिमें सुस्पष्ट है । अतः मनुष्यको निष्काम-भावसे स्ववर्णाश्रमानुकूल धर्मका अनुष्ठानकर परमात्माको प्राप्तकर नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये ।

निष्काम-कर्मयोग और मोक्ष

(अनन्त श्रीविभूषित धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

शास्त्रोंने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिमें कर्मको ही प्रधान कारण स्वीकार किया है । कर्मका फल भोगनेके लिये ही जीवोंको जन्म, आयु और भोगकी प्राप्ति होती है । महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः** (योगसूत्र २।१३)। अविद्या, अस्मिता आदि पाँच प्रकारके क्लेश रहनेपर ही जीवको कर्मके विपाक—जाति, आयु और भोगके रूपमें प्राप्त होते हैं । कर्मका फल भोगनेके लिये जीव इधर पाञ्चभौतिक शरीर ग्रहण करता है और उधर उससे पुनः नवीन कर्म करके नवीन अदृष्टका संचय करता है तथा पुनः उसका फल भोगनेके लिये शरीर धारण करता है । **'कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।'** (पञ्चदशी १ । ३०) । जैसे प्राणी अनन्त-पारावारमें पड़ा हुआ एक भँवरसे दूसरीमें, दूसरीसे तीसरी भँवरमें पड़ता चला जाय, उसे कहीं विश्राम प्राप्त न हो, वैसे ही इस जन्ममरणाविच्छेदलक्षण अपार-संसार-समुद्रमे प्राणी एकसे दूसरे जन्ममे, दूसरेसे तीसरे चौथे जन्मोंमे—संसरणप्रवाह परम्परामें पड़ा हुआ बह रहा है, कहीं उसे विश्राम नहीं मिलता—

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरगासु ते ।
व्रजन्तो जन्मतो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥
(पञ्चदशी १ । ३०)

अहंता-ममतामें आसक्त प्राणी जन्मसे कर्म और कर्मसे जन्ममें बहा जा रहा है । चक्रमें फँसा हुआ जीव जैसे चक्रसे छुटकारा नहीं पाता, वैसे ही संसार-चक्रमें फँसा हुआ जीव भी इससे छुटकारा नहीं पाता—

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥
(अध्यात्मरामायण, रामगीता ७ । ५ । ५)

भगवान् श्रीकृष्णने भी इस लोकको कर्मबन्धन बताया है—**'लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** (गीता ३ । ९) । पर ये बन्धनकारक कर्म ही निष्कामतासे यज्ञार्थ सम्पन्न होनेपर ज्ञानके भी साधन बन सकते। हैं समत्वरूप योगका यही कौशल है कि बन्धन स्वभाववाले कर्म अपने स्वभावको छोड़ देते हैं । राग-द्वेष विहीन फल कामना शून्य समत्व-बुद्धिसे किये जानेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं, अतः समत्वबुद्धिसे अर्थात् फलाभिसंधिरहित होकर कर्म करना चाहिये । इसीलिये कहा है—**'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि-योगाद्धनंजय'** (गीता २।४५) । यही 'बुद्धियोग' है । यह सामान्य कर्मसे बहुत ऊँची अवस्था है । निष्काम-कर्मयोगीको केवल ईश्वर-पादारविन्दमें समर्पण-बुद्धिसे ही कर्म करना चाहिये । उसकी यह भी भावना न हो कि भगवान् इस कर्मसे हमपर प्रसन्न हों । फलतृष्णा कैसी भी हो, ठीक नहीं है । सच्चे योगीको फलतृष्णाशून्य होकर कर्म करनेपर समत्वबुद्धिजन्य ज्ञान-लक्षणा-सिद्धि भी प्राप्त हो, या न प्राप्त हो, उन दोनो अवस्थाओंमें भी समत्वबुद्धि रखकर ही कर्म करना चाहिये । यही कर्म-योगकी वास्तविक निष्कामावस्था है । इससे आगे चलकर नैष्कर्म्यावस्था उत्पन्न हो जाती है—

भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि सर्वप्रकारकी क्रियाओंकी उपरति ही मोक्ष है—**'ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ।'** (महाभा० १२ । १७५ । ३७) भगवती श्रुति भी यही कहती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
(कठोप० २ । ३ । १०)

अर्थात्—जहाँ अन्तःकरणसहित ज्ञानेन्द्रियोंकी सभी हलचल समाप्त हो जाय, वहीं परमगति (परमप्राप्य मोक्ष) है । इसी स्वरूपभूत मोक्षकी प्राप्तिके लिये भगवान्-ने अधिकारि-भेदसे गीतामें दो निष्ठाओंका उपदेश किया है । वे निष्ठाएँ हैं—(१) ज्ञानयोग और (२) कर्मयोग ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(गीता ३ । ३)

कर्मानुष्ठानके लिये अहंकार, कर्तृत्व और नानात्व बुद्धि अनिवार्य है । बिना इसके कर्म नहीं बन सकता । पर ज्ञाननिष्ठामे ये सभी कर्तृत्व आदि बाधित होते हैं । आत्मज्ञानके बिना मृत्युका अतिक्रमण नहीं हो सकता । भगवती श्रुति कहती है—**'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।'** (वाजसने० सं० ३१।१८) आत्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये एकमात्र ज्ञान ही मार्ग है, दूसरा नही । निष्काम-कर्मोंके अनुष्ठान करनेसे ये कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण होते हैं । अन्तःकरण शुद्ध होनेपर उससे राग-द्वेष अभिनिवेश आदि समाप्त होते हैं और स्वच्छ अन्तःकरणपर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका अपरोक्ष स्वरूप अभिव्यक्त होता है । ज्ञाननिष्ठा साक्षात् ही मोक्ष-प्राप्तिमें कारण है और कर्मयोग परम्परया; अर्थात्-कर्मयोगके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर तब ज्ञाननिष्ठा-प्राप्ति होती है और फिर मोक्ष प्राप्त होता है । इसी लिये भगवान्ने (गीता ५ । ५ में) कहा है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थात् दोनों निष्ठाओंसे अन्तिम फल वही भगवत्स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है । कालान्तरमे एक ही फलकी प्राप्ति होनेसे दोनो निष्ठाएँ एक समझी जानी चाहिये । श्रीमद्भगव-द्गीताके उपसंहार—(समाप्ति—)मे भगवान्ने अर्जुनको अपना अत्यन्त इष्ट (अनन्य प्रेमी) कहकर जिसे सर्वगुह्यतम-सबसे बडा रहस्य बताया है, वह है गीताके अठारहवे अध्यायके ६४, ६५, ६६ दो श्लोकोंमें उसका उपक्रम करते हुए भगवान् कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इसमें पहले श्लोकमें कर्मनिष्ठा और दूसरेमें ज्ञाननिष्ठा कही है। किंतु ज्ञाननिष्ठा बहुत कठिन है—'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः (गीता ५। ६)।' अतः ज्ञान-लक्षण संन्यासकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने निष्काम-कर्मयोग बताया है। निष्काम-कर्मयोगसे ज्ञान-निष्ठा प्राप्तकर प्राणी आत्मस्वरूप मोक्ष प्राप्त करता है। यही उसका निःश्रेयस्करत्व है।

निष्कामकर्मका फल भगवत्प्राप्ति

(पूर्वाम्नाय श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामी अनन्तश्रीविभूषित निरञ्जनदेवतीर्थजी महाराजका आशीर्वचन)

कर्म ही पुनर्जन्मका आधार है। उसका फल भोगनेके लिये ही पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कुछ आधुनिकोंका कथन है कि मनुष्य-योनि प्राप्त होनेके बाद आत्मा अन्य हीन योनियोंमें नहीं जाता। पर वस्तुतः यह कथन भारतीय दर्शन, धर्मशास्त्र और वेद-शास्त्रोंके सर्वथा विरुद्ध है। कर्मका फल भोगनेके लिये मनुष्य-जन्मके पश्चात् भी आत्माका हीन योनियोमे जन्म हो सकता है। इन सब बातोंमें किसी मत या व्यक्तिविशेषकी रायका कोई महत्त्व नहीं। धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्रके सिद्धान्त ही इस सम्बन्धमे मान्य होने चाहिये। जडभरत-जैसे महा-सिद्ध योगीको भी कर्मवशात् हरिणका जन्म लेना पड़ा और महाराज इन्द्रद्युम्नको हाथीकी योनि मिली। साक्षात् इन्द्रका पद प्राप्त होनेपर भी नहुषतकको सर्प बनना पड़ा। पृथ्वीमें जितने बालूके कण है, वर्षाकी जितनी धाराएँ और मानव-शरीरमे जितने रोम हैं, उतनी गायोंका दान करनेवाले राजा नृगको भी गिरगिट बनना पड़ा! शास्त्रोमे ऐसे हजारो उदाहरण भरे पडे है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य-जन्म प्राप्त होनेके बाद जीव अन्य किसी योनिमे नहीं आता?

हमारे संसारी रिश्ते-नाते चिरस्थायी नहीं, एक जन्म-तक ही प्रायः उनका सम्बन्ध रहता है। अवतारों, महापुरुषोंके परिकर और पतिव्रता स्त्रियाँ दूसरे जन्ममे भी अपने पूर्वजन्मके प्रभु एवं पतिको पुनः प्राप्त करते हैं। शेष सभी सम्बन्ध प्रायः भङ्गुर हैं। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने संसारसे वैराग्यका उपदेश देते हुए कहा है कि 'इस जन्मके माता-पिता, पुत्र-पौत्र, कलत्र, मित्र आदिकी चिन्तामे व्यस्त मनुष्यको सोचना चाहिये कि इससे पहले न जाने कितनी बार हमने जन्म लिये। उन जन्मोंमें भी माता-पिता, भ्राता, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी थे ही, किंतु आज वे सब कहाँ हैं और हम कहाँ हैं?

कति नाथ सुता न लालिता
कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि।
क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयं
भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः ॥

(शंकरदिग्वि० ५। ५३)

वस्तुतः ससारके नाते-रिश्ते ठीक उसी प्रकारके है, जिस प्रकार समुद्रमे तरंगोसे टकराकर आये हुए दो काष्ठ-फलक कभी एक दूसरेसे मिल तो जाते है, पर पुनः महोदधिकी उत्ताल-तरंगोसे ऐसे अलग हो जाते है कि फिर उनके स्वप्नमे भी मिलनेकी सम्भावना नहीं रहती। प्रायः सभी शास्त्रो, संत-महात्माओने सांसारिक सम्बन्धोंके विषयमे ऐसा ही मत अभिव्यक्त किया है। यद्यपि कभी प्रबल प्रारब्धवश एकसे अधिक जन्मोमे भी सम्बन्ध स्थिर हो सकते है, तथापि उन्हे अपवाद ही मानना पड़ेगा।

युक्ति और तर्कसे न तो कभी पाप-पुण्य या अच्छे-बुरेकी पहचान हुई है और न हो सकेगी। ये पाप-

पुण्य हमारे भावी जीवनको अवश्य ही प्रभावित और प्रमाणित करते है। इतना ही नही, इन्हींके अनुसार भावी जीवनका निर्माण होता है। इस जन्ममे किये हुए कर्मोसे ही भविष्यमे जन्म प्राप्त होता है। महात्मा लोग इस विषयमें एक उदाहरण देते है। कहते है कि एक महात्माका कोई धनिक व्यक्ति भक्त था। महात्माके पास भी लगभग एक लाख रुपये थे। महात्माने वे रुपये अपने धनी भक्तके पास रख दिये। एक बार आश्रम बनानेके लिये जब उन्होंने वे रुपये माँगे तो धनीने रुपये न दिये और महात्माकी हृदयगति बंद हो गयी। कहते हैं वही महात्मा सेठके पुत्र रूपमे उत्पन्न होकर—जैसे-तैसे अपव्यय द्वारा वे सब रुपये खर्च कर दिये और चल बसे। अतः महात्माओको भी सब प्रकारकी आसक्तिसे बचना चाहिये।

जीवनमे शान्ति भगवत्-प्राप्तिसे ही हो सकती है और भगवत्प्राप्ति निष्काम कर्मके द्वारा चित्तकी शुद्धि, उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रता तथा ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर ही हो सकती है। मनमे भगवान्का साक्षात्कार होता है। अन्तःकरणमे मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष होते हैं। पहला दोष मनकी 'मलिनता' है, जिसका कारण है—जन्म-जन्मांतर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमे किये गये शुभाशुभ कर्मोकी वासना। मैले कपड़ेको साबुन या क्षारसे धोनेपर जैसे उसमे स्वच्छता आती है, ठीक वैसे ही मनके मलिन संस्कारोंको धोनेके लिये शास्त्रविहित निष्काम कर्मकी आवश्यकता है। (उसीसे अन्य दो दोष भी दूर हो जाते है और प्रज्ञा-नैर्मल्यरूपी सिद्धि मिल जाती है।)

निष्कामकर्म मोक्षप्रद है

(जगद्गुरु शंकराचार्य तमिलनाडु-क्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अनन्तश्रीविभूषित चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती स्वामीजी महाराजके आशीर्वचन)

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः
परोपकाराय सतां विभूतयः॥
(उद्भटसागर, सु० भ०)

संसारकी कोई भी वस्तु वह चाहे चर हो अथवा अचर—निष्क्रिय नही रह सकती। यद्यपि पौधे, वृक्ष, नदी-नद, प्रस्तर-पहाड़—ये सब निष्क्रिय-से लगते है, फिर भी तत्त्वतः वे कर्मरत ही है। हमारी आपकी भाँति चाहे वे हाथ-पाँव न हिला पाते हो, फिर भी वे सभी गतिशील है। उनमें कुछ-न-कुछ परिणाम क्षण-प्रतिक्षण होता ही रहता है। इसका कारण उनमें निहित त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है। प्रकृति किसी भी पदार्थको गतिहीन—निष्क्रिय रहने नहीं देती। सबको कर्ममें बाँधे ही रखती है। नदी-नद अपना जल बहाकर संसारको जीवन-प्रदान करते रहते हैं। छोटे बीजसे निकला अङ्कुर बृहत् वृक्षाकार धरकर दूसरोको शीतल छाया, पुष्प-फल प्रदान करता है और निर्जीव एवं धूम-समूह समझे जानेवाले धाराधरकी सतत-कार्यपरता ही वर्षाके रूपमें दर्शन देती है। बिना स्पन्दनके खडे पर्वतोंपर भी बादल रुककर कल्याणकारी वर्षा करा देते है। जब जड़ और अचर माने जानेवाले ऐसे पदार्थ भी निरन्तर क्रियाशील हैं, तब हाथ-पैर रखनेवाले मनुष्यकी तो बात भी क्या? उसके तो काम करनेके तीन मुख्य माध्यम हैं—मन, वाणी और शरीर। अतः वह एक क्षणके लिये भी बिना कामके नहीं रह सकता। वह केवल पूर्ण समाधि या सुषुप्तिको छोड़कर, सभी अवस्थाओमें कोई-न-कोई चेष्टा करता ही रहता है। काम करनेके उसके साधन कर्मेन्द्रियाँ कही गयी हैं; और वे कार्यरत अथवा कर्म-परायणा रहती हुई मनुष्यका अभिन्न अङ्ग होती है।

मानव-जीवनके लक्ष्य अर्थधर्मादि चार पुरुषार्थ बताये गये हैं । मानवको इनका सम्पादन अवश्य करना चाहिये । इन चारोंका क्रम देखनेसे माल्रम होता है कि अर्थ और कामको आगे और पीछेसे धर्म और मोक्ष बाँधे खड़े हैं । इसका तात्पर्य यह है कि पहले धर्मको जीवन-भवनकी आधारशिला बनाकर उसपर अर्थ, कामका निर्माण करें, जिसका पर्यवसान मोक्ष हो । धर्म-विरोधी अर्थ या काम कथमपि उपादेय नहीं हैं । श्रीभगवान्ने गीतामें अपनेको 'धर्माविरोधी काम' कहा है । इस क्रममें एक दूसरी बात भी खुल जाती है कि मानव-जीवनका चरम और परम प्रयोजनफल मोक्ष है । अतः मानव जो भी कर्म करे, वह उसके मोक्ष-सम्पादनमें किसी-न-किसी रूपमें सहायक हो, यह आवश्यक है ।

हमारे वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञानके द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है । तब प्रश्न उठता है कि कर्म-प्रधान प्राणी ज्ञानको कैसे प्राप्त कर सकेगा । कर्म तो प्रकृतिका स्वभाव है, सहज लक्षण है । यह कर्म अनासक्तभावसे सम्पन्न होनेपर ज्ञानका सम्पादन बन जाता है । लौकिक एवं प्रवृत्तिमूलक कामनाओंको सावित करनेके हेतु कर्म नहीं करना चाहिये । यह कामना या विषयमें आसक्तिके, ज्ञान सम्पादनमें सबसे बड़ा विघ्न उपस्थित करती है । जीवमें स्थित ज्ञानको यह उसी तरह ढक लेती है, जैसे प्रकाशरूप अग्निको उसीके साथ उत्पन्न अन्धकार-रूप धुआँ घेरे रहता है, स्वच्छ दर्पणको मैल ढक लेता है और कुक्षिस्थ गर्भ अपने ही जेरसे (उल्बसे) आच्छन्न रहता है । भगवान् गीता (३ । ३८)में स्पष्ट बताते हैं कि—

> धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
> यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

इसलिये भगवान् (गीता ३ । १९)में परामर्श देते हैं कि—

> तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
> असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

यहाँपर असक्तका भाव सांसारिक इच्छाओंसे विरत होना और ईश्वरीय भावसे संयुक्त होता है । इस तरह निष्काम-भावसे जीवनका प्रत्येक मानसिक (संकल्पात्मक), वाचिक और शरीरका कार्य सम्पन्न करनेपर धीरे-धीरे सत्वशुद्धि या अन्तःकरणकी निर्मलता प्राप्त होती है । अग्निको ढका धुआँ छंट जाता है, दर्पण मलरहित बनता है और निर्मलचित्तमें ज्ञान-दीप अपने-आप प्रकाशित होता है । उस ज्ञानका प्रकाश होनेपर अर्थात् आत्माका स्वरूप ज्ञान होनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है । उसे जीते-जी ही मुक्ति (जीवन्मुक्ति) या मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

प्रकृतिजन्य शरीर सदा क्रियाशील है । अतः जीवन्मुक्त लोगोंको भी जीवन-धारणपर्यन्त कुछ-न-कुछ काम करते ही रहना पड़ता है ; वे महानुभाव अपने आचारसे भूले-भटके साधकोंका मार्ग-दर्शन करते रहेंगे । उनके द्वारा सम्पन्न होनेवाले सभी कर्म लोक-कल्याणके लिये होते हैं । वैसे लोग सन्यास ग्रहण किये बिना ही परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं । विदेह राजाजनक-जैसे लोग ऐसे ही परमपदको पा गये हैं । श्रीभगवान् कहते हैं—

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
> (गीता ३ । २०-११)

वे अर्जुनको ललकारते हुए-से कहते हैं—

> न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
> नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
> (गीता ३ । २२)

'अर्जुन ! मुझे ही देखो न, तीनो लोकोंमें मुझे कुछ भी करना नहीं है । कोई भी चीज मेरे लिये

अलब्ध या अलभ्य नहीं है। फिर भी मैं कर्मोमें बरतता हूँ।' इससे स्पष्ट है कि मानव-जीवनको सफल बनानेके लिये कर्मसे बढ़कर उत्तम साधन नहीं है। किन्तु वे कर्म अनासक्तभावसे, ईश्वरभावसे लोककल्याणकी दृष्टिसे किये जाने चाहिये। तभी प्रकृतिजनित विकार क्रमशः दूर होकर अन्तःकरण शुद्ध बन पाता है और शुद्धान्तःकरणके द्वारा ज्ञान-प्राप्ति और परमपद मिल जाते है। चरम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त होता है। हमारे चारों ओर विराजमान प्रकृति—नदी-नद, वृक्ष, बादल, साधु-महात्मा आदि, सूर्य, चन्द्र, पवन, अग्नि वगैरह ऐसी उदात्त निष्काम-सेवाके ज्वलन्त उदाहरण हैं। हाँ, यह कार्य कुछ कठिन अवश्य है। इसके लिये बडे धैर्यसे, संयमसे, विफलताओंसे निराश न होकर, कदम-कदम आगे बढाना होगा। परस्पर अविश्वास, विद्वेष, द्रोह, चिन्तन, स्वार्थ-सम्पादन आदिसे संक्षुमित वर्तमान, दिशाहीन, कातर मानवताके लिये इस निष्काम-कर्म-योगको छोड़कर दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

निष्काम-कर्मयोग और ज्ञानयोग

(ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराजका प्रसाद)

भारतीय वाङ्मयमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामसे चार पुरुषार्थोंका वर्णन मिलता है। इन चारोंमें मोक्षरूप पुरुषार्थ ही परमपुरुषार्थ माना जाता है। ब्रह्मज्ञानसे सविलासाज्ञान निवृत्त हो जानेसे मुक्त पुरुष पुनः संसारचक्रमें नहीं लौटता—**'न स पुनरावर्तते'**। मोक्षका साक्षात् कारण श्रौतमहावाक्यजन्य तत्त्वज्ञान है—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (शुक्लयजुः ३१। १७) अर्थात्—महा-मृत्युके अतिक्रमण एवं मोक्ष-प्राप्त्यर्थ तत्त्व-ज्ञानातिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है।

भगवान् शंकराचार्य श्रीमद्भगवद्गीता भाष्यके उपोद्घातमे लिखते हैं—**'तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणम्। तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञान-निष्ठारूपाद् धर्माद् भवति।'** संक्षेपमे गीताशास्त्रका प्रयोजन कारणसहित ससारकी अत्यन्त उपरति-रूप परमनिःश्रेयस है और वह सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्म-ज्ञान-निष्ठारूप धर्मसे ही प्राप्त होता है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ओर प्रायः कोई भी ससारी प्राणी कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गीतामे सामान्य-वचनके रूपमें कहते हैं—**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (३। ५) निदान, ससारी प्राणी अवश्य ही कुछ-न-कुछ कर्म करेगा ही। फिर उसे उसके कर्मोके फलके भोगनेके लिये भोगायतन—शरीरकी प्राप्ति भी अनिवार्यतः होगी। ऐसी स्थितिमे जन्म-कर्मका चक्र निरन्तर चलता रहेगा', तब तो फिर मोक्षकी कथा भी सर्वथा असम्भव-दोष-ग्रस्त होनेके कारण साधन-भजन-ध्यान-ज्ञान आदि सब व्यर्थ होंगे, जिससे मोक्ष एवं उसके साधनकी ओर किसी भी विवेकशील पुरुषकी प्रवृत्ति न हो सकेगी। किं बहुना, मोक्षप्रतिपादक शास्त्र भी नामावशेष ही रह जायँगे। इस प्रकारकी शङ्काके समाधानार्थ आनन्दकन्द सर्वज्ञ शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णने ही श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोमे उद्धवादि भक्तोको विभिन्न स्थलोमें विविध ढगसे समझाया है। गीतामें भी भगवान् कहते है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(गीता १८। ५)

यज्ञ-दान-तप-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, अपितु विहित कर्म करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञादिकर्म मनीषियोंके सत्त्वशुद्धिका सम्पादन करनेवाले होते हैं। भगवान् शंकराचार्य इसका भाष्य करते हुए लिखते हैं—'**पावनानि विशुद्धिकरणानि मनीषिणां फलानभिसंधीनाम्**' अर्थात्—किये हुए कर्म कर्मफलेच्छा-रहित होकर कर्म करनेवालोंके अन्तःकरणको पवित्र करते हैं।

गीताके भाष्यके उपोद्घातमें आचार्य शंकर लिखते हैं—'**अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमांश्चोद्दिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसंधिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते।**'

अर्थात्—वर्ण एवं आश्रमोंके उद्देश्यसे अभ्युदयार्थ विहित प्रवृत्तिलक्षणधर्म यद्यपि देवादिस्थान अर्थात् स्वर्गादि स्थान साधन है, तथापि फलाभिसंधिरहित हो ईश्वरार्पण-बुद्धिसे अनुष्ठित होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि करता है और शुद्धान्तःकरणमें ज्ञान-निष्ठ योग्यता सम्पादित करता हुआ, ज्ञानोत्पत्तिद्वारा परम कल्याण-(मोक्ष-)का कारण होता है। भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'उद्धवजी! वेदादिशास्त्रोंमें मनुष्योंके कल्याणार्थ अधिकारी-भेदके तारतम्यसे मैंने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-संज्ञक तीन योगोंका कथन किया है, इसके अतिरिक्त कहींपर भी अन्य कोई साधन नहीं है।' तात्पर्य यह कि उत्तम, मध्यम, निकृष्ट—ये तीन प्रकारके शास्त्रानुसारी अधिकारी हैं। उत्तमके लिये (कर्मत्याग पूर्वक) ज्ञानयोग, मध्यमके लिये भक्तियोग तथा निकृष्टके लिये कर्मयोगका उपदेश है। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि कर्म भी शास्त्रविहित ही विवक्षित है और वह भी निष्काम; अतएव श्रीधरस्वामी उक्त श्लोककी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'**कर्म च निष्कामम्**'। भगवान् कृष्ण गीतामें भी अपने उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
(६। ३)

इस प्रकार निष्काम-कर्म अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा तत्त्वज्ञानका कारण है—उपाय है। योग शब्दका अर्थ भी उपाय है—'**योगाः—उपायाः ब्रह्मदैवतकाण्डैः प्रोक्ताः**'(—श्रीधरस्वामी) अतः निष्काम-कर्म व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रके कल्याणका कारण होता हुआ तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमें योग्यता-सम्पादन करता हुआ परम्परया मोक्षका साधन है। यह शास्त्रीय सुनिश्चित सिद्धान्त है।

निष्काम कर्मका फल

ज्ञानसे निवृत्ति या प्रवृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। निवृत्ति ज्ञानका परम्परागत साधन अवश्य है, किंतु ज्ञान होनेके पश्चात् तो वह प्रारब्धाधीन है। अर्जुन तो गीतोक्त ज्ञान प्राप्त करके युद्ध-जैसी दुष्कर प्रवृत्तिमें तत्पर हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानके पश्चात् निवृत्ति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है, प्रवृत्तिका नहीं; वह निवृत्तिका उत्पादक भी नहीं है। ज्ञानके पश्चात् जीवन्मुक्ति-सुखके लिये निवृत्तिपरायण होना निष्कामकर्म और भक्तिका फल है।

—ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी उड़ियास्वामीजी महाराज

अनासक्तिकी साधना

(—महात्मा गाँधी)

'मैंने गीताके दूसरे अध्यायको उसे समझनेकी कुञ्जी कहा है और इसका सार हम एक वाक्यमें यह देखते हैं कि 'जीवन सेवाके लिये है, भोगके लिये नहीं।' इसलिये हमें जीवनको यज्ञमय बना लेना चाहिये। मात्र समझ लेनेसे ही वैसा हो नहीं जाता। पर किसी बातको जानकर आचरण करते हुए हम उत्तरोत्तर शुद्ध बनते हैं। किंतु 'सच्ची सेवा किसे कहा जाय ?', यह जाननेके लिये इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। ऐसा करनेसे हम उत्तरोत्तर सत्य-रूपी परमात्माके निकट पहुँचते जाते हैं। युग-युगमें हमें सत्यके अधिक दर्शन होते हैं। सेवा-कार्य भी यदि स्वार्थकी दृष्टिसे किया जाय तो वह यज्ञ नहीं रहता। इसलिये अनासक्तिकी परम आवश्यकता है। इतना जान लेनेपर हमें किसी दूसरे-तीसरे वाद-विवादमें नहीं पड़ना पड़ता। 'भगवान्‌ने क्या अर्जुनको सचमुच ही स्वजनोंको मारनेका बोध दिया था ? क्या उसमें धर्म था ?' इत्यादि प्रश्न फिर नहीं उठते। अनासक्ति आनेपर हमारे हाथमें किसीको मारनेकी छुरी होते हुए भी, सहज ही वह हाथसे छूट पड़ती है। पर अनासक्तिका आडम्बर करनेसे वह नहीं आती। हम प्रयत्न करें तो आज आवे या हजारों वर्ष प्रयत्न करनेपर भी न आये—इसकी भी चिन्ता हमें छोड़नी होगी। प्रयत्नमें ही सफलता है। प्रयत्न सचमुच करते हैं कि नहीं, इसकी हमें पूरी निगरानी रखनेकी आवश्यकता है। इसमें आत्माको धोखा न होना चाहिये, और इतना ध्यान रखना तो सबके लिये शक्य ही है।"

('गीताबोध'के 'कर्मयोग'से)

कर्मयोगका मूल मन्त्र

(संत आचार्य विनोबा भावे)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे[1]॥

(ईशोप० २)

श्रुतिका कथन है—('मनुष्यको) इस लोकमें ईश्वराराधनपूर्वक कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी कामना करनी चाहिये। तुझ देहवान्‌के लिये इससे भिन्न मार्ग नहीं है। इससे आत्मामें कर्म संसक्त नहीं होता। वासना चिपकती है। कर्म जड़ पदार्थ है, अतः उसमें लेप—कर्तृत्व नहीं हो सकता। लेप होता है, चेतनमें। उसकी वासना या इच्छा—फलेच्छाकी आसक्तिसे; आसक्ति न हो तो मनुष्यमें आसक्ति क्योंकर हो ? परधनाकाङ्क्षा पापवृत्ति है। उसके विरुद्ध सेवा या कर्मनिष्ठाकी वृत्ति है। इस मन्त्रका पूर्व एवं प्रधान मन्त्रसे भी प्रयोजन है। सर्वत्र ईश्वरबुद्ध्या आकाङ्क्षा, अभिलाषा, इच्छा न होनेपर कर्तव्य-बुद्ध्या कर्म करते जाना निष्काम-कर्मयोगकी साधना है।

'कुर्वन् एव जिजीविषेत्' (ईश्वराराधनपूर्वक कर्म करते हुए ही जीये)। कर्मयोग ही जीवन है, ऐसा श्रुति सूचित करती है। इस लोकमें ऐहिक जीवनका पारमार्थिक दृष्टिसे भी मूल्य है; क्योंकि ऐहिक जीवन परमार्थकी एक कसौटी है। जिसका ऐहिक जीवन पावन नहीं है, उसके पारलौकिकका क्या पूछें ? अगला मन्त्र इसका विवरण करता है[2], पर सभी दृष्टियोंसे प्रधानता है प्रथम मन्त्रकी ही।

१–ईशा० उ० २। २–द्रष्टव्य—ईशावास्योप० मन्त्र ३।

'जिजीविषेत् शतᳬ समाः'—ईश्वराराधनपूर्वक कर्म-योग-निष्ठासे परस्पर सेवा-भावनासे मानवसमाज शतजीवी हो, ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। कोई बिल्कुल परिश्रम न करे और उससे दूसरोंपर अत्यधिक भार पड़े—इससे दोनोंकी ही आयुका क्षय होता रहता है। जैसे नींबूका सैकड़ा १२० का, पत्तलोंका ११२का और नाम-स्मरणका १०८ का मानते हैं, उसी तरह आयुर्मानका सैकडा ११६ वर्षोंका मानें—ऐसी शिक्षा श्रीकृष्णको घोर आङ्गिरस ऋषिद्वारा दी गयी छान्दोग्योपनिषद् (३। १६)-में आती है। उस योजनामें पहले २४ वर्ष अध्ययनके, बीचके ४४ वर्ष कर्मयोगके और अन्तके ४८ वर्ष चिन्तनके माने गये हैं। गौतमादिके धर्मशास्त्र आश्रम-विभाग-व्यवस्थासे इसे ही स्पष्ट करते हैं।

'त्वयि'—माँ जैसे बच्चेको तूंकारसे संबोधनकर आज्ञा देती है, वैसे ही इस मन्त्रमें तथा इसके पहलेके मन्त्रोंमें श्रुतिने हमें प्रत्यक्ष आज्ञाएँ दी हैं। सहज ही ऐसे वचन अन्य सामान्य बोध देनेवाले वचनोंसे अधिक बलवान् माने जाते हैं।

'इतः' (यहाँसे) संसारमें रहते हुए। संसारमें होते हुए कर्मयोगके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है; क्योंकि—

'न कर्म लिप्यते नरे'—कर्म मनुष्यसे चिपक नहीं सकता। यह एक महान् सिद्धान्त है। कर्म जड़ है, मनुष्य चेतन। मनुष्यसे वह कैसे चिपके। मनुष्य यदि स्वयं उसे चिपका ले तो बात अलग है। (मनुष्यमें वासना होती है, अतः वह उसे चिपका लेती है। वासना न हो तो कर्म न चिपके। यही है—'न कर्म लिप्यते नरे'का तात्पर्य।)

'नरे'-नयतीति नरः'—इस व्युत्पत्तिसे नर शब्द नेतृत्व-सूचक माना है। मनुष्य कर्मोंका नेता है, कर्मको वह अनुशासित करनेवाला है। कर्म उसे क्या बाँध सकता है! भगवान्ने कहा ही है—'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (द्रष्टव्य-गीता ४। १४)। तो फिर अन्य नर भी उसीका अनुभव लें। भगवान्का ठीक तात्पर्य अगले पादमें है—'न मे कर्मफले स्पृहा।' स्पृहा ही लेपका मूल कारण है।

'प्रस्तुत मन्त्रकी कर्मनिष्ठाकी विधि क्या ज्ञानी पुरुष-पर लागू होती है?' इस विषयमें ब्रह्मसूत्रमें तात्त्विक चर्चाको उठाया गया है। निर्णय दिया है कि विधिके नाते खास ज्ञानी पुरुषके लिये यह नहीं कहा गया है। सामान्यतया सभीके लिये कहा है। ज्ञानी पुरुष उसके अनुसार चले तो उसे कोई बाधा नहीं। उलटे उससे उसके ज्ञानका एक प्रकारसे गौरव ही है; क्योंकि उसकी कर्मनिर्लेप-स्थिति उससे सम्भवतः अधिक ही शोभा पायेगी' (ब्रह्मसू० अ० ३। ४। १३-१४)। ऐसे ही ज्ञानियोंसे लोक-संग्रहका आदर्श प्राप्तकर संसार कर्मयोगके मार्गपर अग्रसर होता है। गीताके कर्मयोगका स्मरण करानेवाला, गीतासे पहलेका इतना स्पष्ट वचन कोई दूसरा नहीं पाया जाता। अतः कर्म यदि कोई निष्कामकर्मयोगनिष्ठाका वैदिक मूल मन्त्र सीखना है तो यही—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳬ समाः।'

कर्म साधन और ईश्वरप्राप्ति साध्य

प्रकृतिका धर्म है कि वह तुमसे कर्म करा ही लेती है, चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो। जब ऐसा ही है, तब कर्म पूरी तरहसे क्यों न किया जाय? कर्म अवश्य करो, परंतु उसमें आसक्त न रहो। अनासक्तभावसे किया गया कर्म ईश्वरप्राप्तिका साधन है। अनासक्त कर्मको साधन और ईश्वर-प्राप्तिको साध्य वस्तु समझो।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

निष्काम-कर्मयोग भारतीय दर्शनका चरम उत्कर्ष

(महामहिम श्रीगणपतिराव देवजी तपासे राज्यपाल, उत्तरप्रदेशका संदेश)

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष है कि गीताप्रेस, गोरखपुरने अपने आध्यात्मिक उद्देश्योंके विस्तार-स्वरूप एक 'निष्काम-कर्मयोगाङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय किया है।

निष्कामकर्मयोग भारतीय दर्शनका चरम उत्कर्ष है तथा उसकी उपलब्धियाँ विरक्त संन्यासियोंके जीवनमें ही नहीं, वरन् श्रीकृष्ण-जैसे राजनयिककी महान् सफलताओंमें भलीभाँति परिलक्षित होती हैं। हमारे देशवासी उसे भुलाकर स्वार्थलिप्सा तथा भौतिक चकाचौंधकी मरीचिकामें जबसे भटक गये, तभीसे हमारा राष्ट्रिय पतन आरम्भ हुआ। राष्ट्रिय पुनर्निर्माणके इस युगमें सांस्कृतिक पुनर्निर्माणके कार्यको सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी; क्योंकि बिना आध्यात्मिक आधारशिलाके हमारा कोई भी निर्माण न सफल होगा और न स्थायी ही होगा।

मैं कल्याणद्वारा आयोजित 'निष्काम-कर्मयोगाङ्क'की व्यापक सफलताके लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

निष्काम भक्ति या कर्म

(पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश)

'निष्काम'कर्म शब्दका साधारण अर्थ है—बिना किसी इच्छा या कामनाके सत्कर्म करना। वैसे कर्म करते रहना तो हमारा स्वाभाविक धर्म है, लेकिन उसमें भी हमारा कर्म या भक्ति यदि बिना किसी इच्छाके हो, कोई चाह विशेष न हो तो अति सुन्दर। भक्त भगवान्से प्रार्थना करता है कि मेरी कोई इच्छा या चाहना नहीं है; मेरे सारे कर्म आपकी ही इच्छाके अनुकूल और केवल आपकी ही इच्छापर निर्भर है, मैं कुछ नहीं चाहता। इस प्रकार भगवान्के प्रति अपने कर्मका समर्पण हो तो इसमें कैसा सुख मिलता है, यह वर्णनातीत है। भक्त उसका मन-वाणीसे वर्णन नहीं कर सकता, वह सुख ब्रह्मका आनन्द या ब्रह्मानन्द कहा गया है। इस आनन्दका वर्णन उपनिषद्में इस प्रकार है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥

इस मन्त्रका अभिप्राय यह है कि जिस ब्रह्मानन्दको मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ न पाकर लौट आती हैं, मन और वाणीकी शक्ति नहीं कि उसका वर्णन कर सकें। इस वर्णनातीत ब्रह्मानन्दको वही प्राप्त कर सकता है, जो निष्काम-कर्म या निष्काम-भक्ति करता है। ऐसा महापुरुष परब्रह्म परमात्माके उस आनन्दको जानता और समझता है और कभी भी किसीसे भय नहीं खाता। निष्काम-भक्ति या कर्मकी यही महत्ता है। यह तो उपनिषद्-युगकी बात हुई जो अति प्राचीन है, लेकिन इस आधुनिक युगमें भी इसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासने रामायणमें इन शब्दोंमें किया है—

बचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
(रामच० मा० ३। १६)

अपने संवादके क्रममें श्रीराम अपने अनुज प्रिय लक्ष्मणके प्रति कहते हैं कि सकलकामना-त्यागपूर्वक जो मन, वचन और कर्मसे मेरी शरणमें हैं, उनके हृदयमें मेरा निवास होता है।

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

उपर्युक्त शब्दोंमें वे और भी स्पष्ट करते हैं कि जो भक्तजन मेरा गुणानुवाद करते हुए पुलकायमान हो जाता है; जिसके मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका विकार नहीं है, उसी निष्काम-भक्तके हृदयमें मेरा निवास होता है।

बन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

इस प्रकार अनेक प्रसङ्गोंमें निष्कामताकी बड़ी महिमा गायी गयी है। निष्काम बननेके लिये सभी हमारे कर्म भगवान्‌को समर्पित होने चाहिये और बदलेमें कोई चाहना या वासना नहीं होनी चाहिये।

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

काम-वासना ही हमें एक बाधा उपस्थित करती है, जिसका सदा त्याग करना चाहिये, तभी हमारे कर्म एवं भक्ति निष्काम होंगे। निष्काम-कर्म अथवा भक्तिकी महिमा अद्वितीय है।

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी, एडवोकेट)

श्रीनिम्बार्क-साहित्यमें निष्काम-कर्मयोगका स्वरूप

(—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्री'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा विभिन्न पुराणोंमें एवं वाणी-साहित्यमें निष्काम-कर्मयोगका विपुलरूपसे प्रतिपादन हुआ है। वैष्णव-साहित्यमें भी उक्त प्रसङ्गका विशद विवेचन मिलता है। निम्बार्क-साहित्यके साम्प्रदायिक शास्त्रोंमें विविध स्थलोंपर निष्कामपरक निरूपण किया गया है और कर्मयोगपर सर्वाधिक बल दिया गया है। यहाँ इस सम्बन्धमें श्रीगीताके निम्नलिखित दिव्य उपदेश भी मननीय हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(९। २७, ११। ५५, १८। ९, २३, ५७, ६६)

मुण्डकोपनिषद् (३। २। १) के—'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः' —इस वचनसे भी यही स्पष्ट होता है। अध्यात्मरामायण एवं श्रीरामचरितमानसमें भी निष्कामताका निर्वचन है—

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥
नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान् भवेत्॥
(अध्यात्मरामा०, उत्तरकाण्ड, ५। ९-१०)

नमामि भक्त वत्सलं। कृपालु शील कोमलं॥
भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं॥
(रामच० मा० ३। ३)

उपर्युक्त तथा महाभारतका निम्नलिखित वचन भी इसी ओर इङ्गित करता है—

कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा
एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत।

नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी
नरः प्रवृत्तो न परं प्रयाति ॥

इस दिशामें श्रीमद्भागवत-महापुराणके एकादश स्कन्धमें वर्णित नवयोगेश्वर तथा श्रीकृष्णोद्धवसंवादका प्रसङ्ग भी परम कल्याणकारी एवं मननीय है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ४६)

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १०—११, ३५)

इन उपर्युक्त वचनोंसे स्पष्ट है कि निष्काम-कर्मयोगसे उन परात्परब्रह्म रसघनविग्रह भगवान् श्रीराधासर्वेश्वरकी सहज कृपा हो जाती है। वस्तुतः मानवके जीवनमें जहाँ किसी इहलौकिक या पारलौकिक कामनाकी यत्किंचित् भी गन्ध रहती है, वहाँ उन करुणार्णव श्रीसर्वेश्वरकी स्वाभाविक सहज कृपा नहीं बरसती। अतः साधकके अन्तर्मानसमें सर्वविधरूपसे उन मङ्गलमय त्रिभुवनविमोहन प्रभुकी मधुरमनोहर रूपमाधुरीके पान करनेकी विशुद्ध उत्कण्ठा उत्पन्न हो और तदर्थ निष्काम होकर भगवद्विषयक श्रीभगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म किया जाय। यथासाधन उद्यानसे तुलसीपत्र-पुष्प-फलोंका चयन कर स्वाराध्यको समर्पण करे और आराधक संमार्जनीसे मन्दिरको स्वच्छ करे, गोमयके आलेपनसे सुसंस्कृत करे और पवित्र तीर्थोदक या कूपोदकसे श्रीप्रभुका अभिषेक कराये और विविध सुगन्धित सुन्दर पुष्पोंका शृङ्गार धारण कराये, उन्हे पवित्रतापूर्वक निर्माण किया हुआ नैवेद्य अर्पित करे; आदि-आदि। ये सभी कर्म श्रीप्रभु-प्रसन्नतार्थ ही सम्पन्न हों। ये सामान्य कर्म भी महान् निष्काम-कर्मयोगकी परमोच्च स्थितिके द्योतक हैं। महाराज अम्बरीष राज्यसंचालन करते हुए अपने उपास्यदेवके लिये सभी कर्म निष्कामरूपसे उपर्युक्त विधिसे सम्पादित करते थे, जो महान् निष्काम कर्मयोगियोंमें अन्यतम थे। निम्बार्क-सम्प्रदायके सभी आचार्यप्रवरों एवं सन्तोंने निष्काम-कर्मपरक ही अपनी आराधना स्थिर की है। श्रीनिम्बार्क-भगवान्‌ने तो दशश्लोकीमें **'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'**, एवं **'उपासनीयं नितरां जनैः सदा'** कहकर निष्काम-कर्मका ही उपदेश किया है। आपने तो—

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च
कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् ।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्ते-
र्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ॥
(वेदान्तकामधेनु, दशश्लोकी—श्लोक १०)

उपर्युक्त श्लोकमें जो 'निष्काम-भावनाका संकेत सकामकर्मादिके निषेधात्मक रूपमें प्रतिपादित किया है, वह श्रीनिम्बार्कभगवान्-प्रणीत 'वेदान्तकामधेनु', दश श्लोककी प्रसिद्ध रचना है। इसकी विस्तृत व्याख्या 'वेदान्तरत्न-मञ्जूषा'में श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी महाराजने इसके सातवें श्लोककी व्याख्या करते हुए निष्काम-कर्मयोगका जो स्वरूप उपदिष्ट किया है, वह सुन्दर विवेचन अवश्य द्रष्टव्य है। आप लिखते हैं—**'तत्र कर्मयोगस्त्रिविधः। नित्यनैमित्तिककाम्यभेदात् । तत्राहरहः संध्यामुपासीत, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिना नित्यकर्तव्यतया विधीयमानानि संध्योपासनजपस्नानतर्पणादीनि नित्यानि । एवं यज्ञदानाध्ययनानि द्विजाग्र्यसाधारणानि। तेषां त्रयाणां तु निष्कामतयानुष्ठानं नित्यत्वं सकामतयानुष्ठाने च वृत्तित्वमिति विभागः। तच्च याजनादिनापि यावद्देहयात्रामात्रमेवादानम् । अधिकं तु प्रतिग्रहः । अन्यथा दानस्य तृतीयस्य वैयर्थ्यात् । अतएव षट्कर्मकत्रिकर्मकद्विजातिविभागो ब्राह्मणस्य षट्कर्मकत्वं क्षत्रियवैश्ययोस्त्रिकर्मकत्वं चेति । अथेन्द्रियनिग्रहतीर्थसेवनोपवासफलाहारदेहशोषणान्नदानादीनि सर्वसाधारणानि कर्तृत्वाद्यभिमानशून्यैर्मुमुक्षु-**

भिरनुष्ठितानां तेषां मलःशुद्धिपरम्परया ज्ञानभक्तिजनकत्वेन मोक्षसाधकत्वम्। सकामत्वेनानुष्ठीयमाने च काम्यकर्मकोटावन्तर्भाव इति विवेकः। अथ केनचित् कालादिविशेषनिमित्तेन विधीयमानं श्राद्धादिकं कर्म नैमित्तिकम्। 'स्वर्गकामो यजेत्यादिना सकाममधिकृत्य विधीयमानानि काम्यानि। तत्तु काम्यानां निषिद्धवत् संसारहेतुत्वाविशेषान्मुमुक्षुभिस्तानि हेयान्येव।'

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्काचार्य परम्परानुवर्ती तत्पीठाधीश्वर आचार्यप्रवर जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताकी 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक व्याख्यामें अध्याय ९, श्लोक २७ के संदर्भमें जो विवेचना की है, वह भी हृदयंगम करने योग्य है—

'अहो महान् भक्तेः प्रभावो यतो महाविभूतिरनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकोऽपि भवान् भक्त्यार्पितमतिफल्गुपत्रपुष्पाद्यपि अश्नाति। हन्त! तर्हि भक्तस्यासाधारणं धर्मं वद येनाहमपि त्वद्भक्तः स्यामित्यत आह—यत्करोषीति। यत्स्वाभाविकं लौकिकं किंचित् कर्म करोषि। तथा यद्यदत्सि, यत्तपस्यसि। उपलक्षणमेतत्सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणाम्। तथा च यत्किंचित्स्वभावप्राप्तमाहारविद्वारेक्षणादिकं यच्च शास्त्रविहितं होमदानव्रतस्नानादिकं सर्वं कर्म मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व। कर्मकर्तृत्वमुपायमुपेयं च सर्वं मय्येवार्पयित्वा निर्भरत्वभजनपूर्वकं स्वस्यैहिकामुष्मिकस्य सर्वस्य शुभाशुभस्य मदधीनत्वव्यवसाय इति मदनन्यभक्तासाधारणो धर्मस्तस्मात्त्वं मदाराधनैकनिष्ठो मय्यर्पितसर्वस्वो भवेति भावः।'

'ईशावास्योपनिषद्'के द्वितीय मन्त्रकी व्याख्या करते हुए श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यप्रवरोंने निष्कामकर्म-सम्पादनपर ही बल दिया है—यथा—

विषयतृष्णारहितस्य मुमुक्षोः ब्रह्म विद्याङ्गभूतं स्वोचितनिष्कामकर्मानुष्ठानं कार्यमिति द्वितीयमन्त्रेण विधत्ते—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनिषद् मन्त्र २)

कर्माणि स्वोचितानि श्रौतानि स्मार्तानि च निष्कामानि ब्रह्मविद्याहेतुकानि कुर्वन्नेवेह लोके शतं समाः शतवर्षपर्यन्तं जिजीविषेत्। पुरुषव्यत्ययः, प्रकरणात् त्वं जिजीविषेः जीवितुमिच्छेः नोचितकर्मत्यागे वैगुण्यं ध्वनयन्नाह एवमिति। इतो हेतोस्त्वय्यन्यथा नास्ति, उक्तप्रकारेण त्वयि वर्तमाने कोऽपि दोषो नास्तीति भावः। ईश्वराधीनोऽहमिति ज्ञानबलेन त्वयानुष्ठितानि भगवदाज्ञापालनरूपनिष्कामकर्माणि न जन्मादिफलोत्पादकानि भविष्यन्तीति ध्वनयन्नाह 'न कर्म लिप्यते नरे।'

रसिकराज श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने भी 'श्रीमहावाणी' ग्रन्थमें इस भावको बड़े मधुर पदोंमें व्यक्त किया है—

हमें बलि बड़ौ यही है पोष।
दम्पति की परिचर्या ही करि पावैं परम संतोष॥
दिनहिं लाड़िली लाल लड़ैंलो धरि उर और न ओष।
श्रीहरिप्रिया सुखी कृति आगें तुच्छीकृत सब मोष॥
और न अभिलाषत कोउ उर या ही रस में मन रसौ।
नित्य मेरे हियें हिलिमिलि दोऊ श्रीहरिप्रिया बसौ॥

(महावाणी, सहजसुख पद २०, २४)

इसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीने निष्काम-कर्मविषयक विवेचना अपने 'श्रीपरशुरामसागर'में की है—

कर्म कष्ट हठ सठ करैं, नाम हीण नर होय।
परसादास न भर्मई, प्रकट सुपति कौ खोय॥

(श्रीपरशुरामसागर प्रथमख० दो० ९)

आपकी ही परम्परामें प्रकट हुए श्रीगोविन्दशरण देवाचार्यजीने भी अपने वाणी ग्रन्थमें—

मन हरि की सुरन सख पाइये।
सब बिधि आनआस तजि भाई हरि ही के गुन गाइये॥

आदिमें यही भाव व्यक्त किये हैं।

वास्तवमें श्रीनिम्बार्क-दर्शनके ब्रह्म सभी जीवोंके स्वामी श्रीराधामाधव ही हैं। अतः एकमात्र (तत्सुखसुखित्वम्) उनकी सेवा तथा सुखमें ही अपनेको सुखी मानना विहित है। इसमें जीवकी स्वयंकी कामनाको कोई स्थान नहीं है। निष्कर्ष यह है कि निष्काम-कर्मयोग एक प्रकारसे निम्बार्कदर्शनके प्राण हैं।

नाथयोगके परिप्रेक्ष्यमें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

ससार कर्मभूमि है। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके प्रारम्भमे ही कर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रका संकेत किया है, जो धर्मक्षेत्रका पर्याय है। भगवदर्पित कर्म ही निष्काम-कर्मयोग है। महाभारतके युद्धक्षेत्रको निमित्त रूपमें प्रयुक्तकर गीताके उपदेशामृतमें इसका प्रतिपादन किया गया है। योगाचार्य और सिद्ध-महात्मा भगवदर्पित कर्मको यज्ञरूपमे ग्रहण करते हुए अनासक्तिपूर्वक कर्मयोगकी पारमार्थिक अथवा निष्काम धरातलपर उपयोगिता स्वीकार करते है। उन्होने मानवमात्रको निष्काम योगके प्रशस्त राजपथपर चलनेकी प्रेरणा दी है। नाथयोगके क्षेत्रमें संत योगी ज्ञानेश्वरकृत गीताकी 'ज्ञानेश्वरी' टीकामें भी इस तरहका निर्देशन उपलब्ध होता है। ज्ञानेश्वरी नाथयोगका प्रतिपादन करनेवाली श्रीमद्भगवद्गीताकी अप्रतिम टीका है। इसका महत्त्व कर्म, ज्ञान और भक्तिके सगमपर सर्वमान्य है।

नाथयोग द्वैताद्वैत-विवर्जित अवधूतवादका प्रतिपादन करता है। इसमें कर्म, ज्ञान और भक्तिकी पृथक्-पृथक् भूमिकाकी स्वीकृति नही है। इनमे तीनोको स्वरूपतः एक मानकर मात्र अलख निरञ्जनके साक्षात्कारपर बल दिया गया है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति अपने निष्काम साधनोद्वारा कैवल्य—परममोक्ष या परमात्म-साक्षात्कारके लिये न्यूनाधिक अंशमें साधन अथवा सोपानके रूपमें आवश्यकता अथवा सापेक्षताके स्तरपर स्थिति-विशेषमें वरेण्य कहे गये है।

भगवान् गोरखनाथजीने मोक्षप्रद योगमार्गकी सिद्धिकी दिशामें यद्यपि कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगको प्रकारान्तरसे वरीयता प्रदान की है, तथापि उनके द्वारा निर्दिष्ट शिवशक्तिसंगम-योगके द्वारा स्वसंवेद्य परब्रह्म महाशिवकी प्राप्तिकी दिशामें तीनोकी निरपेक्षता भी कम महत्त्वकी बात नहीं है। इस निरपेक्षतामे भी पारमार्थिकता ज्यों-की-त्यो सुरक्षित है। इसका प्रतिपादन ज्ञानेश्वरी टीकाका भी विचार-अनुक्रम है। गोरखनाथजीने कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग सभीको जगदीशके भजनके सार्थक अङ्गके रूपमें स्वीकार कर इतना ही कहना पर्याप्त समझा है कि—

> पाप पुन करम का बासा। मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा॥
> जोग जुक्त जब पाओ ग्यांन। काया षोजो पद नृबांन॥
>
> (प्राणसकली—२)

गोरखनाथजीने भगवत्प्राप्तिके मार्गमे किसी भी शास्त्रसिद्धान्तका खण्डन न कर सभीका मण्डन अथवा प्रकारान्तरसे समर्थन करते हुए स्वसंवेद्य परमतत्त्वकी प्राप्तिपर बल दिया है। उन्होने कहा है—

> सकल विधि ध्यावो जगदीस
>
> (नरवै बोध ६)

'जगदीश्वरका प्रगाढ ध्यान करना ही निष्काम कर्मयोगका महत्तम फल अथवा सिद्धि है।' महामहिम योगिराज गम्भीरनाथजीने अपने वचनामृतमे कहा है कि आत्मज्ञानमे प्रतिष्ठा ही योगका परम उद्देश्य है और गीता सब युगोका सच्चा ग्रन्थ है। सब युगोके सभी प्रकारके मनुष्योके जीवनको चरम सार्थकता—परमार्थ-(निष्काम कर्मयोगकी सम्पूर्ण सिद्धि-)मे प्रतिष्ठित करनेके लिये गीता ही अलम् है। पर उसमे योगका भगवान्ने सबसे अधिक उदार अर्थमें प्रयोग किया है। जिस-किसी उपायसे चित्त विशुद्ध और आत्मनिष्ठ हो जाय, उसकी बहिर्मुखता और बहुमुखता निवृत्त होकर अन्तर्मुखता और एकमुखता आ जाय, कर्म, ज्ञान भावसमन्वित होकर एकरूप हो जाय, साधक

आत्मप्रतिष्ठित हो जाय, वही योग है । निष्काम हो जाना ही परमार्थमें प्रतिष्ठा है । इसके बिना प्राणी आत्मतत्त्वकी अनुभूति नहीं कर सकता ।

'सिद्धामृतमार्ग'में स्वरूपचिन्तनको राजयोगकी संज्ञा प्रदान की गयी है । इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगके निष्काम-पारमार्थिक रूपका समन्वय सहज-सिद्ध है । व्यवहारगत निष्काम-कर्मयोगका अनासक्ति और फलप्राप्तिमें निःस्पृहापूर्वक आचरण ही निष्काम-कर्मयोगका स्वारस्य है । शोकसंविग्नमानस, कर्मविमुख अर्जुनको सत्प्रेरणा देनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने सम्पूर्ण गीतोपदेशके माध्यमसे निष्काम-कर्मयोगका अद्भुत धर्मक्षेत्र अथवा कुरुक्षेत्रमें पुण्यक्षेत्र प्रशस्त किया । इसमें स्थित रहनेपर प्राणीको श्री, विजय और विभूति-श्रेयकी प्राप्ति अनिवार्यरूपसे होती है । अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे याचना की थी कि जो श्रेय है, उसे निश्चयपूर्वक बतानेकी कृपा कीजिये । श्रीमद्भगवद्गीताकी यही माङ्गलिक जिज्ञासा है—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।'

(२ । ७)

—और भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णने इस श्रेयकी पूर्ण प्रतिष्ठा निष्काम-कर्मयोगमें स्थापित की । आत्माकी अमरता अथवा शाश्वत नित्यताका उपदेश देकर निष्काम-कर्मयोगके आचरणमें जीवात्माका श्रेय, माङ्गलिक अभ्युदय सुरक्षित किया । उन्होंने कहा कि कर्म करते हुए फलकी स्पृहामें आसक्त न होना ही निष्काम-कर्मयोग है । महायोगी गोरखनाथने जीवनके श्रेयपर प्रकाश डालते हुए कहा है—

गते न शोकं विभवे न वाञ्छा
प्राप्ते न हर्षं हि करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो
न बाध्यते कालपथेन नित्यम् ॥

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ९०)

योगी (निष्काम-कर्मयोगी) धनादिके नष्ट हो जानेपर दुःख नहीं मानता, न धनादिके मिलनेसे प्रसन्न ही होता है । वह तो सदा परिपूर्ण परमात्माके ज्ञानमें लीन रहता है, मृत्युसे बाधित नहीं होता है, अमर हो जाता है । इसका एकमात्र कारण यही है कि अपने द्वारा आचरित कर्ममें उसकी फलस्पृहा नहीं रहती । वह अपने आचार-विचारको भगवदर्पित समझते हुए महायोग—ज्ञानमें तल्लीन रहकर जीवनका श्रेय प्राप्त करता है । योगाभ्यासके द्वारा योगीका मन विषय-भोगोंमें अनासक्त रहकर निष्काम-कर्मयोगकी सिद्धिका साधन बन जाता है और वह परमात्म-चिन्तनमें ही निरन्तर रमण करता है । वह समस्त आशाओंका परित्यागकर निष्काम हो जाता है । ऐसे ही निष्काम-कर्मयोगीके लिये गोरखनाथ-जीका वचनामृत है—

निसप्रेही निरदावै पेलै गोरष कहीयै सोई ।

(गोरखबानी सबदी १९५)

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें काम्य-कर्मोंके न्यासको ही संन्यासकी संज्ञा दी है । यदि विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट है कि यह कर्मन्यास अथवा संन्यास ही निष्काम-कर्मयोग है, जो अर्जुनद्वारा पूछे गये श्रेयका परम तात्पर्य अथवा इष्ट समाधान है । भगवान्ने कर्मयोगके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए गीताके अन्तिम अध्यायमें निष्काम-कर्मयोगका महत्त्वाङ्कन किया कि अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

(गीता १८ । ४५)

निष्काम-कर्माचरण भगवान्की पूजा है । यही फल-स्पृहासे अतीत निष्काम-कर्मयोगमें अधिष्ठित होना है । श्रीकृष्णने कहा कि जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति है, जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने कर्मोंद्वारा पूजाकर मनुष्य परमसिद्धि-को प्राप्त करता है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

यह सिद्धि ही निष्काम-कर्मयोगका परम फल है। भगवान्‌ने आश्वासन दिया है कि इस तरह स्वाभाविक निष्कामकर्मयोग-बुद्धिसे कर्माचरण करनेपर प्राणीको मेरे अनुग्रहसे परमपदकी प्राप्ति होती है—

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।
(गीता १८।५६)

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त प्राणियोंको विवेक प्रदान किया कि सभी कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण कर तथा समबुद्धिरूप- (निष्काम-कर्म) योगका अवलम्बन कर मेरे परायण और मुझमें चित्तवाला हो जाना चाहिये—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(गीता १८।५७)

यही योगस्थ होकर निष्काम-कर्मयोगद्वारा कर्माचरण है। गीताके आरम्भमें कर्माचरणकी यही भूमिका श्रीकृष्णने प्रस्तुत कर अर्जुनको कर्ममार्गमें निष्काम बुद्धि-से प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा दी थी—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
(गीता ३।१९)

निष्काम-कर्मयोगके द्वारा प्राणी आत्मवान्—आत्मनिष्ठ होकर भगवत्प्राप्ति करता है। भगवान्‌ने बार-बार यही उपदेश दिया है कि मेरी प्रसन्नता और पूजाके रूपमें ही समर्पणभावसे कर्म करना सिद्धि-प्राप्तिका साधन है।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।
(गीता १२।१०)

'अर्जुन! इस तरह मेरी पूजाके निमित्त कर्मसे तुम परमसिद्धि प्राप्त करोगे। निष्काम-कर्मयोग ही मनुष्य-मात्रका परम श्रेय है। इसके द्वारा समस्त कर्म भगवान्‌की पूजा बन जाते हैं।'

योगकी व्यापकता

[निष्कामकर्मयोगके घटक—'योग' शब्दके कोशोंमें कई अर्थ हैं। भगवान् पतञ्जलिने **'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः'** *से उसकी परिपुष्ट परिभाषा की है। किंतु भगवान् श्रीकृष्णने योगका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें करते हुए प्रायः सभी अर्थोंकी संगति सूचित की है। गीतामें योग जिन अर्थोंमें प्रयुक्त है उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये दिया जा रहा है—सं०]*

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है। (१) भगवत्-प्राप्तिरूपयोग—अ० ६। २३-इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है। (२) ध्यानयोग—अ० ६। १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है। (३) निष्काम-कर्मयोग—अ० २। ४८—योगमें स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान-बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम-कर्मयोग है। (४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ९। ५—इसमें आश्चर्य-जनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है। (५) भक्ति-योग—अ० १४। २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है। (६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८। १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है। (७) साङ्ख्ययोग—अ० १३। २४ इसमें साङ्ख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंसे उल्लेख है।'

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके 'भगवद्गीताके कुछ महत्त्वपूर्ण विषय'से)

गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन)

निष्काम-कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्तिरहित ! यदि भक्तिमिश्रित है, तो उसका क्या स्वरूप है ! यहाँ इसीपर विचार करना है ।

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंपर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है । कर्म कई प्रकारके हैं, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोंमें बाँट सकते हैं—(१) निषिद्ध कर्म, (२) काम्य-कर्म और (३) विहित या कर्तव्य कर्म । लोक एवं शास्त्रोंमें चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्य, कपट, छल, जबरदस्ती, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते हैं; स्त्री-पुत्र-धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं; क्योंकि कामना-परक कार्य काम्य होते हैं । ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पानादि कर्मोंको कर्तव्य-कर्म कहते हैं । ये कार्य कर्तव्यकोटिमें आते हैं—जिन्हे शास्त्र और संत-महात्मा महापुरुष समर्थित करते हैं । कर्तव्य-कर्म भी कामनायुक्त होनेसे काम्य-कर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं जिनमें वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं; इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है । किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्य-कर्म करना न करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है, इसीलिये इनका अलग-अलग भेद है ।

इन तीन प्रकारके कर्मोंमें निषिद्ध-कर्म सभीके लिये सर्वथा त्याज्य हैं और मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी भी कोई आवश्यकता नहीं । रहे कर्तव्य-कर्म, जो भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनों ही होते हैं । मनुष्यमें जबसे **सकामकर्म**के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तभीसे कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकालतक मनमें केवल फलका अनुसंधान रहता है । ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्त-वृत्तियाँ पद-पदपर अपने लक्ष्य-फलको विषय करती रहती हैं । यदि धनके लिये कर्म होता है तो उसे पल-पलमें उसी धनकी स्मृति होती है । उसका चित्त धनाकार बना रहता है । कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है; उसका चित्त फलानु-संधानवाला होनेके कारण प्रायः निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है । ऐसे पुरुषका विषयविमोहितचित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्ध-कर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्त करा सकता है । यद्यपि शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोंका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्ध-कर्मोंका आचरण करना नहीं चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय तो बना ही रहता है । कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है तो उसे सिद्धि तो मिलती नहीं, उलटे प्रायश्चित्त या दुःखका भागी होना पड़ता है ।

निष्काम-कर्मका आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है । उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहती; वह जो कुछ कर्म करता है, वह सब फलकी इच्छाको छोड़कर, आसक्ति-रहित होकर करता है । यहाँपर यह प्रश्न होता

है कि 'यदि उसे फलकी इच्छा नहीं है तो वह कर्म करता ही क्यो है ? क्योंकि संसारमें साधारण मनुष्य भी विना किसी हेतु या लक्ष्यके कर्म कर ही नहीं सकता और हेतु या लक्ष्य किसी-न-किसी फलका ही होता है। ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा विना कर्मोंका होना सिद्ध नहीं होता।' यह ठीक है। साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी-न-किसी हेतुका रहना अनिवार्य है, परंतु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न-भिन्न फलोंकी कामनासे नाना-प्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है, विषय-कामना और इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है—उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है[1]। इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी और दुःखी होता है; परंतु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोंमें हेतु रह जाता है—एक 'परमात्माकी प्राप्ति'।* इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्य-रहित होकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, सांसारिक फल कामना न होनेसे वह आसक्त नहीं होता और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें उसे हर्ष-शोकका विकार नहीं होता; क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो गया होता है; वह कर्मके बाहरी फलपर कोई ध्यान नहीं देता, उसकी दृष्टिमें संसारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते हैं; वह उस महान्-से-महान् परमात्माकी प्राप्तिकी शुभेच्छामें जगत्के सम्पूर्ण बड़े-से-बडे पदार्थोंको तुच्छ समझता है (गीता २। ४९)। अतः सांसारिक आसक्तिसे स्वतः बच जाता है।

इसीसे सासारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता। सकामी पुरुषकी भाँति उससे निषिद्ध-कर्म होनेकी भी सम्भावना नहीं रहती। निषिद्ध कर्मोंमें कारण है—आसक्ति या लोभ। निष्कामीपुरुष जगत्के समस्त पदार्थोंका लोभ छोड़कर उनसे अनासक्त होना चाहता है; वह श्रीपरमात्माको ही एकमात्र लोभकी वस्तु मानता है। उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है, अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं, वह उन सबको बडे उत्साहके साथ करता है। यह निर्विवाद बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल तो वे ही कार्य हो सकते हैं, जिनके लिये भगवान्ने आज्ञा दी है, जो शास्त्रविहित हैं; जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते। ऐसे कर्मोंमें निषिद्ध कर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे, सिद्धिमें सुख और असिद्धिमें दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है। किंतु निष्कामीपुरुष सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमे समत्वभाव रखता हुआ विषयासक्ति और फलकी इच्छाका त्यागकर भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम-कर्ममें भावका अन्तर है।

गीतामे निष्कामकर्मका आरम्भ दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे आरम्भ होता है। ११से ३०वें श्लोकतक साङ्ख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१वें श्लोकसे क्षत्रियोचितकर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

१—देखिये गीता २। ४२-४३-४४, ९। २०-२१।

* निष्काम-कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममें परम कल्याणका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती। भगवत्प्राप्तिकी कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है। (कामनासे तात्पर्य अपनेको प्राप्त होनेवाले सांसारिक फलोंकी इच्छासे समझना चाहिये। स्वार्थ-प्रेरिका इच्छा ही 'कामना'से अभिप्रेत है; सामान्य-कामना—इच्छामात्र नहीं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

मोहके कारण पाप-भयसे भीत अर्जुनको इस श्लोकमें सुख-दुःख, जय-पराजय और लाभ-हानिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोक-(२। ३९)से निष्कामकर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं—

'हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और इसीको अब निष्काम कर्मयोगके विषयमें तू सुन। इस बुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धनका भलीभाँति नाश कर सकेगा।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने जरासे भी निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया है। आगे चलकर ४७ वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८वें श्लोकमें भगवान्‌ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रखनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योग होनेसे ही कर्मयोग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया—'जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखिये गीता २। ५१)।

इस प्रकार भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ४७वेंसे ५१वें श्लोकतक कर्मयोगका विवेचन किया; यद्यपि इस विवेचनमें स्पष्टरूपसे भक्तिका नाम कहीं नहीं आया है, परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्म-योग भक्तिशून्य है। मेरी समझसे गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है। इतना अवश्य है कि कहीं-कहींपर तो उसका भाव प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कहीं-कहींपर वह गौण होकर अव्यक्तरूपसे निहित है। परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक वर्णनमें बनी हुई है। निष्कामकर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है, जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ़ भावनाको लेकर संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकका विचार छोड़कर फलासक्तिका त्याग कर देना चाहता है।

जो कर्म भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग नाम तभी सफल होता है, जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णन-शैली दो प्रकारकी है। किसी-किसी श्लोकमें तो भक्ति-प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी-किसीमें वह अप्रकट-रूपसे स्थित है। किंतु कर्मयोगमें भक्तिका संमिश्रण गीताकी विशेषता है। (भक्ति-मिश्रित ज्ञानयुक्त निष्काम-कर्म गीताका कर्मयोग है।)

जहाँ भक्तिका वर्णन प्रधानरूपसे है, वहाँ 'मुझमें अर्पण करके, (परमात्मामें अर्पण करके) मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर', 'सब कुछ मेरे अर्पण कर' 'मेरे कर्म कर,' 'मदर्थ कर्म कर', 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा कर,' 'मेरे आश्रय होकर कर्म कर', 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये हैं (देखिये गीता ३। ३०; ५। १०; ८। ७; ९। २७-२८; १२। ६—१०, ११; १८। ४६-५६-५७ इत्यादि)। जहाँ भक्तिका सामान्यभावसे अप्रकट विवेचन है, वहाँ ऐसे शब्द नहीं आते (जैसे—गीता २। ४७, ४८, ४९, ५०, ५१; ३। ७, १९, ४१, १४; ६। १; १८। ६-९ इत्यादि)।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवद्भावना दोनों ही वर्णनोंमें है और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत्-शरण

और भगवदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्ट नहीं आते, उनके अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है; इसमें संदेह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण-कीर्तनादि भक्तिका संयोग कर देनेपर भगवत्-प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसे ही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं; जैसा कि गीता—(६ । ४७) में कहा गया है—

'सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।' जो इस भावसे स्पष्टरूपमें भक्तिका संयोग नहीं करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति तो होती है, परंतु बहुत विलम्बसे होती है (गीता ७ । १८, ६ । ४५) ।

गीतामें निष्काम कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मदर्पण' 'मत्कर्म' और 'सात्त्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है । इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधन-की क्रियाओंमें भेद है; उदाहरणार्थ यहाँ मदर्पण और मदर्थका भेद कुछ अंशोंमें बतलाया जाता है । मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है । इनमें मदर्पण कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन-संग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन संगृहीत भी है, परंतु वह जब चाहे तब अपने धन-संग्रहका उद्देश्य बदल सकता है एवं संगृहीत धन किसीको भी अर्पित कर सकता है । मदर्पण कर्ममें कर्मका आरम्भ करनेके बाद बीचमें या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है । भक्तराज ध्रुवजी महाराजने राज्यप्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरम्भ किया था, परंतु बीचमें ही उनकी भावना बदल गयी । उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण हो गया, जिसका फल भगवत्-प्राप्ति हुआ । साथ ही आरम्भके इच्छानुसार उन्हें राज्य भी मिल गया, परंतु वह राज्य साधारण लोगोंकी तरहसे बाधक नहीं हुआ । यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझनी चाहिये । अतएव आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी जो कर्म बीचमें या पीछेसे भगवान्‌को अर्पित कर दिया जाता है, वह भी भगवदर्पण हो जाता है ।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममें ऐसा नहीं होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्‌के लिये ही किया जाता है । किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण-भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरम्भसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है, उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे ही हुआ करता है । भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं—जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना, भगवत्सेवा-स्वरूप कर्मोंमें नियुक्त होना और भगवान्‌की प्रीतिके लिये कर्ममें लगना आदि ।

यह तो भक्तिप्रधान कर्मयोगकी बात हुई । इसके सिवा समत्वयोग, कर्मयोग और सात्त्विकत्याग आदि शब्द-भेदसे सब मिलते-जुलते-से ही वाक्य हैं । द्वितीय अध्यायमें ४७ वेंसे ५१वें श्लोकतक जिसका कर्म-योग आदिके नामसे वर्णन है, उसीका अठारहवें अध्यायमें ६ठेसे ९वें श्लोकतक त्यागके नामसे वर्णन है । वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग सभीमें रहता है । भक्ति-प्रधान या कर्मप्रधान दोनों प्रकारका वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है, इससे यह सिद्ध हो गया कि—

भगवत्प्राप्तिके लिये किया जानेवाला कर्म ही निष्काम कर्मयोग है ।

निष्काम-कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्त्तव्यकर्मोंको छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो आपत्ति भी नहीं है। भजन-ध्यान तो सदा सर्वथा ही परम श्रेष्ठ है। परंतु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भगवच्चिन्तन-सहित शास्त्रविहित कर्त्तव्य-कर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीता-(१८ । ५६-५७)में कहा है—

'मुझमें परायण हुआ निष्काम-कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है; इसलिये सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम-कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बाँधती, फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। यदि फल-(की इच्छा) और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है; अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८ । ४६)

'जिस परमात्मासे सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर, पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन, वाणी, शरीरसे सब (अपने जिम्मे किये हुए) गृहकार्य करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम-कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उन्हींका चिन्तन करता हुआ, उन्हींके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके लिये ही उनके कर्तव्य-कर्मोंका आचरण कर परमात्माकी प्रसन्नता और परम गतिको प्राप्त करता है।

समस्त भावोंसे— सम्पूर्ण जगत्‌में परमात्माको व्यापक समझकर कर्मोंको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम-कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है। उसको कर्तव्य-कर्म छोड़नेकी जिदकी भी आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्य-कर्म उस प्रभुके अर्पण करनेकी। यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

निष्काम-कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है, केवल एक परमात्मा। जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है, किसी तरह धन मिल जाय— केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है; वैसे ही निष्काम-कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है, जो ईश्वरको सन्तुष्ट करनेवाले होते हैं; वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक चोरी-जारी, झूठ-कपट, मादक द्रव्य-सेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्ध-कर्मोंको तथा व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नहीं करता— करना तो दूर रहे, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते भी नहीं। वह निरन्तर उन्हीं न्याययुक्त और शास्त्र-विहित कर्मोंके सोचने और करनेमें प्रवृत्त रहता है, जो उसके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमें

सहायक होते हैं। वह दूसरेके सुहावने और मान-बड़ाई-वाले कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी नहीं देखता। जिससे चुपचाप स्वभावतः ही अपने कर्तव्यकर्मको करता चला जाता है। वह यह नहीं देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है; क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोंका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, उसमें हेतु है अन्तःकरणका भाव। भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है। इसीलिये वह दूसरेकी देखा-देखी किसी भी ऐसे ऊँचे-से-ऊँचे कर्मको भी करना नहीं चाहता जो उसके लिये विहित नहीं है। वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममें अमुक दोष है, दूसरेका अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है; वह समझता है कि दूसरेके गुणयुक्त उत्तम धर्मकी अपेक्षा अपना गुण-रहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करनेयोग्य है। स्वकर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। आजकल इस निष्कामकर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामें लगे हुए हैं। श्रीभगवान्ने गीता (१८। ४८) में कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

'दोषयुक्त भी (स्वभावज-)कर्म नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धूमसे ढकी हुई अग्निके समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके हुए होते हैं।' जो मनुष्य जिस वर्णमे उत्पन्न हुआ है, उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है; भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्ण-व्यवस्था इसका परम आदर्श है। जो लोग इस वर्णव्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। जगत्में भेद तो कभी मिट नहीं सकता, व्यवस्थामें विशृङ्खलता अवश्य ही हो सकती है, जो और भी दुःखदायिनी होती है।

जिस जाति या समुदायमें मनुष्य उत्पन्न होता है, जिस माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है, प्रायः उसीके अनुकूल विहित कर्मोंको ही गीतामें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म और स्वभावनियतकर्म आदि नामोंसे कहा है। साधक पुरुषका जन्म यदि व्यवस्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तब तो उसे अपना सहज कर्म समझ लेनेमें बड़ी सुगमता है, ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म बड़ोंसे समझ लेना चाहिये।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थ-रहित होकर अखिल जगत्में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना-अपना कर्तव्य कर्म मनुष्यको करना चाहिये। एक वैश्य है, दूकानदारी करता है; व्यवसाय उसका कर्तव्य कर्म है। परंतु उसका वह कर्तव्य-कर्म, निष्काम कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी जा सकता है जब कि वह स्वार्थ-बुद्धिसे न होकर केवल परमात्माकी सेवाके निर्मल भावसे ही हो। दूकानदारी छोड़कर जंगलमें जानेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी, स्वार्थ और कामनाके कलङ्कको धो डालनेकी। जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमें परमात्माको स्थान मिल जाता है, उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रहकर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं। उनका बन्धकत्व समाप्त हो जाता है।

पारा और संखिया अमृतका-सा काम दे सकता है—यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे या संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है, वही पारा या संखिया विष-भागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है, वहींतक उनसे बन्धन है।

१ देखें गीता १८। ४७

जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकालकर कर्मोंकी शुद्धि कर ली जाती है उसी दिन वे साधन बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है बुद्धिको शुद्ध करनेकी। एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा केवल अपने वर्णका कर्म—शिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है, परंतु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर सबको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे। वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्ध कर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं; परंतु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है, वह केवल निष्काम कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम कर्मयोगीसे जान-बूझकर तो पाप नहीं बन सकते, परंतु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप हो भी जाता है तो वह उसको लागू नहीं होता; क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्त्ताको बाँध नहीं सकता (गीता ४। १४, ५। १०)। पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

जैसे किसी निःस्वार्थसेवी भृत्यकी भूलपर स्वामी रंज न होकर उसकी निःस्वार्थ सेवाका आभारी ही होता है, वैसे ही अकारण-सुहृद् परमात्मा निष्काम कर्मयोगीकी किसी भूलपर कोई ध्यान नहीं देते। यह अनियम नहीं है, किंतु स्वार्थ-रहित सेवकके लिये यही नियम है।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य कर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है; परंतु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोक-संग्रहके लिये राजा जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं। (गीता ३। २०)। यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाता (गीता ३। १७), परंतु जहाँतक मन और इन्द्रियोंको सचेत रखना होता है, वहाँतक उनके लिये कर्मत्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता। कर्मयोग-की सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (गीता २। ५५ से ५८ तक, १२। १३–१९)। (अतः कर्म-का सामान्य बन्धकत्व-नियम उनपर लागू नहीं होता)। ऐसे भगवत्-प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५ वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूपसे होते हुए भी वास्तवमें इसीलिये कर्म नहीं समझे जाते (गीता ४। १९-२०)।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है। जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्ततक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है, वह कर्म भक्ति-रहित कभी नहीं हो सकता। अतएव गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है और फल तथा आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌के आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्वबुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है।'

निष्कामकर्म क्या है ?

(लेखक—महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी ईश्वरानन्दगिरिजी महाराज)

विभिन्न शास्त्रकारोंके अनुसार कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं। मीमांसकलोग स्वर्गादि प्राप्तिके लिये किये जानेवाले यज्ञ-यागादिको ही कर्म कहते हैं। नैयायिक विद्वान् ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, समेटना, फैलाना और चलना—इन पाँच दैहिक क्रियाओंको कर्म कहते हैं। पुराण और धर्मशास्त्रके अनुसार कर्म पाँच हैं—नित्य (संध्या-वन्दनादि), नैमित्तिक (पुत्रेष्ट्यादि), प्रायश्चित्त (कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि), काम्य (फलेच्छापूर्वक किये गये कर्म) और निषिद्ध (चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि)। भगवद्गीताके अनुसार खाना-पीना सोना, बैठना, चलना आदि शारीरिक, मानसिक, वाचिक सभी क्रियाएँ कर्म हैं। इसी अभिप्रायसे सम्पूर्ण कर्मसमर्पणके लिये भगवान् कहते हैं—**यत् करोषि यदश्नासि**··· (गी० ९।२७)—'तुम जो करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो, तपस्या करते हो, वह सब मुझे अर्पित करो। प्राणिमात्र बिना कर्म किये क्षणभर भी नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुणद्वारा प्रेरित होकर वह सदा कुछ-न-कुछ करता ही रहता है—**नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्** (३।५)। इससे यही विदित होता है कि कर्म तो होते ही रहेंगे, किसी भी दशामें बन्द न होंगे; अतः उन कर्मोंको न छोड़ना है, न बदलना है; किंतु केवल धारणाको बदलना है। धारणाको बदलनेके लिये समस्त चेष्टारूप कर्मसे केवल 'योग'को जोडना है। इतनेसे ही कर्ममें एक चामत्कारिक परिवर्तन हो जायगा।

अब 'योग' शब्दका अर्थ क्या है—इसको देखना है। जिसके लगनेसे कर्म अकर्म बन जाते हैं, वह योग है। गीतामें योग शब्द विभिन्न अर्थके द्योतक हैं। छठे अध्यायमें ध्यानयोगके प्रकरणमें पातञ्जलयोगदर्शनका निवृत्तिनिरोधरूप योग ही लेना उचित है। जहाँ अर्जुनको विराट्रूप दिखानेका अवसर है—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'**—'मेरे ईश्वरीय योगको देखो'—वहाँपर ईश्वरीय शक्ति (माया) योग शब्दका अर्थ है। कर्मके प्रकरणमें जो योग शब्द है, उसका अर्थ युक्ति या तरकीब है।* इस प्रकार कर्मयोग शब्दका पूरा अर्थ हुआ—कर्म करनेकी युक्ति। ऐसा कर्म करे, जिसका स्वभावसे ही बन्धनकारक कर्म भी बन्धनकारक न हो, प्रत्युत अनादि बन्धनको तोड़नेमें सहायक हो। भगवान्ने अर्जुनको ऐसी युक्ति बतला दी कि वह ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके साथ भयंकर युद्ध करता हुआ भी जलके कमलपत्रकी भाँति निर्लिप्त रहा; क्योंकि अर्जुन डरता था कि गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेसे मैं महापापी हो जाऊँगा, मुझे घोर नरकमें भी स्थान नहीं मिलेगा। अब जिज्ञासा होती है कि वह योग (युक्ति) कौन है ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं—**'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८) सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि इत्यादि परस्पर-विरोधी द्वन्द्वमय पदार्थोंको बराबर देखते हुए कर्तव्य-कर्मको करते रहना ही योग (युक्ति) है; क्योंकि कर्म करनेमें ही उसका अधिकार है, कर्मके परिणाममें नहीं।

कर्मयोगीकी दृष्टि कर्तव्य-कर्ममें ही होती है, फलमें नहीं। वह यह नहीं सोचता कि मै जो कुछ कर रहा हूँ, उसका परिणाम क्या हो रहा है या होगा ? उसको तो केवल इतना ही सोचना है कि यह मेरा कर्तव्य है या नहीं। इस दृष्टिसे कर्म करनेवाले ही कर्मयोगी हैं। कर्मयोगीद्वारा विश्वके लिये किया गया कर्म ही कौशल है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (२।५०)। वस्तुतः समत्वबुद्धि ही कर्ममें कुशलता है। इस कौशल

* पाणिनि व्याकरणानुसार भी युज् धातुएँ कई हैं—(१) युज् समाधौ (४।६९), (२) युज्-(मतान्तरसे युञ्) संयमने (१०।२६६), (३)—युज्-बन्धने (९।७) और (४) युजिर्—योगे (७।७) आदि। वैयाकरणोंके अनुसार यह धातु २।२३, १।३२, १०।१७६ आदिकी 'युः'से भी सम्बद्ध है। इन धातुओंसे बननेवाले 'योग' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थोंके बोधक हैं। गीतामे भी प्रकरणानुसार अर्थ ग्राह्य हैं।

शब्दकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं—**तद्धि कौशलं यद्बन्धस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावानि त्यजन्ति ।**—उसीको कुशलता कहते हैं, जो स्वभावसे ही बन्धनकारक कर्म भी समत्व-बुद्धिके कारण अपने स्वभावसे छूट जाते हैं, अर्थात् बन्धकत्व छोड़ देते हैं। ठीक है, इससे बढ़कर कौन-सी दक्षता होगी, जो स्वभावको भी परिवर्तनमात्र न करे, अपितु बिल्कुल उलट दे अर्थात् अनादि-बन्धनको तोड़नेमें कारण बन जाये। इस प्रकारके जो कर्म हैं, वे ही निष्कामकर्म हैं।

हम पहले कह आये हैं कि योगके लिये केवल धारणाको बदलना है, कर्मको नहीं। इसपर प्रश्न हो सकता है कि क्या चोरी, हिंसा, व्यभिचार करनेवाले इन कर्मोंको करते रहें। इसका उत्तर प्रश्न-वाक्यमें ही है। जिसने अपनी धारणा(विचार-)को बदल दिया है, उससे ये निषिद्ध कर्म हो ही नहीं सकते; क्योंकि **'लोभः पापस्य कारणम्'** लोभ ही पापका कारण है। और लोभ-क्रोधादि कामनासे उत्पन्न होते हैं। जिस कर्मयोगीमें फलासक्ति नहीं, उसमें कामना कैसे, जिसमें कामना नहीं, उसमें लोभ कैसे, और जिसमें लोभ नहीं, उसमें पाप कैसे ?

गीता उपनिषद्रूपी गौओंका दूध है तो 'निष्कामकर्म' उस दूधसे निकला हुआ मक्खन। ईशावास्योपनिषद्के प्रथम और द्वितीय मन्त्रमें कहा है—समस्त चराचर जो कुछ है, ईश्वरसे व्याप्त है। अतः तुम्हे जो कुछ मिला है, उसको त्यागपूर्वक उपभोग करो और कामना-रहित होकर व्यवहार करो, किसीके धनके प्रति आकाङ्क्षा मत करो। इस प्रकार व्यवहार करके ही तुम सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो, अर्थात् जबतक जीवो, तबतक कर्म करते ही रहो। इस प्रकार आसक्ति, ममता त्यागकर कर्म करनेपर तुम्हे कर्म लिप्त नहीं होगे। इन दो मन्त्रोका तात्पर्य ही गीताका प्रधान विषय है। किसी प्रसङ्गका तात्पर्य निकालनेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने १—उपक्रम, २—उपसंहार, ३—अभ्यास, ४—अपूर्वता, ५—अर्थवाद और ६—उपपत्तिका आश्रय लिया है, इनको यहाँ दिखाते हैं—जैसे सर्वप्रथम समत्व-बुद्धियोगके विषयमें अर्जुनको सावधान करना (२ । ३८-३९) उपक्रम है। **'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ'** (१८ । ७२) अर्जुन ! तुमने मेरी बातोंको ठीकसे सुना या नहीं और उससे तुम्हारा कर्तव्याकर्तव्यविषयक मोह नष्ट हुआ या नहीं, यह उपसंहार है। **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२ । ४०) तुम योग (समत्वबुद्धि)में स्थित होकर कर्म करो, **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (२।४७) तुम्हारा कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं, **'कुरु कर्माणि तस्मात्त्वम्'** (४ । १५) इसलिये तुम कर्म ही करो **'तस्माद् युध्यस्व भारत'** (२।१८) 'अर्जुन ! इसलिये तुम युद्ध करो, मेरे लिये कर्म करो, (१२ । १०), यज्ञार्थ कर्म करो; (३ । ९) इत्यादि पुनरावृत्ति 'अभ्यास' है। इस प्रकारका निष्कामकर्म सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णने ही अर्जुनको निमित्त बनाकर कहा है, इसलिये यह अपूर्व है। अर्जुनकी मोहनिवृत्ति और कर्ममें प्रवृत्तिका फल है निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा—**'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** (२ । ४०) निष्कामकर्मसे प्रारम्भका नाश और प्रत्यवाय नहीं होते। 'थोड़ा भी किया हुआ कर्म महान् भयसे बचाता है—यह प्रशंसा और **'यामिमां पुष्पितां वाचम्'** (२ । ४२) **'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्'** (९।२१) इत्यादिमें सकाम कर्मकी निन्दा अर्थवाद है। त्यागबुद्धिसे कर्म करनेपर कर्मबन्धनसे निर्लिप्त होनेमें जलमे कमलपत्रका दृष्टान्त उपपत्ति है। इस प्रकार निष्काम कर्म ही समग्र गीताका प्रतिपाद्य विषय निर्णीत होता है।

*
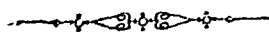
निष्कामकर्मका स्वरूप-दर्शन

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

फलकी कामना और आसक्तिको छोड़कर लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा जय-पराजय आदिमें समान भाव रखते हुए भगवत्-प्रीतिके लिये सांसारिक समस्त व्यवहार तथा अध्ययनादि सत्कर्म करते रहना ही वास्तविक कर्मयोग है। विहितकर्मसे भागना इस कर्मयोगमें निषिद्ध है। इस कर्मयोगसे भगवान्‌की पूजा होती है और उसका फल होता है जीवनकी सफलता—भगवान्‌की प्राप्ति। गीताने इसे ही—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**' कहा है। जीवनके चरम लक्ष्य—भगवान्‌को पा लेना ही परमसिद्धि है। और, भगवान्‌की आज्ञा समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये ही शुभ कर्म करना कर्मके द्वारा भगवान्‌का पूजन करना है।

न्यायवृत्तिसे भगवत्प्रसादरूपमे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसके द्वारा अपने कुटुम्बिजनोका यथाशक्ति पालन करे। यद्यपि सबका पालन करनेवाले श्रीभगवान् ही हैं, तथापि मनुष्य भी निमित्त बना करता है। भगवान् ही पिता, माता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, पति आदि रूप धारण करके भक्तसे सेवा लेनेके लिये आते हैं; अतः हमे उन्हींकी ओर दृष्टि रखकर उत्साहपूर्वक उनका आराधन करना चाहिये। दूसरे अपने साथ कैसा बर्ताव करते है, इसकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्तव्यका पालन करनेकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि अनन्यभक्त वही है, जो सबको भगवान्‌का रूप समझकर अपनेको सेवक मानता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

संसारमे जो सुख-दुःख, हर्ष-शोक, धन-वित्त आदि प्राप्त होते हैं, वे जीवोंके प्रारब्धके फल हैं। प्रारब्धके निर्माता एवं नियामक ईश्वर है। बिजलीकी बत्तियोमे शक्ति प्रदान करके उन्हे जलानेवाले, शक्तिभण्डार-(पावर हाउस)की तरह कर्म करनेकी सतत शक्ति प्रदान करनेवाला भी परमात्मा ही है। इसीसे कहा जाता है कि यह सब ईश्वरेच्छासे हुआ है। वस्तुतः होता है, सब अपने-अपने कर्मानुसार। समष्टि प्रकृतिमें जो चेष्टा होती है, वह ईश्वरेच्छासे होती है; क्योंकि जड प्रकृतिमें जो गतिशीलता आती है, वह चेतन पुरुषके संनिधानसे ही आती है। इसीलिये कहा जाता है कि ईश्वरकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता। वास्तवमे तो—'**स्वभावस्तु प्रवर्तते**'—मनुष्य अपने स्वभावके अधीन हैं। मनुष्य जो कर्म करता है, वह ईश्वरकी इच्छासे करता है—यह मानना सर्वथा ठीक नहीं है। ईश्वर धर्ममय है। यदि उसकी प्रेरणासे मनुष्य कर्म करे तो सभीके द्वारा धर्मका ही अनुष्ठान हो, कोई पापके निकट जाय ही नहीं। अतः मनुष्यके द्वारा जो कुछ कार्य होता है, उसके मूलमें अहंकार और राग-द्वेष काम करते है। हॉं, जो निष्काम-कर्मयोगी है अथवा जो भगवच्छरणागत निर्भर भक्त हैं, उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषके कारण नहीं होती। वह ईश्वरकी आज्ञासे ही समस्त कार्य करता है और ईश्वरके लिये ही करता है। अतएव उसके द्वारा अनुचित कार्य कभी नहीं हो सकते।

भगवान्‌ने प्रत्येक मनुष्यको कर्म करनेमे स्वतन्त्र बना रक्खा है। अतएव उसके कार्यकी जिम्मेदारी उसीपर है। वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, किंतु फलभोगमें परतन्त्र है। मनुष्यके अन्तःकरणमें बसनेवाले दो प्रधान

शत्रु हैं—काम और क्रोध* । ये ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं । इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्य पापकर्ममे प्रवृत्त होता है । ये दोनों शत्रु हमारे मनमे रहते हैं और हम ही इनको प्रोत्साहन देते हैं । अतः इनके द्वारा होनेवाले कर्म भी हमारे ही किये हुए समझे जाते हैं । अतएव कोई भी मनुष्य, जो राग-द्वेष या कामनाके वशीभूत होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, अपने किये हुए कर्मोंके उत्तरदायित्वसे मुक्त नहीं हो सकता । उसे उनका फल अवश्य भोगना पड़ेगा ।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि सब कुछ ईश्वर ही करते हैं, तब तो परमात्माको विषम-दृष्टि रखनेवाला और निष्ठुर मानना पड़ेगा; क्योकि उन्होने सबको एक-सा नही बनाया है । किसीको सुन्दर बनाया तो किसीको असुन्दर—काना या कुबड़ा कर दिया । कोई सुखी, कोई दुःखी; कोई धनी, कोई दरिद्र—ऐसी विषमता या निर्दयता क्या कभी ईश्वर करते या कर सकते हैं ?—नहीं; अतः यह मानना पड़ेगा कि जीवोको अपने किये कर्मोंका ही दण्ड या पुरस्कार मिलता है । भगवान् तो शक्तिदाता, नियामक और साक्षिमात्र हैं ।

यद्यपि यह ठीक है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, यह भी सत्य है कि वे भविष्यमे होनेवाली सभी बातोको जानते हैं, अतः जो भी उनके ज्ञान या निश्चयमें है, वही होगा; तथापि मनुष्यको सदा शुभ कर्म ही करने चाहिये और अशुभसे बचने चाहिये । जो भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे ही शास्त्रद्वारा मनुष्यको यह प्रेरणा देते हैं कि वह सत्कर्म करे और पापसे बचे । इससे सिद्ध है कि मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार कर्म करनेमे स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें पहलेसे ही मौजूद है । अतः इस विधि-निषेधको मानते हुए मनुष्य जो कुछ कर रहा है या करेगा, वह सब ईश्वरके द्वारा अनुमोदित है । शास्त्र ईश्वरीय आदेश हैं । उनके आज्ञा-पालनसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं और शास्त्रके विपरीत चलनेसे मनुष्य दण्डका भागी होता है । इसके अनुसार पुरस्कार और दण्डकी प्राप्ति भी सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें है, अतः मनुष्यको शास्त्राज्ञा-पालनमे सतत सावधान रहना चाहिये । मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, यह बात सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा अनुमोदित भी है । इसलिये वह जो कुछ भी करेगा, वही सर्वज्ञकी दृष्टिमें पहलेसे है—ऐसा माना जा सकता है । सर्वज्ञने कब किससे क्या करवानेका निश्चय कर रखा है, यह बात किसीको भी ज्ञात नहीं है । अतः जो न्यायोचित कर्तव्य है, उसके लिये चेष्टा करना सभीको उचित है । मनुष्यका ऐसा स्वभाव बना दिया गया है कि वह कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता । गीता कहती है—

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।'

उसका स्वभाव उसे चुपचाप बैठने न देगा । 'भगवान्‌ने जो पहलेसे निश्चय कर रखा है, वही होगा और वह अपने-आप हो जायगा'—यह विचारकर कोई भी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रह सके, यह सम्भव नहीं है । उसकी प्रकृति उसे कर्ममे लगा देती है । श्रीभगवान्‌ने कहा है—**'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'** । महाभारतमे कौरव-पाण्डव उभय-पक्षके जिन वीरोंकी मृत्यु निश्चित थी, उन सबका वह भावी परिणाम भगवान्‌ने अर्जुनको अपने विराट्‌रूपमें पहले ही दिखा दिया था । इसपर अर्जुन यह सोच सकते थे कि 'ये सब मरेंगे तो निश्चय ही, फिर मै क्यों इनकी हत्याका

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥(गीता ३ । ३७)
भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है । इस कामका पेट भरता ही नहीं, यह बड़ा पापी है । उसीको शत्रु जानो ।

कलङ्क लूँ ?' पर उन्होने अर्जुनको ऐसा सोचने नहीं दिया । उन्हे यह प्रेरणा दी कि—**'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।'**—'अर्जुन ! तू निमित्तमात्र हो जा ।' इसी प्रकार शास्त्रीय विधि-निषेध-द्वारा भगवान् हम सबको निमित्तमात्र बना रहे हैं । जैसे अर्जुनको निमित्त बनना पड़ा, वैसे ही हमको भी भावीमें—जो सुनिश्चित है, निमित्त बनना पड़ेगा । 'हम निमित्तमात्र ही हैं, वास्तवमे तो भगवान् ही स्वयं सब कर रहे हैं, करवा रहे है'—यह भावना दृढ़ रहे तो हमे उन कर्मोंका बन्धन भी नहीं होगा । मनुष्य बँधता है—ममता और अहंकारके कारण; कर्म और उसके फलमे आसक्ति तथा कामनाके कारण । यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ ही सब कुछ किया जाय अथवा अपनेको निमित्तमात्र मानकर अपने ऊपर कर्तृत्वका अभिमान न लादा जाय तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता । अतः सब कुछ सर्वज्ञ ईश्वरकी सुनिश्चित इच्छाके अनुसार होनेपर भी हम सबका यही कर्तव्य है कि हम भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे शास्त्रीय सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें ही संलग्न रहें ।

कर्मफलका नियामक ईश्वर

यों तो **'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'**—सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस सिद्धान्तके अनुसार कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो ईश्वरसे भिन्न हो । सम्पूर्ण जड-चेतन प्रपञ्च, कार्य-कारण, कर्ता-कारण, कर्म और उसका फल तथा उस कर्मफलके नियामक सभी ईश्वर ही है; और वह सर्वत्र है, सदा है और सब कुछ वह ईश्वर ही है। फिर भी वह सबसे विलक्षण है । उसका वैलक्षण्य क्या है ? इसका विवेचन आरम्भ होनेपर हम ईश्वरकी उन्हीं विशेषताओंपर दृष्टि रखेंगे, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होतीं । सामान्यतः सम्पूर्ण सृष्टिको दो भागोमें विभक्त किया जाता है—जड और चेतन । जड दृश्य है और चेतन द्रष्टा । जड नियम्य है और चेतन नियामक; जड परतन्त्र है और चेतन स्वतन्त्र । जड नाशवान्, परिवर्तनशील और अनेकरूप है । चेतन अमर, अपरिणामी और एकरस हैं । इस प्रकारके विश्लेषणको 'द्रष्टा-दृश्य-विवेक' कहते हैं । अब आप स्वय ही देखे—कर्म जड कोटिमे है या चेतन कोटिमे ? कर्मका आरम्भ होता है, अतः वह सादि है, उसकी समाप्ति होती है, अतः वह अनित्य है । ईश्वर अनादि, अनन्त और नित्य है । फिर कर्म ईश्वर कैसे हो सकता है ? कर्म तो होनेके बाद नष्ट हो जाता है, अतः स्वयं कुछ कर नहीं सकता, उसका संस्कार शेष रह जाता है; अथवा अदृष्टरूपसे वह शेष रहता है, ऐसा कहे तो भी संस्कार या अदृष्ट भी जड ही है । कौन कर्म कैसा है ? किसका कैसा कर्मफल होगा और वह कब मिलेगा ?—इसका ज्ञान सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सिवा किसको रह सकता है ? इसलिये यही मानना ठीक है कि ईश्वर ही कर्मफलका नियामक है ।

निष्काम और सकाम कर्मका भेद

सकाम अनुष्ठानमें विधि और श्रद्धाकी बडी आवश्यकता है, इनके बिना अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता । आजके संयमहीन तथा अविश्वासी युगमें विधिका पालन और श्रद्धाका संरक्षण बहुत ही कठिन है । दूसरे, यदि अनुष्ठान कही पूर्ण हो भी जाय तो उससे किसीको अभीष्ट फल मिल ही जायगा, यह निश्चित नहीं है । आपके इच्छित फलमें बाधा देनेवाला प्रारब्ध कितना प्रबल है, यह कौन जानता है । कहा जाता है कि विद्यारण्यस्वामीने गृहस्थ-जीवनमें धन-प्राप्तिके लिये ग्यारह गायत्री-पुरश्चरण किये, न उनकी श्रद्धा घटी और न धैर्य ही टूटा; तथापि गायत्रीदेवीने उन्हे सफलता नही दी । तदनन्तर वैराग्य हो गया और उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया । सर्वत्यागपूर्वक संन्यासग्रहण भी एक महान् पुण्य है । अतः यह उनका बारहवाँ अनुष्ठान हो गया । तब गायत्रीदेवीने प्रकट होकर

उनसे वर माँगनेको कहा और बताया कि 'तुम्हारे ग्यारह महापातकोंका प्रतिबन्धक था। उन अनुष्ठानोंसे सभी प्रतिबन्धक हटे; एक शेष था, वह संन्याससे दूर हुआ, तब मैं तुम्हारे समक्ष आयी। विद्यारण्यस्वामीने कहा—'मातः! अब मुझे न तो धनकी आवश्यकता है और न कोई कामना ही।' इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि अमुक अनुष्ठानसे अमुक कार्य सफल हो ही जायगा—यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। प्रतिबन्धकके अनुसार ही कार्य होता है। अतएव अनुष्ठान करनेपर यदि कार्य सफल नहीं हुआ तो अश्रद्धा होगी, समय तथा अर्थ नष्ट करनेका पश्चात्ताप होगा, देवताके प्रति अवज्ञा होगी और इस नये पापसे दुःखदायी संचित कर्म और भी बढ़ेगा।

वास्तविकता तो यह है कि यदि किसी साधनसे संसारकी कोई वस्तु मिल भी गयी तो उससे लाभ क्या होगा? ममता बढ़ानेवाली वस्तुएँ जितनी बढ़ेंगी, उतना ही दुःख और संताप तथा पापके साधन बढ़ेंगे। अन्तमें वे वस्तुएँ तो छूट ही जायँगी। उन्हे पानेवाला या तो पहले मर जायगा अथवा वह वस्तु ही पहले नष्ट हो जायगी। संसारके पदार्थोंमें सुख मानना, उन्हे प्राप्त करने और अपनी बनाने-(उनपर प्रभुत्व स्थापन करने-) में सुखका अनुभव करना, उनको बचाने तथा बढानेके उपायोंको सोचना और प्रयत्न करना यह एक महान् मोह है, जिसके कारण मनुष्य मानव-जीवनके वास्तविक लक्ष्य—भगवत्-प्राप्तिको भूलकर प्रमादमें लगा रहता है और अमूल्य-जीवन व्यर्थ ही खो देता है।

मनुष्यका मनुष्यत्व तो एक ही बातमें है कि वह समस्त इहलौकिक और पारलौकिक मिथ्या भोग-सुखोंसे मुख मोड़कर अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको बड़ी सावधानीके साथ श्रीभगवान्के स्मरण-चिन्तन, मनन और सेवनमें लगा दे। जगत्में प्रारब्धवश जो कुछ होना है, उसे निर्बाध होने दे। इसमें आत्माका वास्तवमें कोई लाभ-हानि नहीं है; अपितु दुःख भोगनेपर यदि पूर्व-जन्मके अशुभ-कर्मका बन्धन कटता है तो यह लाभ ही होता है। इसलिये मैं तो सलाह दूँगा कि सकाम भावनाका त्याग करके भगवान्के निष्काम-भजनमें मन लगाना चाहिये। देवताओंकी उपासना करनेमें आपत्ति नहीं है, परंतु उनसे भी यही माँगिये कि वे कृपापूर्वक भगवान्के चरणोंमें भक्ति होनेमे सहायक हों, वरं समस्त शास्त्रीय-कर्म करके भी सबका एक ही फल माँगिये—भगवच्चरणारविन्दमें अहैतुक प्रेम। 'मानस'में गोस्वामी तुलसीदासजीने यही माँगा है—

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।

जब आपके मनमें कभी कुछ भी प्राप्त करनेकी चाह न रहेगी और भगवान्के प्रति सहज प्रेम हो जायगा, तब श्रीभगवान् आपके मनको अपना निज घर मानकर उसमे सदाके लिये बस जायँगे—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

बस, इसीमें मानव-जीवनकी सफलता और श्रेय है।

भक्तकी निष्कामता

प्रह्लाद दैत्यकुलमें उत्पन्न हुए थे। वे भगवान्के परमभक्त थे। उनकी भक्तिकी चरम परिणति निष्कामतामें हुई। भगवान् भक्तोंके प्रिय होते हैं और भक्त भगवान्के प्रिय होते हैं। भगवान्की भक्ति सब कुछ दे देती है, पर भक्त 'नान्या स्पृहा' कहकर भक्तिके सिवा और कुछ नहीं चाहते।

नृसिंह भगवान्ने भक्त प्रह्लादकी रक्षा कर अपने अनुग्रहका और प्रतिपक्षका निग्रहकर जब उनसे वर माँगनेका आग्रह किया—'वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्' तो प्रह्लादने यही कहा कि यदि आप वर देना ही चाहते है तो वही वर दीजिये कि मुझे वर माँगनेकी इच्छा ही न हो। भक्तकी निष्कामताका यह निदर्शन अद्वितीय है। भागवतकारके शब्दोंमें—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥ (७।१०।७)।

निष्काम-कर्मयोगके सिद्धान्त

(लेखक—वीतराग स्वामी श्रीश्रीनारायणाश्रमजी महाराज)

स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् (गीताशांकरभाष्य, उपोद्घातसे)

'सर्वशक्तिमान् परमात्माने अपने लीला-विलासके लिये इस जड-चेतनात्मक विश्वको उत्पन्न किया और उन प्राणियोकी स्थिति एवं परिपालनके लिये मरीचि, अत्रि, पुलह, क्रतु आदि प्रजापति महर्षियोंकी रचना की। उसी समय कर्माध्यक्ष परमेश्वरने सूर्य-प्रजापति एवं महर्षियोंको वेदोक्त प्रवृत्ति-धर्म तथा सनकादिकोको निवृत्ति या निष्काम कर्मयोगका उपदेश दिया, तभीसे निष्काम-कर्म, निवृत्ति-धर्मके नामसे ख्यात हुआ।' वेदमें विहित एवं निषिद्ध कर्मोंका प्रतिपादन किया गया है। इनमें भी विहित कर्मके नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्तभेदसे चार भेद हैं। संसारमे पहले राजर्षियोंने कर्मयोगसे ही अपार सिद्धि प्राप्त कर प्रजाओंका पालन किया। कर्ममार्गका आश्रय लेकर जो इन वेदादिशास्त्रोंमें वर्णित उन यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान करते थे, वे सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते थे। वेद श्रीपरमात्माके वाङ्मय विग्रह ही हैं;—**'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्'** (मीमांसासूत्र)। इस न्यायसे सम्पूर्ण वेदका तात्पर्य कर्मके अर्थमें विनियुक्त होता है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः॥'

(शुक्लयजुः० ४०। २)

ससारमें जन्म ग्रहण करनेके पश्चात् मनुष्यको वेदोक्त कर्म करते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीनेकी आकाङ्क्षा रखनी चाहिये। **'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः।'** इस न्यायसे प्रवृत्ति-धर्म भगवान् नारायणका ही स्वरूप है। कर्म तथा शरीरका सम्बन्ध बीज-वृक्षके समान अनादि है। जन्म तथा मरण अर्थात् उत्पत्ति तथा प्रलय कर्मसे ही होते हैं। कर्म भी मुख्यतः तीन प्रकारके हैं—संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण। आदमी जो कुछ भी कर्म करता है, उसके फल उपभोग करनेके लिये उसे पुनः जन्म मिलता है, जैसा कि महाभारतमें कहा गया है—

येषां ह्येतानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तानेते प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

'संसारके प्राणी मृत्यु या प्रलयसे पूर्व जैसे शुभाशुभ कर्म किये हुए रहते हैं, उनका पूर्व आचरित कर्म ही देश-कालके अनुसार इच्छा न होते हुए भी ऊँच-नीच मध्यम योनिमें जन्म लेनेका कारण बनता है। कर्मसे जन्म तथा जन्मसे कर्म करनेकी आचरण-परम्परा अनादि है। बड़े-बड़े योगी-मुनि भी इस बातको नहीं बतला सकते कि प्राणियोंके कर्म-संस्कार कब और किस जन्ममें कहाँपर उदय होते हैं। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता आदिमें कर्मकी गति दुर्ज्ञेय (गहन) बतलायी गयी है; अर्थात् कर्मका मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण कठिनतासे जाननेयोग्य है—**'गहना कर्मणो गतिः।'**

अत्यन्त गहन तथा सूक्ष्मार्थसे समवेस्य कर्मकी गतिको जो पहचान लेता है, उसे कर्मकी सिद्धि उपलब्ध होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा राजा जनक कर्मकी सूक्ष्म गतिको पहचानते थे। इसलिये उन्हे निष्कामकर्मकी सिद्धि प्राप्त हुई थी। शास्त्रपरम्पराके अनुसार वेद-शास्त्रके सूक्ष्मार्थज्ञाता राजर्षि-ब्रह्मर्षि तत्त्वज्ञानमें निष्ठा रखकर कर्म करते थे। अनादिकालसे भगवान् विष्णुद्वारा प्रवर्तित निष्कामकर्मयोगकी परम्परा राजर्षियोंको प्राप्त हुई थी। सम्पूर्ण प्राणियोके कर्मके अध्यक्ष भगवान् हैं और पुण्य-पाप-कर्मोंका फल प्राणियोको यथादेश-कालमें भगवान्की प्रेरणासे उपलब्ध होता है। **'पुण्यं पापं वा कर्म—करोतीति कर्म'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार आदमी जो भी कुछ आचरण दूसरेके लिये अनुकूल एवं सत्यार्थसे प्रेरित

होकर करता है, वह पुण्यकर्म तथा प्रतिकूल एवं असत्यार्थ-प्रकाश करनेवाला पाप-कर्म होता है। सदैव पुण्य-कर्म करते रहनेपर मनुष्यका उत्साह प्रतिक्षण बढ़ता जाता है। वह महान् पुण्यशाली होकर भविष्यमें भी पुण्य-कर्म करनेके लिये प्रयत्न करता है। जहाँतक पुण्य-कर्मका प्रभाव रहता है, वहाँ तक सत्कर्म करनेवाले पुण्यशाली एक स्वर्गसे दूसरे स्वर्गमें पहुँचकर विपुल सुख-उपभोग करते हैं—

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः॥

(महाभारत, अनुशा० १८१। ४)

पुण्य-कर्मके संचयसे मनुष्यको जितने भी गुण तथा ऐश्वर्य उपलब्ध होते हैं, उनका उपयोग दूसरेके उपकारके लिये होता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यह निष्कामता ही सर्वोत्तम उपाय है। वेद-शास्त्रोंमें निर्दिष्ट कर्मोंके फलकी आकाङ्क्षा छोड़कर उन्हें कर्त्तव्यसम्पन्नबुद्ध्या करना निष्कामता है। जिस प्रकार फल-(स्वर्गादि-)की कामना रखता हुआ मनुष्य कर्म करता है, उसी तरह विद्वान्द्वारा 'मैं' कर्तापनका अभिमान त्यागकर, केवल परोपकारसे ईश्वरार्पणकी बुद्धि रखते हुए कर्म करना भी निष्काम है। कर्मफलकी आसक्तिका परित्याग करके वेद-शास्त्रके अनुसार जो विद्वान् विहित कर्मका आचरण करता है, उसकी बुद्धि मोह-कलिलसे मुक्त हो जाती है और उसे निर्मल बुद्धिमें समाधि-स्थित होकर आत्माका अपरोक्ष अनुभव होने लगता है।

निष्कामभावसे मनुष्यकी प्रज्ञा (बुद्धि) परमात्मामें प्रतिष्ठित हो जाती है और मनुष्य संसारके द्वन्द्व तथा संघर्षसे अतीत होकर स्थितप्रज्ञ होने लगता है। व्यक्ति मनके अधीन होकर जो कर्म करता है, वह सकाम है और मनको अपने अधीन रखकर कर्म करना निष्काम है। मनुष्यके शरीरमें मनकी पहचान ज्ञान तथा अज्ञानसे होती है। दर्शनशास्त्रका वचन है—

आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य
भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्॥

(वैशेषिकदर्शन ३। २। १)

आत्मा, इन्द्रिय तथा बाह्य-विषयके साथ मिलनेपर विषयाकार मनमें बाह्य वस्तुओंके संनिकर्षसे ज्ञानका भाव तथा अभाव होना ही मनका स्वरूप है। यहाँ आत्माका अर्थ जीवात्मा नहीं है; अपितु प्राण-अप्राण, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनकी गति, इन्द्रियोंका अन्तर्वाहक विकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न—ये सब उसके स्वरूप हैं। लोक-परलोकमें मनोरथके विपुल भोग-ऐश्वर्य, सुख उपलब्ध कर लेनेके पश्चात् भी कोई मानव संसारमें पूर्णकाम—तृप्त दिखलायी नहीं पड़ता। सर्वसाधारण मनुष्यसे लेकर विशाल स्वर्गलोकके सुख-उपभोग करने-वाले इन्द्रदेवतातक भी कामभोगसे अतृप्त एवं अपूर्ण रहते हैं; कारण कि मन उनके वशमें नहीं हैं। जो मानव मनके वशमें है, चाहे वह देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिये स्वर्गलोकका विशाल सुख भी अपूर्ण और फीका है—

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः।
शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्के हि च नश्यति॥

(महोपनिषद् ३। २९)

दुःख-सुखका कारण यह मन ही है। जबतक मन अचल प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसे शान्ति नहीं मिल पाती। संसारमें जितने प्रकारके दुःख हैं, वे सब प्रशान्त चित्तवाले मानवके समीपतक नहीं पहुँच पाते। सकाम मनमें निरन्तर तृष्णा भभकती अग्निज्वालाके समान उभरती रहती है। तृष्णा ही हृदय-व्याधिकी सबसे बड़ी वेदना है। इससे आधि-व्याधि-उपाधि याँ उत्पन्न होती हैं। हृदयविदारक दुःखोंका अन्त एकमात्र निष्काम मनसे ही सम्भव है। अतः निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये, जिससे शान्ति मिल जाय।

कर्मसिद्धान्तपर एक भौतिक दृष्टि

'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'—इस उक्तिके अनुसार सम्पूर्ण कर्म वेदसे उत्पन्न हुए हैं। प्रजापतिने सबसे पहले देवता और मनुष्योंको उत्पन्न किया और उनके परस्पर अभ्युदयके लिये वेदोक्त कर्मका प्रतिपादन किया। वेदोक्तकर्म यज्ञरूपमें परिणत हुआ अर्थात् कर्मसे यज्ञकी उत्पत्ति हुई। परमपिता परमात्माने यज्ञके साथ ही प्रजाओंकी सृष्टि कर मनुष्य तथा देवताओंसे कहा कि यज्ञसे ही आप सबका मनोरथ पूर्ण होगा। महर्षियोंके द्वारा प्रज्वलित यज्ञाग्निमें होमद्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उपलब्ध होते थे। यज्ञसे अन्य कर्म बन्धन हैं—

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'
(गीता ३।९)

लोकव्यवहारको अक्षुण्ण रखनेके लिये भगवान् स्वयं आप्तकाम—पूर्णकाम होकर भी निष्कामकर्म करते हैं। वस्तुतः पुरुष (परमात्मा) काममय है। **'काममय एवायं पुरुषः' 'सोऽकामयत, वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय'**—इत्यादि शास्त्रवचनोंके अनुसार इस संसारमें कोई पुरुष ऐसा नहीं दिखायी देता, जो कामनासे रहित होकर कर्माचरण करता हो; अर्थात् आदमी भूल-भटककर भी जो कर्म करता है, उसे भी कामनाओं-द्वारा ही प्रेरित समझना चाहिये—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥
(मनु० २।५)

बाह्य इन्द्रियोंसे जो कुछ कर्म किया जाता है, उससे मन सूक्ष्म है। बुद्धिको मनसे भी अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है। आत्माका स्वरूप कर्तव्य-मन-बुद्धिसे परम सूक्ष्मतम है। जो मानव प्रत्येक कर्माचरणके समय अपने आत्माको पहचानते (समझनेका यत्न करते) हुए कर्म करता है, उसके सभी लोक-तलकी कल्पनाएँ सत्य एवं साकार होती हैं। वैदिककालमें यशः कोश, विद्या-विवेक आदि लोक-व्यवहार यज्ञके द्वारा ही होते थे। समाज, राजा, राज्य एवं राजनैतिक विघटनके लिये शोधपूर्ण उपाय—अग्निष्टोम, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञ कर्मद्वारा सम्पादन किये जाते थे। रामायण, महाभारतमें भी ऐसी कथाओंका वर्णन मिलता है कि राजा-महाराजागण दिव्य यज्ञ करके महान् शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करते थे। मेघनाद, रावण, बालिद्वारा पाशुपत-यज्ञ, श्रीकृष्ण तथा अर्जुनद्वारा खाण्डववनमें अग्निसे दिव्य अस्त्रशस्त्रोंकी प्राप्ति-विषयक इतिहाससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुरातन युगमें यज्ञ-विज्ञानकी पद्धति थी। सर्वप्रथम बृहस्पति तथा शुक्राचार्यने यज्ञके तान्त्रिक विज्ञानका वेदोंमें उद्धरण किया था, इसलिये 'यज्ञ' शब्द बहुत विख्यात हुआ।

कर्मपर दैवी दृष्टि—जिस प्रकार निष्काम कर्मयोगका तात्पर्य वैदिककर्म यज्ञ-यागादिमें प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार ईश्वराराधना, पूजा, सेवा भी कर्मयोगके अन्तर्गत हैं। 'प्रारब्ध और पुरुषार्थ, यानी दैव तथा क्रियमाण-कर्मका परस्पर कहाँतक सम्बन्ध है, कर्ममें स्वतः फल प्रदान करनेकी शक्ति है या ईश्वर कर्मफलका विधाता है' इस विषयपर विद्वानोंके विभिन्न वाद प्रसिद्ध हैं। कर्म प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न हुआ जड़ है और ईश्वर निर्विकार असङ्ग शुद्ध चैतन्य है। कतिपय उपनिषदोंके मतानुसार जीव-ईश्वर शरीररूप एक ही वृक्षके पक्षी हैं। उनमें पहला पक्षी जीवात्मा है, जिसका कार्य कर्म करना तथा फल भोगना है। दूसरा ईश्वरके स्थानपर रहकर प्रत्येक कर्मका द्रष्टा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
(गीता ५।१४)

'ईश्वर सम्पूर्ण लोक-व्यवहारके उपयोगी कर्म न कभी बनाता है न पुण्य-पाप करनेके लिये किसीको प्रेरणा देता है। जो आदमी सुख-दुःखके प्रदाता दैवको समझकर उसे दोषी ठहराता है, वह भूल करता है; कारण

कि कर्मका संयोजक दैव नहीं है, अपितु कर्ताको कर्म करनेकी प्रेरणा उसके स्वभावसे मिलती है; अर्थात् आदमी विपुल प्रासादमें रहकर दिव्य ऐश्वर्यका उपभोग करता है और उसे घूमने-फिरनेके लिये उत्तमकोटिके मोटर गाड़ी-विमान आदि वाहन मिलते हैं, यह सब ईश्वरके द्वारा उपलब्ध नहीं। न ईश्वरका मनुष्यके कर्मफलके साथ किंचित् सम्बन्ध है।'

कर्माचरण प्रकृति-निबद्ध मनुष्यका स्वभाव है। यह स्वभाव प्रकृतिके गुण-धर्मसे उत्पन्न होकर, अच्छे-बुरे कर्ममें आदमीको लगाता है और उसके अनुरूप सुख-दुःख, कर्मफल भोग कराता है। जिस तरह बीजमें स्वभावतः अङ्कुर उत्पन्नकी शक्ति रहती है, उसी तरह कर्ममें स्वभावतः फल-उत्पन्नकी शक्ति होती है। जो आदमी पुरुषार्थको ही सर्वश्रेष्ठ मानते है, उनके लिये दैवका कोई महत्त्व नहीं है। यदि मान भी लिया जाय तो भी दैवका कर्म फलके साथ अत्यधिक सम्बद्ध नहीं है। इसपर महाभारतमें कहा है—

यो दिष्टमुपाश्रित्य निर्विचेष्टः सुखं शयेत।
विनश्येत् हि स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके॥

जो आदमी दैवके भरोसे रहकर पुरुषार्थ कर्म करना छोड़ देता है, वह अत्यन्त दुर्बुद्धिवाला आदमी कच्चे घडेके समान ही नष्ट हो जाता है। (गीता १८। १३—१६)के अनुसार कर्मका अन्यतम अधिष्ठान दैव है। कर्ता तथा करणका योग करते हुए भी जबतक दैव अनुकूल नहीं रहता, तबतक कार्यमें सिद्धि नही उपलब्ध होती। आदमी मन, वाणी तथा शरीरसे जो भी कुछ कर्म करता है, उसमें अधिष्ठान (आत्मा) कर्ता, करण (हाथ-पॉव) आदि पृथक् क्रियामें दैव प्रधान हेतु है। न्यायोचित कर्म या इससे विपरीत आचरणमें कर्तासे क्रियापर्यन्तके कर्म आदमीके अधीन है। दैव, अतीन्द्रिय तथा सूक्ष्म होनेसे कर्मका अध्यक्ष है (गीता १८। १३—१८) भाग्य, अदृष्ट, दैव, भागधेय तथा अनियति—ये परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं; कारण कि आज जो कुछ भी क्रियमाण कर्म किया जाता है, वह भविष्यमें भाग्य या अदृष्टका स्वरूप बनता है; दैव कर्तव्य-कर्म, प्रारब्ध तथा क्रियमाण— इन सम्पूर्ण कर्मोंका अध्यक्ष है; जैसा कि आचार्य शंकरने वेदान्तदर्शन **परात्तु तच्छ्रुतेः** (ब्र०सू० २। ३। ४१)के भाष्यमें कहा है—

जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात्, सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुमीश्वरात् तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः तदनुग्रहहेतुनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः॥ (शां० भा०)

अनेक जन्ममें आचरित कर्मसे जीवात्माको शरीर प्राप्त होता है। वर्तमान शरीरमें जो कुछ पुण्य-पाप-कर्म करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती हैं, वह सब पूर्वजन्ममें आचरित कर्मका संस्कार है। कर्म-संस्कारसे ही आदमीको बलात् पुण्य-पाप-कर्म करनेकी उत्कट प्रेरणा मिलती है। कभी-कभी कर्म-संस्कारसे प्रेरित होकर आदमी न चाहता हुआ भी अन्यथा कर्म कर बैठता है। यद्यपि मनुष्य स्वतः कर्म करनेमे स्वतन्त्र है, तथापि वह अशक्त है। उसे कभी अपने कर्तव्यमें पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिये ईश्वरका अनुग्रह प्राप्त करना पड़ता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल ईश्वरके अनुग्रहसे ही होता है। भागवतके मतमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही दैव हैं, जिनके अनुग्रह प्राप्त किये बिना मनुष्यको भोग अपवर्गकी सिद्धि कदापि नहीं हो पाती।

इसपर महाभारतमें एक इतिहास प्रसिद्ध है। प्राचीन समयमे एक ऋषि-कुमार मङ्किके मनमें धन उपार्जनकी अभिलाषा उत्पन्न हुई। वे अर्थको ही परम पुरुषार्थ मानकर दिन-रात धनोपार्जनके पीछे व्यस्त रहे। पुरुषार्थके आवेशमें आकर ऋषिकुमारको बहुत-सा धन व्यय कर चुकनेपर भी सफलता नहीं मिल पायी। अन्तमें उनके पास थोड़ा-सा धन बच गया था।

उन्होंने उस धनसे व्यवसाय करनेकी इच्छासे दो बछड़े ख़रीदे । एक दिन वे उन दो बछड़ोंको हलकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये खेतमें ले जा रहे थे । दोनों बछड़े रस्सीमें बँधे थे । जब वे खेतकी ओर निकले, तभी रास्तेमें बैठे एक ऊँटको बीचमें करके कूदने लगे । इतनेमें ही ऊँट गुस्सेमें आकर खड़ा हो गया । दोनो बछड़े ऊँटके गलेमें खिलौनेके समान लटक गये और ऊँट दौड़ने लगा । बछड़ोंको ऊँटके गलेमें लटकते गतायुष्य देखकर चिन्तातुर ऋषिकुमार बोले—

यदि चेत् प्रपद्यतेऽत्र पौरुषं नाम कर्हिचित् ।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवाभिपद्यते ॥
(महा० शान्ति० मकि० उपा०)

यदि संसारमें पुरुषार्थ नामकी कोई वस्तु हो भी तो वहाँ-पर भी सूक्ष्मतासे खोज करनेपर यही मालूम पड़ता है कि वस्तुतः वह भी दैव ही है । संसारमें कर्मके द्वारा जिनको विपुल भोग-सामग्री उपलब्ध हुई, वहाँपर भी इस दैव नामका ईश्वरका ही अनुग्रह दिखलायी पड़ता है । **'दैवाधीनं जगत् सर्वम्'** इस उक्तिसे भी यह निश्चय होता है कि सम्पूर्ण कर्म-सिद्धिके अधिष्ठान सर्वशक्तिमान् परमात्मा हैं । सर्वशक्तिमान् सगुण विग्रह परमात्माको लक्ष्य बनाकर उनके अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये जो आदमी वैदिक मन्त्रानुष्ठानकी पद्धतिसे भगवत्पूजा-सेवा-सपर्या करते हैं, यथार्थमें वे ही कर्मयोगी हैं ।

कर्मका आध्यात्मिक स्वरूप

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता० ४ । १८)

'युज् समाधौ'* इस धातुके अनुसार योगका अर्थ चित्त-निरोधात्मक, असम्प्रज्ञात समाधि होता है । जिस प्रकार वैदिक-कर्मकाण्ड तथा ईश्वर-आराधनाके अर्थमें कर्मका विनियोग है, उसी प्रकार अध्यात्मज्ञान एव राजयोग-ज्ञानपर तत्त्व-साक्षात् करनेमें भी कर्म प्रयुक्त होता है । जिस कर्मकेद्वारा अध्यात्म-साक्षात्कार हो, ऐसे योगका नाम कर्मयोग है ।

ज्ञान-कर्म दोनो परस्पर प्रकाश-अन्धकारके समान विरोधी हैं । ऐसा ज्ञान होनेपर यदि सभी विहितकर्म परित्याग करना पड़े, उससे वह कर्म श्रेष्ठ हैं, जिसके आचरणसे अध्यात्म-साक्षात् हो । मान-अपमान, गुण-दोषकी समीक्षा किये बिना अनासक्त हो कर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ है । कर्मका अभिप्राय वेदशास्त्रमें वर्णित यज्ञ-यागादि विहित (काम्य) कर्मसे हैं । अकर्मसे कर्मा-तीत परमात्माका स्वरूप भी निर्दिष्ट होता है । जो आदमी कर्म करते हुए उसमें परमात्माको सर्वव्यापक स्वरूपमें अनुभव करता है, वह कर्ममें अकर्म देखता है ।

जो आदमी लोक-व्यवहारके उपयोगी गुण-दोषात्मक कर्म करता हुआ भी उसमें अकर्मको देखता है, वह संसारमें सबसे बड़ा बुद्धिमान् है । निष्कामकर्मके द्वारा जिसका आत्मा, अन्तः-करण, निर्मल हो चुका है और जिस योगीके मनमें इन्द्रिय-सुखके प्रति किंचित् भी संकल्प नहीं उठता, उसके आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त परमात्माको अपरोक्ष अनुभव कर लेता है । परमात्मा किसी भी प्राणीके दृष्ट अथवा अदृष्ट कर्मको नहीं बनाते, किंतु मनुष्यका ज्ञान, अज्ञानसे आवृत हो चुका है; इसलिये आदमी ज्ञान तथा कर्मके परस्पर-भेदको नहीं समझ पाता । अकर्मको लक्ष्य बनाकर अर्थात् अकर्मकी दृष्टि रखते हुए जो आदमी कर्म करता है, उसके अन्तःकरणका अज्ञान ज्ञानके द्वारा निरस्त होने लगता है । निष्कामकर्म अर्थात् कर्ममें अकर्म देखते हुए कर्म करनेपर ही परस्पर राष्ट्र, समाज, व्यक्तिमें **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** की भावना जाग्रत् हो सकती है ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६ । ३२)

---

* यद्यपि पाणिनीय धातुपाठमें युज् धातुएँ चार हैं । (द्र. पृ. ३३की टिप्पणी) यहाँ समाध्यर्थक युज् धातु ही इष्ट है ।

निष्काम-कर्मयोगकी शास्त्रीय समीक्षा

(लेखक—श्री१०८ वैष्णवपीठाधीश्वर श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

मनुष्यके कल्याणके लिये भगवान्ने उद्धव और अर्जुनके प्रति भक्ति, ज्ञान और कर्म—ये तीन उपाय बताये हैं। इन्हींका निरूपण वेदोंके उपनिषद् एवं संहिताभागमें हुआ है। इस स्थितिमें शुद्धा भक्ति ही निष्काम-कर्मयोग है। इससे चित्तका मालिन्य दूर होकर भगवान्के महत्त्वको जाननेकी योग्यता उपलब्ध होती है और तब उनमें प्रीतिका उदय होता है। उसी प्रेमा भक्तिसे भगवत्प्राप्ति होती है। दूसरे ढंगसे सोचें तो निष्काम-कर्मयोग भक्ति-प्राप्तिका द्वार सिद्ध होता है। इससे नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मनिवृत्तिसे साध्य ज्ञान प्राप्त होता है। इन दोनों ज्ञान और कर्मकी शोभा भक्तिसे होती है। देहली-दीप-न्यायसे भक्ति दोनोंको प्रकाशित करती है। ज्ञानकी शोभा अच्युतभाव (भक्ति)से ही होती है—

नृणां कर्मभिराशुध्या हरिभक्तिः प्रजायते।
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
(श्रीमद्भा० १। ५। १२)

निष्काम-कर्मयोगसे संस्कृत चित्त भगवान्की भक्तिमें अधिकारी होता है। प्रायः कोई भी प्राणी बिना कर्मके नहीं रहता, जीवका कोई-न-कोई मानसिक, वाचिक या कायिक व्यापार चलता ही रहता है। अतः निष्काम-भावसे ही कर्म करना चाहिये। जिसके करनेसे जगद्गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण संतुष्ट हों, वही कर्मपदवाच्य है। **'तत्कर्म हरितोषं यत्'** इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है कि भगवान्को समर्पित किये गये कर्म ही भक्तियोगके उदय होनेमें सहायक हैं; इसीके अधीन ज्ञान या सगुण-निर्गुण परमात्मा हैं—

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥
(श्रीमद्भा० १। ५। ३५)

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन्मनःकल्पनम्। एतदेव हि नैष्कर्म्यम्॥ (श्रीधरी)

अधिकारीके भेदसे भक्ति, ज्ञान और कर्म—ये तीन उपाय कहे गये हैं, उनमेंसे कर्म भगवत्प्राप्तिमें पहला सोपान है, ज्ञान दूसरा और भक्ति तीसरा सोपान है। पहले सोपानका अतिक्रमण कर दूसरे तथा तीसरे सोपानपर आरूढ होना उचित नहीं है। कर्म सामान्यतया नित्य नैमित्तिक, काम्य एवं निषिद्ध-भेदोसे चार प्रकारके हैं। पुनः इनके भी सकाम, निष्काम ये दो भेद हैं। शास्त्रोंने प्रायः गृहस्थोंके लिये सकाम एवं मुमुक्षुजनोंके लिये निष्काम कर्म करनेकी व्यवस्था दी है। मुमुक्षुओंके लिये भी भगवत्प्राप्तिमें प्रतिबन्धक पापोंके निवारणके लिये नित्यनैमित्तिक कार्योंका विधान है—

'नित्यनैमित्तके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।'

अतएव भगवदाज्ञारूप वेदत्रोधित स्नान, संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म एवं प्रायश्चित्तादि नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना वर्णाश्रमी मनुष्योंका अनिवार्य धर्म है जिनके बिना भगवान्की सेवा-पूजामें अधिकार ही नहीं है। इसीलिये गीतामें कहा है—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** भगवदाज्ञासे भगवत्समर्पित कर्म ही सफल होते हैं। वे भक्तिकी उत्पत्ति कर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, अन्यथा वे संसारके कारण हो जाते हैं—

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
(श्रीमद्भा० १। ५। ३४)

भगवदाज्ञाका उल्लङ्घन करना आत्मश्रेयके विरुद्ध चलना है। इसलिये जिस वर्णका, जिस आश्रमका जो धर्म श्रुति-स्मृतिमें प्रतिपादित किया गया है, उसीके अनुसार निर्वाह करनेसे जीवात्मा अपने अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्तिमें अग्रसर हो सकता है; अन्यथा अन्धेके गर्त-

पतनवत् उसकी दुर्दशा होती है; क्योंकि श्रुति-स्मृति या वेद-शास्त्र—ये ही दो विप्रोंके नेत्र हैं। इन्हींके द्वारा मनुष्य कल्याण-पथपर आरूढ होकर गन्तव्य देशको प्राप्त करता है—

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां द्वे प्रकीर्तिते।
काणः स्यादेकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥

'ब्राह्मणोंके दोनों नेत्र श्रुति-स्मृति ही हैं। इनमेंसे एकके बिना वह काना और दोनोके बिना अन्धा होता है।' इस अन्वेषनसे कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार ही नहीं होता। विहित कर्मोंके परित्यागसे और निषिद्ध कर्मोंके स्वीकारसे विकर्मद्वारा अधर्म होता है, जिससे दुर्गति—मृत्युसे मृत्यु प्राप्त होना स्वाभाविक है—

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
(श्रीमद्भा० ११।३।४५)

'भगवत्सेवा-कथादि शुभ कार्योंमें श्रद्धात्मक ज्ञानसे शून्य जो स्वयं वेदोक्त कर्मका आचरण नहीं करता और अपनी इन्द्रियोंपर अङ्कुश न होनेसे पशुकी तरह प्रातः-कालसे लेकर भोजन, स्त्री-सङ्ग आदि विविध साँसारिक कर्मोंमें निरत हो जाता है, फिर निषिद्धाचरणलक्षण अधर्मसे यमराजद्वारा उसका नरकपात होता है। किंतु वेदविहित स्वधर्मके पालन करनेसे और ईश्वरको अर्पण करनेपर वह नैष्कर्म्या सिद्धिको प्राप्त होता है। अहंकर्ता इस अभिनिवेशसे शून्य हो जाता है। यही नैष्कर्म्य मोक्षका साधन होता है। कामना-मूलक फल-श्रुतियाँ तो कर्ममे प्रवृत्तिके लिये रोचनार्थ कही गयी हैं—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(श्रीमद्भा० ११।३।४६)

अतः कामनारहित कर्मोंका अनुष्ठान करना भी निष्काम-कर्मयोग है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-भेदसे सकाम-निष्काम पदवाच्य दो कर्म हैं। पुत्र, कलत्र, अन्न, पशु, धन, धाम, राज्यादि फलका कर्म सकाम है और ज्ञान, भक्ति, फलका निष्काम है। काम्य कर्म यदि सर्वाङ्गीण-रूपसे अनुष्ठित हों तो यथोक्त फल देनेवाले होते हैं। सोद्देश्य—सकाम मन्त्रादिके वैकल्य होनेपर प्रत्यवाय उत्पन्न कर देते हैं। किंतु यथाशक्ति अनुष्ठित निष्काम कर्म ज्ञान-निष्ठा-लक्षण फल पैदा करते हैं, प्रत्यवाय नहीं।

काम्यकर्मविषयक बुद्धिसे निष्काम कर्मविषयक बुद्धिकी विशिष्टता प्रतिपादित की गयी है; क्योंकि लौकिक, वैदिक सभी कर्मोंमें निश्चयात्मिका बुद्धिका अभाव है। उसके अन्न, स्वर्गादि अनन्त काम्य विषय हैं। इसलिये काम्यकर्म करनेवालोंकी बुद्धि भी अनन्त होती है। निष्काम कर्ममें तो देहादिसे अतिरिक्त आत्मतत्त्व-ज्ञान-मात्र अपेक्षित है। भगवदर्चनरूप निष्काम कर्मोंसे चित्तकी विशुद्धिद्वारा ज्ञान उत्पन्न होनेपर आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव होता है, ऐसी निश्चयरूपा बुद्धि एक ही है। कामनासे किये हुए कर्म अपने फलसे सम्बन्ध करते हैं। अतः वे प्रतिबन्धक सिद्ध होते हैं और निष्कामभावसे किये हुए कर्म व्यष्टि धान्यवत् भीतर ही ज्ञाननिष्ठा पैदा कर देते हैं; अर्थात् निष्काम कर्म ही ज्ञानयोगरूपसे परिणत हो जाते हैं। अतः निष्काम कर्म ही आत्माके यथार्थ ज्ञानका साधन है और काम्य-कर्म जन्म-मरणादि अनर्थ परम्पराका निमित्त है जिसके परवश हुआ जीव दीनहीन हो जाता है।

जैसे कृपणजन बडे कष्टसे प्राप्त हुए धनसे अदृष्ट सुख लवलेशके लोभी धन देनेमे असमर्थ होकर दान-सुखसे वञ्चित हो जाते हैं, वैसे ही कष्टसाध्य कर्मोंसे तुच्छ फलके लोलुप बनकर प्राणी महान् आत्म-सुखसे वञ्चित हो जाता है, अतः काम्यकर्मोंका परित्याग कर निष्काम कर्म करना ही श्रेयस्कर है, जिससे चित्तकी अत्यन्त शुद्धिद्वारा भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक भगवत्प्रीतिसे ही भगवत्प्राप्ति होजाती है। निष्काम कर्मयोग एवं ज्ञानयोग

सात्त्विक हैं, भक्ति गुणातीत है । उसके द्वारा जीवात्मा निस्त्रैगुण्यताको प्राप्तकर सकता है । यह सब कुछ भगवत्कृपैक-साध्य है । इसलिये भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे हरितोषक कर्मोंको करना ही विशेष लाभदायक है । वर्णाश्रम-धर्म-कर्मका पालन तबतक करें, जबतक भगवत्कथा-श्रवण-कीर्तनादि रूप साधन-भक्तिमें श्रद्धा न हो; जब हृदय भगवदासक्त हो जायगा, तब कर्म स्वतः छूट जायँगे, उन्हें छोड़ना न पड़ेगा । स्वधर्मके परित्यागसे एवं भक्ति, ज्ञानके अभावसे जीव इतोभ्रष्ट, ततोभ्रष्ट हो जाता है, अर्थात् उभयलोकोंसे च्युत हो जाता है । अतः सिद्धावस्थापन्न हुए बिना कर्मत्याग अनुचित है । भगवद्व्रती होनेपर कर्म करना या न करना एक-सा ही है, वस्तुतः इस अवस्थामें भी लोक-संग्रहके लिये कर्म करना ही योग्य है जिससे वर्णाश्रम व्यवस्था भङ्ग न होने पावे—

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।'

(गीता ३ । २१)

मद्य-मांसका सेवन, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्म तो पातक होनेसे सभीके लिये ही त्याज्य हैं । शास्त्रीय काम्यकर्म बन्धनकारक तथा जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले होनेके कारण त्याज्य हैं । नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको लौकिक और वैदिक विधिके अनुसार फलाशा छोड़कर केवल भगवान्के आदेशानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिये । भगवत्प्रीत्यर्थ वही कर्म होते हैं, जो भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ानेवाले होते हैं ।

भगवद्गीतानुसार आसक्ति और फलाशा छोड़कर मन, वाणी और शरीरसे भगवान्के अनुकूल कर्म करना और प्रतिकूल कर्मोंका परित्याग करना ही निष्काम-कर्मयोग है । प्रेमा भक्तिकी उन्मादमयी स्थितिको प्राप्त न होनेतक ऐसे भगवदनुकूल कर्म प्रेमी भक्तके द्वारा स्वाभाविक हुआ करते हैं ।

विधि-निषेधके अधीन अलौकिक भगवत्प्रेम प्राप्त करनेका मनमें दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये; अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये । यह बात नारदजीने 'भक्तिसूत्र'में स्पष्ट कही है—

भवतु निश्चयदाढर्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥

(नारदभ० सू० १२)

बाह्य-ज्ञान-शून्य, विधि-निषेधसे परे प्रेमकी सिद्धावस्था-में लौकिक और वैदिक कर्मोंका त्याग अपने-आप ही हो जाता है, जान-बूझकर किया नहीं जाता । इसलिये जबतक प्रेमकी वैसी, सब कुछ भुला देनेवाली स्थिति प्राप्त न हो जाय, तबतक प्रेमके नामपर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये । इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने उद्धव और अर्जुनको माध्यम बनाकर सभीको उपदेश दिया है कि कर्म करो—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ९)

शास्त्रानुसार भगवान्के समर्पण-बुद्धिसे भगवदनुकूल नित्य-नैमित्तिक कर्म और श्रवण, कीर्तन, भजनादि करते-करते ही भगवान्का परमोच्च प्रेम प्राप्त होता है । भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(गीता १६ । २४)

शास्त्रके विमुख कामादिके अधीन प्रवृत्ति पुरुषार्थसे भ्रंश कर देती है; अतः तुम्हारे लिये क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्थामें शास्त्र-निर्दोष अपौरुषेय वेद रूप और वेदानुकूल स्मृति-शास्त्र ही प्रमाण है । भ्रमादि दोषवाले पुरुषसे उत्प्रेक्षित वाक्य प्रमाण नहीं है । अतः विहित एवं निषिद्ध कर्म जानकर तुम्हें इस कर्म-भूमिमें निषिद्ध कर्मका त्यागकर

शास्त्र-विधिके अनुसार ही लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये, नहीं तो गिर जानेकी आशङ्का है—

'अन्यथा पातित्यशङ्कया ।' (नारदभक्ति सूत्र १३)

जो मनुष्य जान-बूझकर शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन न कर शास्त्रके प्रतिकूल अमर्यादित कार्य करता है और उसे प्रेमका नाम देकर दोषमुक्त होना चाहता है, वह अवश्य ही गिर जाता है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गीता १६ । २३)

'जो मनुष्य शास्त्रकी विधि छोड़कर मनमाना स्वेच्छाचार करता है, वह न सिद्धि पाता है, न परम गति पाता है और न उसे सुखकी ही प्राप्ति होती है । जानबूझकर-शास्त्र-विहित कर्मोंका त्याग करना प्रेमका आदर्श नहीं है । और इसीके परिणाममें आसुरी योनि, नरक और दुःखोंकी प्राप्ति होती है । वैदिक कर्मके साथ ही लौकिक जीविका, गृहस्थाश्रम- पालन आदिके कार्य भी सावधानीके साथ भगवदनुकूल विधिके अनुरूप करने चाहिये । इससे अवश्य ही एक ऐसी बाह्य-ज्ञानशून्य प्रेमकी वह पूर्णतम स्थिति (सिद्धावस्था) होती है जिसमें वैदिक, लौकिक कार्य अनायास ही छूट जाते हैं । परंतु उस स्थितिके प्राप्त होनेतक दोनों प्रकारके कर्म विधिवत् अवश्य करने चाहिये; क्योंकि वैसी विधिनिषेधातीत स्थितिमें तो वे आप ही छूट जायँगे, परंतु आहारादि कर्म उस अवस्थामें भी रहेंगे; क्योंकि वे शरीरके लिये आवश्यक हैं । यद्यपि प्रेमके नशेमें चूर हुए भक्त आहारादिके लिये चेष्टा नहीं करते, फिर भी योगक्षेम-वहनकारी भगवान्‌के विधानसे उसे आहारादिकी प्राप्ति होती रहती है । अवश्य ही वह भगवत्प्रसाद ही होता है ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

इसलिये श्रुति-स्मृति दोनों भगवदाज्ञारूप हैं । उनका उल्लङ्घन कर जो वर्तता है, वह आज्ञाका उच्छेदन करनेवाला भगवद्द्रोही है । भक्त होनेपर भी वह वैष्णव नहीं है, वास्तविक विष्णु-भक्त नहीं है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥
(वाधूलस्मृति)

निष्काम-कर्मसे जीवन्मुक्ति

ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मयोग है । निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । अन्तःकरण शुद्ध होनेसे आत्माका ज्ञान हो जाता है, आत्माका ज्ञान होनेसे भोगोंकी आसक्ति निवृत्त हो जाती है, भोगोंकी आसक्ति निवृत्त होनेसे वासनाओंकी निवृत्ति हो जाती है, वासनाओंकी निवृत्ति होनेसे अधिकारीका संसार निवृत्त हो जाता है, संसारनिवृत्त हो जानेसे अधिकारी एक ईश्वरकी शरण लेता है, ईश्वरकी शरण लेनेसे सब धर्म-अधर्म छूट जाते हैं; क्योंकि समस्त धर्म देहके हैं, आत्माका कोई धर्म नहीं है । सभी धर्माधर्मोंके छूट जानेसे जिस प्रकार आँख सर्वत्र रूपको देखती है, उसी प्रकार अधिकारीकी बुद्धिकी वृत्ति सर्वत्र ब्रह्म—आत्माको ही विषय करती है । ऐसा पुरुष जीता हुआ ही निरन्तर मुक्तिके सुखका अनुभव करता है; जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर त्यागनेके पीछे विदेह-मुक्तिके सुखका अनुभव करता है ।

—ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीभोलेबाबाजी महाराज

कल्याणका सुगम साधन—कर्मयोग

(लेखक—श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्यमें कर्म करनेकी एक स्वाभाविक रुचि रहती है । कारण यह है कि वह कुछ-न-कुछ पाना चाहता है । अतः कुछ-न-कुछ पानेके उद्देश्यसे वह जन्मसे मृत्युपर्यन्त आसक्तिपूर्वक कर्मोंमें लगा रहता है । कुछ पानेकी आशाके कारण कर्मोंमें उसकी आसक्ति इतनी अधिक रहती है कि जब वृद्धावस्थामें उसकी इन्द्रियाँ कर्म करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, तब भी वह कर्मोंसे असङ्ग नहीं हो पाता । इस प्रकार आसक्तिपूर्वक कर्म करते-करते ही वह कालके मुखमें चला जाता है । ऐसी परिस्थितिमें हठपूर्वक कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा कोई ऐसा उपाय ही सफल हो सकता है, जिसके अन्तर्गत शास्त्रविहित कर्म करते हुए ही कर्मासक्ति मिटकर मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति हो जाय । इस दृष्टिसे मनुष्यके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान ही एक सफल एवं सुगम उपाय है । श्रीमद्भागवत-(११ । २० । ६–७) में भगवान्‌के वचन हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग बतलाये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग । इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याणका मार्ग नहीं है । जो अत्यन्त वैराग्यवान् हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जो संसारमें आसक्त हैं, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं ।' (आगे यह भी कहा है कि—जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं ।) ।

उपर्युक्त भगवद्वचनोंके अनुसार इस समय संसारमें कर्मयोगके अधिकारियोंकी संख्या ही अधिकतम सिद्ध होती है । यहाँ शङ्का होती है कि संसारमें आसक्त मनुष्य (निष्काम-) कर्मयोगके मार्गपर (परमात्माकी तरफ) कैसे चल पायेंगे ? इसका समाधान भगवान्‌ने—**'नृणां श्रेयो विधित्सया'** इत्यादि पदोंमें कर दिया है । तात्पर्य यह कि सांसारिक भोग और उनके संग्रहमें रुचि रहते हुए भी जो मनुष्य हृदयसे (वास्तवमें) उनमें अपनी रुचिको हटाकर अपना कल्याण करना चाहता है, वह कर्मयोगका पालन करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है । कर्मयोगके द्वारा साधकका अपना (वास्तव) कल्याण करनेका विचार जितना दृढ होगा, उतना ही शीघ्र उसका कल्याण होगा ।

कर्मयोगका तात्पर्य है—शरीरसे कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त करना । कर्मयोगमें दो शब्द हैं—कर्म और योग । शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको 'कर्म' कहते हैं । इस योगकी व्याख्या भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—(१) समताको योग कहते हैं—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २ । ४८) और (२) दुःख-संयोगके वियोगको योग कहते हैं—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६ । २३) । परमात्मा 'सम' है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५ । १९), अतः समतासे परमात्मामें स्थिति होती है, जिसे 'योग' कहते हैं । संसारसे सम्बन्ध ही दुःख-संयोग है । अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'योग'-(समता या परमात्मा-) की प्राप्ति हो जाती है* । कर्मयोगमें योगका

* पातञ्जलयोगदर्शन समाधिको 'योग' मानता है; पर गीता परमात्माके नित्यसिद्ध सम्बन्धको ही 'योग' मानती है । पातञ्जलयोगदर्शनका 'योग' शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे और गीतोक्त 'योग' शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे निष्पन्न है । मनुष्यका परमात्मासे नित्य सम्बन्ध है, परंतु संसारके साथ माने हुए सम्बन्धके कारण वह उस नित्य सम्बन्धको

ही महत्त्व है, 'कर्म'का नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि कर्मबन्धनसे बचनेके लिये 'योग' ही मार्ग है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २ । ५०)।

'कर्म'का सम्बन्ध संसार (जड़ता) से एवं 'योग'का सम्बन्ध स्वयं (चेतन)मे होता है। अतः 'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये होता है। कर्मयोगमें कर्म, कर्मसामग्री और कर्मफलके साथ ममता, कामना एवं आसक्तिका सर्वथा त्याग होना आवश्यक है। कामना और आसक्तिका त्यागकर केवल संसारके हितके लिये कर्म करनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव भगवान् कहते हैं कि यज्ञार्थ कर्म–(ईश्वर या दूसरोंके हितके लिये किये गये कर्म)के अतिरिक्त अन्य (अपने लिये किये गये) सभी कर्म बाँधनेवाले होते हैं—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'
(गीता ३ । ९)

अब प्रश्न उठता है कि 'कर्म' तो जड़ प्रकृतिसे ही होते हैं, अतः वे भी जड़ हैं, फिर चेतनको कैसे बाँधते हैं ?

समाधान—यद्यपि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है[1]। स्वयं (चेतनतत्त्व)में कभी कोई क्रिया नहीं होती। हाँ, चेतनके प्रकाशसे ही प्रकृति क्रियाशील होती है। किन्तु भूलसे जब 'स्वयं' (चेतनतत्त्व) प्रकृतिके साथ 'अपनापन'का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब वह प्रकृतिके परवश होकर उसमें होनेवाली क्रियाओंको अपनेमे आरोपित कर लेता है[2]! इसलिये कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं सविकल्प समाधितकमें भी) क्षणमात्रके लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कारण यह है कि प्रकृतिजनित गुणोंके वशमें होकर सभी मनुष्योंको कर्म करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है[3]। इसीलिये मनुष्योमे स्वभावसे ही कर्म करनेका एक वेग विद्यमान रहता है। हठपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करने अथवा अपने लिये कर्म करनेपर वह वेग शान्त नहीं होता[4]। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेपर ही वह वेग शान्त हो सकता है। इस दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मयोगका अनुष्ठान करना सभीके लिये आवश्यक एवं सुगम है।

मनुष्य-शरीर कर्मयोनि है; क्योंकि इस शरीरद्वारा किये गये कर्मोंको ही सर्वत्र भोगना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि कर्मोंको सुचारुरूपसे करनेका विवेक

भूल गया—उससे विमुख हो गया है। अतः ससारसे सम्बन्ध-विच्छेद 'ज्ञान'से करनेपर ज्ञानयोग, 'कर्म'से करनेपर कर्मयोग और 'भक्ति'से करनेपर भक्तियोग होता है। इस प्रकार ससारसे सम्बन्धविच्छेदपूर्वक परमात्माके नित्यसम्बन्ध अर्थात् 'नित्ययोग'को जो अनादिकालसे नित्यसिद्ध है, प्राप्त करनेका नाम 'योग' है।

१—प्रकृति किसी भी अवस्थामे कभी अक्रिय नहीं रहती। महाप्रलयकी अवस्थामे भी प्रकृति निरन्तर क्रियाशील रहती है। इसीलिये महाप्रलयकी समाप्ति और सृष्टिका आरम्भ होता है। इसी प्रकार निद्रा, समाधि आदिकी अवस्थाओमे भी क्रियाएँ सूक्ष्मरूपसे निरन्तर होती रहती हैं। उदाहरणार्थ—किसी सोये हुए मनुष्यको समयसे पूर्व ही जगा देनेपर उसे—'मुझे कच्ची नींदमें जगा दिया,' यह वाक्य कहते सुना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रावस्थामे भी सूक्ष्मरूपसे नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। जब पूरी नींदके बाद मनुष्य जगता है, तब वह ऐसा नहीं कहता; क्योंकि नींदका पकना पूरा हो गया।

२—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (गीता ३ । २७)

३—न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गीता ३ । ५)

४—न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ (गीता ३ । ४)

भी इसे भगवान्‌की कृपासे मिला है। यद्यपि जीवन-निर्वाहका ज्ञान तो भगवान्‌ने पशु-पक्षियोंको भी दिया है, किन्तु उनकी बुद्धिके विकासके अभावमें वह विवेक जागृत नहीं हो पाता जिससे वे कर्तव्यका सम्पादन कर संसारसे मुक्त हो सकें। बुद्धिके विकासके कारण केवल मानव-शरीरमें ही वह अलौकिक विवेक जागृत रहता है जिससे वह अपने कर्तव्यका पालनकर अपना तथा दूसरोंका कल्याण कर सके। किंतु खेद है कि मनुष्य संयोगजन्य सुखप्राप्तिमें (जो कि अन्तमें दुःख देनेवाले हैं) एवं भोग-पदार्थोंके संग्रह करनेमें तथा अनुकूलताकी प्राप्तिमें सुखी एवं प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें दुःखी होनेमें विवेकका दुरुपयोग कर बैठता है। वह यह नहीं समझता कि अनुकूलता तथा प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें सुखी-दुःखी होना तो पशु-पक्षियोंमें भी है, जिनके सामने कर्तव्यका प्रश्न ही नहीं है। अतः मानवको अपनी कहलानेवाली शरीरादि सामग्रीसे तथा उनकी क्रियाओंसे केवल दूसरोंको सुख पहुँचाना—सेवा करना ही विवेकका सदुपयोग है और यही मानवका परम पुरुषार्थ है।

कर्मयोगकी ऐसी विलक्षणता है कि साधक किसी (ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगके) मार्गपर क्यों न चले, कर्मयोगकी प्रणाली (अपने लिये कुछ नहीं करना तथा जिसकी सामग्री है उसके लिये करना यह प्रणाली) उसको अपनानी ही पड़ेगी; क्योंकि सभीमें क्रियाशक्ति निरन्तर रहती है। इसीलिये भगवान्‌ने ज्ञानयोगीके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५, १२। ४) तथा भक्तियोगीके लिये **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३) कहकर दोनोंके लिये दूसरोंके हितार्थ कर्म (निष्काम-कर्म) का होना अनिवार्य बतलाया है।*

निष्कामकर्ममें कर्ता निष्काम होता है, कर्म नहीं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म स्वयं निष्काम या सकाम नहीं हो सकते। निष्काम कर्ताके द्वारा ही निष्काम कर्म होते हैं, जिसे कर्मयोग कहते हैं। अतः चाहे कर्मयोग कहो या निष्कामकर्म—दोनोंका अर्थ एक ही होता है। सकाम कर्मयोग होता ही नहीं। इसलिये कर्ताका भाव नित्य निरंतर निष्काम रहना चाहिये।

कर्मयोगीको किसीका भी अहित सहन नहीं होता; क्योंकि जैसे शरीरके प्रत्येक अङ्गका सम्पूर्ण शरीरके साथ अविभाज्य सम्बन्ध है, वैसे ही संसारके एक शरीरका सम्पूर्ण शरीरोंसे अविभाज्य सम्बन्ध है। जैसे मनुष्य अपने शरीरके प्रत्येक अङ्गके सुख-दुःखमें सुखी और दुःखी होता है, वैसे ही कर्मयोगी प्राणिमात्रके सुख और दुःखमें अपना सुख और दुःख देखता है†। दाँतोंसे जीभ कट जानेपर अपने दाँतोंको तोड़ देनेका भाव किसीमें भी नहीं आता, इसी प्रकार अपना कहलानेवाले शरीरका अनिष्ट करनेवालेका भी (आत्मीयताके कारण) अहित करनेका भाव कर्मयोगीमें कभी नहीं आता।

मनुष्यके पास (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सामर्थ्य, योग्यता, विद्या, धन, भूमि आदि) जितनी भी सामग्री है, वह सब-की-सब उसे समष्टि-संसारसे ही मिली है, उसकी अपनी व्यक्तिगत नहीं है। प्रत्यक्ष है कि इन मिले हुए पदार्थोंपर हमारा कोई अधिकार नहीं चलता।

---

* ज्ञानयोगीका समस्त प्राणियोंके हितके प्रति प्रीति होनेके कारण एवं भक्तियोगीका सभीके प्रति मैत्री एवं करुणाका भाव होनेके कारण उनसे स्वतः ही केवल परहितार्थ ही कर्म होंगे जो कि कर्मयोगकी मुख्य बात है।

† आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६। ३२)
हे अर्जुन! जो योगी अपने शरीरकी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

*

इन पदार्थोंको हम अपने इच्छानुसार न तो रख सकते हैं, न उनमें कोई मनमाना परिवर्तन ही कर सकते हैं। इन्हें न तो हम अपने साथ लाये हैं, न साथ ले जा सकते हैं। वास्तवमें ये पदार्थ हमे सदुपयोग करने, विशेषतः दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही मिले हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो उस वस्तुका केवल अपने लिये भोग करता है, उसे भगवान् पापी कहते हुए केवल पापोंको खानेवाला बताते हैं।* इतना ही नहीं, भगवान् ऐसे पुरुषको पापायु कहते हुए उसके जीवनको ही व्यर्थ बतलाते हैं।†

संसारसे प्राप्त शरीरसे हमने अभीतक अपने लिये ही कर्म किये हैं, अपने सुख-भोग और संग्रहके लिये ही उस शरीरका उपयोग किया है। इसलिये संसारका हमपर ऋण है। इस ऋणको उतारनेके लिये हमें केवल संसारके हितके लिये कर्म करने हैं। फलकी कामना रखकर कर्म करनेसे पुराना ऋण तो उतरता नहीं, नया ऋण और उत्पन्न हो जाता है। ऋणसे मुक्त होनेके लिये नया जन्म लेना पड़ता है।‡ दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना ऋण समाप्त हो जाता है और निष्कामभावसे कर्म करनेसे नया ऋण उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिसे (जन्म-मरणसे छूटनेके लिये) कर्मयोगका पालन करना सभीके लिये आवश्यक है।

कर्मयोगके (मूलसिद्धान्तके) विषयमें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २।४७)

तात्पर्य यह है कि मनुष्यको केवल कर्म करनेका अधिकार है। पुराने कर्मोंके फलस्वरूप मिली हुई सामग्रीपर तथा नये (अभी किये जानेवाले) कर्मोंके फलस्वरूप आगे मिलनेवाली सामग्रीपर भी उसका कोई अधिकार नहीं है। इसलिये मनुष्यको कर्मोंके फलका हेतु भी नहीं बनना चाहिये; और कर्म न करनेमें उसकी आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये।

हमारे पास कोई भी सामग्री 'न अपनी है, न अपने लिये है'। यह सामग्री संसारकी और संसारके लिये ही है। मनुष्य भूलसे ही उस सामग्रीको अपनी और अपने लिये मानकर बँधता है और फलकी कामना करके भविष्यमें भी बँधनेकी तैयारी कर लेता है।§ कर्मयोगीकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही दूसरोंकी सेवा करनेकी रहती है। अतः भोग और संग्रहमें उसकी आसक्ति स्वतः मिट जाती है। कर्मयोगमें व्यक्तिगत सुखका सर्वथा त्याग होता है। इसलिये भगवान्‌ने कर्मयोगको त्यागके नामसे कहा है, जिसका वर्णन गीतामें १८वें अध्यायके ४थे श्लोकसे

---

* भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। (गीता ३।१३)

† एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (गीता ३।१६)
'पार्थ! जो पुरुष इस लोकमे इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोमे रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

‡ गतागतं कामकामा लभन्ते (गीता ९।२१)—'भोगोंकी कामना करनेवाले पुरुष बार-बार आवागमन (जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं।'

§ इसीलिये गीतामे श्रीभगवान्‌ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागकी ओर संकेत किया है। जैसे—'मा फलेषु कदाचन', 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (२।४७); 'कृपणाः फलहेतवः' (२।४९); 'फलं त्यक्त्वा मनीषिणः' (२।५१); 'न मे कर्मफले स्पृहा' (४।१४); 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' (४।२०); 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' (५।१२); 'अनाश्रितः कर्मफलम्' (६।१); 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते' (६।४), 'सर्वकर्मफलत्याग' (१२।११); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' (१८।६); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' (१८।९); 'यस्तु कर्मफलत्यागी' (१८।१२) इत्यादि।

१२वे श्लोकतक किया गया है । अपने व्यक्तिगत सुखकी बात तो दूर रही, कर्मयोगके मार्गपर स्थूलशरीरसे होनेवाली सेवा, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तन, ध्यान आदि और कारण-शरीरसे होनेवाली समाधितकके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके कल्याणके लिये ही करता है, अपने कल्याणके लिये बिल्कुल नहीं।

क्योंकि वह संसार-कल्याणके अतिरिक्त अपना कल्याण नहीं मानता । कर्मयोगिद्वारा जब अपने लिये कुछ भी कर्म न कर केवल समस्त जगत्के हित-भावसे किये जाते है तो उसका सम्बन्ध भगवान्की उस शुद्ध प्रकृतिके साथ जुड़ जाता है, जो सदा प्राणिमात्रके हितमे स्वतः ही लगी हुई है । इस कारण भगवान्की कृपासे उस-(कर्मयोगी-)के भी समस्त कर्म स्वतः ही लोकहितार्थ होंगे । इसमें उसे किसी प्रकार श्रम या बाधाका अनुभव नहीं हो सकता ।

यद्यपि अपना कल्याण चाहना भी श्रेष्ठ है, पर संसारका कल्याण चाहना उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ है । वस्तुतः संसारके कल्याणसे अलग अपना कल्याण मानना ही भूल है । मनुष्य अपने कल्याणके लिये जो भी कुछ करता है, वह सब संसारद्वारा प्रदत्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके संगठनसे ही करता है । अतः कर्म संसारकी सामग्रीसे करना और कल्याण अकेले चाहना न्याययुक्त नहीं है । यह बात दूसरी है कि संसारके कल्याणकी चाहनामें अपना कल्याण निश्चितरूपसे स्वतः हो जाता है ।

विचार करनेकी बात है कि कर्म और क्रियामें बहुत अन्तर है । कर्ममें कर्तृत्वाभिमान रहता है, अतः उसका फल होता है । क्रियामें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, अतः उसका फल भी नहीं होता । इसे ही कर्ममे अकर्म बताया गया है* कर्मयोगी कर्म करते हुए भी (कामना, ममता, आसक्ति आदि न होनेके कारण) कर्मोसे स्वाभाविकरूपसे निर्लिप्त रहता है । इसलिये उससे क्रिया होती है, कर्म नहीं होता†—अतएव उसके अन्तःकरणमे अनुकूलता-

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता ४ । १८)

'जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योमे बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोको करनेवाला है ।'

† यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते है तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते है ।'

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
'जो पुरुष समस्त कर्मोमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है, वह कर्मोमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।'

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
'जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता ।'

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
'जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो

प्रतिकूलतासे होनेवाले हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते हैं। यदि अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका उसपर प्रभाव पड़ता है तो वह कर्मयोगी नहीं अपितु कर्मी है। संसारसे किसी भी प्रकारकी आशा (यहाँतक कि आत्मकल्याण की चाहना) रखनेवाला मनुष्य कर्मयोगका अनुष्ठान नहीं कर सकता।

यद्यपि कर्मयोगीको संसारकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, पर संसारको कर्मयोगीकी बहुत आवश्यकता रहती है; क्योंकि आदर्शतः कर्मयोगका पालन करके मनुष्य संसारमात्रके लिये बहुत उपयोगी हो जाता है। इसके विपरीत अपने स्वार्थके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य न तो संसारके लिये और न अपने लिये ही उपयोगी हो सकता है।

आजकल लोगोंमें प्रायः यह बात प्रचलित है कि मनुष्यके लिये ही यह सब संसार-सुख—भोग बने हैं, अतः इन्हे भोगना चाहिये। यह बिल्कुल गलत बात है। वास्तवमें मनुष्य संसारके लिये है, न कि संसार मनुष्यके लिये। चौरासी लाख योनियोंमे जितने जीव हैं, वे सब कर्मफल भोगनेके लिये मानो जेलखानेमें पडे कैदी हैं। कैदियोके प्रबन्ध और हितके लिये जैसे अफसर रहता है, वैसे ही मनुष्य संसारके प्रबन्ध और हितके लिये है। प्याऊपर बैठा व्यक्ति यदि यह सोचे कि जल मेरे लिये ही है अथवा अन्नका वितरण करनेवाला यह सोचे कि अन्न मेरे लिये ही है, तो यह कितनी मूर्खताकी बात होगी। ऐसे ही संसार-सुख-भोगोंको अपना और अपने लिये मानना मूर्खता ही है।

लोग ऐसी शङ्का भी किया करते हैं कि भजन-ध्यान करने, दूसरोंकी सेवा करने, परमात्माको प्राप्त करने आदिकी कामना भी तो 'कामना' ही है, फिर सर्वथा निष्काम कैसे हुआ जा सकता है? इसका समाधान यह है कि स्वरूपको जाननेकी कामना, सेवा करनेकी कामना, भगवान्‌के प्रेम-प्राप्तिकी कामना 'कामना' नहीं है। वस्तुतः नाशवान् (असत्)की कामना ही 'कामना' है; अविनाशी (सत्)की कामना 'कामना' नहीं है; क्योकि वह अपना है। संसारसे प्राप्त वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेकी कामना 'कामना' नहीं है, अपितु 'त्याग' है; क्योकि विनाशी (असत्) होनेके कारण संसार भी अपना नही है और उससे प्राप्त वस्तु भी अपनी नहीं है।

लोग प्रायः कहा करते हैं कि यदि हम किसी प्रकारकी कामना न करें, तो धनादि कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। अतः कामना किये बिना हमारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा? यह बात भी बिल्कुल निराधार है।

इस विषयमे थोड़ा विचार करनेकी आवश्यकता है। कामनापूर्तिमें चार बातोंका होना जरूरी है। अर्थात् वही कामना पूरी करनी चाहिये, (१) जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे हो (जो वर्तमानमें उत्पन्न हुई हो), (२) जिसकी पूर्तिकी साधन-सामग्री वर्तमानमें उपलब्ध हो, (३) जिसकी पूर्तिके बिना जीवित रहना संभव न हो तथा (४) जिसकी पूर्तिसे अपना एवं दूसरोंका किसी-का भी अहित नहीं होता हो; जैसे भूख, प्यास आदि

हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है, ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता।'

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४। १९—२३)

'जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

वर्तमानमें लगी है, इनकी पूर्तिके लिये वर्तमानमें ही भोजन व जलादि उपलब्ध हैं भूख-प्यास आदिकी निवृत्तिके बिना जीना संभव नहीं है तथा भूख-प्यास आदिकी निवृत्तिसे अपना व दूसरेका अहित नहीं हो रहा -है—इस प्रकारकी शरीर-निर्वाहमात्रकी कामना-पूर्तिमें कोई बाधा नहीं है, अपितु इन आवश्यक कामनाओंकी पूर्तिसे तो अनावश्यक कामनाओंके त्याग-में बल मिलता है। इनके अतिरिक्त भोगपदार्थोंकी कामना-पूर्तिसे बन्धन ही होगा।

वास्तवमें किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति 'कामना'के कारण नहीं, अपितु प्राप्त वस्तुके सदुपयोग अर्थात् कर्तव्य-कर्मके कारण होती है। पहलेके सदुपयोगके कारण वर्तमानमें एवं वर्तमानके सदुपयोगके कारण भविष्यमें अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति अवलम्बित है। सदुपयोगका तात्पर्य है—वर्तमानमे प्राप्त सामग्रीके द्वारा केवल लोक-हितार्थ कर्तव्य-कर्मोंका आचरण। यदि वह सदुपयोग निष्काम-भावसे किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति एवं सकामभावसे किया जाय तो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति हो सकती है।

वास्तवमे सांसारिक पदार्थोंकी कामनाके बाद जब वे पदार्थ हमें मिलते हैं तो उनकी प्राप्तिमें हमें सुख प्रतीत होता है। वह सुख उन पदार्थोंकी प्राप्तिसे नहीं हुआ है। यदि पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुख होता तो उनके मिलनेपर तथा उनके रहनेपर कभी कोई दुःख नहीं होना चाहिये था। और तो और कम-से-कम जो पदार्थ कामनाके बाद मिला है, उस पदार्थको लेकर तो दुःख होना ही नहीं चाहिये, किन्तु फिर भी दुःख होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थ-प्राप्तिके बाद होने-वाला सुख पदार्थप्राप्तिका सुख नहीं है। अपितु कामना-निवृत्तिका सुख है। कारण कि, कामनाओके माध्यमसे उन पदार्थों आदि काम्यका मनसे गहरा सम्बन्ध हो जाता है, इसीलिये उनके न मिलनेपर दुःख व अशान्ति होती है। ज्यों ही उन काम्य-पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, त्यों ही उनका मनसे सम्बन्ध हट जाता है। इसीसे शान्ति व सुख होता है। इस सुखमें यद्यपि कामनाका न रहना (निष्कामता) ही है, तथापि भूलवश मनुष्य इसे पदार्थोंकी प्राप्तिसे मिलनेवाला मानकर पुनः नयी-नयी कामनाएँ करने लगता है। इसी कारण वह कामना-निवृत्ति अर्थात् निष्कामताको सुरक्षित नहीं रख पाता। अतएव कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

यदि मनुष्य यह विचार करे कि वास्तवमें सुख तो कामना-निवृत्तिका ही होता है तो फिर उसके जीवनमें कामनाओंका कोई स्थान रह ही नहीं सकता। कामना-निवृत्ति (निष्कामता) में तो मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है, क्योंकि इसमे किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती, जब कि कामनापूर्तिमें तो देश, काल, कर्म, व्यक्ति आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी परतन्त्रताएँ हैं।

सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है, पर कामनाओंका सर्वथा त्याग करनेकी सामर्थ्य सभीमें है। अतः मनुष्य कामनाओंका सर्वथा त्याग कर सकता है*। कामनाओंका सर्वथा त्याग होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है जो कि नित्य प्राप्त है।

धनादि समस्त सांसारिक वस्तुएँ कर्म करनेसे प्राप्त होती हैं। जो वस्तु कर्मके अधीन है, वह कामना करनेसे कैसे प्राप्त हो सकती है? अतः उसके लिये कामना करना व्यर्थ ही है। इसके अतिरिक्त कामना पूरी हो जानेपर हम उसी अवस्थामें आ जाते हैं, जिसमें कामना उत्पन्न होनेसे पूर्व थे। कामना कभी किसीकी पूरी नहीं

* प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। (गीता २। ५५)

होती और कामनाके अनुरूप प्राप्त वस्तु भी सदा रहनेवाली नहीं होती। अतएव कामना करनेसे पराधीनताके सिवा कुछ नहीं मिलता।

कामनायुक्त प्रत्येक प्रवृत्ति या कर्म बाँधनेवाला होता है। कामनाका नाश हुए बिना शान्तिकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।* कामना करनेसे लाभ तो कुछ नहीं होता, पर हानि किसी प्रकारकी शेष नहीं रहती। मिली हुई वस्तु- (शरीरादि-)को अपना माननेसे कामना उत्पन्न होती है। वास्तवमे कामनाका मनुष्यजीवन- (की सिद्धि-प्राप्ति-)मे कोई स्थान नहीं है। कामना-रहित होकर दूसरोके लिये कर्म करनेमे ही मनुष्य-जीवनकी सफलता है। अतएव गीतामें भगवान् मनुष्यमात्रको निष्काम-भाव-पूर्वक परहितार्थ कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

'हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान-बुद्धि होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्य कर्मोंको कर। समत्व ही योग कहलाता है।' कर्मयोगकी विलक्षण महिमाका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२।४०)

'इस कर्मयोगमे आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; अपितु इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु-रूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है†।' यही कारण है कि कर्मयोगको कल्याणका सुगम साधन कहा गया है। इसकी साधना सभी सदा और सर्वत्र आसानीसे कर सकते हैं। अतएव श्रीभगवान्ने कर्मयोगको निश्चित फल प्रदान करनेवाला (गीता ३।२०) स्वतंत्र साधन (गीता ५।४-५ व १३।२४) बताया है।

कर्मयोगका वैशिष्ट्य

आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन करनेसे जब अन्तःकरण पवित्र होता है, तब उसमें ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है, परंतु कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है। कर्मयोगके साधनका आरम्भ तो देहाभिमानके रहते हुए ही अन्तःकरणकी मलिन अवस्थामें भी हो सकता है और उसके द्वारा पवित्र हुई बुद्धिमें भगवत्कृपासे स्वाभाविक ही स्थिरता होकर और भगवद्भावका उदय होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। यही इसकी ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगमता और विशेषता है। इसलिये भगवान्ने गीतामें पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है—'कर्मयोगो विशिष्यते।'

श्रीभगवान्ने आसक्ति और फल दोनोंके त्यागको कर्मयोग बतलाया है (गीता २।४८, १८।९) कहीं सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिके त्यागको कर्मयोग कहा है (६।४) और कहीं केवल सर्वकर्मफलके त्याग (१८।११) या कर्मफल न चाहनेको (६।१) ही कर्मयोग कहा है। वास्तवमें इनमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। फल और आसक्तिदोनोंके त्यागका नाम ही कर्मयोग है। (—'कर्मयोगका तत्त्व')

* स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (गीता २।७०)

† इसके अतिरिक्त भी गीतामे भगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है; जैसे—'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (२।३९); 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (२।४९); 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' (२।५०), 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥' (२।५१); यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।' (४।३१) इत्यादि।

कर्मयोग-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीविष्णुदेवजी उपाध्याय, नव्य-व्याकरणाचार्य)

कर्मयोगमे, जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट भी है, कर्मकी प्रधानता है और कर्म शब्द 'कृ' धातुसे निष्पन्न होकर अपना विकसितरूप विभिन्न क्रिया-कलापोंके अर्थको दर्शाता है। योग कर्मानुष्ठानकी विशेषनाको व्यक्त करता है। कर्म कोई भी क्यो न हो, फल अवश्य उत्पन्न करता है। फल आत्माके लिये बन्धनस्वरूप है, आवागमनरूप चक्रमें डालनेवाला है। इस फलोत्पत्तिमें परमेश्वरतक हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

कर्मका निर्माण शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य—दोनोंसे होता हैं। 'हम ऐसा कोई भी कर्म नहीं कर सकते, जिसमें कहीं कुछ शुभ-अशुभ न हो, अर्थात् कर्म अनिवार्यरूपसे गुण-दोष-मिश्रित रहता है[१]। शुभ कर्मोका फल शुभ होता है और अशुभ कर्मोका फल अशुभ। इन शुभाशुभ कर्मफलके अनुसार सम्पादित कर्म भी इस प्रकार ही परम्परासे शुभाशुभ कर्मफल उत्पन्न करते रहते हैं और कर्म-चक्र क्षणभरके लिये भी नहीं रुकता, सदैव चलता रहता है।

अभिप्राय यह कि हम आज जो कुछ भी कर रहे हैं, वह हमारे ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है और जो कर्म आज हमसे सम्पादित हो रहा है, वह अपना फल भविष्यमें देगा। यदि मनुष्य पापकर्म करता है तो उसका फल भी उसको ही भोगना पड़ेगा और यदि पुण्यकर्म करता है तो उसका फल भी उसीको भोगना पड़ेगा। विश्व-ब्रह्माण्डमें कोई भी शक्ति ऐसी नहीं, जो शुभाशुभ कर्मके शुभाशुभ फलमें किंचिदपि घटी-बढ़ी कर सके। विदुरजी कहते हैं—'मनुष्य जिस-जिस अवस्थामें जैसा भी शुभाशुभ कर्म करता है, उस-उस अवस्थामें ही उसको उसका फल भी मिलता है। इतना ही नहीं, जिस-जिस शरीरसे मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उस-उस शरीरसे ही वह उसका फल भी भोगता है[२]—भले ही ऐसा आज हो, कल हो अथवा कालान्तरमें हो।'

कर्मका समावेश माया (प्रकृति) और नाम-रूपके अन्तर्गत ही होता है। मूलरूपमें इनको एक भी माना जा सकता है, जैसा कि लोकमान्यतिलक लिखते हैं—'माया, नामरूप और कर्म—ये तीनों मूलमें एक ही हैं[३]।' यह बात दूसरी है कि हम उनमें विशिष्टार्थक सूक्ष्म भेद दर्शानेके लिये मायाको सामान्य शब्दके रूपमें ग्रहणकर उसके आकारको नामरूप तथा व्यापारको कर्मकी संज्ञा दे दें।' अस्तु।

'इस कर्मकी उत्पत्ति ब्रह्म (प्रकृति)[४] से हुई है। वह ब्रह्म अक्षर (परमात्मा[५]) से उत्पन्न हुआ है[६]। अतः यह मूलतः प्रकृतिरूप ही है। इस कर्मका निवास होता है प्रत्येक प्राणीके उस लिङ्ग-शरीरमें, जो गीताके अनुसार मनसहित छः इन्द्रियोंका समुदाय है[७]। जब जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे

१—विवेकानन्द-साहित्य, तृतीय खण्ड, पृष्ठ २९।

२—यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्। तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते॥
येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोति यः। तेन तेन शरीरेण तत्फल समुपाश्नुते॥

३—तिलक गीतारहस्य, पृष्ठ २६३। ४—ब्रह्मशब्देन प्रकृतिः निर्दिष्टा (१४३। १५) पर आचार्य रामानुज।
५—अक्षरात् परं ब्रह्मणः ११-३। १५ पर श्रीधर। ६—गीता ३। १५। ७—गीता १५। ७।
तिलक लिखते हैं, 'इस स्थलपर 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' शब्दोंमें ही पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ, प्राण और पाप-पुण्य-

शरीरको प्राप्त होता है, तब वह एकाकी नहीं होता। यह लिङ्गशरीर उसके साथ होता है, जिसको दूसरे शरीरमें वह स्वयं अपने साथ लेकर जाता है—ठीक वैसे ही, जैसे वायु गन्धको गन्धस्थानसे ग्रहणकर अपने साथ ले जाती है[८]। वह इसलिये कि श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मनरूपी स्थूलशरीरके माध्यमसे ही वह विषयोंका सेवन करता है[९]। इस लिङ्गशरीरमें कर्मका भी निवास होनेसे ही जीव आवागमनरूप चक्रमें बद्ध है। आवागमनका मूल कारण कर्म है।

कर्म करके हम उसके फलसे बच भी कैसे सकते हैं और जबतक कर्मफल शेष हैं, हम आवागमनरूप चक्रसे कदापि मुक्त नहीं हो सकते। ब्रह्माकी रात्रिका आगमन होनेपर भी नहीं; क्योंकि कर्म उस समय भी बीजरूपसे स्थित रहते हैं और ब्रह्माके दिनका आगमन होनेपर पूर्वसृष्टिमें जिस-जिस प्राणीने जो-जो कर्म किये थे, वे ही-वे ही कर्म उसको पुनः यथापूर्व प्राप्त हो जाते हैं[१०]। इसीलिये भूतसमुदाय परवश अर्थात् कर्म आदिके अधीन[११] बार-बार रात्रिके आगमनपर लय हो जाता है और दिनके आगमनपर पुनः उत्पन्न हो जाता है[१२]।' यदि रात्रिके आगमनपर कर्मोंका भी क्षय हो जाता तो भूतसमुदाय पुनः कैसे उत्पन्न होता? यही कारण है कि योगिराज श्रीकृष्ण कर्मोंकी गति गहन होनेकी घोषणा करते हैं[१३]।

मनुष्यके आवागमनमें कर्मको ही कारण परिलक्षित कर तत्क्षण यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि जब कर्म बन्धनका कारण है, जीवात्माके मुक्त होनेमें बाधक है, तब कर्म किये ही क्यों जायँ? इनका बहिष्कार क्यों न कर दिया जाय, इनका बहिष्कार कर दिये जानेसे निष्क्रिय हो गया मनुष्य कर्मबन्धनमें नहीं बँध पायेगा। परिणामस्वरूप उसका मुक्त हो जाना भी सुनिश्चित है। दार्शनिक दृष्टिसे यह पूर्णपक्षीय समाधान है।

तर्ककी दृष्टिसे यह समाधान अयुक्तियुक्त नहीं, परंतु वास्तविकताके धरातलपर यह हमारी परम भूल होगी। वह इसलिये कि कर्मोंका करना और न करना दोनों ही कर्ताके व्यापाराधीन हैं और कर्ताका व्यापार, वह प्रवृत्ति हो चाहे निवृत्ति, कर्म ही है। ऐसी स्थितिमें अहंकारपूर्वक किया हुआ कर्मत्याग भी वस्तुतः कर्म ही है। अतः कर्मोंका बहिष्कार करके भी हम उनका बहिष्कार नहीं कर सकते, वह भी कर्म कहलायेगा।

फिर कर्म मनुष्यसे छूट कैसे सकता है? मनुष्यसे क्या, किसीसे भी नहीं छूट सकता—यहाँतक कि देवों और अधिदेवोंतकसे भी नहीं छूट सकता। 'इस कर्मसे ही स्वर्गमें देवता प्रकाशमान है, इस कर्मसे ही संसारमें वायु बहती है, इस कर्मसे ही निरलसभावसे सूर्य दिन-रात्रिका सम्पादन करते हुए निरन्तर उदित होते हैं और चन्द्रमा मास, पक्ष, नक्षत्र एवं योगादिको प्राप्त करते हैं[१४]। इतना ही नहीं, ब्रह्मासे लेकर अनन्त कोटि देवतातक सब इस कर्मचक्रमें आरुढ़ होकर कर्म करते रहते हैं। और तो और, इस चराचर सम्पूर्ण जगत्‌का विस्तार भी तो परमप्रभुके द्वारा काल और स्वभावके साथ-साथ कर्मको स्वीकार करनेसे ही हुआ है। भगवदीय वचन भी है कि 'पार्थ! यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकोंमें कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जो करना आवश्यक हो और कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अप्राप्त

का संग्रह भगवान्‌को अभिप्रेत है। गीता रहस्य—पृष्ठ १९०, ८—गीता—१५। ८, ९—१५। ९—गीता, १०—येषां यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः। (महाभारत, शान्तिपर्व २३१। ४८-४९) ११—अवशः—कर्मादिपरतन्त्रः। ८। १९ पर श्रीधर। १२—गीता—८। १९, १३—गहना कर्मणो गतिः। गीता—४। १७। १४—कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा। अहोरात्रे विदधत्कर्मणैव अतन्द्रितः शश्वदुदेति सूर्यः॥ (महाभारत)

हो फिर भी मैं सतत कर्म करता हूँ[15]।' 'यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सम्पूर्ण विश्व नष्ट हो जाय[16]।'

प्रश्न उठ सकता है कि जब सब कुछ कर्म करनेसे ही सम्पन्न हुआ है और कर्म बन्धनका कारण है, तब परमात्मा और देव भी तो बन्धनमें है ?

नहीं; वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। परमात्मा और देव बन्धनमें बिल्कुल नहीं। इनमें परमात्मा इसलिये नहीं, क्योंकि प्रकृतिसे परे होनेके कारण वे उस-(कर्मके बन्धन-) की परिधिके अन्तर्गत नहीं आते। फिर शक्ति भला शक्तिमान्‌को क्या प्रभावित करेगी। श्रीकृष्ण कहते भी हैं, 'कर्म मुझे लिप्त नहीं करते; क्योंकि कर्मफलके प्रति मेरी स्पृहा (इच्छा) नहीं[17] होती। स्पृहा न होनेका कारण यह है कि विश्वकी रचना आदि कर्म उनके द्वारा स्वभावसे होते हैं, आप्तकामको भला स्पृहा क्या हो सकती है'[18]? एतदतिरिक्त देवताओंको कर्म अपने बन्धनमें इसलिये नहीं जकड़ते कि देवताओंका निवास स्वर्ग 'कर्मभूमि' नहीं, भोगभूमि है और यह भोगभूमि प्राप्त होती है—सत्त्वगुणका सङ्ग प्रबल करनेवाले कर्मोंके विहित होनेपर। जैसे ही शुभकर्मोंका फल समाप्त होता है, मनुष्य पुनः कर्मभूमिमें लौट आता है और पुनः कर्म तथा कर्मफलकी पूर्व-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है; अर्थात् जीवात्माको स्वर्ग सत्त्वगुणका सङ्ग प्रबल करनेवाले कर्मोंके करनेसे प्राप्त होता है, इसलिये वहाँ हम अपने कर्मफलके अनुसार भोग अवश्य भोगते हैं, परंतु ऐसा कोई कर्म नहीं करते, जो हमारे भविष्यका निर्माता हो। यही कारण है कि वहाँ किया गया कर्म बन्धनका कारण नहीं होता। हाँ, वहाँका जीवन बन्धनका जीवन अवश्य होता है; क्योंकि सञ्चित पुण्य क्षीण हो जानेपर जीवको भोगे गये उस विशाल स्वर्गको छोड़कर पुनः मृत्युलोकमें लौटना ही पड़ता है'[19]। ठीक ऐसी ही स्थिति तिर्यगादि योनियोंकी है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि परमात्मा और देव दोनोंकी दशा मनुष्यसे भिन्न है। यह तो मनुष्यजन्म ही है, जिसमें मनुष्य सत्त्वगुणका सङ्ग प्रबल करनेवाले कर्मोंके करनेसे स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है, रजोगुणका सङ्ग प्रबल करनेवाले कर्मोंके करनेसे मनुष्यलोकमें जन्म लेता है और तमोगुणका सङ्ग प्रबल करनेवाले कर्मोंके करनेसे पशु-पक्षी आदि योनियोंमें उत्पन्न होता है[20]।

इस प्रकार कर्मभूमिमे कर्मत्याग असम्भव ही नहीं, नितान्त असम्भव है। जबतक हम देहधारी हैं, हमको कर्म करना ही होगा, नितान्तरूपसे कर्मका त्याग करनेमे हम पूर्णतः अशक्य हैं[21]। इस लोकमें घड़ीभरके लिये भी हमसे कर्म नहीं छूट सकते[22]। हम ऐसा भले ही चाहें, लेकिन यह है असम्भव। कोई भी मनुष्य हो, वह किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। उसको प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंद्वारा परवश होकर कर्म करना ही पड़ता है[23]। इस तथ्यको ज्ञानेश्वर इन शब्दोमे प्रकट करते हैं—'जितने भी विहित कर्म हैं, उनको सम्भवतः कोई छोड़नेमे सफल हो जाय, परंतु उसकी इन्द्रियोंका स्वभाव क्या कभी छूट सकता है ? क्या कानोका श्रवण करना कभी बंद हो सकता है ? क्या नेत्रोंका प्रकाश कभी कहीं जा सकता है ? क्या नासिका-रन्ध्र बिना विशेष कारणके कभी सूँघना बंद कर सकता है ? क्या प्राण और अपानवायुकी गति कभी अवरुद्ध हो सकती है ? क्या बुद्धि कभी सङ्कल्प-विकल्परहित हो सकती है ? क्या क्षुधा, तृषा आदि इच्छाओंका कभी नाश हो सकता है ? क्या सोना

१५—गीता ३। २२। १६—गीता ३। २४। १७—गीता ४। १४। १८—'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥' १९—गीता ९। २१। २०—१४। १८। २१—गीता १८। ११। २२—'नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते ॥' (महा० अश्वमेधपर्व २०। ७) २३—गीता ३। ५।

और जागना कभी समाप्त हो सकता है? क्या पाँव कभी चलना भूल सकते हैं? अथवा क्या जन्म और मरणका नाश कभी सम्भव हो सकता है[२४]?' यदि ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता, तो कर्मका त्याग भला कैसे सम्भव हो सकता है?

फिर मनुष्य हठपूर्वक कर्मेन्द्रियोंको कर्म करनेसे रोक भी लेगा, तो मनसे विषयोंका चिन्तन करेगा। मिथ्याचार होनेसे[२५] यह तो और भी बुरा होगा। साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी भी नियत कर्मका त्याग उचित नहीं। यदि मनुष्य मोहवश ऐसा करता है तो तमोगुणका सङ्ग प्रबल करनेवाला कर्म करता है। परिणामस्वरूप वह त्यागके फल मोक्षको प्राप्त नहीं होता[२६]। कहा भी गया है—'नियतकर्म' करने ही चाहिये, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, और इसलिये भी कि किसी कर्मके न करनेसे शरीर-निर्वाहतक नहीं हो सकता[२७]।

सारांश यह है कि कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये कर्मका त्याग कोई उचित मार्ग नहीं। फिर कर्म हमसे छूट भी नहीं सकता। 'सभी प्राणी प्रकृतिके[२८] अधीन है, उसके अनुसार कार्य करते है, इसमें निग्रह (अपने स्वभावका दमन) भला कोई क्या करेगा[२९]।' देखिये, अर्जुन युद्ध करनेसे अस्वीकार कर देता है[३०] और कह देता है कि 'हे केशव! युद्धमें अपने स्वजनोंको मारनेमे मै अपना कोई कल्याण नहीं देखता।[३१]....हे मधुसूदन! इनको मारकर यदि मुझे त्रिलोकीका राज्य भी मिलना हो, तो भी मैं इनको नहीं मार सकता, पृथिवीके राज्यका तो कहना ही क्या है[३२]।

और, यह इसलिये कि मुझ शोकाकुलके शोकको—उस शोकको जो मेरी इन्द्रियोका शोषण कर रहा है, मेरा विश्वास है, कि भूमिपर निष्कण्टक धनधान्य-सम्पन्न राज्य और देवताओंपर आधिपत्यकी प्राप्ति भी दूर करनेमे समर्थ[३३] नही है; इन स्वजनोमे मेरे गुरुजन भी उपस्थित हैं और मैं गुरुजनोको मारनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करना अधिक कल्याणकर समझता हूँ[३४]। ओह! कितने शोककी बात है कि हम सब एक महान् पाप करनेको उद्यत हैं[३५]!' अधिक क्या, कर्मत्यागके पक्षमे विभिन्न युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए वह यहाँतक कह डालता है कि 'मुझ निःशस्त्रपर ये शत्रु चारो ओरसे टूट पड़ें और मुझ प्रतीकार न करनेवालेका रणमे वध कर दे तो वह भी मेरे लिये कल्याणकारक ही होगा[३६]।'

समाधानके लिये श्रीकृष्ण कहते हैं—'अर्जुन! पूर्वजोद्वारा सदैव कृतकर्म तू अवश्य कर।[३७] जो तू अहंकारवश यह मान रहा है कि मै युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तेरा निश्चय व्यर्थ है; क्योंकि प्रकृति तुझको ऐसा करनेके लिये विवश कर देगी। और, जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता है, उसको अपने स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा[३८]। क्यो? ईश्वर सब प्राणियोके हृदयमे निवसित होकर उन सबको अपनी

२४—रघुनाथ माधव भगाड़े—ज्ञानेश्वरी, ३। ५४-५७। २५—गीता ३। ६। २६—गीता १८। ७-८। २७—गीता ३। ८। २८—प्रकृति उसका नाम है, जो पूर्वकृत पुण्य-पाप आदिका संस्कार वर्तमान जन्मादिमें प्रकट होता है। 'पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादौ अभिव्यक्तः सा प्रकृतिः। गीता ३। ३३ पर शंकराचार्य। २९—गीता ३। ३३। ३०— गीता २। ९। ३१—गीता १। ३१। ३२—गीता १। ३५। ३३—गीता २। ८। ३४—गीता २। ५। ३५—गीता १। ४५। ३६—गीता १। ४६। ३७—गीता ४। १५। ३८—गीता १८। ५९-६०।

मायासे कठपुतलियोंके समान[३९] नचा जो रहा है, तत्तत्कार्योंमें प्रवृत्त जो कर रहा है,[४०] इसलिये[४१]। अतः हम अपने स्वभावको नहीं बदल सकते। स्वभावके वशीभूत होकर हमको कर्म करना ही होगा।

ऐसी स्थितिमें मनुष्य क्या करे? क्या इसी प्रकार विवश होकर प्रकृतिके हाथोंमें ही खेलता रहे? कर्मबन्धनके फल—आवागमनके चक्रमें ही पड़ा रहे?

उत्तर मिलता है—नहीं। उसे कर्मका बन्धन तोड़ना ही होगा, प्रकृतिके हाथोंमें स्वयं खेलनेकी अपेक्षा हमें उसपर शासन करना ही होगा; यही हमारा सर्वोच्च लक्ष्य है। ऐसा कर्मत्याग सम्भव नहीं; इसलिये उसे ऐसा कर्मरत रहकर ही करना भी होगा, लेकिन कर्मबन्धनको तोड़नेके लिये, प्रकृतिपर शासन करनेके लिये, उसे कर्म करते हुए भी अनासक्तिका भाव अपनाना होगा, सभी कर्म फलाकाङ्क्षाविरहित होकर सम्पन्न करने होंगे। यह है वह अचूक ओषधि, जिसके द्वारा कर्मरत रहकर भी जीवात्मा कर्म-बन्धनमें नहीं पड़ सकता।

अभिप्राय यह है कि कर्म निरन्तर करो, परंतु उसमें आसक्तिका भाव मत आने दो। अनासक्तिका यह भाव ही मनुष्यको कर्मके, प्रकृतिके, भीषण बन्धनमें पड़नेसे बचायेगा। गीताके शब्दोंमें जीवका अधिकार तो केवल इतना है कि वह कर्म करे, उसके फलके विषयमें सोचना उसकी अनधिकार चेष्टा है। उसको कर्मफलकी तो इच्छा नहीं रखनी चाहिये और कर्म न करनेमें उसकी प्रीति नहीं होनी चाहिये[४२]। उसके अनुसार अज्ञानियों और ज्ञानियोंके कर्म करनेमें बस यही एक अन्तर है, अज्ञानी जहाँ आसक्तिके भावसे कर्म करता है, वहाँ ज्ञानी अनासक्तिके भावसे[४३]। परिणाम यह निकलता है कि अज्ञानी कर्म-बन्धनोंमें जकड़ा जाता है, जबकि ज्ञानीको कर्मबन्धनोंमें जकडे जानेका भय नहीं रहता। क्यों? (उत्तर लीजिये)।

इसलिये कि फलकी कामनासे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त होनेपर ही कर्म मनुष्यको स्वफलरूप पुनर्जन्मका हेतु बनाते हैं।[४४] जब मनुष्य निष्कामभावसे फलकी आकाङ्क्षा न रखते हुए कर्म करता है, तब वे ऐसा नहीं कर पाते; क्योंकि उस समय वह संसारमें रहता हुआ भी संसारसे नितान्त पृथक् रहता है और जो कुछ भी कर्म करता है, अपने लिये नहीं करता; वस्तुस्थितिके अनुसार मनुष्यको उस कर्मका ही फल भोगना पड़ता है जो वह अपने लिये करता है, भले ही वह शुभ हो अथवा अशुभ। ये शुभाशुभ फल ही सुख और दुःख, क्लेश और आनन्दकी उत्पत्ति करते हैं।

निष्कर्ष यह कि मनुष्य कैसा भी—शुभ अथवा अशुभ—कार्य अपने लिये करे ही नहीं, तो उसका प्रभाव भी उसपर नहीं पड़ेगा; परिणामस्वरूप वह सुख मिलनेपर न सुखी होगा और न दुःख मिलनेपर दुखी; न क्लेशकी न आनन्दकी ही उसको उस अवस्थामें प्राप्ति होगी। (क्रमशः)

३९—यन्त्रारूढानीव सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि दारुनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायावी भ्रामयति तद्वदित्यर्थशेषः(—१८। ६१ पर मधुसूदन)। ४०—भ्रामयन् तत्तत्कर्मसु प्रवर्तयन्—गीता १८। ६२ पर श्रीधर। ४१—गीता १८। ६१। ४२—गीता २। ४७। ४३—गीता ३। २५। ४४—यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्माणि प्रवर्तन्ते तदा कर्मफलस्य एव जन्म हेतुर्भवेत्। (गीता २। ४७ पर आचार्यशंकर।)

जो यह कहा जाता है कि जब मोक्षका आदि है, तो अन्त भी होना आवश्यक है, यह भी ठीक नहीं। बन्धका प्रध्वंसाभाव ही मोक्ष होता है। प्रध्वंसाभावका लक्षण यह है—**'सादिरनन्तः प्रध्वंस उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य'** (तर्कसंग्रह)। प्रध्वंसाभावका आदि तो होता है, पर उसका अन्त नहीं होता। यह इस अभावकी खूबी है। सो कर्मका प्रध्वंसाभाव कर्मकी अनासक्तिसे होता है।

(क) कोई यदि बंदूक चला रहा हो, बीचमें आकर उससे कोई व्यक्ति मर जाय और अभियोग चलनेपर सिद्ध हो जाय कि बंदूक चलानेवालेका मृतकको मारनेका मनसे उद्देश्य नहीं था, तब उसे फाँसी नहीं दी जाती; किंतु कारावास दिया जाता है। वह दण्ड मारनेका नहीं होता। मारनेका दण्ड तो फाँसी है। यह कैद असावधानीके दण्डस्वरूप होती है। यदि कोई किसीको मारनेके उद्देश्यसे गोली मारे और वह बच जाय तो यह सिद्ध हो जानेपर कि वह उसे निरपराध होनेपर भी मारना चाहता था, मारनेवालेको नियमानुसार कालापानी (या जन्मकैद) रूप सजा मिलती है।

(ख) एक बार होलीके समयमें एक वृद्ध पुरुष बहुत प्रातः ही शौच होने गया। लोटेसे जब उसने अङ्ग-प्रक्षालन किया तो उसे अपना हाथ कुछ लाल जान पड़ा। उसने समझा कि मुझे मलके साथमें रक्त आया है। शायद मुझे खूनी बवासीर हो गयी है। इस भ्रममें वह बीमार पड़ गया। दूसरे दिन घरके लड़के पूछताछ कर रहे थे कि लोटेमें हमसे भिगोया हुआ हमारा लाल रंग कहाँ चला गया? बूढ़ेने वह सुना और उन लड़कोंसे पूछा कि क्या अमुक लोटेमे तुमलोगोंने लाल रंग भिगो रखा था? जब बूढ़ेको पता चला कि यह वही लाल रंग भिगोया हुआ लोटा था, जिसे वह शौचार्थ ले गया था और वही लाल रंग उसके हाथोंमे लगा था, लहू नहीं; तो वह निश्चिन्त एवं स्वस्थ हो गया। इन सबमें कारण वही मनका योग-अयोग था। वस्तुतः मन ही बन्धन और मोक्षका कारण होता है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

इन दृष्टान्तोंसे गीताके अनासक्त कर्मयोगपर पूरा प्रकाश पड़ता है। दृष्टान्तमें एक देश ही लिया जाता है, सर्वांश नहीं। सो यहाँ उसका तात्पर्यमात्र लेना चाहिये। **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** (देवी० भा० ३ । २५ । ६) यह वचन तो सकाम कर्मोंमें चरितार्थ है। निष्काम कर्म तो वस्तुतः अकर्म (कर्माभाव) है। उसमें उक्त वचन चरितार्थ नहीं है।

मुक्ति सुकर्मसे नहीं मिलती; मुक्ति तो कर्म-संन्याससे, कर्मफलसे कुछ भी सम्बन्ध न रखकर कर्माभावसे मिलती है। कर्माभाव तीन प्रकारका होता है—कर्म बिल्कुल न होना, पर यह कठिन है। दूसरा होता है—जब सभी कर्मोंका फल उसी क्षणमें प्राप्त हो जाय, तब कोई कर्म शेष न रहकर फलभोग प्राप्त हो जाते हैं; तो कोई कर्म शेष न रह जानेसे कर्माभाव हो जाता है। जैसे कि एक गोपीने श्रीकृष्णकी वंशीका निनाद सुना। वह उनके पास जाने लगी। किंतु उसके पतिने उसे वहाँ नहीं जाने दिया। उसे वहीं खटियामें बाँध रखा। उसी समयमें भगवान्के विरहसे उसे जो सीमातीत 'दुःख' हुआ, उससे उसके पिछले तथा इस जन्मके सभी पापकर्मोंकी गठरी-फलभोग देकर जल गयी और यतः वह भगवान्का निष्काम चिन्तन कर रही थी, इससे जो उसे सीमातीत आह्लाद हो रहा था, उससे उसके सभी जन्मोंके शुभ-कर्मोंकी गठरी भी फल देकर जल गयी और शेष कोई भी कर्म न रहनेसे उसका देहपात हो गया।*

यह 'विष्णुपुराण' (५ । १३ । २१-२२)में भी सूचित किया गया है, जिसमें ऐसा वर्णन प्राप्त होता है—

* द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत १० । २९ । ५ और विष्णुपुराण ५ । १३ । २१-२२ ।

तच्चित्तविमलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ।
तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥

अर्थात्—कोई गोपकुमारी जगत्‌के कारण परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन करती हुई प्राणापानके रुक जानेसे मुक्त हो गयी; क्योंकि भगवद्ध्यानके विमल आह्लादसे उसकी समस्त पुण्यराशि क्षीण हो गयी थी और भगवान्‌की अप्राप्तिके महान् दुःखसे उसके समस्त पाप लीन हो गये थे। यह है दूसरे प्रकारका कर्माभाव।

तीसरा कर्माभाव गीताप्रोक्त है, जिसका (निष्काम कर्मका) उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। उसमें फलासक्ति-राहित्य प्रधान है। अभाव नित्य हुआ करता है—उससे कर्माभावरूप मुक्ति भी स्वतः नित्य सिद्ध होती है; जैसे—बीज भुन जानेसे फिर उससे अङ्कुर कभी प्ररूढ नहीं होता।

इससे सिद्ध है कि आसक्तिसे रहित निष्काम कर्म बन्धनकारक नहीं होता और वही गीतोक्त कर्मयोगका वास्तविक प्रतिपाद्य है।

गीताके निष्काम कर्मयोगका विवेचन

(स्वर्गीय श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

गीतापर विहंगम दृष्टि डालनेपर प्रतीत होता है कि गीतामें मोक्षके लिये दो स्वतन्त्र साधन बतलाये गये हैं, जिनके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते** (५ । ५)। जिस प्रकार सांख्य यानी ज्ञानयोगके साधकको साधन करते-करते परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका अपरोक्ष ज्ञान होकर मुक्ति मिल जाती है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक भी भगवत्कृपासे परब्रह्म परमात्माका तत्त्वज्ञान लाभ कर परमपदको प्राप्त हो जाता है (गीता अ०१० । १०-११)। अन्तर इतना ही है कि सांख्ययोगके साथ तो विवेक-विचार और शम-दमादि साधनोका विशेष सम्बन्ध है और निष्काम कर्मयोगके साथ भगवद्भक्ति तथा शरणागतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीलिये दोनो साधनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और साधनकालमें दोनोंकी भावना भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। दोनोंका समुच्चय नहीं हो सकता। गीता (१८ । ४९—५५)में सांख्ययोगका वर्णन ज्ञाननिष्ठाके नामसे आया है।

ज्ञाननिष्ठाका साधक ही सांख्ययोगी कहलाता है। वह समझता है कि सारा खेल प्रकृतिका है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें बरत रही हैं, आत्मा शुद्ध-चेतन निर्लेप है, वह न कर्ता है, न भोक्ता है (गीता ३ । २८, ५ । ८-९, १३ । २९, १४ । १९)।

वह आत्माको परब्रह्म परमात्मासे भिन्न नहीं समझता। उसकी दृष्टिमें सब कुछ एक परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूपका विस्तार है। साधनकालमें वह प्रकृति और उसके विस्तारको आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक समझता है और अपनेको अकर्ता, अभोक्ता और परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न समझता हुआ एक परमात्म-सत्ताको ही सर्वत्र व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है; फिर उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं; अन्तमें वह अनिर्वचनीय परम पदको प्राप्त हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे आरम्भ होता है। इस मार्गसे चलनेवालोंके लिये भगवान्‌की प्रधान आज्ञा यह है कि 'तुम्हारा कर्म

करनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं । अतः तुम कर्मफलकी इच्छा करनेवाले मत बनो और कर्मोंको छोड़ देनेका भी विचार मत करो (गीता २ । ४७-४८) ।' फल और आसक्तिको छोड़कर सिद्धि-असिद्धिको समान समझकर निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए (गीता ८ । ७) मेरे लिये सब कर्म करते रहो (गीता १२ । १०) ।

उपर्युक्त भगवदाज्ञानुसार साधन करनेवाले निष्काम कर्मयोगीका भाव सकामी मनुष्योंसे अत्यन्त विलक्षण होता है । वह जो कुछ कर्म करता है, उसके फलकी इच्छा नहीं करता और उस कर्ममें आसक्त भी नहीं होता । कर्म करते-करते बीचमें कोई विघ्न आ जाता है तो उससे वह विचलित नहीं होता । कर्म पूरा न होनेसे या उसका परिणाम विपरीत होनेसे उसको दुःख नहीं होता । किया हुआ कर्म साङ्गोपाङ्ग सफल होनेसे या उसका परिणाम अनुकूल होनेसे वह हर्षित नहीं होता । संसारमें जो कर्म स्वर्गादि महान् फल देनेवाले बतलाये गये हैं, उनमें वह आसक्त नहीं होता और छोटे-से-छोटे (झाड़ू देनेतकके) कामको भी वह हेय नहीं समझता । वह समझता है कि अपने-अपने स्थानपर अधिकारानुसार सभी कर्म बड़े हैं । भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये भावकी आवश्यकता है, न कि छोटे-बड़े कर्मकी ।

निष्काम कर्मयोगका साधक कभी पापकर्म नहीं कर सकता; क्योंकि पापकर्म प्रायः लोभ और आसक्तिसे बनते हैं, जिनका त्याग इस मार्गमें चलने-वालेको पहले ही कर देना पड़ता है । वह संसारके चराचर सम्पूर्ण जीवोंको भगवान्की मूर्ति समझता है; अतः किसी भी प्राणीके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकता । वह प्रत्येक कार्य भगवान्के आज्ञानुसार और भगवान्के ही लिये करता है; किसी भी कार्यमें उसका निजका स्वार्थ नहीं रहता । उसका जीवन भगवदर्पण हो जाता है; अतएव स्त्री, पुत्र, धन, घर और अपने शरीरमें या संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रहती । वह समझता है कि यह सब कुछ प्रभुकी मायाका विस्तार है, भगवान्का लीलाक्षेत्र है और वास्तवमें क्षणिक तथा अनित्य है; अतः वह उन सबसे अपने प्रेमको हटाकर केवल भगवान्में ही प्रेमको एकत्र कर देता है । काम करते हुए उसके अन्तःकरणमें हर समय भगवान्की स्मृति बनी रहती है, कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा न रहनेके कारण एवं सब कर्म भगवान्के ही लिये किये जानेके कारण वे कर्म उसके लिये भगवान्की स्मृतिमें सहायक होते हैं, बाधक नहीं होते । वह निरन्तर भगवान्के प्रेममें मग्न रहता है । उसको भगवान्पर पूरा भरोसा और विश्वास रहता है । अतः बड़ा-से-बड़ा सांसारिक दुःख उसको उस स्थितिसे चलायमान नहीं कर सकता । वह जो कुछ करता है, उसमें अपनी सामर्थ्य कुछ भी नहीं समझता है—'मैं केवल भगवान्का यन्त्र हूँ, वे जो कुछ करवाते हैं वही करता हूँ' (गीता १८ । ६१) । वह कर्तृत्वाभिनिवेशसे रहित होता है । अतः बड़ा-से-बड़ा कार्य उसके द्वारा सहजमें हो जानेपर भी उसके मनमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं होता । इस भगवदाश्रयरूप कर्मयोगनिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान् गीताके अठारहवें अध्यायके छप्पनसे लेकर अट्ठावनवें श्लोकतकके पूर्वार्धतकमें कहते हैं—

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पित करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो । इस प्रकार निरन्तर मुझमें

मनवाला हुआ तू मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि सब संकटोंसे अनायास ही तर जायगा ।'

ऐसे ही साधकके लिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि 'हे अर्जुन ! जो साधक मेरे परायण होकर समस्त कर्मोंको मेरे समर्पण करके अनन्य योगसे निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले 'प्रेमी भक्तोंका इस मृत्युरूप संसार-समुद्रसे मैं शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ' (गीता १२ । ६-७)। यही सांख्य और निष्काम कर्मयोगका भेद है ।

गीताके भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने सांख्य और निष्काम कर्मयोगपर अपने-अपने मतके अनुसार भिन्न-भिन्न मत प्रदर्शित किये हैं, (उनमेंसे) उदाहरणार्थ कुछ प्रधान-प्रधान मत यहाँ व्यक्त किये जा रहे हैं—

शंकराचार्यजीका मत

आचार्य भगवत्पाद श्रीशंकरके भाष्यानुसार सब कर्मोंको छोड़कर परमहंस—संन्यासी हो जाने और आत्म-अनात्मविषयक विवेकपूर्वक निरन्तर आत्म-स्वरूप-चिन्तनमें लगे रहकर परब्रह्म परमात्मामें स्थित हो जानेका नाम सांख्ययोग है; क्योंकि जहाँ-जहाँ सांख्ययोगका विषय आया है, आपने उसकी व्याख्या प्रायः इस प्रकार की है (द्रष्टव्य—गीताका शांकरभाष्य, अ० २ श्लोक ११ से ३०; अ० ३ श्लोक ३; अ० १३ श्लोक २४; अ० ५ श्लोक ४—५) । आपके मतानुसार गीतामें ज्ञानयोग, ज्ञाननिष्ठा और संन्यास आदि नाम भी सांख्ययोगके ही हैं। आप ज्ञानकर्मका समुच्चय नहीं मानते, प्रत्युत प्रबल युक्तियोंद्वारा समुच्चयवादका खण्डन करते हैं (गीता-शांकरभाष्यका उपोद्‍घात और तीसरे अध्यायकी अवतरणिका देखिये।)आप निष्काम कर्मयोगको (सीधे) मोक्षका स्वतन्त्र साधन नहीं मानते, पर ज्ञानयोगका(अन्तरङ्ग) साधन मानते हैं (गीताशांकरभाष्य अ० ५ श्लोक ५-६)। आपका कथन है कि जबतक मनुष्यको ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त न हो, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका साधन करना चाहिये । उसके बाद कर्मयोगकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि आपके मतानुसार सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे मुक्ति नहीं हो सकती । यद्यपि इस कथनके साथ गीताकी एकवाक्यता करनेमें बहुत जगह कठिनता पड़ती है (दे० गीता-शांकरभाष्य अ० ३ श्लोक २०; अ० ४ श्लोक १९-२०;) परंतु वैसी जगह आप ज्ञानीके कर्मोंको कर्म ही नहीं मानते, इससे आपका आशय बड़ा गम्भीर हो जाता है । साधारण बुद्धिसे हरेक मनुष्य आपका आन्तरिक भाव ग्रहण नहीं कर सकता ।

स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजीका मत

पूज्यवर स्वामी श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार इन्द्रिय-जयपूर्वक शम-दमादि साधनोंसहित सर्वकर्मोंसे निवृत्त होकर आत्मस्वरूपानुसंधानका नाम सांख्ययोग है । आपका कथन है कि संख्या नाम बुद्धिका है, उससे जो युक्त है अर्थात् केवल एक आत्माको विषय करनेवाली बुद्धिसे जो युक्त हैं वे सांख्य (सांख्ययोगी) हैं । ऐसे स्थिरबुद्धि पुरुष उपयुक्त ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी बुद्धि विषयोंसे व्याकुल है, जिनको ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं (देखिये, रामा० ३ । ३) । आत्म-ज्ञानपूर्वक निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करना आपके मतानुसार कर्मयोग है (गीता० रामा० भा० २ । ३९) । सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही भक्तियोगके अङ्गभूत हैं । सांख्ययोगके साधनमें इन्द्रियोंको जय करना आदि अनेक कठिनाइयाँ हैं और कर्मयोग सुगम है; अतः उसकी अपेक्षा कर्मयोग

श्रेष्ठ बतलाया गया है। आपके मतानुसार ध्यानयोग निष्काम कर्मयोगका फल है और अ० १८ श्लोक ४९वेंसे ५५वें तकका जो वर्णन है, वह ध्यानयोगका ही वर्णन है—ज्ञानयोगका नहीं। वहाँ जो ५०वें श्लोकमें **'ज्ञानस्य परा निष्ठा'** शब्द आया है, उसको आप ब्रह्मका विशेषण मानते हैं।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने जिस प्रकार ज्ञानयोगको प्रधानता दी है, उसको उस रूपमें आप स्वीकार नहीं करते; आपके मतसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करवानेवाले अवश्य हैं, परंतु परमात्माका साक्षात्कार भक्तिके बिना नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपका ज्ञान भक्तियोगका अङ्गभूत है, अतएव वह मोक्षका स्वतन्त्र साधन नहीं है। इस वर्णनसे यह समझ लेना स्वाभाविक ही है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशंकराचार्यका इस विषयमें बड़ा मतभेद है। इसके अतिरिक्त एक प्रधान मतभेद यह है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्य तो जीव और ईश्वरका भेद मानते हैं, पर स्वामी श्रीशंकराचार्य भेद नहीं मानते। मुख्य सिद्धान्तोंमें भेद होनेके कारण ही अपने-अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये अन्यान्य विषयोंमें भी मतभेद होता गया है।

लोकमान्यका मत

लोकमान्य तिलकमहोदय सांख्ययोगकी व्याख्या तो प्रायः स्वामी श्रीशंकराचार्यके अनुरूप ही करते हैं, परंतु अ० २ श्लोक ३०वेंसे आगे जिन श्लोकोंको स्वामी श्रीशंकराचार्य ज्ञानयोगका प्रतिपादक मानते हैं, लोकमान्य उन्हीं श्लोकोंद्वारा निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हैं। आपके मतानुसार ज्ञान और कर्मका समुच्चय ही निष्काम कर्मयोग है। समुच्चयवादका आप बड़ी युक्तियोंके साथ समर्थन करते हैं और स्वामी श्रीशंकराचार्यजीकी युक्तियोंका उत्तर भी उसी ढंगका देते हैं। आप गीताको केवल निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादक शास्त्र मानते हैं।[1] अध्याय २ श्लोक ११वेंसे ३०वें तकका जो वर्णन है, वह आपके मतानुसार संन्यासमार्गवालोंके तत्त्वज्ञानका वर्णन है जो कि केवल आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करनेके लिये गीतामें लिया गया है। आपका कथन है कि सांख्यमतानुसार कभी-न-कभी कर्मोंका त्याग करना ही पड़ता है, अतः इस मतके तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी इस शंकाका पूरा समाधान नहीं हो सकता कि 'युद्ध क्यो करे?' ऐसा समझकर भगवान्ने अ० २ श्लोक ३९ से लेकर गीताके अन्तिम अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अनेक शंकाओंका निराकरण करते हुए निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन और पुष्टीकरण किया है। (देखिये गीतारहस्य अ० २ श्लोक ३९ पर टिप्पणी)। अध्याय १४ श्लोक २१से २५तक जो गुणातीतपुरुषविषयक वर्णन है, उसको भी आप कर्मयोगीका ही वर्णन मानते हैं। अध्याय १८ श्लोक ४९से ५५ तकका जो वर्णन है, वह भी आपके मतानुसार कर्मयोगका ही वर्णन है; क्योंकि आपके मतानुसार सांख्ययोगी संन्यासी ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं हो सकता। और, गीताका उपदेश अर्जुनको निमित्त बनाकर दिया गया है जो कि आजीवन गृहस्थ रहकर कर्म करता रहा है। कर्मोंको छोड़कर संन्यासी होना तो वह स्वयं चाहता ही था। फिर यदि वैसी ही अनुमति भगवान्की किसी अंशमें मिल जाती तो वह कर्म करता ही क्यों? इस दृष्टिसे आपके मतानुसार गीतामें सांख्यमार्गका वर्णन (प्रतिपादन) नहीं है। परंतु मेरी समझसे सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनो ही साधनोंको प्रत्येक अधिकारी मनुष्य कर सकता है। इसमें आश्रमका या स्वरूपसे कर्मोंके त्यागका कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल भावका और साधनकी विधिका ही अन्तर है। अतएव जिन-जिन

१—पर निष्कामकर्मयोगमें ज्ञान और भक्तिका समन्वय कर उसे भागवतधर्मका सँवारा हुआ रूप भी स्वीकार किया गया है। (द्रष्टव्य—गीता-रहस्यका भाग ४ 'भागवतधर्मका उदय और गीता' प्रकरण पष्ठसंस्करण, पृष्ठ ५३९-५५८)

स्थलोंमें भगवान्ने स्पष्ट ही ज्ञानयोगका वर्णन किया है। उनको कर्मयोग बतलाना एक क्लिष्ट कल्पना ही जान पड़ती है। (देखिये गीता अ० ५ । ८-९ और १३, अ० १४ । २१से २५, अ० १८ श्लोक ४९से ५५)।

श्रीमधुसूदनजी, नीलकण्ठजी और शंकरानन्दजी आदि टीकाकारोंने भी इस विषयमें प्रायः स्वामी श्रीशंकराचार्यजीका ही पक्ष लिया है, यद्यपि उन सबकी युक्तियोंमें और लेखन-शैलीमें बहुत कुछ भेद है। उसका विस्तृत वर्णन विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया जा सकता। प्रधानतः सिद्धान्तमें विशेष मतभेद नहीं है।' × × ×

गीताका कर्मयोग और अन्य सम्बद्ध कतिपय योग

कर्मयोग—सबसे पहले फलकी कामनाको छोड़कर केवल कर्तव्यबुद्धिसे निष्काम कर्म किया जाता है, जिससे सिद्धि-असिद्धि दोनोंमें कर्त्ता समान रहता है। परंतु वह कर्मका त्याग कदापि नहीं करता (गीता २ । ४७-४८ और ६ । १)। निष्काम कर्म करनेसे किञ्चित् चित्त-शुद्धि होनेपर साधक यह समझने लगता है कि प्राणिगण स्वतन्त्र न होकर एक ही विश्व-विराट्के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, इसलिये उन सभीको परस्पर सहायताकी अपेक्षा है (गीता ३ । १०)। श्रीभगवान् स्वयं भी विश्वहितार्थ निष्कामभावसे कर्म कर रहे हैं (गीता ३ । २३-२४)। इस समयसे (नियमसे) साधक स्वार्थ-परायण होना ईश्वरीय संकल्पके विरुद्ध समझकर लोकहितार्थ कर्म करना प्रारम्भ कर देता है (गीता ३ । २०, २५)। पात्रमें दान, रोगी-चिकित्सा-प्रवन्ध, दीन-दरिद्र-पोषण आदि सब इसके अन्तर्गत हैं। इस अवस्थामें यह एक आपत्ति आ जाती है कि साधकके हृदयमें मान-बड़ाई, यश, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करनेकी वासना जाग्रत् होने लगती है; क्योंकि इसमें दूसरेका उपकार करनेकी भावना मनमें वर्तमान रहती है, जिससे अभिमान आ जाता है। इन सब सूक्ष्म वासनाओंके आ जानेसे भी कर्म बन्धनका कारण हो जाता है। अतएव तीसरी अवस्थामें कर्म यज्ञकी भाँति किया जाता है। भक्तिभावसे किये जानेपर उस यज्ञके फलको श्रीभगवान् सृष्टिहितमें संयोजित कर देते हैं; क्योंकि वे ही यज्ञके भोक्ता हैं (गीता ५ । २९)। पञ्चमहायज्ञको इसी महायज्ञके अन्तर्गत समझना चाहिये।

अभ्यासयोग—कर्मयोगसे मन और चित्तकी शुद्धि होनेपर ही मनोनिग्रह सम्भव है। अनेक यत्न करनेपर भी जो बहुत-से लोग मनका निग्रह नहीं कर सकते, उसका यही प्रधान कारण है कि वे पहले कर्मयोगद्वारा अपने चित्तकी शुद्धि नहीं करते। अभ्यास और वैराग्य ही मनोनिग्रहके प्रधान उपाय हैं (गीता ६ । ३५)। प्राणायाम (गीता ४ । २९) और लक्ष्ययोग—दृष्टिको नासिकाके अग्रभाग आदि किसी स्थानविशेषमें संलग्न करना (गीता ६ । १३)—प्रभृति मनोनिग्रहके साधन अभ्यासकी भी यहाँ चर्चा की गयी है[2]। उत्तम अभ्यास यह है—'कामात्मक संकल्पको त्यागकर इन्द्रियोंकी बहिर्मुख वृत्तियोंको अन्तर्मुख करके धीरे-धीरे बुद्धिके द्वारा चित्तकी भावनाओंको रोककर चित्तको कारण-शरीरस्थ जीवात्मामें स्थित करना और फिर किसी भी भावनाको न आने देना (गीता ६ । २४, २५)। जब-जब यह चञ्चल चित्त आत्मासे अन्यत्र जाय, तब-तब उसको वहाँसे लौटाकर फिर आत्मामें स्थिर करना

१—हमारी मान्यताके लिये द्रष्टव्य—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका इसी अङ्कमें पूर्व प्रकाशित लेख—गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप।

२—गीतामें छठे अध्यायतक श्रीभगवान्ने उस समयके प्रचलित सिद्धान्तोंकी चर्चा की है और उनकी अपूर्णता भी दिखलायी है। सातसे बारहतक अपने मतका प्रतिपादन कर उपदेशको पूर्ण किया है और उसके बाद उनका विशेष विवरण है।

(गीता ६ । २६)—इस प्रकार एकाग्रता करनेकी बारंबार चेष्टा ही यथार्थ अभ्यास है । परमोत्तम अभ्यास यह है कि चित्त आत्माके बदले श्रीभगवान्‌में संलग्न कर दिया जाय (गीता ६ । १४); क्योंकि योगाभ्यासियोंमें अन्तरात्माको श्रीभगवान्‌में अर्पित कर श्रद्धासे उनका भजन करनेवाला योगी ही परमोत्तम है (गीता ६ । ४७)। ऐसे आत्मसमर्पित अभ्यासीमें सब प्राणियोंके प्रति एकात्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, जिससे वह दूसरेके दुःखको अपना दुःख समझकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य यत्न करता है (गीता ६ । २९ से ३२) ।

प्राणायाम और लक्ष्ययोगादिके अभ्याससे चित्तके किसी प्रकार एकाग्र होनेपर किंचित् चामत्कारिक शक्तियोंकी भी प्राप्ति हो सकती है; किंतु न तो वह यथार्थ आध्यात्मिक योग है, न उससे शान्ति मिलती है और न भगवत्प्राप्ति ही होती है, जो कि योगका मुख्य उद्देश्य है; बल्कि उससे उलटा व्याघात (बाधा) होता है । यथार्थ वैराग्यकी प्राप्ति तो केवल भगवद्भक्तिद्वारा ही होती है, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता वास्तविक मनोनिग्रहके लिये भी है ।

ज्ञानयोग—कर्मयोगद्वारा चित्तकी शुद्धि और अभ्यास-योगद्वारा मनके निगृहीत होनेपर जब बुद्धि शान्त और शुद्ध होती है, तब साधक ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य होता है । शम-दमादिविशिष्ट साधक आचार्यद्वारा शास्त्रके सिद्धान्तका श्रवण कर उसका मनन करता है । यह केवल बुद्धिद्वारा शास्त्रके सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करना है । इसीको स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ भी कहते हैं (गीता ४ । २८) ।

भक्तियोग—इस प्रकार कर्म, अभ्यास और ज्ञान-योगकी प्राप्ति होनेपर साधकमें श्रीभगवान्‌के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और तब वह भगवत्-प्राप्तिकी साक्षात् साधनाका अनुसरण करनेयोग्य होता है, जिसका वर्णन बारहवें अध्यायमें ९ वें श्लोकसे १२ वे तक है । यहाँ सात साधनाओंका वर्णन इस प्रकार है—

(१)कर्मफलका अर्पण—श्रीभगवान्‌ने इसको सबसे नीचेकी अवस्था माना है; क्योंकि उनके निमित्त साक्षात् कर्ममें सबसे पहले यही है । इस अवस्थामें श्रीभगवान्‌के योगका आश्रय लेकर केवल श्रीभगवान्‌के निमित्त कर्म-फलका त्याग किया जाता है (गीता १२ । ११) । कर्मयोगके कर्म और इस भक्तिके कर्ममें बड़ा भेद है । कर्मयोगका उद्देश्य केवल चित्तशुद्धि है, उसका मूल कारण वह भगवत्प्रेम नहीं है, जो वहाँ बीजरूपमें रहता है । किंतु भक्तियोगकी इस अवस्थामें साधकके हृदयमें भगवत्प्रेमके अङ्कुरित होनेके कारण वह प्रत्येक कर्म करते समय श्रीभगवान्-(अपने इष्टदेव-) का स्मरण करता है और कर्म करनेमें उसका मुख्योद्देश्य उसके फलका उन्हींके चरण-कमलोंमें अर्पण करना होता है (गीता ४ । २४) । इस सतत स्मरणद्वारा (गीता ८ । ७) वह श्रीभगवान्‌के साथ युक्त अर्थात् क्रमशः उनके सन्निकटस्थ होता जाता है और इसे ही श्रीकृष्णने 'मद्योगमाश्रितः' कहा है (गीता १२ । ११) । यहाँ वह केवल उन्हीं धर्मानुकूल कर्मोंको करता है, जिनका फल श्रीभगवान्‌के प्रति अर्पण करनेयोग्य होता है । उनके प्रतिकूल कदापि नहीं करता ।

(२)कर्मार्पण—दूसरी अवस्थामें कर्म ही श्रीभगवान्‌के निमित्त किया जाता है (गीता १२ । १०) यानी फलकी जगह स्वयं कर्म ही अर्पित होता है (गीता ३ । ३०) । यह दासभावके सदृश है, किंतु इसमें श्रीभगवान् अपनेसे भिन्न प्रभु न होकर परमलक्ष्य बन जाते हैं, जिनको प्रेमपूरित हृदयसे परिपूर्ण सेवाद्वारा प्राप्त करना ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है (गीता ११ । ५५) । इस स्थितिमें साधक अपने गृह, परिवार, वैभव, शरीर, मन, बुद्धि और क्रिया-शक्ति आदिके साथ दृश्य-मात्रको श्रीभगवान्‌की वस्तु मानता है और केवल उन्हींके निमित्त उन सबका व्यवहार करता है, स्वार्थके लिये

कदापि नहीं करता। प्रत्येक कर्म करते समय इस भावको ध्यानमें रखकर वह निरन्तर श्रीभगवान्‌का स्मरण करता रहता है (गीता ८ । ७)। वह प्रत्येक कर्म—यहाँतक कि भोजनतक भी श्रीभगवान्‌के पदार्थोंकी (शरीर, परिवार आदिकी) रक्षाके निमित आवश्यक जानकर करता है और उन कर्मोंको वह श्रीभगवान्‌का ही कर्म समझता है। इसी तरह यज्ञ, दान, तप आदि कर्म भी लोक-हितके लिये श्रीभगवान्‌के कार्य समझकर करता है (गीता ९ । २७); क्योंकि वह जानता है कि धर्मकी रक्षा श्रीभगवान्‌का मुख्य और परम प्रियकार्य है, जिसके लिये वे स्वयं अवतार लेते हैं (गीता ४ । ७-८)। यज्ञ, दान, तप—ये तीनों ही मानव-समाजको पवित्र करनेवाले हैं (गीता १८ । ५)। इस कर्मार्पण-भावसे कर्म करनेपर नित्य व्यवहारके सभी स्वाभाविक कर्मोंका सम्पादन श्रीभगवान्‌की पूजा हो जाती है (गीता १८ । ४५-४६—५६)। इस अवस्थामें साधकके लिये भगवत्-परायण होना, चित्तको सदा श्रीभगवान्‌मे समर्पित रखना और समबुद्धि होना आवश्यक है (गीता १८ । ५७)। इस समय वह नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सभीको श्रीभगवान्‌का अंश समझकर सभीको आत्मदृष्टिसे एक समान समझता है (गीता ५ । १८) और इसीलिये वह लोक-हितकर कर्मको श्रीभगवान्‌का मुख्य प्रियकार्य समझकर उसमें विशेषरूपसे प्रवृत्त रहता है (गीता ५ । २५, १२ । ४)। इस भावसे कर्म करनेपर कर्मसे विपरीत या अनुपयुक्त परिणाम होनेपर भी वह साधक निर्ममत्व, असङ्ग और कर्मार्पण-भावके कारण पापका भागी नहीं होता (गीता ५ । १०,१९, २८)। वह समझता है कि उसमें जो क्रिया आदि शक्तियाँ हैं सो सभी श्रीभगवान्‌की हैं (गीता ७ । १२)। वह तो कर्म करनेमें केवल निमित्तमात्र बननेकी चेष्टा करता है (गी० ११ । ३३)।

(३) अभ्यास—अभ्यास-योगके अभ्यास और इस भक्तिके अभ्यासमें यह भेद है कि पहलेका उद्देश्य चित्तकी एकाग्रता है, जिसके निमित्त किसी इच्छित वस्तु या स्थान-विशेषपर चित्त संलग्न किया जाता है। किंतु यहाँपर इसका लक्ष्य केवल भगवत्-प्राप्ति है और वही इसका विषय भी है (गीता १२ । ९)। श्रीभगवान् (अपने इष्टदेव) के दिव्यनाम (मन्त्र) के जप और हृदय-कमलमें उनकी दिव्य-साकार-मूर्तिको चित्रितकर उसमें श्रद्धा तथा अनन्यभावसे चित्तको एकाग्र संलग्न करना ही यहाँका उपासनारूपी अभ्यास है। इस अभ्यासमें प्रवृत्त होनेवालेका श्रीभगवान् शीघ्र उद्धार करते हैं (गीता १२ । २, ६, ७, ९)। जिस साधकका मन जिस इष्ट-देवता-(विष्णु, शक्ति, शिव आदि-)में स्वभावतः अनुरक्त हो, उसे उसीकी उपासना करनी चाहिये। इस उपासनाके लिये उपास्यका मनोहर चित्र रखना आवश्यक है, जिसके अनुसार हृदयमें भी पैरसे आरम्भकर क्रमशः ऊपरके समस्त अङ्गोको एक सुन्दर मूर्ति बनायी जा सके और फिर उस आभ्यन्तरिक हृदयस्थ साङ्गोपाङ्ग मूर्तिमें चित्त सनिविष्ट किया जा सके। उपास्यकी हृदयस्थ मूर्तिपर चित्तके संनिविष्ट हो जानेपर अन्य किसी भी भावनाको चित्तमें नहीं आने देना चाहिये और जब चित्त अन्यत्र चला जाय (जो प्रारम्भमें अवश्य होता है) तब उसको शीघ्र वहाँसे फिर उसी उपास्यमें लौटाकर संलग्न करना चाहिये (गीता ६ । २५, २६, ३५)। इस तरह बार-बार यत्नरूपी अभ्याससे चित्त उपास्यमें संलग्न हो जायगा। यह अभ्यास प्रतिदिन नियमपूर्वक नियत समयपर करना चाहिये। इसके लिये उपयुक्त समय प्रातः और सायंकाल है।

(४) ज्ञान—उपर्युक्त उपासनारूपी अभ्यासके फलरूप साधकके अंदर ज्ञानकी जागर्ति होती है। इस समयका यह ज्ञान केवल बुद्धिजनित नहीं रहता, किंतु उस साधकको अपनेमें सद्‌गुणोंका विकास करना पड़ता है, जिनका उल्लेख तेरहवे अध्यायके ७ से ११ तकके श्लोकोमें 'ज्ञान' के नामसे किया गया है। इस अवस्थामें कर्म और

चित्तकी पूर्ण शुद्धि होनेके कारण प्रयत्न, श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा प्रकृति, पुरुष, ज्ञेय आदिका ज्ञान उसको साधारण रीतिसे और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान विशेष रीतिसे प्राप्त हो जाता है। ऐसे साधककी स्थिति अनवरत निदिध्यासनद्वारा कारण-शरीरके अभिमानी 'प्राज्ञ' जीवात्मा-तक हो जाती है, उसको यह भी ज्ञान हो जाता है कि कारण-शरीरके ऊपर जो तुरीय-चैतन्यरूप श्रीभगवान्‌का परम प्रकाश है, वह गायत्री है। इसीकी सहायतासे ही वह वहाँसे ऊपर उठकर और मायाका अतिक्रम कर श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेगा (गीता ७।४-५, ९।१३)।

(५) ध्यान—ध्यानकी यह अवस्था ज्ञान (शास्त्र-पाण्डित्य) से ऊँची है (गीता १२।१२)। इसीका नाम ध्यानयोग भी है (गीता १८।५२)। यह चित्त या मस्तिष्ककी वृत्ति अथवा कार्य न होकर हृदयका कार्य है। श्रीभगवान्‌के निमित्त त्याग, उनकी अहैतुकी उपासना और सद्गुणयुक्त ज्ञानके फलस्वरूप हृदयके पवित्र होनेसे उसमें उस परम प्रेमका सञ्चार होता है, जो श्रीभगवान्‌की ओर अनवरत प्रवाहित हुआ करता है, जिससे ध्याता तुरंत अपने ध्येय-को हृदय-कमलमें ही (गीता १३।१८, २३, ३२; १५।१५) साक्षात् देख पाता है और इस दिव्य दर्शनको प्राप्तकर वह उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रवेश कर जाता है और तदनन्तर उस दुर्लभ मकरन्दका रसास्वादन-कर कृतार्थ होता है। पहले ज्ञान, फिर दर्शन और तब प्रवेश—यही क्रम है (गीता ११।५४)। इस अवस्थामें वह ज्यों-ही और जब भी अपने ध्येयका ध्यान करता है, त्यों-ही वे उसके हृदयमें प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अब ध्याता-ध्येय, नाम-नामी और मन्त्र, देवताकी एकता प्रत्यक्ष हो जाती है। यही आत्मार्पण-भाव है। इस अवस्थामें साधक भक्तको श्रीभगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन होता है, जिससे वह श्रीभगवान्‌को सर्वत्र प्रत्यक्ष व्याप्त देखता है और इसीसे वह सभीको श्रीभगवान्‌का रूप जानता है, जो परम दुर्लभ अवस्था है (गीता ७।१९)। इसी अवस्थाकी झलक महात्मा हरिदासने इस पदमें दी है—

> अब हौं कासों बैर करौं।
> कहत पुकारत प्रभु निज मुखते घट-घट हौं बिहरौं॥
> आपु समान सबै जग लेखौं भक्तन अधिक डरौं।
> श्रीहरिदास कृपाते हरिकी नित निर्भय बिचरौं॥

इस समय संसारके हितार्थ श्रीभगवान्‌का तेज-वितरण करनेके लिये वह केन्द्र बन जाता है। जो तेज उसके हृदयसे प्रवाहित होकर संसारका परम कल्याण करता है, ऐसे साधकके जीवनका व्रत ही परोपकार हो जाता है—'परोपकाराय सतां विभूतयः।' (सुभाषित) साधारण लोगोंके अभ्यन्तरमें श्रीभगवान् द्रष्टा अर्थात् साक्षीकी भाँति रहते हैं। जो अनन्यभावसे श्रीभगवान्‌में नियुक्त रहकर उनकी उपासना करता है, उसके लिये वे योगक्षेमवाहक हैं (गीता ९।२२)। जो भगवान्‌में तन्मय होकर उपदेश, यशोवर्णन आदिद्वारा दूसरोंको भी ईश्वरोन्मुख करते हैं—श्रीभगवान् उनके अभ्यन्तरमें ज्ञानको प्रज्वलितकर अज्ञान-तिमिरका नाश कर देते हैं (गीता १०।९ से ११)। यह ऊपरकी अवस्था है। ऐसे भक्तके वे कर्मफलभोक्ता हो जाते हैं अर्थात् उसके त्यागरूपी यज्ञके फलको वे संसारके हितके लिये स्वयं भोगते हैं; १३वें अध्यायके २२ वें श्लोकका यही भाव है।

(६) कर्मफल-त्याग—यह ध्यानसे भी उच्चतर है (गीता १२।१२)। इस कर्मफल-त्यागमें मामूली कर्म-फलका नहीं, मोक्षतकका त्याग इष्ट है और इसी कारण गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्ष-संन्यास-योग' है। इस समय उस भक्तको मोक्षकी प्राप्तिका पूर्ण अधिकार होता है, परंतु वह सदा श्रीभगवान्‌की सेवामें संयुक्त रहनेके सामने मोक्षको भी अति तुच्छ समझकर उसका सहर्ष त्याग कर देता है। इसी अवस्थामें उसे पराभक्तिकी प्राप्ति होती है

(गीता १८ । ५४-५५) और वह अपनी आत्माको श्रीभगवान्में अर्पित कर देता है, जो सृष्टिका मूल कारण-स्वरूप उनका आदि संकल्प है (गीता १८ । ६६) ।

(७) शान्ति-मोक्ष-त्यागद्वारा आत्मसमर्पण करनेसे ही यथार्थ शान्ति मिलती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि इस आत्म-समर्पणद्वारा श्रीभगवान्के सृष्टि रचनेके आदि-संकल्प—एकोऽहं बहु स्याम्—मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ—की पूर्ति होती है । यही मोक्षत्यागके अनन्तरकी परमशान्ति है (गीता १२ । १२) । इसे प्राप्तकर साधक सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है ।

गीतामें निष्काम कर्मयोग और उसका स्वरूप तथा महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, डी० एम्० डी०)

योग शब्दका सामान्य अर्थ है—संयोग, मिलाप अथवा विभिन्न घटकोंका एकत्रीकरण । महर्षि पतञ्जलिने योगकी परिभाषा देते हुए कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चञ्चल चित्तके समस्त व्यापारोंको रोक देना ही योग है । यहाँ लक्ष्यार्थ यही है कि इधर-उधर भटकते हुए चित्तको तत्तद्व्यापारोंसे विरत कर परमात्मतत्त्वमें निष्ठ देनेसे व्यक्ति व्यर्थके प्रपञ्चोंसे मुक्त हो रसमय दशाका भागी बन सकता है । 'रसो वै सः' इसी श्रुतिके अनुसार परमात्मा रसरूप हैं और आत्मा रसका प्यासा है । सामान्य रूपमें मनुष्यमात्रपर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि आनन्दकी कामना मनुष्यमें स्वाभाविक है, यह उसकी वृत्ति है । उठते-बैठते, चलते-फिरते मनुष्य सदैव आनन्दकी कामनासे परिपूर्ण रहता है । सम्भव है कि मनुष्य अपनी इस आनन्द-प्राप्तिकी कामना-को स्पष्ट न समझता हो अथवा यह वृत्ति उसमें मूर्च्छित या सुषुप्त हो, पर ज्ञानमें या अज्ञानमें आनन्द-प्राप्ति ही उसका परम लक्ष्य रहता है । आनन्द मानवकी मूल-प्रकृति है । इसीलिये जब भी मानव किसी प्रकारके संकटसे ग्रस्त हो जाता है, तब वह तत्काल उससे छूटने-का प्रयास करता है । उपनिषदोंमें इसी आनन्दकी अजस्र भावनाको परिलक्षित कर कहा गया है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' ।

अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है । आनन्दसे ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दके द्वारा ही प्राणी जीवित रहते हैं और प्रयाणकालमें आनन्दमें समा जाते हैं । इस प्रकार 'योग'के द्वारा आत्माको उसके काम्यसे मिलानेका प्रयास हुआ है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगकी परिभाषा उपर्युक्तसे किंचित् हटकर प्राप्त होती है और उसकी महिमा—'योगः कर्मसु कौशलम्' कही गयी है । अर्थात्—कार्यफलमें समता-रूपी निपुणता प्राप्त कर लेना ही श्रेयका उपाय है । भाव यह है कि किसी कार्यमें इस प्रकार तन्मय हो जाना ही योग है, जिसमें देहाध्यासतक जाता रहे । यह तन्मयावस्था आनन्दका मूल उत्स (स्रोत) है अतः यही योग है, यही साधना है, यही वह परम धाम है, जिसका वियोग आत्माको सदैव आकुल बनाये रखता है । योगके इस परिप्रेक्ष्यमें निष्काम कर्मयोगका स्वरूप जाननेका प्रयास यदि किया जाय तो वह किसी सीमा-तक निश्चय ही वस्तुस्थितिको उजागर कर पानेमें समर्थ होगा । निष्काम कर्मयोगका सामान्य भाव है—फल-त्यागकी भावनाके साथ कर्म करना । प्रश्न उठता है—प्रत्येक कार्यका कोई-न-कोई फल अवश्य होता है । इस स्थितिमें निष्काम कर्मका किसी-न-किसी रूपमें फल मिलता है या नहीं ? फल मिलता है और निश्चय ही अनन्तगुना फल मिलता है; क्योंकि कर्म-फलका त्याग कर्मयोगीको और अधिक महत्त्वका भागी बना देता है

सन्त विनोबा भावेने एक स्थानपर लिखा है—'साधारण मनुष्य अपने फलके आस-पास काँटेकी बाड़ लगाता है, पर इससे वह मिलनेवाले अनन्त फल गवाँ बैठता है। सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्प फल प्राप्त करता है, पर निष्काम कर्मयोगी थोड़ा-सा करके भी अनन्तगुना फल पाता है। (पर वह स्वयं फलेच्छा नहीं रखता।)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने संन्यास और निष्काम कर्मयोग—दोनोंको परम कल्याणकारी स्वीकार करते हुए भी संन्याससे निष्काम कर्मयोगको श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। उक्त दोनोंके सम्बन्धमें अर्जुनकी जिज्ञासाका समाधान करते हुए गीता-(५।२)में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

'कर्मोंका संन्यास (देह, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तृत्वविषयक अभिमानका त्याग) तथा कर्मयोग (समत्वबुद्धिसे भगवत्प्रीत्यर्थ कर्मोंको करना) इन दोनोंमें साधन-सुलभ होनेके कारण निष्काम कर्मयोग विशेष महत्त्वपूर्ण है; यद्यपि हैं दोनों ही परम कल्याणकारी।'

निष्काम कर्मके सम्पादनमें समत्वबुद्धिका योग विशेषतः रहता है, अतः निष्कामकर्म स्वभावतः ही 'योग' रूपमें परिणत हो जाता है; क्योंकि योगको एक अन्य परिभाषामें कहा गया है कि 'समत्वं योग उच्यते'—समताको ही योग कहते हैं। यह समत्व कब आता है? इसका उत्तर श्रीमद्भागवत-(३।२५।१६)में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम्॥

'जब यह मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभादि विकारोंसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःखादिसे मुक्त होकर सम अवस्थामें आ जाता है।'

इस अवस्थामें पहुँचते ही जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे, मुक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र (अद्वितीय), भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है। भागवत ३।२५।१७-१८में कहा है—

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥

वस्तुतः कर्मयोगी और कुछ नहीं, संन्यासी ही होता है। यद्यपि वह संन्यास नहीं लेता तथापि उसका कर्म संन्यासीके समान ही प्रशस्त, कल्याणकारी और मोक्षदायक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता-(५।३)में इस भावको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

'जो व्यक्ति न किसीसे द्वेष करता है, न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदैव संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादिसे रहित हो जानेवाला व्यक्ति सहज ही संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

संन्यास और कर्मयोग दोनोंका फल भी एक ही प्रतिपादित हुआ है, और वह है—परमात्माकी प्राप्ति। इनमें किसी एकका भी आश्रय लेकर व्यक्ति परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। अतः इन्हें भिन्न फलवाला कहना कथमपि समीचीन नहीं। गीता-(५।४)में स्पष्ट कहा गया है कि—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

श्रीमद्भागवत-(३ । २५ । २२-२३)में निष्काम कर्मयोगीको सर्वविध कष्टोंसे मुक्त प्रतिपादित किया गया है—

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥

निष्काम कर्मयोगके बिना संन्यासकी स्थितिको प्राप्त करना सर्वथा कठिन होता है; क्योंकि निष्काम कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंमें कर्तृत्वभावका समावेश न हो पाना सर्वथा कठिन ही नहीं, असम्भव होता है। परंतु भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला निष्काम कर्मयोगी निज निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानसे शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त कर लेता है। गीता-(५ । ६)में कहा गया है कि—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

इसके अतिरिक्त जितेन्द्रिय, शरीरजित्, विशुद्ध अन्तः-करणवाला, सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मरूप परमात्मामें एकाकीभावको प्राप्त किया हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता। वहीं (५ । ७ में) कहा है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इसके विपरीत तत्त्वज्ञ संन्यासीके लिये आवश्यक है कि वह देखते, सूँघते, स्पर्श करते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्याग और ग्रहण करते हुए यह समझे कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। परंतु स्वतः ऐसा हो जाना देहाभिमानियोंद्वारा कठिन है अतः भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे निष्काम कर्मयोगको संन्यासकी अपेक्षा सुगम बताया है। जो व्यक्ति सब कर्मोंको परमात्माको अर्पित कर, आसक्तिरहित हो कर्म करता है, वह पद्मपत्रवत् पाप-जलसे लिप्त अथवा सम्पृक्त नहीं होता। गीता (५ । ८–१०में) कहती है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कोई भी वस्तु जब भगवदर्पित कर दी जाती है तब उसका महत्त्व बढ़ जाता है। भौतिक पदार्थ भी ईश्वरको समर्पित होनेके पश्चात् ईश्वरीय बनकर विलक्षण गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं। इस स्थितिमें निष्काम कर्मयोगीकी स्थिति कितनी अच्छी होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार जहाँ सकाम कर्मकर्ता व्यक्ति फलमें आसक्ति होनेके कारण कामनाओंके द्वारा बन्धनगत होता है, वहीं निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलको ईश्वरार्पणकर भगवत्प्राप्तिरूप ऐसी शान्तिको प्राप्त करता है, जिसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। गीताके ५वें अध्यायके १२वें तथा २१वें श्लोक देखिये—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

किंतु कर्म-फलका त्याग साधारण बात नहीं है। इसके लिये सबसे प्रमुख आवश्यकता है—मनको वशमें करनेकी; परंतु मन इतना चञ्चल है कि सहज ही वशमें नहीं आता। श्रीमद्भागवत-(११ । २० । १८, २०)में स्पष्टरूपमें कहा गया है कि जब भी कर्मयोगी अपने मनको चलायमान पाये, उसे येन-केनप्रकारेण अपने वशमें लाये। विशेषकर सत्त्वसम्पन्न बुद्धिद्वारा ही इसे अपने वशमें लाना सुकर है—

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥

'मनके वशमें हो जानेपर हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संदेह नष्ट हो जाते हैं, ईश्वरका साक्षात्कार हृदयमें होने लगता है और इस साक्षात्कारके होते ही कर्म, कर्मफल और तत्परक वासनाएँ विलीन हो जाती हैं।' कर्मयोगी अपनी वास्तविक स्थितिमें पहुँच जाता है। श्रीभागवत (११।२०।३०)में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

संन्यासी और कर्मयोगीमें स्वरूपतः भी किंचित् अन्तर होता है। जहाँ संन्यासी संन्यासका आश्रय लेकर संसार और उसके आकर्षक पदार्थोंसे दूर भागकर स्वयंको पलायनवादी सिद्ध करता है, वहाँ निष्काम कर्मयोगी संसारमें रहकर ही सारे काम भगवन्निमित्त मानकर करता है और अपनी स्थिति जलमें कमलकी भाँति बनाये रखता है और प्रत्येक व्यक्तिको बता देता है कि लाभ पलायनमें नहीं, संघर्षमें है; बुराइयोंमें रहकर भी उनसे असम्पृक्त रहनेमें है। किसी व्यक्तिको खानेके लिये न मिले और वह कहे कि यह तो मेरा उपवास है तो इसे उपवास न कहकर आत्म-प्रतारणा, आत्मवञ्चना कहा जाना अधिक उचित होगा। इसी प्रकार शराब, नारी, मांस आदि आकर्षक पदार्थोंकी विद्यमानतामें स्वयंको उनसे मुक्त रखना बड़ी बात है। महाकवि भारविने इसी भावको ग्रहणकर कहा है—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।'

कर्मयोगी कुछ इसी प्रकारकी प्रवृत्तिका होता है। वह संसारमें रहकर बिना संन्यासी-वेष अपनाये कर्म करता है, परंतु फलके प्रति सर्वथा उदासीनभाव धारणकर अपने पथपर बढ़ता जाता है। फिर वह परम लाभ प्राप्त कर पानेमें सफल हो जाता है, जो जीवमात्रका काम है। परमलाभ है ईश्वरकी प्राप्ति, आत्माका परमात्मामें विलय। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।'

निष्काम-कर्मयोगी जिस परम लाभको संसारमें रहते हुए पा लेता है, उसे इतर सांसारिक जन क्यों नहीं प्राप्त कर पाते, जबकि वे भी जीवन-संघर्षमें वही भूमिका निभाते हैं जो निष्कामकर्मयोगी निभाते हैं? संसारी मनुष्यकी तपस्या यद्यपि बहुत कठोर होती है, परंतु होती है क्षुद्र फलोंके लिये; अतः परिणाम निष्कामकर्मयोगीकी अपेक्षा हीन कोटिका अथवा क्षुद्र प्राप्त होता है। कर्मके एक-सदृश होनेपर भी भावनाभेदसे फलमें अन्तर पड़ जाता है। गङ्गामें मात्र उसे सामान्य नदी मानकर स्नान करना जहाँ शारीरिक शुद्धिरूपी फल देता है, वहीं उसमें पवित्र मातृभाव रखकर स्नान करना शरीरके साथ मनकी शुद्धिरूप फल भी दे देता है। सकाम कर्म-कर्ता और निष्कामकर्मयोगीके कर्मोंका अन्तर तत्काल प्रकट हो जाता है। जहाँ सकाम कर्म कर्ताके कर्मका उद्देश्य—स्वार्थसे सना होता है, वहीं निष्कामकर्मयोगीका कार्य स्वार्थ-विरहित तो होता ही है, ईश्वरीय प्रेमसे सराबोर और समत्वकी भावनाके आदर्शका प्रतिष्ठापक भी होता है। यही कारण है कि उसका कर्म उसे विश्वके साथ समरस बना देता है।

निष्कामकर्मयोगकी सामर्थ्य अद्भुत होती है। ऐसे कर्मसे व्यक्ति और समाज दोनोंका परम कल्याण होता है। कर्मयोगीके कर्मका उद्देश्य ही यतः विश्व-मङ्गलका विधान होता है, अतः उस कर्मसे उसके साथ-साथ विश्वका भी कल्याण होता है। स्वयंको, स्वकीय कर्म-फलको भुलाकर अपने पार्श्ववर्ती समाजसे समरस होनेवाले निष्काम-कर्मयोगी जिस समाजमें जन्म लेते हैं, उसमें सुरुचि, आत्मीयता, सौमनस्य, समृद्धि आदि

गीताके कर्मयोग और निष्काम कर्मोंका वास्तविक रहस्य क्या है ?

(लेखक—डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शिक्षा-शास्त्री, तीर्थद्वय, रत्नद्वय)

'जो कर्म करता है, परंतु कामनासे नहीं करता, जो ज्ञानकी अग्निसे कर्मकी अन्तर्निहित 'कामना'को दग्ध कर देता है, जला देता है, जो कर्मके फलकी भावनाको, मोहको, आसक्तिको छोड़कर उसे पुरुषोत्तमके चरणोंमें समर्पित कर देता है, उसकी आत्मा सदा तृप्त है, उसे किसी दूसरेका सहारा नहीं लेना पड़ता, वह दिन-रात सब कुछ करते हुए भी मानो कुछ नहीं करता।' यही कर्मयोगीका साधारण लक्षण है।

कर्म-सिद्धान्त—भौतिकवादी इसी जीवनको आदि तथा अन्त मानता है, किंतु उसके पास जन्मसे ही दिखायी पड़नेवाली विषमताका कोई भी संतोषजनक उत्तर नहीं है। चेतना-जैसी महान् एवं विलक्षण सत्ता जन्मसे ही कष्टोंके काँटोंकी पीड़ा सहती हुई कैसे प्रकट हो सकती है? वह अपने किये कर्मोंका फल भोगे बिना सदाके लिये तिरोभूत भी कैसे हो सकती है? क्या इससे सृष्टिमें सर्वत्र दिखायी पड़नेवाला कारण-कार्यका नियम उपेक्षित नहीं होता? क्या इस मान्यतासे स्वेच्छाचारिताको प्रोत्साहन नहीं मिलेगा? हमारे कर्मोंका विगतजीवन तथा आनेवाले जीवनसे कोई सम्बन्ध न माननेपर क्या 'धर्म' तथा 'मोक्ष' शब्द भी निरर्थक नहीं हो जाते हैं?

ऐसे ही अनेक प्रश्न हैं, जिनके युक्ति-युक्त समाधानके लिये वैदिक संस्कृतिमें 'कर्म-विपाक-सिद्धान्त'को स्वीकार किया गया है। जो जैसा कर्म करेगा, उसे वैसा ही कर्म भुगतना होगा। सिद्धान्त यही है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

कोई बबूलका बीज बोकर आमका फल नहीं खा सकता। यदि हम दहकते हुए आगके गोलेको अपने शरीरके किसी भी अङ्गसे छुआयेंगे तो जल जायँगे। सृष्टिमें कारण-कार्यका यह नियम अटल है, इससे कोई भी नहीं बच सकता। किंतु जड प्रकृतिके इस नियमके चेतन आत्माके प्रसङ्गमें अटल होनेपर भी आत्माकी स्वतन्त्रताके अनुसार उसके फलको नियन्त्रित भी किया जा सकता है और उससे मुक्त भी हुआ जा सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकारके बन्धनोंको तोड़नेके लिये, बीमारीसे मुक्त होनेके लिये, दुःखोंके पहाड़ोंको धूल बनाकर उड़ा देनेके लिये, विविध पीड़ाओंसे मनुष्यकी मुक्तिके लिये उसकी सतत 'संघर्ष-यात्रा' इसका प्रमाण है। जड-जगत्में जो 'कार्य-कारण'का नियम कहा जाता है, चेतनाके संसारमें उसे ही कर्मका सिद्धान्त कहते हैं। जब कि जड-जगत् लाखों-करोड़ों वर्षोंतक 'कार्य-कारण'के नियममें बँधा ही रहता है, तब चेतना प्रगतिके पंख फैलाये अनन्त सच्चिदानन्दकी खोजमें निरन्तर आगे बढ़ती रहती है।

कर्म और उनका फलभोग—मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, किंतु उनका फल भोगनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है; पता नहीं उनका परिणाम कब आकर उसके जीवनमें फलित हो जाय। कर्मका फल केवल हमारे कर्म करनेसे नहीं प्राप्त हो जाता है। उसके पीछे ईश्वरके अगणित नियम भी हैं, जिन्हें हम नहीं जानते। कर्ता और कर्मका पर्याप्त ज्ञान न होनेके कारण भी कर्मफल सदा हमारी इच्छाके अनुसार प्राप्त नहीं होते। कभी-कभी काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्यको मनके तीव्र संवेगसे ऐसी कर्मशृङ्खलामें बाँधते चले जाते हैं कि वह अनेक जन्मोंतक भी उससे मुक्त नहीं हो पाता। मनुष्य उसमें अंधा हो जाता है और 'संवेग' उसकी विचार-शक्तिको पीछे ढकेल देते हैं। अधिकतर मनुष्योंके जीवनकी यही कहानी है। एक और कठिनाई है कि मनुष्य अपनी

स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार अपनी वासनाओंकी तृप्तिको ही जीवनका मानक और उद्देश्य बना लेना चाहता है, जिसके कारण वह फल-शृङ्खलासे कभी छूट नहीं पाता। कर्मका सिद्धान्त इतना अटूट है कि क्षणभर भी कर्त्ता और भोक्ताका भाव आ जानेपर व्यक्ति संस्कारोंकी प्रबल शृङ्खलामें बँध जाता है।

कर्मत्यागकी भावना—इसलिये कुछ लोगोंका यह दृष्टिकोण बना कि ये सब उत्पन्न प्राणी कर्मद्वारा बन्धनमें फँसते हैं तथा प्रत्येक कर्म कर्ताके अहंकार और पृथक्ताकी भावनाको पुष्ट करता हुआ एक नयी कर्म-परम्पराको जन्म देता है। इनसे मुक्त होने तथा शाश्वत सत्य और आनन्दकी खोजके लिये मनुष्यको सब कर्मोंको त्यागकर, संन्यासी बनकर ज्ञानद्वारा अपने उद्धारका मार्ग क्यों नहीं प्रशस्त करना चाहिये? इस दृष्टिकोणका परिणाम वर्तमान जीवनकी उपेक्षाके रूपमें प्रतिफलित हुआ।

जीवनमें कर्म अनिवार्य हैं—गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको प्रदत्त इस प्रश्नके उत्तरने हजारों वर्षोंसे भारतीय जीवनको मन्त्र-मुग्ध किया है। यहीं आकर गीताका ज्ञान संदेह और अँधेरेमें भटकते हुए हमारे प्रश्नोंके आगे प्रकाश लेकर उपस्थित हो जाता है। गीताके प्रारम्भमें अर्जुन भी युद्ध न करने, कर्मसे दूर रहने और संसारको त्यागनेके लिये ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत करता है, जो सुननेमें ठीक जान पड़ती हैं। वह अपनी भावनाजन्य दुर्बलताको दयाके रूपमें देखता है और स्वयंको स्वार्थसे ऊपर उठा हुआ व्यक्ति मानकर यह कल्पना कर बैठता है कि अपने प्रतिद्वन्द्वियोंकी तुलनामें वह कितना श्रेष्ठ है। वह यह भी प्रश्न उठाता है कि कर्म करना अच्छा है या कर्मका त्याग।

गीता कहती है कि यह संसार हमारा निर्माण नहीं है। इसके व्यवहार, क्रियाकलाप हमारे इच्छानुसार या आज्ञासे नहीं चलते। इसके संदर्भमें कुछ कार्य करनेके लिये ईश्वरने हमें पृथ्वीपर नियुक्त किया है। इसलिये हमें अपने-आपको साधन बनाकर कार्य करना होगा—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'-का यही वास्तविक तात्पर्य है। मनुष्यको अपने कर्तव्य कर्मका पालन करना चाहिये। कर्मके द्वारा उत्पन्न होनेवाली समस्याओंके समाधानके लिये गीता निष्काम कर्मका उपदेश देती है, जिसके अनुसार मनुष्य समस्त कर्मोंको करते हुए भी कर्मफलसे ऊपर उठ सकता है। मनुष्यके सामान्य जीवनके लिये अच्छे और बुरेसे उदासीन होनेका उपदेश वह नहीं करती; क्योंकि इस प्रकारकी शिक्षाके बहुत ही हानिकर परिणाम हो सकते हैं। गीता प्रत्येक कर्तव्य-कर्मकी शिक्षा देती है।

कर्मका गौरव—शरीर एवं इन्द्रियोंकी चेष्टाका नाम ही कर्म है। यह हम सभी जानते हैं कि यह जीवन और हमारे चारों ओर फैला हुआ संसार नित्य कर्म-परायण हैं। कर्म छोड़कर कौन रह सकता है? हमारी प्रतिदिनकी रहन-सहन और जीविका भी कर्मके बिना नहीं चल सकती। जीवनमें कुछ भी प्राप्त करनेके दो ही उपाय हैं—कर्म और ज्ञान। कर्मसे अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे अप्राप्त वस्तुका ज्ञान होता है। सर्जनात्मक कर्मोंकी चिनगारियाँ मनुष्योंके जीवनपथपर प्रतिपल अगणित दीप जला रही हैं। जीवनकी समृद्धि और गतिशीलताके लिये इस कर्मशील संसारमें कर्मोंका आह्वान निरन्तर हमारे जीवनके चारों ओर गूँजते रहना चाहिये। कर्मसे पलायन, कर्मके प्रति हीनभावना, समाजको निष्क्रिय बनाकर तमसाच्छन्न बना सकती है। कर्मके पीछे भी सुव्यवस्थित जीवन-दर्शन हो सकता है; गीतामें श्रीकृष्णने यह बताकर मनुष्यकी गतिशीलताको जीवन प्रदान किया है। यहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण मुनियोंके समान किसी तापस-आश्रममें ध्यान करने नहीं बैठे हैं, बल्कि रणभेरियोंके तुमुल निनादसे आकुल समर-

भूमिमें शस्त्रोंकी खनखनाहटके बीच युद्धके रथपर रथी और सारथीके रूपमें विद्यमान हैं। अतः कर्म-त्याग नहीं, कर्म-संग्रहका प्रसङ्ग है, पर प्रश्न यह है कि कर्म-दोष—कर्मके बन्धनसे बचा कैसे जाय?

शास्त्रानुकूल कर्मका ही नाम धर्म है, मानसकर्मका नाम भक्ति है, बौद्धिककर्मका ही नाम तत्त्वज्ञान है। बुद्धिकी स्थिरता और निर्मलतासे कर्ममें ब्रह्म दिखायी पड़ने लगता है। कर्मका यह चमत्कार सदासे मनुष्य-मनको आकृष्ट करता आया है। किंतु कर्म करनेपर भी यदि व्यक्ति अहंकेन्द्रित और स्वार्थी है तो उसके कर्म अन्य लोगोंके लिये घातक हो सकते हैं और उससे समाजमें अशान्ति फैल सकती है। ऐसा व्यक्ति अपने मनको भी शान्त और सुखी नहीं रख सकता है। हम देखते हैं कि आजकल समाजमें ऐसे लोगोंकी संख्या अधिक है, जो कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार न कर केवल तात्कालिक लाभके लिये ही कर्म करते हैं; वे झूठ बोल सकते हैं और यदि किसी दुर्बल व्यक्तिको हानि पहुँचानेसे अपना लाभ होता है तो उसे भी करनेमें नहीं चूकते। जब मनुष्य स्वार्थ तथा अपने मन और इन्द्रियोंके सुखको ही लक्ष्य बनाकर कर्म करता है तो वह प्रकृतिकी परवशता स्वीकार कर लेता है और उसके बन्धनमें जकड़ता चला जाता है। कामना सदा ही प्राप्ति और संकल्पमें संकीर्णता लाती है, उसके कारण क्षुद्र राग और द्वेष, क्रोध और क्षोभ, सफलता तथा प्रियंकर वस्तुओंके प्रति आसक्ति, विफलता तथा अप्रिय वस्तुओंसे उत्पन्न शोक-संताप हमको घेर लेते हैं। कामनाको पालते रहनेवाले कभी निष्कलुष शान्ति एवं स्थिर ज्योति नहीं पा सकते। सृष्टिके सभी द्वन्द्वोंको समचित्त और समबुद्धि होकर ग्रहण करनेपर ही हम उनके प्रभावसे बच सकते हैं। (क्रमशः)

श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल)

भगवान् श्रीकृष्णने निष्काम कर्मयोगका विवेचन गीता-के दूसरे, तीसरे एवं अठारहवें अध्यायोंमें विस्तारसे किया है। निष्कामभावसे जो कर्म किये जाते हैं, उनके फलका कभी नाश नहीं होता है। उनमें कोई प्रत्यवाय (पाप) भी नहीं होता। वे सब प्रकारके भयोंसे रक्षा करते हैं (गीता २। ४०)।

निष्काम कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। शुद्धान्तःकरणमें आत्मज्ञानका उदय होता है और आत्म-ज्ञानके उदित हो जानेपर ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। यह आनन्द परमोत्कृष्ट है। लौकिक सभी सुख एवं आनन्द इसकी तुलनामें क्षुद्रकोटिके हैं। श्रुति कहती है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' क्षुद्र जलाशयोंमें स्नान-पानादिका प्रयोजन यथाकथंचित् सिद्ध होता है, परंतु विशाल जलाशयोंसे स्नान, पानादि कार्य उत्तमोत्तमरूपमें सम्पन्न होते हैं। सकाम कर्म क्षुद्र जलाशयके समान हैं और निष्काम कर्म विशाल जलाशयके समान हैं। जो सुख सकाम कर्मोंके करनेसे प्राप्त होते हैं, वे सब अनिवार्यरूपसे निष्काम कर्म करनेसे प्राप्त हो जाते हैं। अतः सकाम कर्मोंकी उपादेयता नहीं है, है भी तो थोड़ी है (गीता २। ४६)।

फलोंकी अभिलाषा छोड़कर तथा कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर फलसिद्धिमें हर्ष और विफलतामें विषाद त्यागकर ईश्वराराधन-बुद्धिसे कर्म करना श्रेयस्कर है। फलाभिसंधिसे किया जानेवाला कर्म निकृष्ट-कोटिका होता है। वह जीवनमें दुःख और कार्पण्य प्रदान करता है। वह जन्म-मरण-चक्रके बन्धनका कारण होता है। वह सब अनर्थोंका मूल कारण है। अतः सब अनर्थोंको दूर करनेवाले तथा आत्मज्ञानको उत्पन्न करनेवाले निष्कामकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

मनीषिगण समत्वबुद्धिसे ईश्वराराधनके निमित्त कर्म करते हैं। वे फलकी कामना नहीं करते। वे सत्त्वोद्रेकसे आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं और जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। वे मोहजनित अज्ञानके कालुष्यको पार कर लेते हैं—यतः उनमें फलकी कामना नहीं होती। उनकी बुद्धि परमात्मामें स्थिर हो जाती है और वे स्थित-प्रज्ञकी सर्वोच्च भूमिकामें आसीन हो जाते हैं।

स्थितप्रज्ञ पुरुष मनोगत सभी कामनाओंका त्याग करते हैं और स्वप्रकाश चिद्रूपसे भासमान आनन्दस्वरूप परमात्मामें तृप्त रहते हैं। वे सुख-दुःखसे लेशमात्र भी प्रभावित नहीं होते हैं और राग-भय एवं क्रोधसे सर्वथा दूर रहते हैं। वे किसीसे स्नेह नहीं करते। प्रारब्धवश यदि कोई शुभ प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है तो वे उसकी प्रशंसा नहीं करते, यदि कोई अशुभ प्रकरण आ जाता है तो उससे द्वेष नहीं करते। जिस प्रकार कूर्म अपने अङ्गोंको समय-समयपर समेट लेते हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंसे इन्द्रियोंको समेट लेते हैं। इन्द्रियों और मनको जीतकर निष्काम-भावसे कर्म करनेवाले स्थितप्रज्ञ महानुभाव सब प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा प्राप्तकर परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करते हैं।

आत्मज्ञानका उत्कर्ष सर्वमान्य होनेपर भी कर्मका विधान मानवके लिये अनिवार्य है। बिना कर्म किये कोई भी अजितेन्द्रिय पुरुष जीवित नहीं रह सकता। प्रकृतिके नियमानुसार सबको कार्यजगत्‌में आना पड़ता है। कुछ ऐसे दम्भी जन हैं, जो पाणिपादप्रभृति कर्मेन्द्रियोंसे कर्म नहीं करते, परंतु ज्ञानेन्द्रियों एवं मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करते हैं। ऐसे लोगोंको गीतामें विमूढात्मा एवं मिथ्याचारीकी संज्ञा दी गयी है। इसके विपरीत जो महानुभाव नेत्र, कर्ण, नासाप्रभृति ज्ञानेन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर फलोंकी इच्छा त्यागकर कर्मेन्द्रियोंसे विहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें उत्तम पुरुष बतलाया गया है। ऐसे विवेकी महानुभाव अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये निष्कामभावसे कर्म करते हैं, अतः उन्हें उच्च स्थान दिया गया है। कर्म किये बिना शरीरका निर्वाह भी कठिन है। अतः निष्काम-भावसे श्रौत-स्मार्त-कर्मोंका अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। ईश्वरको समर्पित करके निष्कामभावसे कर्म करना श्रेयस्कर है, यतः वह सब प्रकारके बन्धनोंको दूर कर देता है।

सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापतिने प्रजा और यज्ञ दोनोंको साथ-साथ उत्पन्न किया और प्रजाको आदेश दिया कि 'तुमलोग यज्ञको इष्टफल देनेवाली कामधेनु समझकर सर्वथा यज्ञानुष्ठान करो, जिससे तुमलोगोंके विविध मनोरथोंकी पूर्ति हो। यज्ञानुष्ठानसे देवगण तुमलोगों-पर प्रसन्न होंगे और यथेच्छ वर्षा करेंगे, जिससे नाना प्रकारके अन्न, फल-मूलादि उत्पन्न होंगे और लोकका कल्याण होगा। मनुने भी मनुस्मृति-(३ । ७६) में कहा है—

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

भगवान्‌ने श्रीमुखसे स्पष्ट शब्दोंमें अर्जुनको उपदेश दिया है कि 'हे अर्जुन! तुम आसक्ति छोड़कर निरन्तर कर्म करते रहो; यतः आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवाला पुरुष मोक्षरूप फल प्राप्त करता है। जनक, अजातशत्रुप्रभृति बड़े-बड़े राजर्षियोंने निष्कामभावसे कर्म करके ज्ञान प्राप्त किया था। अतः तुम्हें भी उसी प्रकार काम करना चाहिये और क्षात्रधर्मका पालन करना चाहिये। लोकसंग्रहके लिये भी कर्म करना आवश्यक है। बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, अन्यजन भी उनका अनुसरण करते हैं। मैं सर्वथा आप्तकाम हूँ। तीनों लोकोंमें मुझे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, तथापि मैं भी कर्म करता हूँ। मूर्खलोग आसक्तिपूर्वक कर्म करते

हैं, जब कि विद्वज्जन लोकसंग्रहकी भावनासे अनासक्तिपूर्वक कर्म करते हैं। अर्जुन! तुम अध्यात्मबुद्धिसे सब कर्म मुझे समर्पित करो। आशा, ममता एवं शोकका त्यागकर युद्ध करो एवं अपने धर्मका पालन करो। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'**के अनुसार सबको अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये। अपने धर्ममें निधन भी कल्याणकर होता है।

कुरुक्षेत्रके विशाल युद्धस्थलपर गाण्डीवधारी अर्जुनने किंकर्तव्यविमूढ हो भगवान्‌की शरणमें जाकर विनीत शिष्यके समान मार्गदर्शनके लिये प्रार्थना की। परमकृपालु भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमुखसे निष्काम कर्मयोगका उपदेश किया, जिससे अर्जुनका व्यामोह दूर हो गया और वे सोत्साह कर्तव्यपालनके निमित्त खड़ा हो गये।

अर्जुनके समान समस्त जिज्ञासुओंके लिये यह निष्काम कर्मयोगका उपदेश शाश्वतरूपसे व्यामोहनाशक बना रहेगा। व्यामोहनाशसे भगवत्स्मृति हो जाती है और मनुष्यका चरम लक्ष्य—आत्मकल्याण फलीभूत हो जाता है।
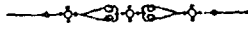
शास्त्र-सम्मत निष्काम कर्मका स्वरूप

(लेखक—श्रीमत्प्रभुपाद प्राणकिशोरजी गोस्वामी)

कर्मकी परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है। कर्मके द्वारा ही निर्माण और ध्वंसात्मक कार्य होते हैं। सत्कर्मके द्वारा निर्माण और असत्कर्मद्वारा ध्वंस-कार्य होते हैं। महर्षि पाणिनि एवं पतञ्जलिके अनुसार 'योग' पद युज्-समाधौसे निष्पन्न हुआ है और उसका अर्थ है—असम्प्रज्ञात—चित्तनिरोध। 'दक्षस्मृति'के अनुसार परमात्मा एवं जीवात्माके संयोगको भी 'योग' कहते हैं।

कामनासे कर्म होते हैं। कर्मके पहले संकल्पके साथ कोई उद्देश्य-प्रेरणा—दृष्ट अथवा अदृष्ट भी कुछ रहती है और पीछे फल भी लगा रहता है। वासना शुद्ध होनेसे शुद्ध फल और अशुद्ध वासनासे अशुद्ध फलकी प्राप्ति होती है। जीव कर्मके वशमें है और ईश्वर है सबके कर्मोंका फलदाता। कर्मके द्वारा ही नदियाँ, समुद्रादि प्रवाहित होते हैं, वायु प्रवाहित होती है, अग्नि प्रज्वलित होती है, पृथ्वी प्राणियोंको धारण करती रहती है—इसमे पवन, अग्नि, पृथ्वी, जलको कोई फल-कामना नहीं है। प्रायः जीवोंके उपकारके लिये इनके कर्म निष्काम ढगसे चलते रहते हैं।

वस्तुतः पारिभाषिक कर्म-शब्दसे वेदानुगत धर्माचरणशील प्राणियोके वर्णाश्रमके विभक्त कर्तव्य साधिकार धर्मानुष्ठानको समझना चाहिये। कर्मकाण्डमे यज्ञ, हवन व्रत, नियम और दानादिके व्यापारको कर्म कहा गया है। कर्माचरणमें कुछ-न-कुछ प्रेरणा, बोध और सुख-समृद्धि पानेकी उत्कण्ठा तो रहना स्वाभाविक है। प्रवृत्तिपरक शास्त्रोंमें बृहद् अनुष्ठानसे स्वर्गादि-लाभ सूचित किया गया है। निवृत्तिपरक शास्त्रोंमें दानादिद्वारा निर्मम होनेसे, जीवके कल्याणार्थ कामनारहित कर्मको ही निष्काम कर्म घोषित किया गया है। साधकोंके हृदयसे जब 'हम' और 'तुम'के भाव निवृत्त हो जाते हैं, जब सर्वत्र सभी जीवोंमें एक महान् सत्ताके आविर्भावका दर्शन होता है, जब एक आनन्दमय स्वरूपका अनुभव होता है, तब आचरित कर्मफल ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाते है और कर्ताको बन्धनसे मुक्ति मिल जाती है। इस अवस्थामें योग-साधनासे, भक्तिसे, भगवच्चरणारविन्दकी शरणागतिसे भी कर्म शुद्ध हो जाते हैं, वासना जल जाती है, योग सिद्ध हो जाता है और भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। इसीको निष्काम-कर्मयोग कहा जाता है। मीमासा-शास्त्रमे द्विजातियोद्वारा क्रियमाण हवनादिको यज्ञ कहा गया है। प्रकारान्तरसे इसीका नाम

'क्रियायोग' है। उपनिषदोंमें ज्ञानयोगको क्रियायोगसे भी श्रेष्ठ माना गया है। पतञ्जलिके योगशास्त्रमें राजयोगकी प्रधानता है। महाभारत, गीता, रामायण तथा पाञ्चरात्रादि शास्त्रोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवदाराधनको ही प्रधानतः योग स्वीकृत किया गया है। आचार्यशंकरने ज्ञानयोगको कैवल्यसिद्धि, ब्रह्मानन्द, मोक्ष-प्राप्तिका परम-साधन ही माना है। निम्बार्क, रामानुज, मध्वाचार्य, श्रीवल्लभ आदि वैष्णव-संत-आचार्यगण सभी जीवोंके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवत्-शरणागतियोगसे ही भगवत्प्राप्ति स्वीकार करते हैं। स्व-स्व-वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित धर्म कर्म-योगके अन्तर्गत हैं। अहंकार-परित्यागसे ये कर्म विशेष शुद्ध बन जाते हैं।

जैसे छोटे-से-छोटे कुसुमकोरक (कलिका)के साथ उसके पत्रपल्लवका संयोग, पल्लवके साथ शाखाका और शाखाके साथ मूल-काण्डका, मूल-काण्डके साथ आधार-भूमिका संयोग होता है, वैसे ही छोटे-से परमाणुके स्पन्दनसे प्रकृति-पुरुष समष्टि विश्वका वृहत्तम ब्रह्माण्डका संयोग ही है। ये पूर्ण उपकार और सम्पोषण-धारण आदि कार्य करते हैं। संसारमें मानवका देह-धारण करना कर्मसे और कर्मके लिये होता है। शुभ भावनायुक्त प्रेरणाकी उत्पत्ति जिस मानव-देहमें होती है तथा उसकी वृद्धि एवं पुष्टि होती है, उसीका जीवन महान् जीवन बन जाता है। जिनका ध्यान जीवनभर परोपकारपरायण कर्मोंमें रत रहता है, उन्हींके कर्म निष्काम कर्म होते हैं। अपनी स्वार्थ-पूर्तिके लिये किया गया कोई भी कर्म निष्काम नहीं हो सकता। सर्वात्मना परोपकारकी शुभ भावनासे ही निष्कामताकी सिद्धि होती है। अतः स्व-वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए ईश्वर-उपासनादि सात्त्विक कर्म ही परम आदर्श धर्म है। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीका कथन है—

> अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
> तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम्॥
> (२। ३। १०)

'बुद्धिमान् प्राणी निष्काम हो या सकाम अथवा मोक्षकी कामनावाला हो, उसे बस, तीव्र भक्तियोगसे परमपुरुष परमात्माकी ही आराधना करनी चाहिये'। यही सर्वोत्तम निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न)

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया भी होती है। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। ५)-का मत है कि 'मनुष्यकी इच्छाके समान विचार, विचारोंके अनुसार कर्म होते हैं और कर्मके अनुसार उसे फल मिलता है।' महाभारत शान्तिपर्व (२०१। २३)के अनुसार 'कर्मफलमें आसक्त व्यक्ति जैसे कर्म करता है, वैसे ही पाता है। इनमें कुछ कर्म इस प्रकार-के होते हैं कि उनका परिणाम तुरंत मिल जाता है, किंतु अनेक कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल कालान्तरमें और किन्हीं-किन्हींका तो बहुत कालके पश्चात् दिखायी पड़ता है।' मनुष्य शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर कर्म करता रहता है। कर्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति है। कर्म-को लेकर ही मानव-जीवनका प्रारम्भ है। कर्म ही जीवन है; क्योंकि कर्म ही गति, चेष्टा और परिवर्तन है। जीवन भी वही है। सद्योजात शिशुकी भावगतिको ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात हो जाता है कि जीवनका अर्थ क्या है? चञ्चलता ही जीवन है। चञ्चलता अर्थात् केवल चलना। गीताकारका भी स्पष्ट उद्घोष है कि 'मनुष्य प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं। तात्पर्य यह कि कर्म तो करने ही पड़ते हैं, पर यदि ईश्वर-प्रदत्त विवेकको काममें लेकर कर्म किये जायँ तो

मानव-जीवनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। वस्तुतः मानव-जीवन कर्ममय है, वह कर्मोंका ही संघटित परिणाम है।

कर्म 'सकाम' तथा 'निष्काम'के भेदसे दो प्रकारके होते हैं। फलकी इच्छासे किये जानेवाले कर्म सकाम हैं। फलमें आसक्ति होनेके कारण ही ये सकामकर्म बन्धनमें डालनेवाले होते हैं। अतएव भगवान् अर्जुनको निष्काम कर्म करनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—'कुन्तीनन्दन! तुम कर्मफल और आसक्तिसे रहित होकर कर्मोंका ईश्वरार्थ भलीभाँति आचरण करो[1]।' कर्मयोगी जब फलासक्ति त्यागकर कर्म करता है, तब ऐसे कर्म निष्काम-कर्मकी श्रेणीमें आ जाते हैं। निष्कामकर्म रागरहित कर्म होते हैं। अतः इनके द्वारा बन्धनकी उत्पत्ति नहीं होती।

कर्मयोगकी सुगमताके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा है—'मैंने ही मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है। वे हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इनके अतिरिक्त मनुष्योंके लिये श्रेयःप्राप्तिका अन्य कोई साधन नहीं है।[2] भगवान्द्वारा निर्दिष्ट इस मार्गत्रयकी पृथक्-पृथक् सफलतामें कर्मयोग ही हेतु है।

ज्ञानयोग—शास्त्रोंमें ज्ञानकी महिमाका विशेष वर्णन है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ नहीं है[3]। वेदोंमें भी **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**, **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**[4] **'ब्रह्मविदाप्नोति परमम्'**[5] कहकर ज्ञानके असाधारण महत्त्वका ख्यापन किया गया है। महाभारतका भी कथन है—कर्मसे प्राणी बँधता है और ज्ञानसे मुक्त होता है।[6] गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं **'ग्यान मोच्छ-प्रद बेद बखाना'**। श्रीभगवान् भी **'शमः कारणमुच्यते'** के बाद ज्ञानीको अपना ही रूप मानते हैं[7]।

कर्मयोग—कर्मयोग समर्थकोंके अनुसार लौकिक और वैदिक कर्म करता हुआ जीव परमेश्वरके निकट पहुँच सकता है। परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आकर उपस्थित हुआ है, वही नियतकर्म है। यहाँ 'कर्म'को धर्मका पर्यायवाची समझना चाहिये। अपने स्वाभाविक कर्मों अर्थात् वर्णाश्रमोचित धर्मको निष्कामभावसे करते रहनेसे मनुष्यको परमसिद्धिकी प्राप्ति होती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
... ...
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है; अर्थात् उसकी देह और इन्द्रियाँ

१–तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गीता ३। ९)

२–योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० १०। २०। ६)

देवीभागवत (७। ३७। ३)में इन्हींको कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग कहा है—
मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप। कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥

३–न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते॥ (गीता ४। ३८)

४–बिना ज्ञानके मोक्ष-प्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है (श्वे० उ० ३। ८)

५–ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है (तैत्तिरीय० २। १)

६–कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते। (महा० शान्ति० २४१। ७)

७–द्रष्टव्य–गीता (७। १७), कूर्मपु० ब्राह्मीसंहिता (४। २४), श्रीमद्भा० (११। १९। ३), स्कन्दपु० (१। ५। ४२-४३), शिवपुराण (२। २। ४३। ४—६), मानस (१। २१। ३)

स्वाभाविक कर्म करनेसे शुद्ध हो जाती है और उसमें ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता आ जाती है अतः उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजा कर।

कर्मयोगी साधकके लिये हमारे धर्मग्रन्थोंमें निष्काम कर्म करनेकी प्रेरणा दी गयी है; क्योंकि कर्मोंके तीन भेद संचित, प्रारब्ध और क्रियमाणकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि कर्मयोगीके द्वारा किये जानेवाले क्रियमाण बुरे न हों, प्रारब्धको वह हँसता हुआ भोग ले तथा अपने वर्तमान शुभ-कर्मोंके द्वारा पूर्वकालके (संचित) अशुभ-कर्मोंपर विजय प्राप्तकर अशुभ कर्मोंके फलको शान्त कर दे (नष्ट कर दे[1])। इस प्रकार वस्तु, परिस्थिति, संयोग, वियोग आदिको भगवत्प्रदत्त मानकर तथा फल और आसक्तिका परित्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी निःसंदेह 'निष्काम-कर्मयोगी' है।

निष्काम-कर्म करनेकी सर्वप्रथम प्रेरणा हमें वैदिक साहित्यसे प्राप्त होती है। यजुर्वेद और ईशावास्योपनिषद्का आदेश है कि कर्मयोगीको कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीवित रहना चाहिये[2]। अथर्ववेदके ऋषिका भी स्पष्ट उद्घोष है कि सौ वर्षोंतक उन्नतिशील जीवन जियो[3]। जीवन-शक्तिको ऐसे संयमसे खर्च करो कि सौ वर्षोंतक पूर्ण कर्मशील रह सको। निष्कामभावसे कर्माचरण करनेवाला पुरुष कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता[4]। कर्माचरण ही कर्मोंमें लिप्त न होनेका एकमात्र मार्ग है।

कठोपनिषद् (१। १। १७) में यमराज कहते हैं कि 'ऋक्, यजुष्, साम—तीनों वेदोंके तत्त्वरहस्यमें निष्णात होकर, निष्कामभावसे यज्ञ, दान और तप (शास्त्रोक्त) तीनों कर्मोंको करता हुआ पुरुष मृत्युसे तर जाता है। वह देवयानद्वारा परमशान्तिको प्राप्त होता है।' श्वेताश्वतर-उपनिषद्में भी निष्काम-कर्मयोगका महत्त्व बतलाते हुए साधक-(कर्मयोगी-)के लिये कल्याणमार्गका निर्देश दिया गया है—'जो कर्मयोगी वर्णाश्रम-विहित कर्तव्यकर्मोंको अहंता-ममता-आसक्तिरहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे करता है, वह तुरंत ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है[5]।' 'यत्करोषि[6], सर्वधर्मान् परित्यज्य[7], मन्मना भव[8], अनाश्रितः कर्मफलम्, कार्यमेवंतव[9] कर्मयोगो विशिष्यते[10], कर्मण्येवाधिका[11]रस्ते, योगसंन्यस्त-कर्माणम्[12], योगस्थः कुरु कर्माणि[13], त्यक्त्वा कर्मफला-सङ्गम्[14], कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि[15], शारीरं केवलं कर्म[16], इत्यादि अनेक गीतावाक्योंमें भगवान्‌ने निष्कामकर्मकी ही आज्ञा प्रदान की है। गीताका प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है।

यही कर्मोंका योग है। यही उपासकोंका श्रेय-सम्पादन करनेवाली कुशलता है। स्वयं अहङ्कार-रहित होकर प्रभुको ही समस्त कर्मोंका प्रेरक मानकर निष्काम भावसे कर्तव्यकर्मका पालन करनेसे कर्मासक्ति शनैः-शनैः

१—योगवासिष्ठ (२। ७। ७१, २। ९। ४, २। ९। ६, २। ९। १—६, २। ६। ४, २। ६। ३—५, २। ६। २, २। ६। १०-११, १। ५७। २९, २। ६। १८, २। ६। ३९, २। ५। ९, २। ५। १५, २। ५। ११)

२—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजु० ४०। २)

३—शतं जीव शरदो वर्धमानः (अथर्व० ३। ११। ४),

४—एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (ईश० २)

५—आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः। तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ (श्वे० उ० ६। ४)

६—गीता (९। २७), ७—गीता (१८। ६६), ८—गीता (९। ३४, १८। ६५), ९—गीता (६। १), १०—गीता (१८। ५), ११—गीता (५। २), १२—गीता (२। ४७), १३—गीता (४। ४१), १४—गीता (२। ४८), १५—गीता (४। २०), १६—गीता (४। २०), १७—गीता (४। २१)

हुए हो जाती है। इस विषयमें स्वयं भगवान् विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि—'उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म 'मेरे लिये ही करे' और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त अपने-आप मुझमें समर्पित हो जायँगे'[1]। गीता भी कहती है कि जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पित करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता[2]। 'सुबोधिनी' टीकामें श्रीवल्लभाचार्यजी भी कहते हैं कि **'येनैव कर्मणा नाशः शङ्कनीयस्तदेव भगवति भावनीयम्'** अर्थात् जिस कर्मसे हानिकी सम्भावना हो, उसमें भी भगवान्‌की भावना करनी चाहिये—भगवान्‌में लगाना चाहिये।

भक्तियोग—

जिस दशामें जीवके मन, वाणी और शरीर भगवन्मय हो जाते हैं, मनसे प्रभुका सतत स्मरण होता है, वाणीसे निरन्तर उनके गुणोंका गान होता है, शरीरसे अनवरत उनकी सपर्या (सेवा) होती है, वही भक्ति है; अर्थात् भगवान्‌के दिव्य गुणोंके श्रवणसे द्रवीभूत हुए चित्तकी वृत्तियाँ उन सर्वेश्वर प्रभुकी ओर जब धारा-प्रवाह-रूपसे सतत बहने लगती हैं, तब वही क्रिया भक्तिका स्वरूप बन जाती है। ऋग्वेदसंहितामें कहा गया है—'जैसे गङ्गा आदि नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ती हुई उसीमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही भगवद्भक्तोंके मनकी सभी वृत्तियाँ अनन्त दिव्य गुणगणकर्मवान् परमेश्वरकी ओर जाती हुई तदाकार होकर उन्हींमें विलीन हो जाती हैं।

भक्तिसे व्यष्टि-समष्टिघातक सभी तत्त्व नाशोन्मुख होने लगते हैं, एवं ऐसा निर्दोष, निर्मल और निष्पाप तथा सुखद वातावरण बन जाता है कि जिसमें प्रविष्ट होकर पतनोन्मुख मनुष्य भी प्रकर्षोन्मुख हो जाता है। भक्तिकी महत्ता बतलाते हुए भगवान् उद्धवजीसे भागवत-(११। १४। २०)में कहते हैं—'उद्धवजी! जिस-प्रकार उत्कृष्ट भक्ति मुझे अपने वशमें कर लेती है, वैसे सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग नहीं कर सकते[3]।'

भक्ति-रसके आनन्दातिरेकसे साधक भक्त आत्म-सम्पृक्त और पर-सम्पृक्त भाव-भावनाओंसे सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है। इस अवस्थामें उसके द्वारा जो कार्य होते हैं, उसमें आसक्ति कदापि नहीं हो सकती और इस तरह वे निष्कामकर्मके अन्तर्गत आते हैं। तात्पर्य यह कि भक्तियोगके पथिकका कर्तापन समाप्त हो जाता है और उसका सर्वस्व अपने इष्टमें ही समाहित हो जाता है; अतः उसके समस्त कर्म प्रभुके लिये ही होते हैं—जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। भगवद्भक्त शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे (स्वभाववश) जो कुछ करे, वह सब परमपुरुष नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें

१—कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्। मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ (श्रीमद्भा० ११। २९। ९)

२—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ (गीता ५। १०)

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः॥ (ऋक्० १। ७१। ७)

श्रीमद्भागवत (३। २९। ११)मे भी इसी मन्त्रका छायानुवाद इस प्रकार किया गया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

३—न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

समर्पण कर दे*। 'भागवत-धर्म' यही है। इसके परिपालन-से साधककी कर्मोंमें कदापि आसक्ति नहीं हो सकती। सारांश यह कि जीवको कर्म करना तो आवश्यक ही है, पर कर्म करनेमें कर्तापन न होनेसे, अहंकार और वासनाके परित्यागजन्य ममत्व और तृष्णाके आत्यन्तिक अभावसे एवं भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेसे निष्काम कर्मयोगकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों मार्गोंमें निष्काम कर्मयोग-का अस्तित्व दृष्ट है। एकमें कर्मोंका अस्तित्व स्वीकार न करे, दूसरेमें कर्मोंको भगवदर्पित करे और तीसरेमें अपना अस्तित्व भगवान्‌में समाहित करे।

निष्काम-कर्मयोगका रहस्य

(लेखक—श्रीहर्षदराय प्राणशंकरजी वधको)

परिस्थिति, स्वभाव, वर्ण और आश्रमके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्म निर्दिष्ट हैं, उन कर्मोंको उनके फलमें कर्तापनके अभिमानका और आसक्ति, कामना एवं ममता-का सर्वथा त्याग कर श्रद्धासे करना तथा कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना 'कर्मयोग' है—**'समत्वं योग उच्यते'**। जहाँ केवल कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाय—आसक्ति, ममत्व और कामनाका अभाव हो, वह निष्काम-कर्म है।

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति न्यायेन व्यापाररहितस्यासम्भवेनान्यव्यापारं विहाय सद्व्यापार एव श्रयणीय इत्यर्थः।' (देवीभा० ११। १। ५ की नीलकण्ठी टीका) कोई भी मनुष्य इस संसारमें क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता—यह सामान्य वचन है। **'समाध्यभावः', 'यथा च तक्षोभयथा'** (ब्रह्मसू० २। ३। ३९-४०) इत्यादि वचन विशेष हैं। इस तरह मनुष्यको प्रायः सदा मानसिक, वाचिक आदि क्रियामें व्यस्त देखकर सद्व्यापार, सदाचार या सत्कर्मोंका ही आश्रयण करना चाहिये।

हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार भी—**'प्रशस्तानि सदा कुर्याद् अप्रशस्तानि वर्जयेत्'**का सिद्धान्त उद्घुष्ट है। जैनधर्म भी कहता है—**'पापकम्म नेव कुज्जा न कारवेजा'**—पापकर्म करना नहीं और दूसरोंसे करवाना नहीं। उपनिषदोंका भी यही उपदेश है कि—**'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि'।** (तैत्तिरीयोप० १। ११। २) गृहस्थोंके लिये पञ्च-महायज्ञ नित्य करनेका शास्त्रोंमें विधान है। वे पञ्च-महायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। स्वाध्यायसे ब्रह्मयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, हवनसे देवयज्ञ, बलिकर्मसे भूतयज्ञ और अतिथि-सत्कारसे नृयज्ञ सम्पन्न होता है। श्रुति भी कहती है—

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते।'
(तैत्ति० संहि० ६। ६)

जन्मके समय द्विज देवऋण, पितृऋण और ऋषि-ऋणको लेकर उत्पन्न होता है और इसीलिये मनुस्मृति (६। ५) में कहा गया है—

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।'

अतः मोक्षार्थीको भी पहले इन तीन ऋणोंसे मुक्त होना पड़ता है। महाभारतमें भी विधान है कि ज्ञानी हो या अज्ञानी, जबतक जीवन है, तबतक मुक्ति-हेतु उसे वर्णाश्रम-विहित कर्म करना चाहिये।

ज्ञानिनाज्ञानिना वापि यावद्देहस्य धारणम्।
तावद् वर्णाश्रमप्रोक्तं कर्तव्यं कर्ममुक्तये॥

---

* कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

ज्ञानी हो या अज्ञानी—जबतक देह है, तबतक उसे शुद्धिके लिये वर्णाश्रमधर्मोंमें बताये हुए कर्म अवश्य करने चाहिये—

नैमित्तिकं च नित्यं च काम्यं कर्म यथाविधि ।
आचरेन्मनुजः सोऽयं भुक्तिमुक्तिफलाप्तिभाक् ॥
(देवीभा० ११ । २४ । ९६)

'जो मनुष्य नित्य-नैमित्तिक काम्यकर्मोंका यथाविधि आचरण करता है, वह भोग और मोक्षरूप फलोंको अवश्य प्राप्त करता है;' अतः सद्गृहस्थको सर्वदा नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त—इन तीनों प्रकारके कर्मोंका तथा ब्रह्मचारी और वानप्रस्थीको सदा नित्य और प्रायश्चित्त इन दोनोंका यथाविधि अनुष्ठान करना चाहिये । इनके अतिरिक्त काम्य और निषिद्ध कर्मोंसे तो उपर्युक्त तीनोंको ही सदा बचते रहना चाहिये । महर्षि बादरायण 'तपसानाशकेन' बृहदारण्यक (४ । ४ । २२) के आधारपर भी अपने ब्रह्म सूत्र—'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४ । १ । १६)में विद्वान्‌को भी अग्निहोत्र, यज्ञ, तप, दानादि करनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि ये धर्मकार्य विद्याके—सत्-ज्ञानके साधक हैं, बाधक नहीं । अतः अज्ञाननिवृत्तिके मुख्य कारण और ज्ञानप्राप्तिके परम्परा-कारण अन्तःकरणशोधक इन वेदविहित कर्मोंका आचरण करते रहा चाहिये । पूर्ण ज्ञान होनेसे पहले अकर्मावस्था निद्रा, तन्द्रा, आलस्य एवं प्रमाद मात्र ही हैं । इनसे विहित कर्माकरणरूप प्रत्यवाय तो अवश्य लगता है, किंतु त्यागका कोई फल नहीं मिलता ।

'फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि ज्योतिष्टोमादीनि—फलोद्देशसे जो कर्म शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हुए हैं, उन्हें काम्य-कर्म कहते हैं जैसे—वाजपेय, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ । कल्याणेप्सु साधकको जहाँतक सम्भव हो, इन काम्यकर्मोंसे बचना चाहिये; क्योंकि वे भी निषिद्ध कर्मोंकी भाँति जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाले हैं । गीतामें भी कहा है—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
(२ । ४३-४४)

मुण्डकोपनिषद्‌के प्रथम मुण्डकके दूसरे भागमें कर्म और कर्मफलोंकी अनित्यता दिखाकर कर्मकाण्डियोंकी निन्दा की गयी है । कर्मकाण्डी वहाँ पण्डित नहीं, पण्डितंमन्य (अपनेको पण्डित माननेवाले), कहे गये हैं । सकामता सर्वत्र सांसारिकता ही है । सकाम-भक्तिका फल भी जन्म-मरण, शरीर एवं शरीर-भोग ही है । कर्मठ, सकाम ईश्वर-भक्त और सकाम नास्तिककी वास्तविक जीवन-स्थिति और अन्तरङ्ग मनःस्थितिमें बहुत सामान्य अन्तर दीखता है ।

मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः शिक्षा कल्पः व्याकरणं निरुक्तं छन्दः ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षर-मधिगम्यते ।' (मुण्डकोप० १ । ४ । ५)

यहाँ ऋग्वेदसे लेकर ज्योतिषतककी विद्याओंको अपरा, अनित्य फल देनेवाली और कर्मोंको नश्वर कहा गया है । इसी कारणसे उपनिषदोंने वेदोंके संहिता और ब्राह्मणभागोंमें पुराण, तन्त्र एवं योग आदि अन्तरङ्ग साधनोंमें जो विद्याएँ हैं, उनकी भी उपेक्षा-सी की है । गीता भी आसक्तिमुक्त कर्मकाण्ड और हेतुमुक्त भक्तिका ही विधान करती है ।

विहित कर्म कैसे करने चाहिये ? इसके विषयमें गीता कहती है कि जो मनुष्य कर्म करता है, पर फलेच्छा नहीं रखता, वह संन्यासी है । केवल स्वरूपसे अग्नि और कर्मका त्याग करनेवाला न संन्यासी है, न योगी । केवल कर्म छोड़ देनेसे नैष्कर्म्यकी सिद्धि नहीं होती । गीता-मतके अनुसार कर्तव्य-बुद्धिसे यज्ञ, याग, तप आदि सभी कर्म करने चाहिये । आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही सात्त्विक त्याग है । त्यागमें क्रियाकी नहीं, मनके भावकी ही प्रधानता है । गीता-(१८ । २३)के शब्दोंमें जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत

किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो और फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वही सात्त्विक कर्म है । गीतावक्ता यह भी कहते हैं कि 'अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है, न किसीसे आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी ही सदा संन्यासी समझने योग्य है (५ । २३); क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और रागकी निवृत्ति हुए बिना कर्मयोग भी सिद्ध नहीं होता (३ । १९) । इसीलिये तुम निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्मोंको भलीभाँति करते रहो । आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है । संक्षेपमें, आत्माके अकर्तृत्वको जानकर अनहंकार-भावसे फलत्यागपूर्वक यज्ञ, दान, तप आदि एवं सेवा-कार्य करता रहे । वह कर्म समाज-सेवाका हो तथा शुद्ध चित्तसे किया जाय और ईश्वरको समर्पित हो । सारांश यह है कि काम्य-कर्मोंका त्याग संन्यास और सभी कर्मोंके फलको छोड़ना त्याग है । यज्ञ, दान, तप आदि नित्य करणीय आवश्यक हैं और पावन करनेवाले हैं ।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

जो कर्म परमात्माकी प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, सभी लोगोंके उद्धारके लिये, आसक्ति, कामना और स्वार्थ त्यागकर किया जाता है, वह कर्म कभी बन्धनकारक नहीं होता । यही यज्ञ है । यज्ञके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं । गीतामें और भी कहा है कि यज्ञके लिये आचरितकर्म सर्वथा विलीन हो जाते हैं अर्थात् वे शुभाशुभ फलका उत्पादन नहीं करते और फलदायक तथा बन्धनकारक नहीं होते (४ । २३) । गीताके ५वें अध्यायके १२वें श्लोकके अनुसार निष्काम-कर्मयोगी फल छोड़कर निश्चल शान्ति पाता है और अणुवत् स्वैर-वृत्तिसे आसक्त होकर बन्धनमें पड़ता है । इसीलिये 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (४ । २४)के अनुसार मुमुक्षु पुरुषोंको ब्रह्मबुद्धिसे शास्त्रीय कर्म करने चाहिये । छान्दोग्योपनिषद्में भी कहा गया है—

'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवमेव हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ॥' (५ । २४ । ३)

ज्ञानमें जिसका चित्त है, वैसा मुमुक्षु पुरुष आसक्ति-रहित होकर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे यज्ञादि कर्म करनेसे उसके सभी पापोंका अग्निमें रूई डालनेके समान तत्क्षण लय हो जाता है । यही बात गीता (४ । २३)में कही गयी है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

भगवान् महावीरके शब्दोंमें कहें तो जिस तरह सूखे और गीले मिट्टीके गोलोंको दीवारपर फेंकनेपर उनमेंसे गीला ही चिपकता है—सूखा नहीं, उसी तरह जो कामवासनामें आसक्त और दुष्ट-बुद्धि मनुष्य होते हैं, उन्हींको संसारका बन्धन होता है—और जो कामवासनासे विरक्त हैं, उनको यह बन्धन नहीं होता । कर्मकी सिद्धिमें हर्ष, उसकी असिद्धिमें शोक होना ही बन्धनकी जड़ है । अतः दोनों अवस्थामें समानभावसे रहना ही उचित है । अत एव कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये कर्म करके भगवान्को उसे अर्पित करना या भगवान्के उद्देश्यसे ही कर्म करना अथवा 'सभी कर्म प्रकृतिसे ही होते हैं और गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान छोड़ देना ही नैष्कर्म्यकी सिद्धिके लिये समुचित है । कहा भी है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(ईशोप० २)

शास्त्रोक्त कर्मोका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल यज्ञार्थ—केवल परमात्माकी पूजाके लिये ही है, अपने लिये नहीं। कर्म करते हुए उससे लिप्त न होनेका यही एक मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है। इसीलिये महोपनिषद् (६ । ६७) में कहा गया है—

अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥

अन्तःकरणद्वारा समस्त आशाओंको भलीभाँति त्यागकर वीतराग और वासना-शून्य होकर बाहरसे समस्त समाचार-सदाचार करते हुए संसारमें त्रिविध तापोंसे शून्य होकर विचरण करो। यही निष्काम कर्मयोगका रहस्य है।

निष्काम-कर्मयोग—एक विवेचन

(लेखक—पं० श्रीकिशोरचन्द्रजी मिश्र, एम्० एस्-सी०, बी० एल्०, बी० एड्० (स्वर्णपदकप्राप्त)

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
(रा० च० मा० ७ । ४३ । ४)

युगों-कल्पोंसे भटकते-भटकते कहीं नर-शरीर मिलता है।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। .... ॥
(रा० च० मा० ७ । ४२ । ७-८)

इसलिये भगवान् कहते हैं कि मनुष्य दृढ़ वैराग्यरूपी असङ्गशस्त्रके द्वारा ससारका समापनकर परमपद मोक्षका अन्वेषण करे—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
(गीता १५ । ४)

इस प्रकार इस संसारवृक्षको काटकर उस परम पदका, अनुसंधान या अन्वेषण करना चाहिये, जिसे पाकर पुनः इस दुःखमय संसारमें—'दुःखालयमशाश्वतम्'में (गीता ८ । १५) नहीं आना पड़ता। दूसरा मनुष्य दूसरे मनुष्यका उद्धार भी नहीं कर सकता, अतः स्वयं अपना उद्धार करना चाहिये—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (गीता ६ । ५)।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥
(रा० च० मा० २ । ९१ । ४)

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

पर कर्मके परित्याग करने मात्रसे ही मुक्ति न होगी। प्रथम तो कर्मका पूर्ण त्याग ही असम्भव है,—'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।' (गीता १८ । ११); क्योंकि कर्म ऐच्छिक ही नहीं, अनैच्छिक भी हैं, स्वतः संचालित कर्म (Reflexion) भी हैं। अतः हमारे न चाहनेपर भी श्वास-प्रश्वास-क्रिया, रक्त-संचालन-क्रिया, छींकना, खाँसना तथा इसी तरहकी अन्य क्रियाएँ भी हो जाती हैं और होती रहेंगी। वास्तवमें गीता ३ । ५ के अनुसार—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता। सभी कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोद्वारा परवश हुए प्राणियोंसे हुआ करते हैं। यदि पूर्ण कर्म-त्याग सम्भव मान लिया जाय और मनुष्य क्रियमाण कर्मोंसे किसी प्रकार बच भी जाय तो भी संचित और प्रारब्ध कर्मोंसे वह नहीं बच सकता। अतएव कर्म-बन्धनसे मुक्तिका युक्तियुक्त विज्ञान-सम्मत उपाय है—निष्काम कर्मयोग। वैज्ञानिक दृष्टिसे विचारनेसे ज्ञात होगा कि कर्मका क्या कारण है, कर्म किस कारण बाँधता है, उससे मुक्त होनेके लिये किस भाँति जीवन-यापन करना है, कैसी बुद्धि होनी चाहिये, कैसा मन होना चाहिये, इन्द्रियोंको किस ढंगसे रखना चाहिये, शरीरका क्या उपयोग है, आत्मा क्या है, इत्यादि-इत्यादि।

मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि कर्मके उत्स हैं—आशयगत 'संस्कार', जो कर्मसे संश्लिष्ट-भावनाके रूपमें चित्तपर पड़ते हैं। कोई-कोई इसे प्रारब्ध भी कहते हैं। जन्मके बाद ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों विषय-चिन्तनसे यह सम्बलित होता जाता है। इसीलिये 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (गीता १५। २) कहा गया है, अर्थात् इस संसार-विटपकी जड़ कर्मबन्धनसे बढ़ती जाती है; क्योंकि विषय-चिन्तनसे दूषित वृत्त प्रारम्भ हो जाता है, जिससे क्रमशः क्रोधसे सम्मोह, उससे मतिभ्रम, मतिभ्रमसे बुद्धि-नाश और उससे अन्ततोगत्वा परिणाम होता है—पतन।

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते…' और 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' (गीता २। ६३)।

शुभ-अशुभ योनियोंमें मनुष्योंके जन्मका कारण भी यही सङ्ग है (गीता १३। २१)। अतएव निष्काम कर्मयोगी 'श्रेयोविधित्सा'के प्रबल होनेपर सर्वप्रथम विषयोंको विषवत् त्याग देता है। उसका यह विषयत्याग इन्द्रियोंको निराहार रखनेतक ही सीमित नहीं रहता; क्योंकि वह तो मिथ्याचार हो जाता है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३। ६)

'जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंके भोगोंका मनसे चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है, निष्काम कर्मयोगी नहीं।' निष्काम कर्मयोगी मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है। विषयोंमें जो राग है, उसकी निवृत्ति सङ्ग-त्यागके बिना नहीं होती। तथ्य यह है कि मनसे जो उसका चिन्तन होता है, मनसे जो रसानुभूति होती रहती है, उसकी समाप्ति मनसहित इन्द्रियोंको विषयसे हटाये बिना नहीं हो सकती। अतः निष्काम कर्मयोगके पथपर प्रथम कदम है—अनासक्ति। विषयोंसे, विषयोंके चिन्तनसे पूर्णतः दूर रहना, अपने सुख-भोगकी कदापि इच्छा न करना। अनासक्तिके द्वारा विषयोंके बन्धनके साथ-ही-साथ काम-क्रोध-लोभके बन्धन भी शिथिल पड़ने लगते हैं और ये तीनों योगमार्गके परिपन्थी (शत्रु) ही नहीं; अपितु नरकके साक्षात् उन्मुक्त द्वार हैं, आत्म-नाशके निश्चित कारण हैं।

मनस्वियोंका कथन है कि सामान्यतः प्रत्येक कर्मके साथ कोई कामना जुड़ी रहती है, पुनर्जन्मका कारण यही कामना है। बौद्ध-धर्ममें इसे तृष्णा कहा गया है। मनुष्य कामनाओंसे भरा है। इसके मनमें सदैव कामनाएँ तरङ्गायित होती रहती हैं। ये कामनाएँ ही इसे अशान्त बनाती हैं। ये कामनाएँ ही इसकी बुद्धिको बहुशाखावाली कर देती हैं। मनकी एकाग्रता नष्ट कर देती हैं, इसकी बहुत-सी शक्तियोंका दास कर देती हैं। जीवनभर जो कामना सर्वाधिक प्रबल होती है, वही अन्तकालमें मृत्युके समय उभर आती है। उसीको स्मरण करते हुए जीव शरीर त्यागता है और उसीके अनुरूप पुनः दूसरी योनिमें जन्म ग्रहण करता है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८। ६)

इसलिये निष्काम कर्मयोगके साधकको निष्काम अवश्य होना चाहिये। श्रुति भी कहती है—'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति' (बृहदारण्यक-उप० ४। ४। ५)। अर्थात् वह जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है, जैसा संकल्प होता है, वैसा ही कर्म होता है, फिर वह जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। इस प्रकार कामनाके त्यागके बिना, निष्काम हुए बिना, साधक निष्काम कर्मयोगके पथपर आगे नहीं बढ़ सकता।

सकाम और निष्काम शब्दोंमें कामनाका अर्थ है विषय-सुख या विषय-संयोग और संकल्पजनित अपने सुखकी

इच्छा। कामनाकी यह विशेषता है कि कामके उपभोगसे इसकी तृप्ति नहीं होती है, बल्कि कामना और प्रबल हो उठती है। महाभारतकार कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

कामनाका अर्थ वह इच्छा नहीं है, जिसके पूर्ण होनेपर कोई इच्छा शेष ही नहीं रह जाती। दूसरे शब्दोंमें श्रेयकी इच्छा, तत्त्वज्ञानकी इच्छा, ब्रह्मोपलब्धिकी इच्छा, मुक्तिकी इच्छा कामना नहीं है। निष्काम उसे ही समझा जाता है, जिसे अपने लिये न विषय-सुखकी इच्छा है, न किसी पद या प्रतिष्ठाकी और न तो किसी स्तुति या ख्यातिकी; जिसे परमात्मा-प्राप्तिकी इच्छाके सिवा, जनरूपमें जनार्दनकी सेवाके अतिरिक्त और कोई इच्छा ही नहीं है।

साधकको इतनेपर भी संतोष नहीं करना है। उसे कर्म-फलका भी त्याग करना है; क्योंकि—**'कृपणाः फलहेतवः'** फलकी इच्छा रखनेवाले कृपण होते हैं, विवेकहीन होते हैं, संकीर्ण मनोवृत्तिवाले होते हैं, अनुदार होते हैं (गीता २। ४९)। इसके अतिरिक्त **'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)—फलकी आसक्तिसे कर्म-बन्धन दृढ़ होता है। इसलिये कर्मयोगीके लिये स्पष्ट निर्देश है—**'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** (गीता २। ४७) फलार्थी मत बनो। फलकी ओर ध्यान रहनेसे साधनकी पवित्रताकी ओर ध्यान नहीं रह पाता है। इसलिये कर्म उच्चकोटिका नहीं हो पाता, साथ ही फलाकाङ्क्षा भी कर्मबन्धनका एक कारण है।

कर्मयोगीको सदैव समदृष्टिसे कर्म करना है, इस समत्वके कारण कर्म योग बन जाता है और वह बन्धनकारक न होकर आत्मविकासक बनकर क्रमशः ईश्वरसे योग करानेवाला तथा मोक्षका कारण बन जाता है। साधककी समदृष्टि प्रगाढ़ होती-होती जीवमात्रमें व्याप्त हो जाती है, वह विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डालको समान दृष्टिसे देखता है। इसलिये योगीका कर्म सबके प्रति एक-सा (सम-भाववाला) होता है। यही नहीं, योगी दुःख-सुख, हर्ष-शोक, जय-पराजय, निन्दा-स्तुतिमें भी सम बना रहता है, एक-सा बना रहता है, अविचलित बना रहता है। उसका **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** भाव इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सबके साथ उसका सहज ही तादात्म्य हो जाता है, वह सबको अपने समान आत्मवत् समझने लगता है।

निष्काम-कर्मयोगके सतत आचरणसे धीरे-धीरे साधकका चित्त शुद्ध होता जाता है, कर्म-संसारका परदा क्षीण होता जाता है, चित्तपर आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट होने लगता है, परिवर्तनशील दुःखमय संसारके प्रति दृष्टिकोण बदलने लगता है और अविनाशी तथा निर्विकार परमात्माके प्रति आकर्षण बढ़ता जाता है। साधक धीरे-धीरे बलवती इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ होने लगता है। वह जितेन्द्रियताकी ओर प्रगति करने लगता है। यही नहीं, वह मनोजयी भी होने लगता है। **'मन एव हि संसारः'**—यथार्थमें मन ही संसार है। प्रत्येक व्यक्तिका संसार वैसा ही है, जैसा उसका मन देखता है। मन मानो वह दर्पण है, जिसपर उसीका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जो उसके सामने आता है; संसार सामने है तो संसारका प्रतिबिम्ब पड़ेगा और परमात्मा सामने हैं तो परमात्माका प्रतिबिम्ब पडेगा; परंतु एक समय उसपर एक ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा, स्वार्थका पड़ेगा तो परमार्थका नहीं; संसारका पडेगा तो संसार-सारका नहीं; असत्का पड़ेगा तो सत्का नहीं। निष्काम कर्मयोगसे संसार मिटता जायगा, आत्मा प्रकाशित होती जायगी।

प्राणीमें शरीर और आत्मा दोनो साथ ही हैं। निष्काम कर्मयोगी श्रेयस्कामी होनेके कारण परार्थका,

परमार्थका, आत्माका उत्कर्ष चाहता है, इसलिये सब नियत कर्म, 'शास्त्रविहित कर्म' युक्तिसे करता है। वह मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए निःस्वार्थ कर्म विशुद्ध चित्तसे करता है।

धीरे-धीरे अभ्याससे कर्मयोगी तीनो गुणोसे परे होता जाता है, वह जितेन्द्रिय होता जाता है। शरीरसे उसका तादात्म्य भाव मिट जाता है। उसके लिये शरीर एक साधनमात्र है, जिसकी सहायतासे, सदुपयोगसे वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सच पूछा जाय तो 'निःस्वार्थ कर्मद्वारा मानव-जीवनके चरम लक्ष्य मुक्तिको प्राप्त कर लेना ही सच्चा निष्काम कर्मयोग है'[1]। संक्षेपमें, निष्काम कर्म-योगकी सफल साधनाके फलस्वरूप मनुष्य सात्त्विक भावापन्न हो त्यागके प्रति सतत जागरूक रहते हुए, मनसहित इन्द्रियोको पूर्णतः स्थितप्रज्ञकी तरह वशमें कर लेता है फिर समत्व बुद्धि-युक्त एवं योगस्थ होकर सात्त्विक कर्म करते-करते मन और चित्तकी निर्मलता और अहंकारके नष्ट हो जानेसे निष्कलुष हो पवित्र ज्ञानाग्निसे सब कर्म-पाशोंको भस्म करते हुए, छिन्न-संशय तथा निस्त्रैगुण्य हो परम तत्त्वको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह भव-सागरसे तर जाता है। यही कर्मयोगकी सफलता है।

निष्काम कर्मयोग—एक चिन्तन

(लेखक—डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य)

संस्कृतवाङ्मयमें काम शब्द मदन, विष्णु, शिव, बलदेव आदिके नामोंके अतिरिक्त इच्छा, इष्टविषय, वर आदिके अर्थोंमें भी प्रयुक्त हुआ है। (शब्दकल्पद्रुमकोश) **'काम्यते असौ कामः'**—इस विग्रहसे घञन्त काम शब्द इच्छा, कामना-विषय आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है। यह—

कामः स्मरेऽभिलाषे च कामं रेतोनिकामयोः ॥

इत्यादि वचनोसे स्पष्ट है। इसी तरह 'काम्य कर्म'का अर्थ होता है—फलेच्छायुक्त कर्तव्य, जो निम्नलिखित उद्धरणोसे स्पष्ट है—

यत् किंचित् फलमुद्दिश्य यज्ञदानजपादिकम्।
क्रियते कायिकं यच्च तत्काम्यं परिकीर्तितम् ॥
(शब्दकल्पद्रुमकोश)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
(गीता १८। २)

गीतोक्त योगका मुख्य अर्थ है—समत्व; कर्तव्य-कर्मके फलको सिद्धि और असिद्धिमें समभावसे देखना (गीता २। ४८); अर्थात् फलासक्तिको त्यागकर कर्तव्य बुद्धिसे कर्म करनेवालेको फलकी प्राप्तिसे प्रसाद और फलकी अप्राप्तिसे विषादका न होना, दोनों ही स्थितियोंमें समान बुद्धि रहना 'समत्वरूप योग' है। इस समत्वबुद्धिरूप योगसे किया गया निष्काम कर्म मनुष्यकी ईश्वर-प्राप्तिरूप पारमार्थिक सिद्धिमें अद्वितीय साधन हो जाता है। अतएव यही निष्काम कर्म कर्तव्य कर्म है। इसके विपरीत सकाम कर्म सांसारिक बन्धनप्रद हैं, अतः वे निम्नकोटिके हैं और त्याज्य हैं। लौकिक फलके उद्देश्यसे कर्म करनेवाले कृपण—दीन हैं[2] और समत्व-बुद्धियुक्त कर्ता 'कर्मयोगी'। वे इस लोकमें पुण्य और पाप दोनोको त्यागकर उनसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। इसलिये यह समत्व-रूप योग ही कर्ममार्गमें कुशलता[3] है। इसीके द्वारा कर्म-बन्धनसे मुक्ति मिलती है।

१—'कर्मयोग' (स्वामी विवेकानन्द पृ० ८२)

२—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ (गीता २। ४९)

३—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ (वही २। ५०)

गीतामें निष्काम कर्म 'यज्ञ' शब्दसे भी प्रतिपादित हुआ है, जो श्रेयस्काम व्यक्तिके लिये अवश्य कर्तव्य रूपमें बतलाया गया है; क्योंकि निष्कामभावसे कर्तव्य-पालन-बुद्ध्या किया गया यज्ञ अर्थात् स्वकर्म बन्धनकारक नहीं होता। उससे भिन्न अर्थात् अपने लौकिक सुख, मान, प्रतिष्ठा आदिके लिये किया गया कर्म मनुष्यको सांसारिक बन्धनमें डालता है। अतः आसक्ति छोड़कर यज्ञार्थ कर्म करनेका[1] आदेश दिया गया है।

जगन्मङ्गलकारक भगवान् श्रीकृष्णने कर्म-सन्यास और कर्म-योगको निःश्रेयसका साधन बतलाकर कर्म-संन्याससे कर्म-योगकी श्रेष्ठता प्रदर्शित की है; क्योंकि स्वकर्म-संन्याससे निष्काम-कर्मयोग साधनमें सुगम[2] होता है। इस प्रकारका निष्काम कर्मयोगी सभी कर्मोंको परमात्मामें अर्पितकर अनासक्त होकर वर्णाश्रम-कर्म-धर्म करता है। इसलिये वह जलमें कमल-दलके समान पापमें लिप्त[3] नहीं होता।

गीतोक्त निष्काम कर्म-योगमें जैसा कि पूर्वमें संकेत किया गया है, सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयमें कर्मयोगीको समान बुद्धि हो जानेसे न तो अशान्ति होती है और न किसी प्रकारका उसे पाप होता[4] है।

इस कर्मयोगका भक्तियोगके साथ गहरा सम्बन्ध है, जिसे भगवान्ने गीताके अठारहवें अध्यायमें सुस्पष्ट कर दिया है। गीताके अनुसार भगवत्-परायण कर्मयोगी सभी प्रकारके वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको करता हुआ भगवान्की असीम अनुकम्पासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है। (गीता १८।४१–५६।) अतः गीतोक्त निष्काम कर्मयोग भगवत्-प्राप्तिका अद्वितीय सुगम साधन होनेके कारण श्रद्धापूर्वक अनुष्ठेय है।

निष्काम-कर्मयोग—एक व्याख्या

(लेखक—पं० श्रीरमाकान्तजी पाण्डेय, साहित्य-पुराणेतिहासाचार्य, एम्० ए०)

रामगीतोपनिषद्में श्रीहनुमान्जी भगवान् श्रीराघवेन्द्रसे पूछते हैं—'प्रभो! श्रेष्ठ पुरुषोने संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध नामक तीन प्रकारके कर्म बतलाये हैं। कुछ विद्वानोके मतसे इन कर्मोंमेंसे सचित कर्मोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे तत्काल ही उनके सुख-दुःखात्मक फलके भोगे बिना ही नाश हो जाता है—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'**। वेदान्तके पारदर्शी विद्वान् पुरुषोका कथन है कि सचित कर्मोंका नाश हो जानेपर विद्वज्जन पुण्य अथवा पाप कर्म नहीं करते, अतः उनसे आगामी कर्मोंका सम्बन्ध भी नहीं रह सकता। किंतु तत्त्वज्ञानिजन कहते हैं कि हाथसे छूटे हुए बाणके सदृश विद्वानोके प्रारब्धकर्मोंका भोग किये बिना नाश नहीं होता; अर्थात्—प्रारब्धकर्म, धनुषधारीके धनुषसे लक्ष्यकी ओर छूटे हुए बाणके सदृश हैं, क्रियमाण कर्म छोड़नेके लिये प्रस्तुत धनुषमें लगे हुए बाणके सदृश हैं और सचित कर्म तूणीरमें रखे हुए बाणराशि-सदृश हैं। इनमें सचित कर्म आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं। दूसरे क्रियमाणकर्म विलीन हो वासनानाशसे छूटते हैं, पर प्रारब्धकर्मका हाथसे छूटे हुए बाणके सदृश भोगसे ही क्षय होता है—**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।**

१–यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गीता ३। ९)

२–सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥(गीता ५। २)

३–ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥(गीता ५। १०)

४–सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥(गीता २। ३८)

कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि कर्मयोगसे मात्र संचित कर्मोंका नाश होता है। क्रियमाण कर्मोंका नाश तो उनसे सम्बन्ध न होनेके कारण हुआ ही रहता है; पर प्रारब्धकर्मोंका भी भोगके बिना ही नाश हो जाता है। इनमें पहला मत वेदान्तदर्शनका है और दूसरा मत योगियोंके सिद्धान्तका है। पक्षान्तरसे प्रायः दोनों एक ही सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ विद्वानोंके कहे हुए पक्षोंमेंसे किसी एकका मुख्यरूपसे निश्चय करके आप हमें अपना निर्णय बतायें।

इसपर भगवान् श्रीराघवेन्द्र बोले—'हे हनुमान्‌जी! आपने कर्ममतसम्बन्धी दो बातें कहीं। इनमेंसे विद्वानोंके मुखसे आपने जो प्रथम पक्ष सुना, वह गौण है और श्रेष्ठ विद्वानोंके मुखसे जो दूसरा पक्ष सुना, वही मुख्य है। जिनमें जीवन्मुक्तिपर्यन्त तत्त्वविचार है, उस पक्षके लोगोंका पूर्वोक्त मत विशेष रुचिकर नहीं होगा। जिनमें विदेहमुक्तिपर्यन्त विचार हैं, उस पक्षके लोगोंका पीछे कहा हुआ मत उत्तम प्रीतिकर होगा। भलीभाँति निरूपण करनेसे प्रथम पक्षमे बहुत विरोध है; क्योंकि संचित कर्मोंका भोग किये बिना ज्ञानकी उत्पत्ति होना असम्भव है। पहले उत्पन्न हुआ ज्ञान बलहीन होनेके कारण उसमें बलवान् संचित कर्मोंका नाश करनेकी शक्ति नहीं रहती। संचित कर्म भोगसे ही नष्ट होते हैं **भोगेनैव विनाशश्चेत् प्रायश्चित्तवचो वृथा।** (मुक्तिकोपनिषद्) यदि ऐसा कहें तो—प्रायश्चित्त-सम्बन्धी शास्त्रीय वचन व्यर्थ हो जायँगे 'परंतु ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रायश्चित्तसे उपपातक नष्ट होते हैं। ब्रह्महत्यादि महापातकोंके लिये प्रायश्चित्त-सम्बन्धी वचन हैं; ऐसा कहें तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह अर्थवाद है, अन्यथा माननेसे 'फल' शब्द वृथा होगा। किये हुए शुभ या अशुभ कर्मोंका फल अवश्य भोगना होगा; यदि यह न भोगा जाय तो करोड़ों कल्पोंतक उन कर्मोंका क्षय न होगा। यह पूर्वाचार्योक्त सिद्धान्त पूर्वपक्षके विपरीत है। ब्रह्म, ईश्वर और गुणगणका वैषम्य भी उस पक्षमें उपस्थित होता है। जिन्होने प्रायश्चित्त नहीं किया है, उन्हींके लिये फल शब्द अपने-आप सार्थक है, यदि ऐसा कहें तो कर्मोंके ज्ञान-द्वारा नष्ट होनेकी जो प्रसिद्धि है, वह व्यर्थ हो जायगी। वेदोमें कहा गया है कि कपासकी रुई जिस प्रकार अग्निमें डालनेसे जल जाती है, उसी प्रकार कर्म भी ज्ञानाग्निमें जल जाते हैं। इस श्रुतिके अनुसार जो कर्मशून्य हो गये हैं, उनके लिये कर्मभोग हो ही नहीं सकता; यदि ऐसा कहें तो दत्तचित्त होकर सुनो—

"ज्ञानाग्नि उपपातको अथवा प्रारब्धकर्मोंका नाश करती है" इसे कदापि अन्यथा नहीं समझना चाहिये। महापातक और सकाम पुण्यकर्म जब भोगसे नष्ट हो जाते हैं, तब समस्त संचित कर्म भी तद्रूप होनेसे नाशको प्राप्त होते हैं। इसी देहमें कर्मोंके द्वारा बने हुए निष्काम कर्म और अन्यान्य पुण्य कर्म श्रवण आदि-द्वारा निश्चय ही ज्ञान उत्पन्न करते हैं। ज्ञान-प्राप्तिमें बाधा देनेवाले पाप-पुण्य प्रबल श्रवणादिद्वारा जाग्रदवस्थामें फल देते हैं और यदि वे पाप-पुण्य दुर्बल हों तो उनका फल स्वप्नमें स्वयं होता है।

प्रबलैः प्रतिबन्धीनि पुण्यपापानि जाग्रति।
दुर्बलानि फलं पश्चात् स्वप्ने वा ददति स्वयम्॥
(मौक्तिकोपनिषद्)

"जो तीनों अवस्थाओंको छोड़कर अपने आत्मामें अखण्ड प्रमाण होता है, उस आत्म-ज्ञानके बलवान् होनेसे ज्ञानीके समस्त कर्म निष्फल हो जाते हैं। पूर्वकथित दोनों पक्षोंको माननेपर विषय अधिक जटिल हो जाता है, अतः गम्भीर विचारद्वारा तत्त्वनिर्णयकी आवश्यकता है। वस्तुतः पहला पक्ष सर्वदर्शन-सिद्धान्तोंसे युक्त है और दूसरा पक्ष केवल उसीका रूपान्तर है और स्वरूपज्ञानका अनुमोदक है। जीवन्मुक्त दशाकी दो अवस्थाएँ दिखाकर

उन्हींके साथ इन दो सिद्धान्तोंका समन्वय किया गया है। स्मृतिका पक्ष यह है कि बिना भोगके कर्मोंका क्षय नहीं होता। अस्तु, वेदान्तके सिद्धान्तके सम्बन्धमें यह माना जाय कि जीवन्मुक्तके सचित और क्रियमाण कर्म समष्टिचिदाकाशका आश्रयकर भविष्यत्कालके कारण होते हैं और समष्टि फल उत्पन्न करते हैं (यह बात भरद्वाज 'कर्ममीमांसा'मे भी कही गयी है) तो इससे पूर्वकथित शङ्काओका समाधान अपने आप हो जायगा और दूसरे पक्षके अनुसार जो यह कहा गया है कि आत्मज्ञानीके तीनो प्रकारके कर्म आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं, यह भी यथार्थ ही है, क्योकि आत्मज्ञानके द्वारा स्वरूपकी उपलब्धि होते ही उक्त मुक्तात्माके सचित कर्म उसको छोड़कर समष्टिचिदाकाशमें पहुँच जाते हैं; आत्मज्ञानसे उत्पन्न निष्काम अन्तःकरणमें पुनः आगामी क्रियमाण कर्म अपना सम्बन्ध स्थापन नहीं कर सकते। आत्मामें युक्त रहनेसे प्रारब्धकर्मका भोग वस्तुतः भोगके समान नहीं होता। शरीराध्यास रहनेके कारण प्रारब्धकर्म भोग होनेपर भी अनुभवमें नहीं आते। यही दोनों सिद्धान्तोंका समन्वय है। प्रारब्ध-कर्म तभीतक भोगने पड़ते हैं, जबतक देहके साथ आत्माका सम्बन्ध रहता है। देहात्मभाव इष्ट नहीं है। इसलिये वे बलवान् हैं और पीछे प्रारब्धकर्म हैं, इसलिये वे दुर्बल हैं—ऐसा मानना पूर्वाचार्योंके मतसे असत् मिथ्या है।"

इस प्रकार कर्म-विवेचनको सुनकर श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि "हे राघवेन्द्र! कर्मोंका विनियोग आपने अच्छा ही कहा है, तथापि मुझे एक और संदेह है। विद्वानों (आत्मज्ञानियो)-के पुण्य और पाप उनके मित्र और शत्रुओंमें चले जाते हैं, यह जो श्रुतिकथित सिद्धान्त है वह दोनों पक्षोके विरुद्ध है। आत्मज्ञानियोके सचित और प्रारब्धकर्मोंका जब भोग और ज्ञान होता है, तब उनका दूसरे जो शत्रु-मित्र हैं, उनमें विनियोग कैसे होगा?"

श्रीहनुमान्‌जीके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीराघवेन्द्रने कहा कि सम्यक् ज्ञानका उदय होनेके पहले या पीछे, लोकसंग्रहकी बुद्धि रखकर ही जो नैमित्तिकरूपसे क्रियमाण पुरुष-कर्म हों, वे आत्माद्वारा उपभुक्त अथवा ज्ञानद्वारा नष्ट न होनेके कारण मित्रोंमें चले जाते हैं। लोकसंग्रहकी बुद्धि न रखकर विद्वानोंद्वारा न किये जानेवाले अर्थात् आत्मज्ञानप्राप्तिके पूर्व किये हुए जो नैमित्तक अथवा काम्य पापकर्म हुए हैं, उनका भोग न होनेसे अथवा ज्ञानके द्वारा उनका नाश न होनेसे आत्मज्ञानियोंके ऐसे पापकर्म उनके शत्रुओंमें चले जाते हैं। तात्पर्य यह कि जब जीवन्मुक्त यह अनुभव कर लेता है कि मैं स्वरूपसे आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ, तब स्वतः ही शरीर-सम्बन्धी चिदाकाशमें बननेवाले कर्मसमूह उस जीवन्मुक्तको योगप्रदान करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। परंतु कर्म बिना प्रतिक्रिया उत्पन्न किये नष्ट नहीं होते। इस कारण वे उस जीवन्मुक्त व्यक्तिके चिदाकाशमें स्थान न पाकर ब्रह्माण्ड चिदाकाशको आश्रय करके अन्यके भोगोपयोगी बन जाते हैं। ऐसे समयमें जीवन्मुक्त महापुरुष, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं, उनके दुःख देनेवालोंमें उनके असत् क्रियमाण कर्म और उनकी सेवा करनेवालोंमें उनके क्रियमाण सत् कर्म पहुँच सकते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे ब्रह्ममूर्ति ब्रह्मपुरुषकी सेवा करना अथवा क्लेश देना एक प्रबल कर्म अवश्य होगा क्योकि प्रबल कर्म तुरंत फल उत्पन्न करनेवाले हैं। और प्रबल उग्र कर्म दैवप्रेरणासे असाधारण शैलीपर उत्पन्न होते हैं, ऐसा शास्त्रका सिद्धान्त है। वही असाधारण शैली उक्त कर्मोंको चिदाकाशसे खींचकर उक्त साधुभक्त या साधुनिन्दक व्यक्तिमें देवताओंद्वारा पहुँचा दिया करती है—

'अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते।'

—यही इसकी मीमांसा है। वे पुण्य-पाप पृथक् होनेके कारण अर्थात् मित्र और शत्रुओंमें चले जानेके

कारण न संचितके अन्तर्गत हैं न प्रारब्धके और न आगामीके ही । पूर्वोक्त ज्ञानियोंके ये सब पुण्य-पाप उनके जीवनके मध्यमें यथेष्ट समयमें उनके मित्र और शत्रुओंमें जाते हुए जाने जाते है । परमात्मवेत्ता इन अच्छे-बुरे कर्मोंसे निष्काम होनेके कारण जलमें स्थित कमल पत्रके सदृश लिप्त नहीं होते । ज्ञानोदयके पहले जो कुछ नित्यकर्म यहाँ किये गये हों, वे ज्ञान और मोक्षके सहकारी अर्थात् सहायक होते हैं ।'

श्रीहनुमान्‌जीने विनम्र भावसे पुनः पूछा कि 'हे राघवेन्द्र ! नित्यकर्मोंका ज्ञानका सहकारी होना ठीक ही है, परंतु उनका मोक्षका सहकारी होना कहीं नहीं सुना गया । जिस प्रकार लकड़ीको जलाना और अन्नको पकाना, इन दोनो कर्मोंके करनेमें अग्नि स्वतन्त्र है, उसी प्रकार ज्ञानही कर्मोंका क्षय तथा मुक्ति दिलानेमें समर्थ है । यदि ज्ञान प्रतिबन्ध-सहित हो तो कर्मकी अपेक्षा हो सकती है, परंतु जब ज्ञान प्रतिबन्ध-रहित है अर्थात् विशुद्ध है तब कर्मकी अपेक्षा क्यों होगी ? सम्यक् ज्ञानके पश्चात् कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता, यह जो वेदान्तका सिद्धान्त है, उसका खण्डन कैसे होगा ?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीराघवेन्द्रने कहा—

अरूपनाशसंसिद्धेः सम्यग्ज्ञानेन्द्रियाण्यनु ।
प्रवर्तन्ते बहिः स्वार्थेष्वज्ञनास्तुत सर्वतः ॥

(मुक्तिकोपनिषद्, श्लोक ९)

'जबतक भलीभाँति अरूपनाशकी सिद्धि नहीं हुई है; तबतक ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर सब ओर स्वार्थोंमें प्रवृत्त होती हैं अर्थात् अपने-अपने विषयोंके पीछे लगी रहती हैं । वे इन्द्रियाँ स्वेच्छयाआत्महन न कर सकें, एतदर्थ वर्णाश्रमोचित धर्म, काम और अर्थके द्वारा विद्वान् पुरुष उनका भलीभाँति लालन करें । समाधियोंके द्वारा जबतक इन इन्द्रियोंका अरूपनाश न हो, तबतक ज्ञान नित्यकर्मोंकी अत्यन्त ही अपेक्षा करता है । इस कारण आत्मज्ञान-सम्पन्न पुरुष नित्यकर्मोंको छोड़कर और कोई भी कर्म न न करे, अविरोधी वेदान्तवाणीका यही तात्पर्य है । इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूपसे विषयोंमें भटकती रहती हैं, उनका अपने आश्रमोचित कर्मोंद्वारा लालन करते रहना ही परम कल्याणकारी है । ज्ञानके द्वारा यदि कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म क्रमशः छूट जायँ तो आत्मज्ञानीके लिये वह भूषण है'—

कायिकं वाचिकं कर्म यदि मानसिकं क्रमात् ।
संत्यज्येत प्रबोधेन विद्रुपः सा त्वलंक्रिया ॥

(१०)

'तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ जिस पुरुषकी अरूपभावसे चित्त, प्राण और इन्द्रियाँ नष्ट हो गयी हैं, उसे वे विधि-निषेध कभी बाधा नहीं करते । आत्मज्ञानीको यदि प्रारब्ध कर्मोंके भोगनेकी थोड़ी भी इच्छा हो, तो उसके लिये अपने आश्रमानुकूल आचार आवश्यक है । तात्पर्य यह कि कर्मकी ओर दृष्टिके बिना कर्मका भोग असम्भव है, अतः जिन ईशकोटिके जीवन्मुक्त पुरुषोंमें जगत्-कल्याणबुद्धि उपस्थित है, उनमें कर्मपर दृष्टि अवश्य बनी रहेगी । जब कर्मपर दृष्टि बनी रहेगी तो ज्ञानी अवश्य ही सम्बद्ध कर्म ही करेगा, असम्बद्ध कर्म उससे नहीं हो सकता । सुतरां वर्णाश्रमोचित कर्म अथवा अन्यान्य शुभकर्मकी ओर ही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहेगी ।' हनुमान्‌जी इसे सुनकर संतुष्ट एवं कृतार्थ हो गये ।

निष्काम-कर्ता ही त्यागी तथा बुद्धिमान् है

यस्य सर्वे समारम्भाः निराशीर्बन्धनाः सदा ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥

(महा०वन० २१३ । ३२)

'जिसके समस्त कर्म कभी कामनाओंसे बँधे नहीं होते, जिसने अपना सब कुछ त्यागकी अग्निमें होम दिया है, वही (निष्कामकर्मी वस्तुतः) त्यागी है और वही बुद्धिमान् है ।'

निष्काम-योगदर्शन—एक विश्लेषण

(लेखक—प्राचार्य डॉ० श्रीरञ्जनजी)

विसर्गसन्धिके सम्मान्य नियमके विरुद्ध सुषामादि-(पा० ८ । ३ । ९८—१०१ काशिका)की तरह निः+काम='निष्काम' शब्द बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ शब्दकोषके अनुसार वह पदार्थ या कार्य है, जिसमें किसी प्रकारकी कामना, आसक्ति या इच्छा न हो। जिस व्यक्तिकी बुद्धि अनासक्त सचेत है, जिसने अपने आत्माको वशमें कर लिया है और जिसे कोई इच्छा शेष नहीं रही है वह सन्यासद्वारा उस सर्वोच्च दशातक पहुँच जाता है, जो सब प्रकारके कर्मसे ऊपर है। इससे स्पष्ट होता है कि यह कामना और क्रियासे रहित सर्वोच्च दशाकी प्राप्ति है। गीता (१८ । ४९) में कहा है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

यह सबको ज्ञात है कि कामना ही कर्मकी जननी है। ऐसी स्थितिमें मानव-हृदयमें वर्तमान कामनाकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं और शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग संचालित होते हैं। यह सिद्धान्त मनुष्यतक ही सीमित नहीं है; बल्कि प्राणिमात्रका सर्जक, विश्वनियन्ता भी इस नियमानुसार सृष्टिकी रचना करता है। विश्व-उत्पत्तिका अन्य कोई हेतु नहीं, बल्कि यह कामना है, जिसकी प्रेरणास्वरूप विश्वकी उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय उपनिषद्-(५ । ६ । १)में कहा गया है—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।

'उस एक परमात्माने कामना की कि मैं अनेक रूपमें अभिव्यक्त हो जाऊँ' और वह बहुत हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि कर्ताकी कामनाके बिना कर्म सम्भव नहीं और सामान्यतया कर्मयोग सकाम ही सिद्ध होता है। **'काम्यश्च वेदाधिगमः कर्म योगश्च वैदिकः'**। हाँ! यदि वह कामना सात्त्विक रूपमें परिवर्तित होकर अकामता, निष्कामता, या पूर्ण-कामताकी परिधिमें समाविष्ट हो जाती है तो वह विशेष सिद्धिप्रद हो जाती है।

जीवनके परमलक्ष्यकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—इन तीन साधनोंका उल्लेख है। वेदोंका पूर्वभाग कर्मकाण्ड है और उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड। उपासनामें अंशतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समन्वय करती है। इस प्रकार 'कर्म' और 'ज्ञान' दोनों परस्पर भिन्न होनेपर भी एक दूसरेके अङ्ग हैं; क्योंकि भक्ति दोनोंकी समन्वयसाधिका है। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन विज्ञान किसी कामका नहीं। यदि ज्ञानहीन कर्म मात्र मशीनी क्रिया-कलाप है तो कर्महीन विज्ञान उद्देश्यविहीन मशीनका खाकामात्र है। इसलिये समस्त क्रियाओंका ज्ञानानुवर्तिनी होना आवश्यक है। ये दोनों भक्तिके सहचर हैं और इनका आपसमें विरोध नहीं है। उपनिषद् और पुराणोंमें भी ये अनादिकालसे व्याख्यात हैं। योगवासिष्ठके प्रथम अध्यायके अनुसार दोनोंके सहयोगसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कर्म-निरपेक्ष ज्ञान कैवल्यकी ओर उन्मुख होता है तो ज्ञान निरपेक्ष कर्म स्वर्ग-प्राप्तिका माध्यम बनता है।

ज्ञानी भक्तको छोड़कर शेष तीनो भक्त कर्मयोगी होते हैं। कर्मयोगीके निष्कामकर्म उसे ज्ञान एवं मोक्षकी ओर प्रेरित करते हैं। योगी द्रुमिल राजा जनकसे कहते हैं—

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥
(श्रीमद्भा० ११ । ४ । ५)

'वह ईश्वर स्वयं अपने-आप ही रजोगुणका आश्रय करके ब्रह्माके रूपमें, इस जगत्की उत्पत्तिमें सत्त्वगुणका आश्रय करके विष्णुके रूपमें इसकी रक्षा और तमोगुणका आश्रय करके रुद्ररूपमें इसके संहारमें लीन हैं। इसकी शक्तिकी व्याख्या नहीं की जा सकती।' कर्म अच्छे-बुरे दोनों होते हैं। इनका बुरा होना अन्तःकरणकी एक धारापर निर्भर है। क्रियाका संचालन प्रायः स्थूल शरीरसे होता है, पर जिस बुद्धि या भावनासे अच्छे कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, उसका सीधा संस्पर्श अन्तःकरण या आशयोंसे होता है। इसे हम चित्तकी संज्ञासे भी विभूषित करते हैं। वह जैसा होगा, वैसा कर्म होगा, किंतु यह चित्त ऐसा है कि इसे वशमें रखना सबके वशकी बात नहीं है। मन वशमें हो जाय तो जीवन कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यहीं भक्तियोगका आश्रयग्रहण परमावश्यक हो जाता है। भक्तिसे भगवान्का आश्रय मिलता है। फिर तो परमपदकी प्राप्ति सहज सुलभ हो जाती है। भगवान्ने अर्जुनके बिना पूछे ही बतला दिया कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त होता है।'

कर्मका वर्गीकरण—कर्मको असली रूपमें पहचाननेके लिये इसके वर्गीकरणका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। वे निम्न हैं—

(१) साधनकी दृष्टिसे—मानसिक, वाचिक, कायिक।
(२) धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे—सात्त्विक, राजस, तामस।
(३) हेतुकी दृष्टिसे—नित्य, नैमित्तिक और काम्य।
(४) वैज्ञानिक दृष्टिसे—कर्म, विकर्म, अकर्म और
(५) वेदान्तिक दृष्टिसे—प्रारब्ध, सचित तथा क्रियमाण।

प्राकृत जगत्में कर्मोंके नौ साक्षी हैं—१—सूर्य, २—चन्द्र, ३—यमदेव, ४—काल, ५—पृथ्वी, ६—जल, ७—अग्नि, ८—वायु और ९—आकाश—ये नवों हमारे आचरित कर्मके साक्षिगण हमारे कर्मोंकी उचित और अनुचित व्याख्या जगन्नियन्ताके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। हम अपनी कर्मयात्राके इन सभी साक्षियोंको भूल जाते हैं, वस्तुतः हमें राज और समाजमात्रका तो भय रहता है, पर परमात्माके भयकी हमें प्रतीति नहीं होती; क्योंकि परमात्माको हम अपने ज्ञान-चक्षुसे देखते नहीं। पर ऊपर हमने जिन नौ गवाहोंकी चर्चा की है, वे ही परमात्माद्वारा नियुक्त हैं और ये बराबर परमात्माके सामने हमारे कर्मोंका पर्दाफाश करते रहते हैं। फलस्वरूप हमें दुःख और सुख दोनों, जो भी कर्मफलके अनुसार मिले, भोगना पड़ता है। इसके बावजूद भी हम स्थायी सुखसे वञ्चित रहते हैं। इस दृष्टिकोणसे यदि वेदान्तिक कर्मभेदकी संक्षिप्त चर्चा की जाय तो निष्कामयोगदर्शनकी बहुत-सी बातें बुद्धिग्राह्य हो जायँगी। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वजन्ममें किये गये कर्मका जो भाग हम इस जगत्में भोगते हैं, वही प्रारब्ध है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे स्पष्ट किया है—

तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥

(मानस, अयोध्याकाण्ड)

यह स्पष्ट है कि दशरथका मरण श्रवणकुमारके पिताके शापवश हो रहा है; और यही उनका प्रारब्ध था। कर्मफल भोगना अनिवार्य एवं आवश्यक है। हाँ, उसमें विलम्ब हो सकता है, पर प्रारब्धका सर्वथा उल्लङ्घन नहीं हो सकता। उसमें किसी प्रकारकी क्षीणता या कमी भी नहीं आ सकती। आचार्य भगवत्पाद शंकरने कहा है—

संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते। न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्॥

(ब्रह्मसूत्र ४। १। १५ पर शांकरभाष्य)

अर्थात्—पूर्वसचित पुण्य और पापज्ञानकी प्राप्तिमें क्षीण होते हैं, परंतु आरब्ध कर्म जिनका आधा पुण्य

उपभुक्त हो गया हो और जिनसे ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके लिये साधनभूत नर-जन्म प्राप्त हुआ है वे कर्म क्षीण नहीं होते। संचित कर्म संकलित कर्म हैं। किसी मनुष्यद्वारा पूर्व जन्मसे लेकर इस क्षणतक किया गया कर्म संचित कर्म है। मीमांसकगण इसे ही अदृष्ट एवं चेतन मानकर 'अपूर्व' संज्ञा भी देते हैं; क्योंकि यह अकेले इसी जन्मका कर्म नहीं है। ऐसे कर्मोंको एकके बाद एकको भोगना पड़ता है और ज्ञान-प्राप्तिके साथ इसमें कमी-वेशी भी होती है। 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' ब्रह्मसूत्र (४।१।१५)के अनुसार—जिनका फल अभी आरब्ध नहीं है, ऐसे संचित पुण्य और पाप ज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि ज्ञान और भक्तिके सहयोगसे ज्यों ही परमात्माका साक्षात्कार होता है, कर्मकी शक्ति कम हो जाती है—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।
(मुण्डकोप० २।२।८)

कर्मका तीसरा भेद है—क्रियमाण जो कर्म अभी हो रहा है, उसे ही क्रियमाण कर्म कहते हैं। यह कर्म भावी शरीरके लिये संचित और प्रारब्धकर्मका सृजन करता है। फलस्वरूप जीवधारी जन्म और मृत्युके गोलकमें फँसता है और यह चक्कर मोक्षपर्यन्त नहीं छूटता। मनुष्यका जन्म-मरण इसी कर्मसमूहपर निर्भर है; क्योंकि मनुष्यकी प्रवृत्ति जिस तरफ होगी, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक उसी प्रकारके कर्मकरनेके लिये बाध्य होंगे। वह मनसे जो कामना करेगा, उसी प्रकार संकल्प करेगा और फिर उस संकल्पको क्रियान्वित करेगा। तत्पश्चात् उसे उसका उपहार प्राप्त होगा—**स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति स यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते स यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।**

क्रियमाण कर्मका भाव एक अन्य उदाहरणसे भी स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये एक कीट किसी जल-प्रवाहके आवर्तमें पड़ गया है, फिर वह वहाँसे दूसरे आवर्तमें पड़ जाता है, उसे छुटकारा नहीं मिलता। ठीक उसी प्रकार जीवनकी गति एक जन्मसे दूसरे जन्मकी प्राप्तिमें होती है। पञ्चदशी—(१।३०)में उल्लेख है—

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मतो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥

इस प्रकार क्रियमाण कर्मके फलस्वरूप दोहरी हानि होती है। उस कर्मके परिणामस्वरूप जो फल भोगना पड़ता है, वह तो जीवधारी भोगता ही है, साथ ही तत्काल उसका तेज, बल और बुद्धिका विकास भी अवरुद्ध होने लगता है। बुरेका परिणाम बुरा, अच्छेका अच्छा होता है। हम जैसा बोयेंगे, वैसा काटेंगे—'**नहिं विष बेलि अमिअ फल फरहीं।**' जगज्जननीके हरणके समय विश्व-विदित महाज्ञानी यतिवेशधारी रावणके ज्ञानकी जो दुर्दशा हुई, वह मानसके पाठकोंसे छिपी नहीं है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥

अब सोचिये, रावणके ज्ञानकी यहाँ क्या दुर्दशा हुई! कर्मसम्बन्धी एक बात और है; वह यह कि अनजानमें हुए कामका फल भी अवश्य मिलेगा। कोई आगपर चाहे हाथ जानकर रखे या अनजानमें, हाथ तो जलेगा ही; क्योंकि अग्निकी यह प्रकृति ही है। ठीक ऐसे ही कर्मकी भी प्रवृत्ति है। कर्म हम जानकर करें या अनजानमें उसका फल तो मिलेगा ही।

अब यहीं एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा होता है। हम ऐसा कर्म करें ही क्यों? क्यों न ऐसा कर्म करें, जहाँ फल-भोगकी गुंजाइश ही न हो? अब आप ही सोचिये, क्या ऐसा कोई कर्म है? या बिना कर्मके भी जीवन धारण किया जा सकता है? बिना कर्मके तो जीवन सम्भव नहीं; क्योंकि कर्म तो जीवनका व्यापार है, दोनों एक दूसरेके परिपूरक हैं। तो फिर क्या किया

जाय ! यही द्विविधाग्रस्त परिस्थिति हमें प्रभुकी ओर प्रेरित करती है। अतः हम जो कुछ करें भगवान्‌के लिये करें तो क्या हर्ज है। हमारा विश्वास है, इसमें कोई हानि नहीं है। सिद्धान्त है—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।' हम उनके हैं, वे हमारे हैं, फिर उनसे हमारा भेद क्या। हम दासत्व स्वीकार कर लें और जो कुछ करें उनके लिये करें। वे ही कर्ता हैं, वे ही भोक्ता हैं। अतः हम उनके लिये कर्म करें या हम फलकी भावनाका त्याग करें; नहीं तो कर्म भयंकर सर्प बनकर काट खायेगा। भगवान् श्रीकृष्णका इस विषयमें स्पष्ट संकेत है कि फलासक्ति नहीं होनी चाहिये। फलासक्तिका त्याग कृष्णार्पण-की भावनासे होगा और यही त्याग सर्वश्रेष्ठ त्याग है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(गीता १८। ९)

'जो व्यक्ति नियत कर्मको अपना करके योग्य मानकर करता रहता है और उसके प्रति सम्पूर्ण आसक्ति तथा फलको त्याग देता है, उसका त्याग सात्त्विक माना जाता है।'

अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी कर्म करने योग्य हैं ? हाँ, फलकी आसक्ति त्यागनेपर सभी सत् कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। पर यदि हृदयको शुद्ध कर लिया जाय तो और अच्छा होगा। इसके लिये भक्ति और ज्ञान अनिवार्य हैं। भक्तिसे कृष्णार्पणकी भावना जगेगी और ज्ञानसे कर्तव्य कार्यरूपमें परिणत होगा। किंतु यह कार्य बड़ा दुष्कर है। इसके लिये सतत प्रयत्नकी आवश्यकता है। मात्र यही उद्देश्य रहे—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

'अर्थात—तुझे केवल कर्म करनेका अधिकार है, उनके फलपर तेरा अधिकार बिल्कुल नहीं। तेरा उद्देश्य कर्मका फल कभी न हो और न अकर्मके प्रति तेरा अनुराग हो, नहीं तो तुम्हें परम आनन्दकी प्राप्ति नहीं होगी।'

बस, यही निष्कामयोगदर्शनकी उपलब्धि और निष्कर्ष है।

कर्मफल

न स शैलो न तद्व्योम न सोऽब्धिश्च न विष्टपम्। अस्ति यत्र फलं नास्ति कृतानामात्मकर्मणाम्॥
कर्मबीजं मनस्पन्दः कथ्यतेऽथानुभूयते। क्रियास्तु विविधास्तस्य शाखाश्चित्रफलास्तरोः॥
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात् पदात्। पश्चात् तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः॥
सर्वा हि वासनाऽभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः। अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव॥
समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया। यथा यत्क्रियते राम तद्दोषाय सर्वदा॥

'ऐसा कोई पर्वत नहीं है, ऐसा कोई आकाश नहीं है, ऐसा कोई समुद्र नहीं है, ऐसा कोई स्वर्ग नहीं है, जहाँ कि अपने किये हुए कर्मोंका फल न मिलता हो। यह कहा जाता है और अनुभवमें भी आता है कि मनका स्पन्दन ही कर्मरूपी वृक्षका बीज है। और तरह-तरहके फलवाली विविध क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं। परब्रह्मसे सब जीव अकारण ही उदित होते हैं। फिर उनके कर्म उनके सुख-दुःखके कारण हो जाते हैं। सब क्रियाएँ वासना-(कामना-) रहित होनेपर फलदायिनी—बन्धनकारक—नहीं होती हैं, चाहे वे अशुभ फल लानेवाली ही क्यों न हों; जिस प्रकार फल देनेवाली लताएँ भी सींचे बिना फल नहीं देतीं। (वसिष्ठजी कहते हैं—) हे राम ! जो कुछ (कर्म) सम, स्वच्छ और निर्विकारबुद्धिसे किया जाता है, उससे कभी कोई दोष (कर्म-बन्धन) उत्पन्न नहीं होता।' (—योगवासिष्ठ)

कर्मयोग

(लेखक—आचार्य श्रीरामप्रतापजी त्रिपाठी)

सभी मनुष्य सुखोंकी प्राप्तिके लिये और दुःखोंकी निवृत्तिके लिये ही प्रायः कर्म करते हैं। जो पुरुष वास्तवमें सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें विचार करना चाहिये कि उनके कर्मोंका फल किस प्रकार उनकी भावनाके विपरीत हो जाता है।

कर्म (शास्त्रविहित), अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहितका उल्लङ्घन)—ये तीनों एकमात्र वेदके द्वारा जाने जाते हैं। इनकी व्यवस्था लौकिक-रीतिसे नहीं होती। वेद अपौरुषेय हैं, ईश्वर-रूप हैं; इसलिये उनके तात्पर्यका निश्चय करना बहुत कठिन है। इसीसे बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्रायका निर्णय करनेमें कभी-कभी भूल कर बैठते हैं। ये वेद परोक्षवादात्मक हैं, अर्थात् इनमें शब्दार्थ तो कुछ है अर तात्पर्यार्थ कुछ और है। ये कर्मोंकी निवृत्तिके लिये कर्मोंका विधान करते हैं। जैसे बालकको मिष्टान्न आदिका लोभ देकर औषध खिलाते हैं, वैसे ही ये अनभिज्ञोंको स्वर्ग आदिका प्रलोभन देकर श्रेष्ठकर्ममें प्रवृत्त कराते हैं। जिनका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वे यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देते हैं तो वे विहित कर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप अधर्म ही करते हैं। इसलिये वे मृत्युके बाद फिर मृत्यु ही प्राप्त करते है। अतः जो फलाकाङ्क्षा छोडकर उन विहित वेदोक्तकर्मोंका अनुष्ठानकर उन्हें विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिको समर्पितकर देते हैं, उन्हें कर्मोंसे छुट्टी या निवृत्तिरूप सिद्धि मिल जाती है। स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे वेदोंमें जिस सकाम साधनाका वर्णन मिलता है, उसका तात्पर्य फलकी सत्यतामें नहीं है। वह तो कर्ममें रुचि पैदा करानेके लिये है। श्रीमद्भागवत (११ । ३ । ४६)में कहा गया है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

यहाँपर अब यह प्रश्न होता है कि यदि फलकी इच्छामें सत्यता नहीं है तो फिर कर्मोंका क्या उपयोग है—कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? संसारमें साधारण मनुष्य भी बिना किसी हेतुके कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते—**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।** और, हेतु किसी-न-किसी फलका ही होता है।

अतः साधारणतः मनुष्योंके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें हेतुका रहना अनिवार्य है; परंतु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य तरह-तरहके फलोंकी कामनासे अनेक कर्म करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है—विषयकामना। इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है और उसे कर्मकी सिद्धि या असिद्धिमें सुखी या दुःखी होना पड़ता है। परंतु जो निष्कामभावसे परमात्माको अर्पण करके कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, उसे फल-कामनाके अभावमें आसक्ति नहीं होती न तो उसे कर्मोंकी सिद्धि या असिद्धिमें किसी प्रकारका हर्ष-शोक होता है। अवश्य ही उसे भगवत्प्राप्तिकी कामना रहती है; पर निष्काम-कर्ममें भगवत्प्राप्तिकी कामना परिणाममें परम अभ्युदय, निःश्रेयसका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती। इस प्रकार वह पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।

सकामी पुरुष जगत्के पदार्थोंमें सुख मानकर ही उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार कर्तृत्व

अभिमानसे रहित होकर भगवान्के लिये ही समस्त विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है। जो कर्म भगवत्प्रेम या भगवत्प्राप्तिके लिये नहीं होते, उनका नाम ही 'कर्मयोग' नहीं होता। कर्मयोगकी सार्थकता तभी होती है, जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। परमात्म-सम्बद्ध कर्मके न होनेपर निष्कामता ही नहीं होती; फिर कर्मयोग कैसे हो सकता है?

वास्तवमें कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको बन्धनमें नहीं डालता। फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। फल, आसक्ति और अहंकारका परित्याग करके भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंको भगवान्में अर्पण करके समत्वबुद्धिसे कर्म करना ही कर्मयोग है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर सकता है। अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये; क्योंकि जिन परमात्मासे यह विश्व उत्पन्न हुआ है और जो सर्वप्राणियोंमें स्थित हैं, उन्हींकी सेवा-अर्चा-द्वारा मनुष्य अपने-अपने कर्मोंसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। गीता (१८। ४६ में) कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

भगवान् श्रीकृष्ण गीता (१८। ५६-५७) में यह भी स्पष्ट कहते हैं कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है। इसलिये सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पित करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप बुद्धियोग या निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

परंतु कर्मके मध्य एक दुर्गुणका निवास है, जो कर्ताको बन्धनमें डालनेके लिये सदा तैयार रहता है। इसका नाम है वासना, फलाकाङ्क्षा या आसक्ति। इस विषदन्तको तोड़ना नितान्त आवश्यक है। जिस फल-कामनासे कर्मका निष्पादन किया जाता है, उस फलको तो भोगना ही पड़ेगा। उससे किसी भी प्रकार कर्ताको मुक्ति नहीं मिल सकती; परंतु फलस्वरूप बन्धनसे मुक्ति अवश्य प्राप्त की जा सकती है। कुशलतासे कर्म-संपादन करना ही 'योग' कहलाता है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। परंतु साधारण कर्मवादको कर्मयोगमें प्रवर्तित करनेके लिये तीन साधनोंकी विशेषरूपसे आवश्यकता होती है—(१) फलाकाङ्क्षा-वर्जन, (२) कर्तृत्वाभिमानका त्याग और (३) ईश्वरार्पण। गीता (२। ४७)-का उपदेश है कि मानवका अधिकार कर्म करनेमें है, फलमें कभी नहीं। फलकी आकाङ्क्षासे कर्म कभी मत करो तथा कर्मके न करनेमें (अकर्ममें) तुम्हारी इच्छा न होनी चाहिये—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

निष्काम कर्मयोगका यही महामन्त्र है। इस श्लोकके चारों पादोंको हम कर्मयोगकी 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः आसक्तिका परित्याग कर कर्म करनेमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं है। इस प्रकार गीताका मान्य सिद्धान्त है कि प्राणीको कर्मका त्याग न करना चाहिये; प्रत्युत कर्मकी फलेच्छाका ही त्याग करना आवश्यक है। यद्यपि कुछ पण्डितजन काम्यकर्मके त्यागको संन्यास

कहते हैं, परंतु श्रेष्ठ पण्डितोंकी सम्मतिमें सब कर्मोंके फलका त्याग ही वास्तवमें संन्यास है। इसीको गीता (१८।२) अपने शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करती है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कर्ताको कर्म करनेमें कर्तृत्वाभिमानका भी परित्याग करना चाहिये; क्योंकि सभी जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंके दास हैं, जो बलात्कारसे प्राणियोंसे अनिच्छया भी कार्य कराया करते हैं। तब कर्तृत्वाभिमान क्यों? फिर तो सभी कार्योंको भगवदर्पण-बुद्धिसे करना चाहिये। गीता (९।२७) में भगवान्‌ने यही कहा है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'मनुष्य जो कुछ करे, खाये, पिये, हवन-दानादि कर्मोंका अनुष्ठान अथवा तप करे—उन सबको भगवान्‌को अर्पित कर दे। इसका फल यह होगा कि शुभ-अशुभ-फलरूप कर्मोंके बन्धनसे वह मुक्त हो जायगा। अज्ञ तथा पण्डितके कर्म करनेमें यही सुस्पष्ट अन्तर है। अज्ञानी आसक्तिसे कर्मोंका आचरण करता है, जब कि ज्ञानी आसक्तिसे रहित होकर ही कर्मोंका आचरण कर्तव्य-बुद्धिसे करता है और भगवदर्पण करके वह सर्वदा लोकसंग्रहके निमित्त ही कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है (गीता ३। २५)—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

यही लोक-संग्रह कर्मयोगीका कर्तव्य-क्षेत्र होता है, जो उसे बन्धन-निर्मुक्त रखता है।

कर्मयोगकी निष्कामता

(लेखक—पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालंकार)

भारतीय संस्कृति मानवको मृत्युसे अमृतत्वकी ओर और तमसे—अज्ञानान्धकारसे प्रकाश (ज्ञान)की ओर ले जानेवाली है। अमृतत्व और ज्ञान-प्रकाशकी प्राप्ति ही मानव-जन्मका सच्चा लक्ष्य है। यही असत्‌से सत्‌की ओर गमन है। बाह्यपदार्थोंसे यह अमृतत्व—प्रकाश एवं सत्-रूपता प्राप्य नहीं है। **'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'** (बृहदा०) **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'** (कठोप०) इत्यादि कहकर उपनिषदें बतलाती हैं कि अमृतत्वकी प्राप्ति सांसारिक बाह्य पदार्थोंसे कथमपि सम्भव नहीं और न इन पदार्थोंसे मनुष्य कभी तृप्त हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष—इस चतुर्वर्गमें मानव-जीवनका लक्ष्य परम पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ एकमात्र मोक्ष ही है। दुर्लभ मानव-जीवनकी सच्ची कसौटी है कि वह तत्त्व-जिज्ञासाद्वारा भगवत्प्राप्तिकी क्षमता प्राप्त किया या नहीं; क्योंकि उसका लक्ष्य ब्रह्म है—**'ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'** (मुण्डक० २।२।४)। इस संसारमें ज्ञान-विज्ञानके योग्य पात्र मनुष्य-जन्मको पाकर जो अपनेको नहीं जान सका, वह फिर कहीं और कभी शान्ति नहीं पायेगा—

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।
आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात्॥
(श्रीमद्भा० ६।१६।५८)

भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कारकी क्षमताके लिये शास्त्रीय उपायोंका अवलम्बन परमावश्यक है। यह भगवत्-प्राप्ति शास्त्रीय सदुपायोंके आश्रयणसे ही सम्भव है। शास्त्रोंमें मानव-जीवनकी सफलताके लिये कर्म, उपासना, भक्ति तथा ज्ञान—इन तीन योगोंका वर्णन मिलता है। परम वैराग्यशील पुरुषोंके लिये 'ज्ञानयोग', कर्मोंमें आसक्त चित्तवालोंके लिये 'कर्मयोग' और निर्वेद शील या आसक्तिसे रहित चित्तवालोंके लिये—भगवत्कथादिके श्रवणमें, श्रद्धालु पुरुषोंके लिये उपासना (भक्तियोग) सिद्धिप्रद है। जबतक चित्त उपरत (विषयासक्तिसे रहित) और भगवत्-कथादि-श्रवणमें श्रद्धा-सम्पन्न न हो जाय, तबतक कर्म कर्तव्य हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ६-९)

'स्वकर्मके आचरणमें फलाशाका परित्यागकर प्रवृत्त पुरुष स्वर्ग-नरक न जाकर पवित्र होकर विशुद्ध ज्ञान एवं पराभक्ति पा लेता है, जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है'—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १०-११)

मनुष्य शरीरादिमें आसक्तिके कारण ही स्वर्गादिकी कामना करता है। इसका परित्याग ही श्रेयःप्राप्तिका कारण है। 'फलासक्ति' मानव-शरीरके अन्तःकरण और इन्द्रियोंको अपवित्र बना देती है। भक्ति (उपासना) तथा कर्ममें फलानुसंधान मनुष्यको सच्चे लक्ष्यसे भ्रष्ट कर देता है। बड़े-बड़े योगियोंकी भी सिद्धि-प्राप्ति अन्तरायरूपसे ही वर्णित है। अतः कर्म करते हुए भी फलेच्छाको सतत पृथक् ही रखना चाहिये। फलेच्छा कर्मका वह विषय है, जिससे कर्म तो अपवित्र होता ही है, मानवका जन्म-मरणचक्र भी नहीं रुकता। यह मानवको भगवत्प्राप्तिसे पृथक् कर देती है। कामना-रहित बुद्धिसे किया गया कर्म स्वतः पवित्र होकर साधककी अन्तःशुद्धि करके उसे पवित्र बना देता है।

वेदोंमें निष्काम-कर्म

फलाशाका परित्याग मनुष्यकी अन्तःशुद्धि सम्पादित कर भगवत्साक्षात्कारकी योग्यता बढ़ा देता है। निःस्पृह निष्काम योगीको भी ज्ञान-निमित्तक कर्ममें अधिकार है। मानसिक कषाय-मल कामादि दोषोंका कामनारहित कर्मोंसे विनाश होनेपर ही ज्ञान-प्राप्ति सम्भव होती है—'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते।' (कार्ति० सू०)

ईशोपनिषद्की श्रुति कहती है कि आत्मसाक्षात्कार एवं मोक्षके हेतुभूत शास्त्रविहित स्वकर्तव्य कर्मोंको करते हुए ही मनुष्य सौ वर्षपर्यन्त जीवनकी इच्छा करे। इस प्रकार निष्काम कर्मोंका आचरण करनेसे शुद्धान्तःकरण-पुरुषको मुक्ति प्राप्त होती है। इस मार्गको छोड़कर अन्य प्रकारसे मुक्ति सम्भव नहीं। निष्कामकर्मके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण नितान्त निर्मल होकर साक्षात् भगवत्प्राप्ति-हेतुभूत ज्ञानका स्थान बन जाता है। तब योगी भगवत्साक्षात्कारका पात्र हो जाता है। ऐसा कर्म मनुष्यकी आसक्तिका हेतु नहीं बनता और न वह उनमें लिप्त ही होता है। परम्परया मोक्षकी कारण-भूता अन्तःशुद्धि होनेसे आसक्ति सर्वथा असंगत हो जाती है। पुनः उस योगीकी इच्छाके अनुसार ही उसका कर्मोंमें अधिकार रहता है। यही बात सिद्धान्तः शुक्ल यजुर्वेद (४० । २)की श्रुति कहती है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण संसारके कारणभूत परब्रह्म और विनाशी शरीर—इन दोनोंके यथार्थ तत्त्वको सम्यक् जान लेता है। शरीर-'शारीर' इन दोनोंको जो योगी एक साथ जान लेता है और शरीरसे भिन्न मैं अविद्योपाधिसे स्वकर्मवशतः शरीरीके समान हूँ—यह विचारकर आत्मसाक्षात्कारके प्रधान कारण ज्ञान-प्राप्तिके हेतु उपासना एवं निष्काम-कर्म करता है, वह कर्मयोगी विनाशी शरीरसे अन्तःशुद्धिकर आत्मज्ञान प्राप्तकर मुक्तिका पात्र हो जाता है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥
(शुक्लयजुः० ४० । ११)

कर्मयोग ज्ञानका तभी अङ्ग तथा साधन बन सकता है, जब उसमें सकामभाव हो एवं फलानुसंधान न हो। फलानुसंधान और कामासक्तिसे अन्तःशुद्धि सम्भव नहीं; वे बन्धनका कारण होते हैं—

'बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।'

(त्रिपुराता० उप० ५।३।२१, विष्णुपु० ६।७।२८)

जिस प्रकार शोधन-द्रव्योंसे प्रक्षालित वस्त्र स्वयमेव निर्मल हो जाता है, उसमें श्वेतभाव प्रकाशित हो जाता है, इसी प्रकार अविद्यारूप कर्मोंके द्वारा स्वाभाविक कर्म एवं उपासना मार्गको पाकर, अन्तःशुद्धिके द्वारा तत्त्वज्ञानकी योग्यता पाकर—उससे अमृतत्व पा लेता है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

(शुक्लयजुः ४०।१४)

वेदोंमें कितने मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें निष्कामकर्मसे भी आत्मज्ञान-प्राप्तिके द्वारा मुक्तिका वर्णन मिलता है।

पुराणोंमें निष्काम-कर्मयोग

ऊपर श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके कुछ श्लोक उद्धृत कर **'स्वधर्मस्थ अनाशीःकाम'** (—विषयाभिलाषासे रहित), अनघ (निष्पाप), शुचि, (सदाचारसम्पन्न) पुरुष विशुद्ध ज्ञानको पा लेता है—यह बताया गया है। और विषयासक्त मन बन्धनका कारण तथा विषयाभिलाषासे रहित मन मुक्तिका सहकारी होता है। यह चित्त आत्माके बन्धन तथा मुक्तिका साधन माना जाता है। विषयासक्त चित्त बन्धनकारक तथा परमात्मामें रत चित्त मुक्तिके लिये होता है। देखिये, भागवतकार कहते हैं—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।१५)

जिससे भगवान् संतुष्ट हों, वही कर्म है और जिससे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्में ही प्रवृत्त हो, वही विद्या है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥

(४।२९।४९)

कामासक्त अविवेकी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिको ही सर्वस्व माननेवाले लोभी जन सकाम होकर यज्ञादि कर्म-परायण होकर अपने स्वरूपको नहीं जान पाते—

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥

(श्रीमद्भा० १०।४८।११)

'बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवोंके द्वारा कठिनतासे प्रसन्न करने योग्य सर्वेश्वरोंके भी स्वामी भगवान् विष्णुको प्रसन्नकर जो उनसे विषय-सुख माँगता है, निश्चय ही वह दुष्टबुद्धि है; क्योंकि विषय-सुख अत्यन्त तुच्छ है'—

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥

(श्रीमद्भा० ११।२१।२७)

इन्द्रियोंके द्वारा जितने विषयोंका ग्रहण होता है, उन सबका अधिष्ठाता मन ही है, अतः मनको ही मनुष्यके बन्धन-मोक्षका कारण माना गया है। इसीसे विषयासक्त मन बन्धनका कारण तथा विषयासक्तिसे रहित वही 'मन' मुक्तिका कारण हो जाता है। वेद-पुराणोंमें, उपनिषद्-दर्शनोंमें सर्वत्र मनोनिग्रहपर बल दिया गया है। मनकी समाधि ही परमयोग है—

'परो हि योगो मनसः समाधिः।'

(श्रीमद्भागवत)

'कर्म वही है—जो बन्धनका कारण न हो और विद्या-ज्ञान भी वही है, जो मुक्तिका साक्षात् साधन हो। इसके अतिरिक्त अन्य कर्म श्रम और अन्य विद्याएँ कलाकौशल ही हैं'—

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥

(विष्णु० १।१९।४१)

दर्शनोंमें भी मनको विषयासक्तिसे पृथक् कर कर्मोंकी निष्कामतापर पूर्ण बल दिया गया है। 'निःश्रेयस-प्राप्ति' सभी दर्शनोंका प्रतिपाद्य है। अतः चित्तशुद्धिके लिये,

मनःप्रणिधानके लिये कर्मोंकी निष्कामता वहाँ भी अपेक्षित है—

'यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते । श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात् (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २ । २ । ८ । ४२) । प्रकट है कि आचार्य शंकरने भगवान्के सगुण साकार रूपकी आराधनामें श्रुति-स्मृतियोंमें, ईश्वरमें एकाग्रताको प्रसिद्ध होनेसे अनन्यचित्तताका समर्थन किया है । यह अनन्यचित्तता निष्कामतापर ही सम्भव है । कर्मकी निष्कामतापर गीता (३ । १९)का भी अत्यधिक बल है, यथा—'तुम आसक्तिरहित होकर शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको निरन्तर भलीभाँति करो; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य परमात्माको पा लेता है'—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

अतः निष्काम कर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर विशुद्ध ज्ञानका पात्र बन जाता है । उससे वह भगवान्को प्राप्त कर लेता है । कर्मफलमें आसक्ति मानव-मनको मलिन कर उसे नीचे गिरा देती है । जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पितकर आसक्तिको छोड़कर कर्म करता है, वह पुरुष जलमें कमलपत्रकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता । अतः निष्काम-कर्मयोगी ममत्वबुद्धिका त्यागकर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा भी आसक्तिको छोड़ अन्तःशुद्धिके लिये कर्म करता है । निष्काम-कर्मयोगी कर्मोंके फलको छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करते हुए क्रमशः भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त कर लेता है । इसके विपरीत सकाम पुरुष फलाशामें फँसकर कामनाओंसे आबद्ध हो जाता है । अतः मोक्ष-प्राप्तिमें सहायक होनेसे निष्काम कर्म ही आश्रयणीय है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गीता ५ । १०—१२)

'विशेषेण सिनन्ति—बध्नन्तीति विषयाः ।' विषय शब्दका यह निर्वचन—विषयोंमें स्वतः बन्धनकारक आकर्षण सिद्ध रहता है । अतः शास्त्रोंमें विषयासक्तिसे बचनेका दृढ़ आग्रह है । योगी और भोगीमें यही अन्तर है कि योगीके सारे कार्य—चाहे वह देश-सेवा, समाज-सेवा या अन्य कुछ हो, शास्त्रविहित विधिसे, स्वकर्तव्यबुद्धिसे, भगवत्प्रीत्यर्थ भगवदर्पण-भावसे सिद्धि-असिद्धिमें समता रखते हुए अनुष्ठित होते हैं, उनमें अहंता, ममता या अपने गौरव, आत्मश्लाघा आदि भावोंका स्थान नहीं होता । इसके विपरीत भोगी पुरुष विविध दुरापूर कामनाओंमें आसक्त होकर आत्मगौरव, आत्मश्लाघा, अपने बड़प्पन आदि भावोंको लेकर दूसरोंको नीचा दिखाने आदिकी दृष्टिसे स्वच्छन्दतापूर्वक दूसरोंके हिताहितका विचार न कर कुछ भी करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं । धर्माचरणका मुख्य प्रयोजन मोक्ष-सिद्धि है, अर्थोपार्जन नहीं—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
(श्रीमद्भा० १ । २ । ९)

इस प्रकार मोक्ष-साधक धर्म ही अभिप्रेत है । योगके द्वारा आत्मदर्शन ही सबसे बड़ा धर्म है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।
(याज्ञवल्क्य० १ । ८)

मोक्ष-साधकको धर्मकी भाँति अर्थ, काम भी धर्मानुकूल ही अभिमत है । मनीषी राजा दिलीपके अर्थ, काम भी धर्मानुकूल ही थे—

अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ।
(रघुवंश १ । २५)

भगवान्ने गीतामें—**'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'**—सभी जीवोंमें मैं धर्मानुकूल काम हूँ यह स्पष्टतः कहकर धर्मानुकूल कामको अपना स्वरूप बताया है। अर्थ तथा कामको धर्म और मोक्षके मध्यमें रखनेका प्रकट कारण यह है कि अर्थ और काम मोक्षके सहकारी हों, विरोधी नहीं। निष्काम कर्म अन्तःशुद्धिमें महान् उपकारक हैं। सिद्ध है कि मोक्षप्राप्तिमें निष्कामतासे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं। शुद्ध वस्त्रपर ही कोई रंग चढ़ता है। इसी प्रकार निष्काम कर्मोंद्वारा पूर्ण अन्तःशुद्धि होनेपर ज्ञान-प्रकाशमें मुक्तिका मार्ग दीखता है। अतः जीवनकी सफलताके लिये सकाम कर्मोंसे मन हटाकर फलानुसंधानसे सर्वथा पृथक् रहकर शास्त्रविहित स्वकर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। इससे सद्यः श्रेयःप्राप्ति सम्भव है। पशुओंकी भाँति दूसरोंकी प्रेरणासे विवेक-शून्य होकर चलना छोड़कर विवेकका आश्रय लेना चाहिये; वसिष्ठजीका वचन है—

धिया परप्रेरणया मा यात पशवो यथा।
(योगवासिष्ठ ६)

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगी स्वकर्मसे उस परमात्मा-का सम्यक् पूजन कर सिद्धि पा जाता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(गीता)

कर्मयोगका कर्म और योग

(लेखक—डॉ० श्रीव्रजभूषणजी बाजपेयी, एम्० बी० बी० एस्०)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

'मेरा (मायामय) जन्म और (साधु-संरक्षण आदि) कर्म दिव्य हैं अर्थात् अलौकिक हैं। इस प्रकार जो तत्त्वसे जानता है, हे अर्जुन! वह इस शरीरको छोड़कर पुनर्जन्म नहीं पाता, मेरे पास आ जाता है' ऐसा शङ्खघोष करनेवाले योगेश्वर श्रीकृष्णद्वारा निर्देशित कर्मयोगका कर्म दिव्य है और तत्त्वतः निष्काम भी। जो इनका रहस्य जान लेता है, वह पुनः संसारमें नहीं आता, उसे मुक्ति मिल जाती है।

कृ(करणे) धातुसे निष्पन्न कर्म शब्दका सामान्य अर्थ है—कार्य, पृथक्-पृथक् चेष्टा, जिसका दुर्बल या प्रबल—कोई एक संस्कार मनुष्यके चित्तपर पड़ता है। इन संस्कारोंके समुच्चयसे ही मनुष्यका चरित्र बनता है, व्यक्तित्व बनता है। कर्मका अर्थ ऐसे ही कार्य हैं, जिनका संस्कार चित्तपर पड़ता है और इसलिये जिसका शुभ या अशुभ फल मनुष्यको भोगना पड़ता है, इस जन्ममें या जन्मान्तरमें।

मनुष्य-शरीरमें तथा मनुष्यद्वारा और भी अनेक ऐच्छिक-अनैच्छिक तथा स्वतः चालित कर्म होते रहते हैं; जैसे खेलके लिये खेल या कोई लीला, रक्त-संचालन या पाचन-क्रिया, छींकना, जम्हाई लेना प्रभृति। ये भी हैं तो कर्म ही, लेकिन इन कर्मोंका मनुष्यके चरित्रपर, आचरण-पर, व्यक्तित्वपर वह प्रभाव नहीं पड़ता, जिससे संस्कारका निर्माण हो या जो कोई शुभ-अशुभ फल दे। बोलचालकी भाषामें भी हम अलग-अलग इन्हें खेल करना है या काम करना है कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि खेल खेल है और काम काम है, काम खेलसे भिन्न है। खेलका असर चित्तपर नहीं पड़ता है और कर्मका कोई-न-कोई संस्कार अवश्य बनता है। प्रत्येक कर्मका चित्तपर एक चित्र-सा बन जाता है। वही है चित्रगुप्तका लेखा, जिसके आधारपर जीवनभरके हमारे पाप-पुण्यका—शुभ-अशुभ कर्मोंका लेखा-जोखा होता है और जीवनमें या मरणानन्तर जिसके आधारपर हमें भिन्न-भिन्न योनियाँ प्राप्त होती हैं; उत्तम कुलमें या अधम कुलमें जन्म लेना पड़ता है; दुःख-सुख भोगना पड़ता है। जिन कर्मोंसे संस्कार

बनते हैं, उन्हें ही बन्धनमें डालनेवाला कर्म कहा जाता है। वैसे ही कर्मके लिये कहा गया है—'कर्मणा बध्यते जन्तुः' जीव कर्मोंद्वारा बँध जाता है। शरीरस्थ आत्मा ही जीव है और कर्मबन्धनोंसे बँधा हुआ जीव ही बद्ध जीव कहलाता है। उनसे छूटनेपर ही वह मुक्त कहा जाता है।

ज्ञानियोंके विचारानुसार निर्मल—निष्पाप अन्तःकरण ही शुद्ध उदार चित्त युक्त आत्मा है। इसका मलिन हो जाना, मलयुक्त या कलुषयुक्त हो जाना ही बन्धन है। बन्धनमें, बद्धावस्थामें अज्ञानताके कारण शरीर और आत्माका पृथक्त्व मानो मिट-सा जाता है। शरीरके साथ आत्माका तादात्म्य होते ही जीव शरीर-सुखके लिये व्याकुल रहता है। शरीर अनित्य है, नाशवान् है, क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है, एक प्रवाह-जैसा है, प्रवाहित होता जा रहा है; एक क्षणके लिये भी नहीं रुकता। सुख भी स्थायी नहीं रहता, दुःख भी चिरन्तन नहीं रहता। दिन-रात्रिकी तरह जीवनमें सुखके क्षण और दुःखके क्षण आते-जाते रहते हैं। स्थायी, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है—केवल शुद्ध आत्मा। इसलिये आत्मा सुख-दुःखसे परे है। वह सदैव निर्विकार है, वह स्वयं सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है। जब आत्मा निष्कलुष, निष्पाप, निष्पक्ष, निर्विकार रहता है, तब वह अपने सच्चे रूपमें है—ऐसा माना जाता है। प्रत्येक प्राणी ही नहीं, जड पदार्थका कण-कण स्वतन्त्र होनेके लिये संघर्ष करता रहता है और यह संसारके संघर्षका परिणाम है, क्रियाका प्रतिफलन है, कर्मकी निष्पत्ति है।

मनुष्य-योनिके अतिरिक्त सब योनियाँ भोग-योनि मानी गयी हैं। केवल मनुष्ययोनि भोगयोनिके साथ-ही-साथ कर्मयोनि भी है। मनुष्य-शरीर पाकर जीव चाहे तो कर्मद्वारा मुक्त हो सकता है, अन्यथा भोगकी ओर जानेपर वह पुनः कर्मबन्धनमें पड़ जा सकता है और तब **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्'**की प्रक्रियामें आ जाता है। किंतु कर्मबन्धनसे छूट जानेपर उसे इस चौरासी लाख योनियोंकी चक्करदार चहारदीवारीकी परिक्रमा नहीं करनी पड़ती।

स्थिति बड़ी जटिल है। मनुष्य-शरीर मिला है मोक्ष-साधनके लिये। उसे कर्म करनेका अधिकार मिला है। कर्म बन्धनकारक है, लेकिन है उससे छूटना। कैसे सम्भव होगा? इसीका उत्तर है—योगद्वारा, कर्मयोगद्वारा। योगका प्रचलित अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। कर्म चित्तपर संस्कार डालता है, योग चित्तवृत्तियोंका निरोध करता है। कर्म बन्धनकी सृष्टि करता है, योग बन्धनसे छुटकारा देता है। अतएव कामनासे पूर्ण मनुष्यको मुक्तिका रास्ता है कर्मयोग। कर्मयोग मनुष्यको बन्धनसे मुक्त करता है। कैसे?—यहाँ यह विचारणीय है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योग शब्दकी अन्य दो विशेषताएँ हैं—(१) 'समत्वं योग उच्यते' (२।४८) और (२) 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२।५०)। समत्वको, समत्व बुद्धिको, द्वन्द्वमें अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेष, प्रेम-घृणासे परेकी स्थितिको अर्थात् जय-पराजय, लाभ-हानिको समान समझनेकी स्थितिको योग कहा गया है। समत्वके साथ कर्म करनेसे, हर्ष-विषाद या हार-जीतकी स्थितिसे दूर होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धन नहीं बनता है, चित्तपर कोई संस्कार नहीं पड़ता है। इसलिये कर्म-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये कर्मयोगीको सर्वप्रथम समत्व-प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; तात्पर्य यह कि किसी भी स्थितिमें उसे मानसिक संतुलन नहीं खोना है। कर्मसे उसे न राग होना चाहिये, न द्वेष; कर्म करते समय उसकी दृष्टि लाभ या हानिपर न रहे, जय-पराजयपर न रहे, उसे कर्म करना है, उत्तम रीतिसे करना है; कर्मकी उत्कृष्टतापर ध्यान रहे। कर्मसे होनेवाले फलकी ओर दृष्टि ही न डाली जाय।

अब थोड़ा इस योग-कौशलकी ओर ध्यान दें। कोई काम करें, किंतु अपनेपर कोई आँच न आने दें,

कोई विपत्ति न आने दें, कोई थकावट या कोई व्यस्तता न आने दें, कोई घबड़ाहट या कोई अधीरता न आने दें, बुद्धिमानीसे अपनेको प्रतिक्षण सकुशल रखते हुए कर्म करें। दूसरे शब्दोंमें इस रीतिसे कर्म करें कि कर्मका शुभाशुभ फल नहीं भोगना पड़े; न सुख-दुःख भोगना पड़े और न इस संसारमें पुनर्जन्म हो, शरीर छूट जाय और आत्माका पूर्णतम विकास ऐसा हो कि वह परमात्माके साथ एक हो जाय, परमात्मासे आत्माका योग हो जाय; मन-चित्त निर्मल और निष्पाप हो जाय, ज्ञानसे उद्भासित रहे; अज्ञानता मिट जाय। निर्मल आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय। बस; इसे ही तो मुक्ति कहेंगे। यही कर्मकुशलताकी सिद्धि है।

इस युक्तिसे कुशलतासे कर्म करनेके लिये कर्मके मर्मको भलीभाँति समझना पड़ेगा, अनुभव करना पड़ेगा कि कर्म विकर्म कैसे होता है और वह 'अकर्म' कैसे बन जाता है। कर्ममें ऐसी कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिनसे बचे रहनेपर कर्म बन्धनकारक न होकर आत्मविकासक हो जाता है, मुक्तिदायक हो जाता है।

कर्मके सम्बन्धमें गीताके अनुसार सांख्यशास्त्रमें कथन है कि प्रत्येक कर्मके पाँच हेतु हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, पृथक्-पृथक् चेष्टा और दैव। अधिष्ठानको, आश्रय या आधारको जाननेके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि वास्तवमें कर्ता है कौन? पुरुष, आत्मा या प्रकृति? गीता (३। २७) स्पष्ट शब्दोंमें कहती है—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** अर्थात्—सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये गये हैं। ये तीनों गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। वास्तवमें प्रकृतिके ये तीनों गुण ही कर्ता हैं, अहंकारविमूढात्मा अपनेको कर्ता समझ बैठता है और व्यर्थ ही कर्मोंमें जा फँसता है। कर्मयोगके साधकको इस मूर्खतासे, इस अहंकारसे सदैव बचना है। उसे निस्त्रैगुण्य होकर नियत कर्म करना है और अपनेको कर्ता न समझकर 'निमित्तमात्र' समझना है। उसे सदैव यही समझना है कि गुण गुणोंमें बर्तते हैं। मेरा किसी कर्मसे कुछ लेना-देना नहीं है। ऐसा सोचते हुए उसे किसी कर्मसे आसक्त होना नहीं है; क्योंकि आसक्तिके कारण भी कर्मका संस्कार चित्तपर पड़ता है, आसक्तिके चलते भी कर्म बन्धनकारक हो जाता है। अनासक्त भावसे किया गया कर्म कर्मयोगकी सीमामें होता है।

अधिष्ठान और कर्ताके अतिरिक्त कर्मयोगीको कर्म भी जानना है। बात कठिन है। साधारण लोगोंका क्या कहना **'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'**—कवि—मनीषी भी मोहमें पड़ जाते हैं—ऐसा निर्णय करनेमें कि क्या कर्म है, क्या अकर्म है? देश, काल, परिस्थितिके अनुसार जो कर्म हाथमें आ जाय उसे फलमें समत्वबुद्धिसे, कौशलसे करना 'कर्मयोग' है। वर्णाश्रमपर आधृत कर्म हो, नौकरी हो या व्यापार हो, अपनी पात्रताके अनुरूप जो भी अपना निर्धारित कर्म है उसे न बड़ा समझना है और न छोटा; वह कर्तव्य है—ऐसा समझकर पूर्ण तन्मनस्कताके साथ उसे करना है। दूसरोंके कर्मकी ओर दृष्टि डालना नहीं है। पूर्ण निष्ठाके साथ साधकको अपना कर्म करना है; क्योंकि **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८। ४५)। तत्परताके साथ अपना-अपना कर्म करके ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है, मुक्त हो सकता है। पर-धर्मको सदैव भयावह समझते हुए अपने धर्ममें, नियतकर्ममें तन-मन लगा देना चाहिये। यही है—सिद्धिका रहस्य। यही है—श्रेयः-प्राप्तिका प्रशस्त पथ।

आसक्तिके अतिरिक्त फलकी आकाङ्क्षा भी कर्मसिद्धिके मार्गमें एक बहुत बड़ी बाधा है; अतएव कर्मयोगमें स्पष्ट आदेश है कि **'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** गीता २। ४७) और न नियतकर्मसे अरुचि और न अकर्ममें सङ्ग हो।

कर्ममें कुशलताके लिये शरीर और शरीरीके, देह और आत्माके भेदको भलीभाँति समझ लेना चाहिये और यह भी जान लेना चाहिये कि मानव-जीवनका वास्तविक उद्देश्य क्या है ? श्रेयःप्राप्तिकी इच्छाको दृढ़ करते हुए यह जानकर कि इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिये हमें यह शरीर मिला है, न कि विषय-सुख-भोगके लिये, कर्मयोगी पूर्ण मनोयोगसे सदैव सहजकर्म करता रहे—वह अपने सुखके लिये, इन्द्रिय-सुख अथवा अपने शारीरिक या मानसिक सुखके लिये कुछ नहीं करते हुए, उस ओर ध्यान दिये बिना सदैव दूसरोंको सुख-सुविधा पहुँचानेका प्रयत्न करता रहे। कर्म-बन्धनसे बचनेके लिये यह सर्वाधिक सरल उपाय है कि जो भी कर्म करो दूसरोंके लिये करो, अपने सुखकी चिन्ता न करो। ऐसा संकल्पकर कर्मयोगी यदि 'सर्वजनहिताय,' 'सर्वजनसुखाय' कर्म नहीं कर पाता है तो 'बहुजनहिताय', बहुजनसुखाय' तो अवश्य ही करता रहे। गीताने इसे ही 'लोक-संग्रह' नाम दिया है और कहा है कि—'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।'

इस संसारमें कर्म यज्ञके लिये ही है—ऐसी एकाग्र बुद्धिसे वह जो कुछ करता है, पवित्र मनसे, शुद्ध विचारसे दूसरोंके कल्याणके लिये करता है। फलतः-'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'–(गीता ४। २३)—यज्ञके लिये, जन-कल्याणके लिये कर्म करते हुए समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं; यानी उन सब कर्मोंको बन्धन-शून्य हो जाना पड़ता है। कर्मयोगी जनहितमें कर्म करते-करते विश्वके साथ समरस हो जाता है, विश्वके साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सर्वभूतोंको अपनेमें और अपनेमें सर्वभूतोंका दर्शन करने लगता है—'सर्वत्र समदर्शनः' हो जाता है। यही है कर्म करनेकी कुशलता। अब उसका अपना-पराया कोई नहीं रह जाता है। उसके लिये 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हो जाता है। स्वको त्यागते-त्यागते वह धीरे-धीरे निष्काम हो जाता है, और हो जाता है निःस्वार्थी भी। उसे उच्चभूमि प्राप्त हो जाती है। निष्कामता कारण-सिद्धि है।

यतः इन्द्रियोंके माध्यमसे कर्म होते हैं, इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर दौड़ना स्वाभाविक है, अतः कर्म-कुशलताकी माँग है कि इन्द्रियाँ वशमें रहें और वशमें रहे इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखनेवाला चञ्चल मन भी। मनपर अङ्कुश रख सकती है उससे भी अधिक शक्तियोंसे सम्पन्न बुद्धि ही। अतएव धीको प्रेरित करनेवाले सावित्रीदेवीकी प्रार्थनासे हो या जैसे हो बुद्धिकी सद्विवेकिनी शक्तिको बढ़ाना है, उसे पूर्णतः असत्की ओरसे खींचकर सत्की ओर करना है—ताकि आत्माका प्रत्येक संकेत उसे स्पष्ट दीख सके। हृदय जितना उदार होगा, जितना निःस्वार्थ होगा, कर्मयोगी उतने ही रूपमें बुद्धियोगको प्राप्त कर लेगा।

इस तरह आसक्तिहीन, कामनाशून्य, फलाकाङ्क्षासे रहित तथा इन्द्रिय-मन-बुद्धिको वशमें रखकर दूसरोंके कल्याणार्थ नियत कर्म करते-करते धीरे-धीरे स्थितप्रज्ञता आने लगती है, चित्त सदैव प्रसन्न रहने लगता है और मन शान्त हो जाता है, काम-क्रोध मिटने लग जाते हैं और ज्ञान-का प्रकाश बढ़ने लगता है। स्वामी विवेकानन्दका कहना है कि निःस्वार्थ होकर कर्मयोगके आचरणसे सर्वज्ञता प्राप्त की जा सकती है तथा ज्ञानाग्निसे उसके सर्व-कर्म भस्मसात् हो जाते हैं। सब कर्मबन्धन (संचित और प्रारब्ध कर्मोंके भी बन्धन) जलकर राख हो जाते हैं। साधक सर्वथा मुक्त हो जाता है और 'परमाप्नोति पूरुषः' प्रमाणित हो जाता है।

सारांश यह कि कर्म यदि संसार-शकट है तो इसके साथ योगका संयोग होनेसे वही कर्म वायुयान ही नहीं, उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह अन्तरिक्षयानसे भी बढ़कर चन्द्रलोक या मङ्गललोकके परे, परमधामतक पहुँचानेवाला ब्रह्मयान बन जाता है।

जो कर्म अपने-आपमें बन्धन रहता है, संसृतिका कारण होता है, वही योग-संस्पर्शन-चमत्कारसे मुक्तिदायक बन जाता है, संसारसे छुड़ाकर सत्-चित्-आनन्दके समक्ष उपस्थापित करनेवाला बन जाता है; कर्मको विशेष कर्म ही नहीं, अकर्म (कर्मशून्यता)में परिवर्तित कर देता है; प्रकृतिके पाससे छुड़ाकर परम पुरुषके पार्श्वमें ले जाकर खड़ा करा देता है। यही है 'कर्म' और 'योग'का कर्मयोग, यही कर्म संन्यासकी अपेक्षा विशिष्ट है—**तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।**

सकाम कर्म और निष्काम कर्म

(लेखक—डॉ० श्रीनागेन्द्रकुमारजी दुबे, एम्० बी० बी० एस्० (पञ्चस्वर्णपदकप्राप्त)

कर्मका मर्म समझना दुस्साध्य है; क्योंकि कर्मकी गति—अति जटिल है **'गहना कर्मणो गतिः'** (गीता ४ । १७); तथापि सब कर्मोंको हम मुख्यतः दो श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) सकाम कर्म और (२) निष्काम कर्म। कर्तापर—मनुष्यपर कर्मका जो फल पड़ता है, वह या तो शुभ है या अशुभ या दोनोंका सम्मिश्रण है। कर्म-फलकी शृङ्खला इस संसारमें चलती ही रहती है—

'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (गीता १५ । २)।

यों तो स्वयमेव कर्म प्रकृति-प्रसूत है, प्रकृतिके त्रिविध गुणोंसे चलते ही रहते हैं प्रतिपल, प्रतिक्षण; लेकिन अहङ्कार-विमूढात्मा अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है और कर्ता बनते ही वह उन कर्मोंके फलोंका भोगनेवाला हो जाता है। किंतु जो भगवान्‌को तत्त्वतः जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता। भगवान् गीता–(४ । १४)में कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

'कर्म मुझे लिप्त नहीं करते हैं और न कर्म-फलकी मुझे लालसा है; इस तरह जो मुझे जानता है, वह कर्मसे नहीं बँधता है।' यही सत्य है, छिपा हुआ है—कर्मके अन्तरतममें, कर्मके परमाणु-परमाणुमें। कर्मका सारा रहस्य इसी भावमें छिपा है, करीब-करीब ठीक उसी तरह जिस तरह शरीरमें आत्मा व्याप्त है; जड़-जङ्गमकी परिवर्तनशीलतामें अपरिवर्तनशीलता सन्निहित है; विकारियोंमें निर्विकारी वर्तमान है। सामान्य-दृष्टिमें वह दिखायी नहीं पड़ता है, जिस तरह किसी काष्ठ-खण्डमें व्याप्त अग्नि साधारणतः दिखायी नहीं पड़ती है, किंतु रहती है अवश्य; क्योंकि उचित संयोग घटनेपर जल उठती है।

जड़ पदार्थके प्रत्येक कणमें, प्रत्येक प्राणीके शरीरमें वह निर्गुणतत्त्व, निर्विकारी तत्त्व, वह अमरतत्त्व, वह अजर-तत्त्व व्याप्त है अवश्य—क्योंकि उसकी उपस्थितिके बिना कोई संघात, कोई प्रतिमा, कोई रूप बन ही नहीं सकता है—चाहे उस अदाह्य, अशोष्य तत्त्वको हम सत् कहें, ब्रह्म कहें, आत्मा कहें, चित् कहें अथवा अन्य कोई नाम दें। शरीरस्थ होनेपर वही जीव कहलाता है। मनस्वियोंका कहना है कि मानव-शरीरमें उसका मुख्य स्थान मन है। इसलिये कहा गया है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**—मन ही मनुष्योंके बन्धन एवं मोक्षका कारण है। किसी-किसी मनस्वीका कहना है कि निर्मल मनसे ही आत्माका दर्शन होता है और शुद्ध आत्मासे जब मलीनता लिपट जाती है, तब वह जीवात्मा बन जाता है। ऐसा मन कामनाओंका अनन्त प्रवाह-स्वरूप है, मानो किसी सरिताकी अजस्र धारा है, जिसमें प्रतिक्षण नयी-नयी जलराशि प्रवाहित होती

रहती है; प्रतिपल तरङ्गें उठती-मिटती रहती हैं। जिस क्षण यह कामना-प्रवाह रुक जायगा, जिस पल ये कामना-तरङ्गें नहीं उठेंगी, उसी क्षण मन निस्तरङ्ग—निर्मल होकर आत्माके रूपमें प्रतिष्ठित हो जायगा। वही स्थिति है मुक्तिकी स्थिति, मोक्षकी स्थिति। श्रीमद्भगवद्-गीतामें उस स्थितिको स्थितप्रज्ञताकी स्थिति कहा गया है, 'निस्त्रैगुण्य'की स्थिति कहा गया है। 'निमित्त-मात्र' की स्थिति कहा गया है, 'निराशी, निर्मम, निरहङ्कार, निराश्रित'की स्थिति कहा गया है।

व्यावहारिक जगत्में यह स्थिति कर्मपर निर्भर है और कर्मके प्रति कर्ताके दृष्टिकोणपर निर्भर है, उसकी भावनापर निर्भर है। यों तो प्राणीको मनुष्ययोनि मिलती है—मुक्ति-प्राप्तिके लिये ही और इसीलिये उसे कर्म करनेका अधिकार भी मिला है। अन्य योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, किंतु मनुष्य-योनि भोग-योनिके साथ-ही-साथ कर्मयोनि भी है। जैसे जीवने कर्मके सहारे मनुष्य-शरीर प्राप्त किया, वैसे ही यदि वह समुचित युक्तिसे, कौशलसे योग लगाकर कर्म करे तो जैसे काँटे-से-काँटा निकाला जाता है, वैसे ही कर्मके द्वारा कर्म-बन्धनसे छुटकारा पाकर वह सर्वथा मुक्त हो जा सकता है, निर्बन्ध हो जा सकता है, निर्ग्रन्थ हो जा सकता है। इस हेतु मनुष्यको सकाम कर्म और निष्काम कर्म समझना—दोनोंकी उपयोगिता और उनका महत्त्व समझना, दोनोंका भेद समझना आवश्यक है।

मोटे तौरपर सकाम कर्म वह है, जो हम किसी कामनाकी, अपने सुखकी पूर्तिके लिये करते हैं और जो कर्म हम किसी कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं करते हैं, जो अपने सुखके लिये नहीं, बल्कि दूसरेके हितके लिये करते हैं, वह निष्काम कर्म है। सकाम या निष्काममें कामनाका अर्थ है स्पृहा, तृष्णा, पिपासा, निज सुखेच्छा। प्यास लगनेपर हम जल-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं और जल पी लेनेपर प्यास उस समय मिट जाती है, लेकिन कुछ काल-बाद पुनः वैसी ही प्यास लगती है। तृषा सताने लगती है। यही है कामना, जिसकी पूर्ति होनेपर भी स्थायी संतुष्टि नहीं मिलती है, पुनः उसे प्राप्त करनेकी कामना होती है; बल्कि कामनाका वेग कुछ और प्रबल हो जाता है, क्योंकि रस-राग उसे सबल बना देता है। ज्ञानियोंने कहा है—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' कामका शमन कामोपभोगसे नहीं होता है। जैसे होम-कुण्डमें—प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति देनेसे अग्नि और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, शान्त नहीं होती, वैसा ही है—काम। उपभोगसे शान्त होनेके बदले वह और दहक उठता है। इतना ही नहीं, कामसे और भी कई दुर्गुण उभर आते हैं, जैसे क्रोध और लोभ। ये तीनों-के-तीनों नरकके द्वार हैं। गीता (१६। २१) कहती है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

इनमें प्रवेश करनेमात्रसे जीवात्मा नष्ट हो जाता है। इसलिये मुक्तिके इच्छुकको इन तीनोंका त्याग करना चाहिये—'तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्' (गीता १६। २१) इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये; मूलतः सकाम कर्मका त्याग करना चाहिये; कामरहित कर्मका कदापि नहीं। 'कुरु कर्मैव'—कर्म करो ही, क्योंकि कर्मसे कर्मबन्धनका नाश करना है, लेकिन करो निष्काम कर्म, परहित कर्म। सकाम कर्म बन्धन देते हैं।

कामका वास्तविक अर्थ है—अतृप्त इच्छा—वह इच्छा जिसकी पूर्ति सदाके लिये हो ही नहीं सकती है, अर्थात् पदार्थके संयोग और संग्रहसे अपने सुखकी इच्छा। पदार्थ नाशवान् है, परिवर्तनशील है। सब समय न उसका संयोग सम्भव है और न संग्रह ही। इस तरह शरीरको किसी उपायसे सदैव सुखमें रखना सम्भव ही

नहीं है। पुनश्च, सुख कहीं बाहर नहीं है; क्योंकि सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें किसी पदार्थसे सुख नहीं मिल पाता है। पाचन-क्रिया ठीक रहनेपर भोजनका सुख मिल सकता है। शरीरमें शक्ति रहनेपर यौवन-सुखका अनुभव किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह अन्य सुखोंके साथ भी शर्तें हैं।

जिसे पाकर पुनः कुछ और पानेकी कामना नहीं रह जाती, कामना पूर्ण हो जाती है, उसे प्राप्त करनेका मार्ग है—निष्काम कर्म। उसीका फल होता है—आत्मबोध, मुक्तिकी प्राप्ति, परमतत्त्वकी प्राप्ति, ब्रह्मोपलब्धि; यही मानवका परम उद्देश्य है, परम पुरुषार्थ है।

संक्षेपमें, सकाम और निष्काम कर्मका अन्तर यों समझा जा सकता है—'सकाम कर्म वह कर्म है—जो अपने सुख, लौकिक सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किया जाता है; अपनी सुखेच्छाकी पूर्तिके उद्देश्यसे किया जाता है, किसीसे संयोगकी इच्छासे या किसी पदार्थके संग्रहकी इच्छासे—शास्त्रीय भाषामें जो 'कामिनीकाञ्चन'की प्राप्तिके लिये, संग्रहके लिये, उपभोगके लिये किया जाता है।

सकाम कर्म शरीरके चतुर्दिक् चक्कर लगाता रहता है। शरीर-सुख ही उसका केन्द्र है। सकाम कर्मका काम (कामना) शरीर-सुख सागरकी एक-एक तरङ्ग-सा है, जो शरीर-सुखके लिये उठती-गिरती रहती है। सकाम कर्मोंका ध्यान अपनेपर (अपने पुत्र, अपनी पत्नी, अपने ऐश्वर्य, अपनी कीर्ति, अपनी स्तुतिपर) केन्द्रित रहता है। वह केवल अपने हितको सोचता है। अपने हित-साधनमें उसे दूसरेके सुख-दुःखकी कोई चिन्ता नहीं रहती। अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये वह दूसरोंका भारी-से-भारी अनिष्ट करनेमें भी नहीं हिचकिचाता है। उस समय, कामनासे विमूढ बने सकाम कर्मीको यह स्मरण नहीं रहता है कि सारे-के-सारे मानव, चाहे वे पृथ्वीके किसी भागमें क्यों न बसते हों, कोई धर्म क्यों न मानते हों, कोई भाषा क्यों न बोलते हों एक सूक्ष्म किंतु दृढ सूत्रसे एक साथ बँधे हैं और एकके हितमें दूसरेका हित है और एकके अहितमें सबका अहित छिपा है। फलतः एकदेशीय, एकपक्षीय, एक संकीर्ण दृष्टि या अज्ञानताके कारण सकाम कर्मोंका फल होता है अशुभ या बन्धन, पाप या मलीनता, संकीर्णता या दुःख।

निष्काम कर्मके पीछे भी प्रेरणा है इच्छाकी, किंतु वह इच्छा स्व-केन्द्रित नहीं है, वह इच्छा स्व-सुखके लिये नहीं, परके सुखके लिये, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, दूसरोंके कल्याणके लिये है। एकको सुख पहुँचानेके लिये, सुविधा पहुँचानेके लिये निष्कामकर्मी दूसरे किसीका अहित कदापि नहीं करेगा। उसका उद्देश्य है दूसरोंका कल्याण करना। उसे अपने सुखकी कोई इच्छा रहती ही नहीं। कर्मके साथ उसका केन्द्रीय उद्देश्य है—अपने अन्तःकरणकी शुद्धि, अपने चित्तको निष्कलुष करना, अपने चित्तपर कर्मका संस्कार नहीं पड़ने देना, कर्मको बन्धनकारक नहीं होने देना। वह कर्म इसलिये करता है कि कर्म उसके आत्माका पूर्ण विकास कर सके, कर्मद्वारा कर्मके अबतकके सब बन्धनोंको काटकर वह पूर्ण स्वतन्त्र हो जाय, स्वच्छन्द हो जाय। वह शुद्ध-बुद्ध आत्मामात्र हो जाय, द्रष्टा हो जाय। उसका जीवभाव मिट जाय और जन्म-मरणका बन्धन कट जाय।

सकाम कर्मके साथ अनेकानेक मलिन वासनाएँ लिपटी रहती हैं। सकाम कर्मके साथ केवल स्व-सुखेच्छा ही नहीं, कर्म-फलेच्छा भी चिपकी रहती है। कर्मके प्रति आसक्ति बनी रहती है। विषय-रसानुभूति उसे कर्मसे जकड़े रखती है। उसकी सब इन्द्रियाँ सब समय, स्वप्नमें भी विषय-सुखकी ओर दौड़ती रहती हैं।

उसके मनमें सदैव दौड़-धूप लगी रहती है, अशान्ति रहती है। अशान्तको सुख कहाँ?—अशान्तस्य कुतः सुखम्।

निष्कामकर्मीका कर्मोंका सङ्ग छूट जाता है, फलाकाङ्क्षा मिट जाती है, स्व-सुखकी भावनाके अभाव और परहित-चिन्तनके कारण उसकी इन्द्रियाँ विषय-सुखसे धीरे-धीरे मुँह मोड़ते-मोड़ते पूर्णतः मनके वशमें हो जाती हैं। जितेन्द्रिय मन प्रत्येक निष्काम कर्ममें पूर्ण योग देने लगता है, जिससे उसकी चञ्चलता मन्द पड़ते-पड़ते मिट-सी जाती है। प्रमादी, बलवान्, दृढ़ मनकी चञ्चलता मिटते ही इसमें एकाग्रताकी वृद्धि होने लगती है। व्यर्थकी दौड़-धूपसे शक्तिका ह्रास न होकर मनमें शक्ति-संचय होने लगता है, निष्काम कर्ममें अधिकाधिक सफलता आने लगती है, जिससे निष्काम कर्ममें अभिरुचि, अभिरति बढ़ती जाती है। निर्मल मन बुद्धिके प्रत्येक शुभ निर्णयको सहर्ष कार्यान्वित करने लगता है। फलतः बुद्धिकी शक्ति-वृद्धिके साथ शुचिता-वृद्धि भी होने लगती है, दैवी सम्पदाओंकी अभिवृद्धिसे सत्त्वगुणका उत्कर्ष होने लगता है, मनमें शुभ कर्मके प्रति उत्साह बढ़ता जाता है; तत्परता बढ़ती जाती है, धर्मरति दृढ़ होने लगती है।

जिन दोषोंके कारण कर्म बन्धन-कारक होता है, वे आसक्ति, फलाशा, कर्म-सङ्ग, देह-बुद्धि सकामकर्मीके दृढ़ होते जाते हैं, विषय-विषसे सकामकर्मी अधिकाधिक बन्धनमें पड़ते जाते हैं। परंतु निष्कामकर्मीके कर्मासक्ति, फलाशा, कर्म-सङ्ग और देह-बुद्धिके मिट जानेसे, ज्ञानके उदय होनेसे, निःस्वार्थताकी अभिवृद्धिसे, उदारताकी परिधि क्रम-क्रमसे विस्तृत होते-होते—व्यक्तिसे समाज, समाजसे राष्ट्र, राष्ट्रसे मानवता, मानवतासे प्राणिमात्र, भूतमात्रतक व्याप्त होते-होते—सत्तक पहुँच जाती है, व्यक्ति ब्रह्मोपलब्धि कर लेता है। इसीका गीतोपदिष्ट सूत्र है—

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

कर्मका त्याग न सकाम कर्ममें है और न निष्काम कर्ममें, तथापि सकामकर्मी वर्जित कर्म या निषिद्ध कर्म करनेमें भी संकोच नहीं करता है। निष्कामकर्मी यद्यपि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको भी प्रारम्भमें आत्म-शुद्धिके लिये करता है तथापि वह धीरे-धीरे कर्म-फलका, कामनाका, आसक्तिका त्याग करते-करते अपने सुखकी इच्छासे पूर्णतः छूटकर बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय कर्म करते-करते,—यह अभ्यास करते हुए कि कर्मोंका कर्त्ता मैं नहीं हूँ, केवल प्रकृतिके गुणोंके कारण कर्म होते हैं, इस प्रकार कर्म-पाशको शिथिल करते-करते—जितेन्द्रिय होकर, मनोजयी होकर, शुद्धचित्त होकर, कर्मको योगस्थ हो समत्वभावसे, कुशलतापूर्वक करते हुए पूर्ण निःस्वार्थ होकर मुक्त हो जाता है; क्योंकि उसके सब कर्म भगवदर्थ होने लगते हैं। उसका निजत्व शून्य हो जाता है, सत्के साथ मानो एकाकार हो जाता है। ऐसी स्थितिमें जब कोई कर्म-संस्कार शेष ही नहीं रहता है, कोई तृष्णा शेष ही नहीं रहती है, कोई इच्छा पूर्ण होनेसे बची ही नहीं रहती है, तब मरनेके बाद पुनः जन्म हो ही क्यों, किस कारण और किसका।

अतएव निष्काम कर्म वह निश्चित निर्विवाद साधना है, जिसके द्वारा मनुष्य मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्रका कल्याण करते हुए संसारसे प्राप्त सामग्रियोंको संसारकी सेवामें, उपभोगमें लगाते हुए, ईश्वरप्रदत्त शक्तियों, इन्द्रियों, साधनोंको ईश्वरके लिये समर्पित करते हुए, सब बन्धनोंसे मुक्त होते हुए मोक्ष—जीवनका परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लेता है।

कर्मयोग और क्रियायोग

(लेखक—राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

प्राणी कर्मशील है[1]। प्रायः वह कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। स्वयम्भू प्रभुने जीवनकी इन्द्रियोंको पराक् अर्थात् बहिर्गमी बना दिया है[2], इसलिये प्रायः प्रत्येक मानव अपनी श्रोत्रादि इन्द्रियोंके माध्यमसे बाह्य प्रपञ्चके शब्दादि विषयोंका अनुभव करता रहता है। विषयोंका चिन्तन उनमें आसक्ति उत्पन्न कर देता है। प्राकृतिक जगत्में वस्तु-स्थिति ऐसी ही है[3]। प्रकृतिका कोई गुण ऐसा नहीं है, जो अपनेमें आसक्ति उत्पन्न करके जीवके बन्धनका कारण न होता हो। सत्त्वगुण सुख और ज्ञानमें, रजोगुण तृष्णा और कार्य-प्राचुर्यमें तथा तमोगुण निद्रा, प्रमाद और आलस्यमें आसक्ति उत्पन्नकर मानवको बन्धनमें डालकर पुनर्जन्मके चक्रमें घुमाता रहता है[4]। संसारके विषय-भोगोंमें आनन्द माननेवाले मानव प्रवृत्तिमार्गी हैं। वे त्रिगुणमयी संसृति-सरितामें मज्जनोन्मज्जन करते रहते हैं। विश्वमें ऐसे ही प्राणियोंकी संख्या अधिक है। सहस्रोंमेंसे कोई एक ऐसा होता है, जिसके हृदयमें मोक्षकी इच्छाका उदय होता हो[5]। जब कोई श्रीभगवान्के—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(गीता ३।९)

इस वचनका पाठ करता या गुरु-मुखसे इसकी व्याख्या सुनता है कि यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु-भगवान्के[6] लिये किये हुए कर्म बन्धनका कारण नहीं होते हैं, तब लौकिक विषयोंमें आसक्तिका परित्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने लगता है। भगवान्के लिये किया हुआ कर्म न केवल भव-पाशमें नहीं डालता, अपितु प्राचीन दृढतम पाश-जालको काट भी डालता है। निवृत्तिमार्गी व्यक्ति केवल लोकसंग्रहके लिये कर्म करता है[7]। उस कर्ममें वह प्रवृत्ति-मार्गीके समान आसक्त नहीं होता, अपितु उसे सुचारुरूपसे सम्पादन करके श्रीकृष्णार्पण कर देता है। ऐसा कर्म भुने हुए बीजके समान फल देनेमें असमर्थ रहता है। यज्ञार्थ कर्मके सर्वोत्कृष्ट रूपको श्रीभगवान्ने गीता (९।३४) में इस प्रकार बताया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मन लगाकर, मुझे परमोत्तम प्राप्तव्य तत्त्व समझते हुए मेरा भजन करो, मेरा यजन करो और मुझे नमन करो। इस प्रकार भजन-यजन-नमनरूपी योगसे तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे।' इस योगके विषयमें शिक्षा देनेके लिये ज्ञाननिष्ठ उद्धवजीने श्रीभगवान् वासुदेवसे प्रार्थना की थी—

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।…
एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम्।
(श्रीमद्भा० ११।२७।१,५)

'प्रभो! उस क्रियायोगका आप मुझे उपदेश दीजिये, जिसके द्वारा आपकी आराधना होती है। पुण्डरीकाक्ष! निष्कामभावसे सम्पादित यह योग कर्मके बन्धनसे मुक्ति दिलानेवाला है।' श्रीभगवान्ने इस सम्बन्धमें जो सविस्तार परम रोचक उपदेश दिया था, वह भागवतके उक्त प्रसङ्गमें ही द्रष्टव्य है। कर्मयोगके चूडान्तरूप इस क्रियायोगसे प्रसन्न हुए श्रीभगवान् साधककी इहलौकिक एवं आमुष्मिक कामनाओंकी पूर्ति कर देते हैं। भगवान्के श्रीमुखकी यह वाणी है—

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥
(श्रीमद्भा० ११।२७।४९)

१—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३।५) २—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। (कठोपनिषद् २।१।१) ३—ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। (गीता २।६२) ४—तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्………………।(गीता १४।६, ७, ८) ५—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। (गीता ७।३) ६—यज्ञो वै विष्णुः।(शतपथ-ब्राह्मण १।१।२।१३) ७—लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि। (गीता ३।२०)

निष्काम-कर्मयोगकी पृष्ठभूमि—गीताकी स्थितप्रज्ञता

छोड़कर जब मनके सब काम, मनुज होता है आत्माराम;
तुष्ट जो अपने आपमें ही, आप, वही है स्थितप्रज्ञ निष्पाप।
दुःखोंकी जिसे न हो परवाह, सुखोंकी करे न जो कुछ चाह;
रहे भय, राग, रोषसे दूर, वही है स्थितप्रज्ञ हे शूर!
कहीं जो करे न ममता-मोह, किसीसे प्रेम न जिसको द्रोह;
अशुभसे रुष्ट न शुभसे तुष्ट, उसीकी प्रज्ञा है परिपुष्ट।
समेटे अङ्ग कूर्म जैसे, खींच सब विषयोंसे वैसे;
इन्द्रियोंका जो करे निरोध, उसीको होता है स्थिर बोध।
अनाहारी या अवश अभुक्त, रहे चाहे विषयोंसे मुक्त;
परात्पर-दर्शन बिना परंतु छूटते नहीं राग-रस-तन्तु।
यत्नकारी बुध जनको भी, प्रमाथी इन्द्रियगण लोभी;
अचानक वशमें करते हैं, हृदय हठ-पूर्वक हरते हैं।
उन्हें वशमें कर साधनसे योगयुत मत्पर हो मनसे;
इन्द्रियाँ जिसके हुईं अधीन, उसीकी प्रज्ञा योगासीन।
विषय-सेवनसे विषयासक्ति, और बढ़ती है अति अनुरक्ति;
उसीसे काम, कामसे क्रोध, प्रकट होता है बिना विरोध।
क्रोधसे दारुण मोह-विकाश, उसीसे होता है स्मृतिनाश,
जहाँ स्मृति-नाश वहीं मतिभ्रष्ट, हुई मतिभ्रष्ट कि फिर सब नष्ट।
किंतु वश कर इन्द्रियाँ अशेष, विधेयात्मा गतरागद्वेष,
भोगकर भी विषयोंका स्वाद, प्राप्त करता है मनःप्रसाद।
प्राप्त होनेपर हृदयाह्लाद दूर होते हैं सभी विषाद।
जहाँ यों हुई हृदयकी शुद्धि, शीघ्र ही होती है, स्थिरबुद्धि।
अयुक्तोंमें वह बुद्धि कहाँ? कहाँ वह आस्तिक भाव वहाँ?
शान्ति कैसी उन भ्रान्तोंको? भला सुख कहाँ अशान्तोंको?
इन्द्रियोंके पीछे अश्रान्त, दौड़ता हुआ मनुज-मन भ्रान्त;
बुद्धिको हरता है पलमें, नावको वायु यथा जलमें।
इन्द्रियाँ इस कारण हे शूर! रहें विषयोंसे जिसकी दूर,
वही है स्थितप्रज्ञ जन धन्य, कौन उसका-सा सुकृती अन्य?
पूर्ण जलनिधिको ज्यों नद्-नीर, नहीं कर सकते कभी अधीर;
समाकर त्यों जिसमें सब भोग, प्रकट कर सकें न राग न रोग।
वही पाता है शान्ति यथार्थ, कामकामी न कभी हे पार्थ!
छोड़कर इच्छाएँ जो सर्व, तोड़कर अहंकार या गर्व।
विचरता निर्मम निस्पृह है, शान्तिका वह मानो गृह है;
यही है ब्राह्मी स्थिति, इसको प्राप्तकर मोह रहे किसको।
इसीसे अन्त समय स्वच्छन्द प्राप्त होता है ब्रह्मानन्द।

—राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त

कर्म-विवेचन (१)

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, 'सोम')

शुक्ल यजुर्वेद कर्मकाण्डका वेद है। उसका प्रथम मन्त्र ही कहता है—**'वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** सबके प्रेरक तथा उत्पादक प्रभु तुम्हें श्रेष्ठतम कर्ममें नियुक्त करें। मन्त्रकी भावना श्रेष्ठतम कार्य-सम्पादनमें निहित है। इसका तात्पर्य है—श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम कर्मोंकी ओर प्रवृत्त कराना और इसके विपरीत कर्मोंकी ओर न जाने देना। श्रेष्ठ कर्मकी संज्ञा यज्ञ है। यह सृष्टि यज्ञरूपा है। यज्ञके साथ ही सब प्रजा उत्पन्न हुई। अतः हम ऐसे कर्म करें जिन्हें यज्ञकी संज्ञा दी जा सके; अर्थात् जो लोकवेद—उभयसे श्रेष्ठ मान्य हो।

यज्ञकर्ममें दान, संगतिकरण और पूजाकी भावनाएँ हैं[1]। अतः मानवके कर्म इन्हीं तीन भावोंसे भावित हों। हम दानी बनें, कृपण नहीं। हम देवोंकी पूजा करें; बड़ों, पूज्योंका समादर करें। हम मेलसे रहें, एक दूसरेके साथ संगति करते हुए प्रेमभरित व्यवहार करते हुए चलें तथा द्वेष-ईर्ष्या-फूट हमसे पृथक् रहें। हम सम्माननीयोंका सम्मान करें और छोटोंपर दया करें। सबसे बड़ा ब्रह्म है। हम ब्रह्मकी उपासना करें, प्रतिदिन संधिवेलामें प्रातः तथा सायं भगवान्‌का भजन करें। हम सब उसीकी संतान हैं। पुत्र पिताका अनुकरण करता है। हम भी भगवान्‌का अनुकरण करें; उसके गुणोंको, तेजको, अपने जीवनमें धारण करें, उसीका ध्यान करें। यज्ञ-कर्मके ये तीन भाग अपरित्याज्य होने चाहिये। इनके अनुकूल आचरण करते हुए हम श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम कर्मोंका सम्पादन कर सकेंगे। यजनशील व्यक्तिमें यज्ञके दान एवं दीप्ति—दोनों गुण आ जाते हैं।

वेदका संदेश मानव-मात्रको सृष्टिके आदिकालमें ही मिल गया था। देव, ऋषि, पितर—इस संदेशके आधारपर ही स्वर्गलोकके अधिकारी बने और अपने जीवनादर्शको हम सबके लिये इतिहासमें छोड़ गये। पूर्वजोंने उनके अनुकरणपर बड़े-बड़े यज्ञ किये और इस वसुधाको, कम-से-कम आर्यावर्त या भारतवर्षको तो स्वर्गके सदृश बना ही दिया था। सत्कर्मोंकी जो परम्परा प्रचलित हुई उसने आर्य-नरेशोंको चक्रवर्ती सम्राट्‌के पदपर प्रतिष्ठित किया और ज्ञानधनी विप्रोंने पृथ्वीके सभी देशोंको अपने भ्रमण तथा उपदेशोंद्वारा चरित्रसे सम्पन्न किया। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**का पुनीत पाठ पढ़कर हम सब इस धरणीके निवासी भाई-भाईकी तरह प्रेम-पूर्वक, सुख-सवलित जीवन-यापन करने लगे।

फिर भी मानव त्रिगुणोपेत होनेके कारण कभी देवत्वमें तो कभी दानवतामें भी प्रवेश कर जाता है। दैवी सम्पदाका स्थान आसुरी सम्पदा ग्रहण कर लेती है। सत्त्वपर रज और तमका दबदबा हो जानेसे यज्ञका ऊर्ध्वभाव अपदस्थ हो जाता है। यज्ञका रूप परिवर्तित होकर तामसियोंके दुष्काम्य-कर्मोंके रूपमें आ जाता है। कुछ देशों, कुछ जातियों और कुछ कालोंमें दुष्काम्य-कर्मोंका बोलबालाका होना उक्त तथ्यका ही द्योतक था।

सत्त्वमें समत्व है। जो कर्म हमें क्लेश देता है, वह दूसरोंके लिये भी क्लेशकारी सिद्ध होगा। अतः हम आत्मौपम्य-दृष्टिसे व्यवहार करें। हम दुःखसे बचना चाहते हैं तो दूसरे भी यही चाहते हैं। फिर हम ऐसे कर्म क्यों करें, जो अन्योंके लिये अनिष्टकर हों।

समत्वकी यह भावना वेदसे चलकर भागवतोंको प्राप्त हुई। श्रीमद्भागवत (१२।२।४५)का कथन है—

१—'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु'।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मनि एष भागवतोत्तमः॥

यजुर्वेद–(४०–५)ने इससे बहुत पूर्व यही बात सिद्धान्तरूपमें कह दी थी—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

इसी सत्त्व तथा आत्मौपम्यके आधारपर मानवताका विकास सम्भव है, निर्वैरता इसी स्थितिमें आती है। गीता (११-५५) कहती है—

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

आर्यजनोंका स्वभाव ही ऐसा था। उन्हें अनार्यत्वसे वैर था, पर जब उनका अनार्यत्व समाप्त हो गया और वे आर्य बन गये, तब वैर किनका और किनसे। यही नहीं, युद्धमें वैरका रूप दिखायी देता था, पर शत्रुके मरनेपर कौन किससे वैर करेगा। आर्यशील श्रीरामने विभीषणसे कहा था—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।

—वैर मृत्युतक ही रहता है। अतः रावणसे वैर उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया। अतः

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

—इसका अन्त्येष्टि-संस्कार करो; इस कर्ममें यह जैसा तेरा भाई है, वैसा ही मेरा भी।

आत्मौपम्य किसीके कर्तव्यपर आघात नहीं करता। अब गुण-कर्म-स्वभावके आधारपर कर्तव्य कर्मोंमें भेद हो जाता है। नापितका कर्म सूचीकारके कर्मसे भिन्न है। रंगरेज और रजकके कर्म एक-जैसे नहीं हैं। चर्मकार, जुलाहा, तेली, बढ़ई, स्वर्णकार आदि सब अपने-अपने कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं। इस भिन्नताके होते हुए भी सत्त्व कहता है कि यदि सब अपना-अपना काम करते हुए भगवदर्पण-बुद्धि बनाये रखें तो सब सद्गति प्राप्त कर सकते हैं। गीता–(१८। ४६)के शब्दोंमें—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

स्वकर्मका तात्पर्य अपना करणीय कर्म है। यदि सब अपना-अपना कर्तव्यपालन करते हुए परलोकपर दृष्टि रखें, कर्मफलकी ओर ध्यान न ले जाकर भगवान्‌की ओर मन लगाये रहें तो वह कर्म प्रभु-समर्पित होकर मोक्षका कारण बन सकता है। इसे आप कर्म, ज्ञान एवं भक्तिके समन्वयका नाम भी दे सकते हैं। कर्मयोगमें इनका सुन्दर दर्शन होता है।

यजुर्वेदने विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूतिके समन्वयकी प्रशंसा की है और कहा है कि जो इन दोनोंको साथ लेकर चलता है, वह एकसे भवसागरको पार करता है और दूसरीसे अमृत प्राप्त करता है। हमारे ऋषियोंका यह कथन भी है कि विप्र योग-याग-द्वारा सूर्यमण्डलको भेदकर जिस स्वर्गमें पहुँचता है, उसीमें वह क्षत्रिय भी पहुँचता है, जो रणभूमिमें शत्रुके सम्मुख युद्ध करता हुआ मारा जाता है। यह स्वकर्तव्य-पालनकी ही महिमा है। तुलाधार वैश्य और व्याधके उदाहरण भी महर्षि व्यासने इसी प्रसङ्गमें महाभारतमें दिये हैं।

कर्म कर्मके लिये, कर्तव्य कर्तव्यके लिये निरन्तर करते रहो—**'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'** अर्थात्—कर्म करते हुए जो थक नहीं जाता उसे देवोंकी मैत्री प्राप्त नहीं होती, ऐसा वेद-वचन है। उपनिषद्वाक्य भी है—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'**—कर्तव्यका पालन करते हुए सौ वर्ष जीनेकी कामना करो। आर्यशील कर्तव्यका आचरण करता है, अकर्तव्यका नहीं। यदि कर्तव्य केवल कर्तव्य समझकर ही किया गया तो वह तुम्हे अपनेमें लिप्त नहीं कर सकेगा। यही कर्मके प्रति अनासक्त भावना है। वेदसे लेकर गीतातक सभी शास्त्रों एवं स्मृतियोंमें इस भावनाको प्रशस्य माना है। **(न कर्म लिप्यते नरे।)**

(२)

भगवद्गीतामे कर्म-अकर्म, विकर्म-सुकर्म-दुष्कर्म आदि शब्दोंको पढ-सुनकर मनुष्य सोचने लगता है कि कर्मके इतने भेद कैसे हो गये। अकर्म-विकर्म, सुकर्म और दुष्कर्मोंके लक्षणोंका निर्णय कैसे किया जाय? एक ही कर्मको एक परिस्थितिमें करणीय और दूसरी परिस्थितिमें अकरणीय माना गया है; ऐसा क्यो? सत्य धर्म है, पर उसके विपरीत किसीकी प्राणरक्षाके लिये असत्य बोलनेको भी कार्यकर्म माना गया है। यज्ञ श्रेष्ठ कर्म हैं। उनकी रक्षा करनी चाहिये, पर रामायणमें मेघनादके यज्ञकर्मको विध्वंस कर देना ही धर्म माना गया। मीमांसा आदिमे इस प्रकारकी अन्य भी कई कोटियॉ मिलती हैं। 'इनमें कौन-सा वाक्य धर्मसम्मत है' इस प्रकारकी जिज्ञासाएँ एक सामान्य मानवको असमञ्जसमें डाल देती हैं। वह सोचने लगता है कि किस परिस्थितिविशेष-धर्मका निर्णय कौन किस प्रकार करेगा। धर्म देश-कालसे भी ऊपर एक शाश्वत सत्य है, जैसा कि महाभारतके ही कई श्लोकोंमे कहा गया है—

> **न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्**
> **धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः।**
> **धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये**
> **जीवो नित्यः हेतुरस्य त्वनित्यः॥**
> (भारतसावित्री)

काम, भय या लोभके वशीभूत होकर तथा जीवन-रक्षाके लिये भी मनुष्यको धर्मका परित्याग नही करना चाहिये। धर्म नित्य है, जीव भी नित्य है, परंतु सुख-दुःख तथा माया अनित्य हैं। अश्वमेधयज्ञ सहस्रो किये जायँ, तब भी वे सत्यके समान नहीं हो सकते—**अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते।** जो मनुष्य वाणीकी चोरी करता है, अर्थात् शब्दद्वारा सत्यका अपलाप करता है, वह सभी प्रकारके चोरीके कर्म करनेवाला है। **'स सर्वस्तेयकृन्नरः'** ऐसे परस्परविरोधी वचन सामान्य व्यक्तिको ही नहीं, बड़े-से-बड़े कवियो, क्रान्तदर्शी विपश्चितोंको भी अनिर्णयकी दशामें पहुँचा देते हैं—**'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'** (गीता ४। १६)। तथा **'गहना कर्मणो गतिः'** उक्तियॉ ऐसी ही अनिर्णीत अवस्थाके लिये कही गयी हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्के ऋषि ऐसी विचिकित्सा या सन्दिग्धावस्थामें उन अरूप, कोमलहृदय, समदर्शी, विचारशील, तपःश्रद्धासे संवलित धर्मिष्ठोंकी ओर सकेत करते हुए कहते है कि यदि तुम कर्मके सम्बन्धमें संशयालु हो तो उठो ऐसे धर्मिष्ठ वेदपरायण महापुरुषोंकी ओर अपनी दृष्टि ले जाओ। वे ऐसी स्थितिमे जैसा व्यवहार करते है, वैसा ही तुम भी करो। संशयके उच्छेदक तथा सत्कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले ऐसे ही पुरुषोंके आचार हैं। महाभारतके यक्ष-युधिष्ठिर-संवादमे भी ऐसा ही कहा गया है—

'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' (महा० ३। ३१५। ५८)।

विज्ञानेश्वरने भी 'याज्ञवल्य' ३। २१ पर इस प्रसङ्गमें बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। मनुने जीवनको निःसंशय तथा निरापदरूपसे व्यतीत करनेके लिये ही चातुर्वर्ण्य एवं आश्रम-व्यवस्थाको प्रसिद्ध किया था। चारों वर्णोंके पुरुष आश्रमधर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करने लगें तो—प्रायः कर्म विचिकित्साका अवसर ही उपस्थित न हो। कालिदासने रघुवंश (१। ८)में सूर्यवंशी राजाओंके सम्बन्धमें कहा है—

> **शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।**
> **वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥**

'बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास, यौवनमें गृहस्थता—संतानोत्पत्ति, राज्यरक्षण तथा बुढ़ापेमें मुनिवृत्ति (वानप्रस्थ) धारणकर सूर्यवंशी क्षत्रिय राजागण योगद्वारा अन्तमें शरीरका परित्याग करते थे। यहाँ कविने सूर्यवंशी क्षत्रियोंको

मुनिवृत्तिमें तो प्रवेश कराया है, पर संन्यास लेनेके लिये नहीं कहा; क्योंकि सभी शास्त्रोंमें क्षत्रियोंके लिये पूर्व तीन आश्रम ही निर्दिष्ट है । श्रमजीवी तथा व्यापारी वैश्य शास्त्रानुसार गृहस्थाश्रमतक ही सीमित रहते हैं, वे वानप्रस्थाश्रम भी ग्रहण नहीं करते । यही शास्त्रका आदेश है । क्षत्रिय अपने पुत्रको गृहस्थका भार सौंपकर त्यागवृत्तिको सुगमतासे अपना लेता है; क्योंकि उसे धन, पद तो क्या, तनतकका मोह नहीं रहता । प्राणोंको हथेलीपर रखे रहना उसके जीवन-क्रमका अङ्ग होता है । अतः वानप्रस्थकी मुनिवृत्ति उसे सहजसङ्गिनी जान पड़ती है । वानप्रस्थसे भी ऊपर संन्यास है । संन्यासी क्षत्रिय तो यशोऽभिलाषासे भी ऊपर उठ जाता है । क्षत्रिय मुनिवृत्तिमें भी अपने लिये जीता है, पर ब्राह्मण अपने लिये नहीं, सबके लिये है । ब्राह्मवृत्ति सर्वमय होती है । इसी हेतु ब्राह्मण-संन्यासी परिव्राजक कहलाता है । ऐसा समस्त व्यक्तित्व सारे विश्वको अपना समझकर सर्वत्र विचरण करता है और सबको सदाचारका क्रियात्मक उपदेश देकर वैदिक संस्कृतिका प्रचार करता है । वर्ण और आश्रमकी यह व्यवस्था जीवनको उत्कर्ष प्रदान करती है और संशयोका निवारण करती हुई सबके लिये जीवन-पथको प्रशस्त करती है ।

धर्म, सदाचार या नीतिपर आधारित वर्ण और आश्रमकी मर्यादा कर्ममार्गके क्रमको व्यवस्थित कर देती है तथा संशयके लिये कोई स्थान ही नहीं रहने देती । भगवान् व्यासजीका आदेश है—

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना ।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मने ॥

(महाभारत, शा० १६७ । ९)

इसलिये संयमीको धर्मप्रधान—धर्ममय जीवनवाला होना चाहिये और उसे सभी प्राणियोंसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिये, जैसा वह अपने लिये करता है । धर्मप्रधान प्राणी सभी प्राणियोका हितू होता है ।

गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ निर्धारित हैं । संध्या या ऋषितर्पण ब्रह्मयज्ञ है । स्वाध्यायद्वारा ऋषि-ऋणसे उऋण होना है । संध्या, भक्ति या उपासनासे परम ऋषि प्रभुके सांनिध्यमें पहुँचना है । अग्निहोत्र देव-ऋणसे मुक्ति देता है । पितृयज्ञ माता-पिता, पितामह आदिके ऋणको उतारनेका साधन है । बलिवैश्वदेव गो-आदि पशु तथा पक्षी, कृमि आदि प्राणधारियोंकी सहायता करना सिखलाता है । अतिथियज्ञ द्वारपर आये साधु-सन्तको भोजनसे तृप्त करना है । इस प्रकार गृहस्थपर जितना भी व्यक्तिगत, सामाजिक तथा सार्वभौम भार है, वह पञ्च यज्ञोंद्वारा दूर हो जाता है । आश्रम-व्यवस्था जीवन-विकासकी ऊर्ध्वशिखातक पहुँचा देती है । आश्रम-व्यवस्थाकी उपादेयता अत्यन्त आदरणीय है ।

कार्य, कर्म—वे करणीय कर्तव्य हैं—जिनका अवधारण वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था करती रही है । कर्म करते हुए मनोवृत्तिको ब्रह्ममय बना लिया जाय, जो कुछ किया जा रहा है, वह भगवदर्पणभावसे समन्वित हो, तो कर्मका प्रभाव, उसका परिणाम निःश्रेयसप्रद होगा । हम अभ्युदयमें लगें, पर श्रेयको प्रेमके शिरपर रखे रहें, तो ऐहिक तथा आमुष्मिक (पारलौकिक) दोनों क्षेत्रोंमें सफल होंगे । केवल प्रेयमें फँसे रहना मनुष्यजीवनका नितान्त दुरुपयोग है ।

कर्ममें काया, वाणी तथा मन—तीनोंका योग रहता है । यदि हमारे शरीर, वाणी और मन पवित्र रहे तो कर्म भी पावन सिद्ध होंगे । यह पावनता सत्की देन है । राजस एवं तामस अंश सत्के सामने दब जाते हैं और उसके वशवर्ती होकर विचरण करते हैं । कर्म-मीमांसामें सत्का ध्यान इसीलिये सर्वोपरि है । सत्को वेदने दैवी द्वार कहा है । यह द्वार मूलसे संधि कराकर ब्रह्म सामीप्यद्वारा सायुज्यकी सिद्धि प्रदान करता है ।

*

ज्ञानयोग और कर्मयोग

(लेखक—श्रीबाबूरामजी द्विवेदी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृत वाङ्मयका एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न (शास्त्र) है । इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्मका समन्वय द्रष्टव्य है । भगवान् श्रीकृष्णसे अर्जुनने शङ्का की कि 'यदि कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है तो मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं; इनमेंसे एक ही बात निश्चय करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ' (गीता ३ । १-२) इसपर श्रीभगवान्‌ने कहा कि अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठाएँ मेरे द्वारा पहले कही गयी हैं[1] । ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे ।

मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा सम्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेका नाम ज्ञानयोग[2] है, इसीको संन्यास, सांख्ययोग एवं ज्ञान-निष्ठा कहते हैं ।

'कर्म' शब्द 'कृ' धातुसे बना है, इसका अर्थ है—करना, व्यापार, हलचल । 'कर्म'के साथ योग (युज्+घञ्=दो वस्तुओं या ईश्वर एवं जीवको एकमें मिलनेका यहाँ नामयोग है—**'संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्म-परमात्मनोः'**[3]—फल और तन्मूलक आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल समत्वबुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है; इसीको बुद्धियोग, समत्वयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म भी कहते हैं ।

निष्ठा शब्दका अर्थ वह मार्ग, रीति, प्रणाली या पद्धति है, जिसपर चलनेसे अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति होती है । गीतोक्त 'निष्ठा' साधनकी अन्तिम स्थिति अथवा मोक्ष-दशाकी परिचायिका है । ज्ञान-निष्ठाकी पूर्णावस्था ब्रह्मात्मैक्य स्थिति है और कर्मनिष्ठाकी अन्तिम अत्युत्तम अवस्था ही ब्राह्मी स्थिति है ।

गीतोक्त ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंसे मोक्ष-प्राप्ति

गीताके पञ्चम अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रश्न किया कि आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं । इन दोनोंमें जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक हो, उसको मुझसे कहें (५ । १) । श्रीकृष्णने यह कहकर उसकी शङ्काका समाधान किया कि 'कर्मोंका संन्यास और निष्काम कर्मयोग—दोनो ही परम कल्याणकारी हैं, परंतु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्याससे निष्काम कर्मयोग साधन-सुलभ होनेके कारण) श्रेष्ठ है[4] ।' संन्यास और निष्कामकर्म-योगको अज्ञानी अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन । दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित

१—लोकमान्यतिलकके मतानुसार पहले अर्थात् दूसरे अध्यायमें (गीता २ । ११-३० तक) साख्यनिष्ठाके अनुसार ज्ञानका (तत्पश्चात्, २ । ३९-५३ तक) कर्मयोगनिष्ठाका वर्णन किया गया है । देखिये—गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृष्ठ ६८० ।

२—ज्ञान—ज्ञा+भावे ल्युट्, ज्ञानयोग-ज्ञानमेव योगः, कौशलम्, ब्रह्मप्राप्त्युपायो वा । शब्दस्तोममहानिधि, पृष्ठ १८६ ।

३-शब्दस्तोममहानिधि, पृष्ठ ३५१ दक्षस्मृति ।

४—सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गीता ५ । २)

हुआ (पुरुष) दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है (५ । ४)।

इसके [illegible] भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, वही (निष्काम) कर्मयोगियोंद्वारा भी। अतः जो ज्ञानयोग और (निष्काम) कर्मयोगको (फलरूपसे) एक देखता है, वही यथार्थदर्शी है[1]। संन्यास (ज्ञानयोग) और निष्कामकर्मयोग दोनों भगवान्के स्वरूप (विभूतियाँ) हैं। श्रीमद्भागवतके उद्धवगीता-प्रसङ्ग-(विभूतियोग-)में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—'मै धर्मोंमें कर्म-संन्यास अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोको अभय-दानरूप सच्चा संन्यास (ज्ञानयोग) हूँ[2]।

निष्कामकर्मयोगको भी अपनी दिव्य विभूति बतलाते हुए भगवान्ने (श्रीमद्भागवत, १८ । ३२में) उद्धवसे कहा है कि 'मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम तथा भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग हूँ।'[3] 'भगवद्-विभूतियाँ भगवान्के अखण्ड अन्तर्यामित्व एवं व्यापकत्व—विभुत्वकी द्योतिका तथा तत्सांनिध्य-प्राप्तिकी साधिका हैं, अतः विभूतिरूपमें संन्यास और निष्कामकर्मयोग—दोनों अलग-अलग निश्चय ही भगवत्प्राप्तिके साधन हैं। ये दोनों स्वतन्त्र हैं।

हारीतस्मृतिमें ज्ञान-कर्मसमुच्चयके सम्बन्धमें उल्लेख मिलता है कि जैसे पक्षियोंकी गति दोनों पंखोंके योगसे होती है, वैसे ही ज्ञान और कर्म (दोनों) से शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है[4]। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान-कर्म-समुच्चय भी मान्य है। यजुर्वेदकी एक उक्तिके अनुसार जो मनुष्य विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) दोनोंको एक दूसरीके साथ जानता है, वह अविद्या (कर्मों)से मृत्यु अर्थात् नाशवन्त माया-सृष्टिके प्रपञ्चको (भलीभाँति) पारकर विद्या-(ब्रह्मज्ञान-)से अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है[5]।

विद्या और अविद्याका तात्त्विक स्वरूप यजुर्वेदके एक अन्य मन्त्रसे स्पष्ट होता है—'जो मनुष्य अविद्या अर्थात् अनित्यमें नित्य, अशुद्धमें शुद्ध, दुःखमें सुख और अनात्मा-शरीरादिमें आत्मबुद्धिका अभ्यास करके ज्ञानादि-गुण-रहित कारण-रूप परमात्मासे भिन्न जडवस्तुकी उपासना करते हैं, वे घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ते हैं; परंतु जो अपने आत्माको पण्डित माननेवाले **(विद्यायां रताः)**—शब्द-अर्थका ज्ञान रखनेवाले अवैदिक आचरणमें रमण करते हैं, वे उससे भी अधिक अज्ञानरूपी अन्धकारमें प्रवेश करते हैं[6]।

१—यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (गीता ५ । ५)

२—धर्माणामस्मि सन्यासः क्षेमाणामवहिर्मतिः। गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥
(श्रीमद्भागवत—उद्धवगीता ११ । १६ । २६)

३—ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम्। सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥

४—द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्मशाश्वतम् ॥
(हारीतस्मृति ७ । ११)

५—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
(यजु० ४० । १४)

६—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाꣳरताः ॥
(यजु० ४० । १२)

महात्मा नारायण स्वामीने 'वेदरहस्य'में उक्त भावको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो अविद्या=कर्मका (ज्ञानकी उपेक्षा करके) सेवन करते हैं, वे गहरे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्या=ज्ञानकी (कर्मकी उपेक्षा करके) उपासना करते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकारमें गिरते है।[3]

गीताका प्रतिपाद्य विषय

संन्यास-मार्गी—श्रीशङ्कराचार्य आदिके मतानुसार—

१–**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।** (ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं है)

२–**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।** (२ तै० उ० ३ । ८)

(मोक्षके लिये ज्ञानको छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं है।)

३–**कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।**
(महाभारत, शान्ति० ३४१ । ७)

४–**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**
(गीता ४ । ३८)

५–**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।**
(गीता ४ । ३९)

उपर्युक्त सिद्धान्तोंके आधारपर संन्यासमार्गी अनेक महर्षियों और विद्वानोंने श्रीमद्भगवद्गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञानयोग' सिद्ध किया है। गीतोक्त ज्ञानयोगके अनुसार सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा भी नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है।[1]

कर्म–(निष्कामकर्म–) योगी—लोकमान्य तिलकके मतानुसार—

१–**योगः कर्मसु कौशलम्** (गीता २ । ५०)

२–**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** (यजुर्वेद ४० । २)—इस संसारमें कर्मों (निष्कामकर्मों)को करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे।

३–**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
(गीता ३ । ८)

४–**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।**
(गीता ५ । २)

५–**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।**
(गीता ५ । ६)

उक्त भगवद्वचनोंके आधारपर गीताका प्रतिपाद्य विषय निष्कामकर्मयोग सिद्ध करते हुए कर्मयोगी पुरुष गीता (३ । ४)के तथ्यका प्रमाण देकर कहते हैं कि कर्मोंके आरम्भ न करनेसे नैष्कर्म्यावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती और कर्मोंके त्यागनेसे भगवत्प्राप्तिरूपी सिद्धि नहीं मिलती[2]।

श्रीमद्भगवद्गीताकी नवीनता, अलौकिकता अथच सार्वभौमिकता

गीता-धर्मकी अवतारणा महाभारत-युद्ध-कालमें उस समय हुई, जब अर्जुनको मोह हो गया था कि अपने ही सगे-सम्बन्धियोंसे मैं कैसे युद्ध करूँ। यदि सांख्य संन्यास या ज्ञानयोगके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें अर्जुनको आदेश दे दिया होता कि 'जाओ संन्यास ले लो, आततायी कौरवोंके अत्याचारोंको सहन करो, तब गीता भी उपनिषदोंकी सांख्य–(ज्ञान–) प्रधान परम्पराकी कड़ी बनकर रह जाती।

यदि व्यवहार-दर्शनकी प्रधानता, लोक-संग्रहात्मक भावोंकी सामान्योन्मुखताकी कसौटीपर गीता खरी उतरती है तो यही उसकी नवीनता और अलौकिकता है। ज्ञानके साथ भक्तिका मेल करके निष्काम-कर्म-

१–असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति ॥ (गीता १८ । ४९)

२–न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

३–वेदरहस्य-पृष्ठ १०७ । २ ।

योगका समर्थन गीताकी सबसे बड़ी विशेषता है। यही उसकी सार्वभौमिकता है[1]।

गीतामें लोक-संग्रह—

गीतामें वर्णित लोक-संग्रहमें व्यवहारदर्शनकी झलक मिलती है। **'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'** (३। २०) भगवान् कहते हैं—लोक-संग्रह-(विश्वके भरण-पोषण, सृष्टि-सञ्चालन-) की ओर दृष्टि रखकर भी तुझे कर्म करना ही उचित है।

गीता शांकरभाष्यमें इस पदकी व्याख्या इस प्रकार है—'लोकसंग्रह'—**लोकस्योन्मार्गप्रवृत्ति निवारणम्**[2]। अर्थात् लोककी मार्जनीय कुप्रवृत्ति-(कुमार्ग-) को रोकना ही लोकसंग्रह है। गीताके अध्याय दो श्लोक ११-३० तकमे सांख्ययोगका वर्णन है, परंतु अठारहवें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कर्तव्य-कर्म, क्षात्रधर्म, लोकसंग्रहविषयक समुचित शिक्षा दी है—'नाशरहित, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, अतः हे अर्जुन! तू युद्ध कर। ज्ञानयज्ञ नहीं, कर्मयज्ञ कर[3]।

गीताके निष्कामकर्मयोगका अन्य शास्त्रोंद्वारा समर्थन

श्रीमद्भगवद्गीताके पूर्ववर्ती ग्रन्थ यजुर्वेदकी आज्ञा है—'मनुष्य इस ससारमें धर्मयुक्त निष्कामकर्मोंको करता हुआ ही सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करे। इस कर्ममें प्रवृत्त व्यवहारों—(लोक-संग्रह-कर्म—) को चलानेवाले तुझ मनुष्यमें अधर्मयुक्त अवैदिक काम्यकर्म लिप्त नहीं होते[4]। अध्यात्मरामायणमें श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं कि कर्ममय संसारके प्रवाहमें पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकारके कर्तव्यकर्म करके भी अलिप्त रहता है[5]। महाभारत अश्वमेधपर्वमें कर्मयोगका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है;—जैसे 'जो ज्ञानी पुरुष श्रद्धासे फलाशा न रखकर कर्म—(निष्कामकर्म—) योगका अवलम्बन करके कर्म करते हैं, वे ही साधुदर्शी हैं अर्थात् सच्चे कर्मयोगी हैं[6]।

कठोपनिषद् (२। १९)के शांकरभाष्यमें कर्म-योगविषयक निम्नाङ्कित दृष्टान्त ध्यातव्य है—'पूर्ण ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष सब कर्म करके भी श्रीकृष्ण और जनकके समान निःस्पृह, अकर्ता-अलिप्त एवं सर्वदा मुक्त ही रहता है[7]। गीता (३। ११)में कर्मयज्ञका समन्वयात्मक रहस्य बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति करो, देवतालोग तुम सबकी उन्नति करेंगे। इस प्रकार पारस्परिक आदान-प्रदानद्वारा उन्नति करते हुए कल्याणको प्राप्त होओगे।

ऋग्वेदके एक मन्त्रसे भी इस गीतोक्तभावकी पुष्टि होती है—'मनुष्यो! तुम सब मिलकर चलो, एक भाषा बोलो, तुम सबके मन एक-जैसा ज्ञान रखनेवाले हों—जैसे पहले उत्तम ज्ञानी (व्यवहार-कुशल) विद्वान् अपना भाग, अपना कर्तव्य-पालन करते आये हैं[8]।

१—गीता-रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृष्ठ ३६१। २—गीता-शांकरभाष्य ३। २०।

३—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ (गीता २। १८)

४—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद ४०। २)

५—प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते। बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥ (अध्यात्म रामायण २। ४। ४२)

६—कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः। अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः॥ (म० आश्व० ५०। ६। ७)

७—विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता। अवलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥ (कठ० २। १९ शा० भा०मे उद्धृत स्मृति-वचन)

८—संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ (ऋग्वेद १०। १९१। २)

तत्त्वज्ञान और निष्काम कर्मयोग

(लेखक—श्रीकृष्णकान्तजी 'वज्र')

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥
(योगवा० १ । १४ । ११)

महर्षि वसिष्ठका कथन है कि जीवन या प्राणशक्ति—जिसे 'वैशेषिकदर्शनने'—**'त्वसद्विशिष्टानां लिङ्गम्'** सूत्रद्वारा संज्ञाकर्म और सांख्यने—**'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'** कहकर 'अध्यात्मवायु' या 'अन्तःकरण-क्रिया'की संज्ञा दी है—मानव, पशु-पक्षी आदि सबमें साधारणतया समान है। किंतु मनुष्यको मृगादि पशु-पक्षियोंसे विभक्तकर उच्च श्रेणीमें समासीन करनेवाली शक्ति मननात्मिका मानसिक प्रक्रिया है—**'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति'** जिसके विकसित होनेपर प्राणी 'मानव' कहलाता है। पुनः चित्तकी एकाग्रता और अमननकी अवस्था सिद्धावस्था प्रदान करती है। चित्तकी एकाग्रताके लिये प्रार्थना करते हुए साधक कहता है—

ॐ वि मे कर्णा पतयतो वि
चक्षुर्वी इदं ज्योतिः हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः
किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥
(ऋक्संहिता ६ । ९ । ६)

'परमात्मदेव ! मेरे दोनों कान इधर-उधर दूर-दूर जा रहे हैं, मेरे नेत्र भी इधर-उधर दौड़ रहे हैं, हृदयमें स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है, वह भी दूर भाग रही है। अति दूरस्थ विषयका ध्यान कर मेरा मन भी दूर-दूर भ्रमण कर भ्रान्त हो रहा है। ऐसी दशामें हे प्रभो ! मैं आपसे क्या कहूँ और मैं क्या मनन करूँ ? मेरी असमर्थताको देखते हुए आप ऐसी अपार कृपा कीजिये, जिससे मेरी चञ्चल इन्द्रियाँ समाहित हो जायँ।' ब्रह्माभ्याससे ही चित्तैकाग्र्य सिद्ध होता है। इस विषयमें उपनिषद्का—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥
(बृह० ४ । ४ । २१)

यह कथन प्रमाण है। पञ्चदशीकारने इसे स्पष्ट शब्दोंमें ब्रह्माभ्यास कहा है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकं परत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
(पञ्च० ७ । १०६)

'उस ब्रह्मका चिन्तन करना, उसीका कथन करना और परस्पर समझना तथा उसी एकमें लगे रहना ब्रह्माभ्यास है।' चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।
(पातञ्जलयोगदर्शन, समाधि० २)

इससे द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।
(वही समाधि० ३)

चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना धारणा है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (वही विभूति० १)

इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम ध्यान है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।
(वही विभूति० २)

इस भ्रान्तिरूप जगत्को मनका विभ्रममात्र, दृश्य, नश्वर और अलातचक्र (मशाल)के समान अति चञ्चल जानना चाहिये। यह एक ही विज्ञान नाना रूपसे भास रहा है। अतः गुणोंके परिणामसे हुआ यह तीन प्रकारका विकल्प मायामय ही है।

संकल्पमात्रकलनेन जगत्समग्रम् ।
(वराहोप० २ । ४५)

'यह सारा जगत् संकल्पमात्र है। यद्यपि यह सारा संसार मनोमय है, मनके ही कारण इसमें

बन्धन हुआ है, तथापि मनके द्वारा ही इस संसारसे निवृत्ति भी हो सकती है। कहा गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धनं विषयासक्तं मुक्त्यैनिर्विषयं मनः॥

(त्रिपुरातापिन्युप० ५। ३)

'मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है। विषयासक्त मनसे बन्धन तथा विषयरहित मनसे मोक्ष होता है।' तथा—

मनसैव मनश्छित्वा पाशं परमबन्धनम्।
भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते॥

(महोपनिषद् ४। १०७)

'मनसे ही मनका पाशरूप बन्धन काटकर संसारसे आत्माको तारे और किसीके द्वारा वह तारा नहीं जा सकता। जिसका मन शान्त और पापरहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे योगीको सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हो जानेसे अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(गीता ६। २७)

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः...
सा काशिकाहं निजबोधरूपा। (काशीपञ्चक० १)

'मनकी निवृत्ति हो जानेपर परमशान्ति प्राप्त होती है।'

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।

(माण्डूक्यकारिका ३। ३१)

'मनके अमनीभाव (संकल्पशून्य) हो जानेपर द्वैत-दर्शन नहीं होता।'

मनसैवेदमाप्तव्यम्। (क० २। १। ११)

'मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है।'

यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत्परमं पदम्।

(पैङ्गलोप० ४। २१)

'जब उन्मनीभाव हो जाता है। तब परमपद प्राप्त होता है।'

संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।

(योगवा० उत्पत्ति०, महो० ५। ९३)

'सकल्पके क्षय हो जानेपर जब चित्त गल जाता है तब संसारकी भ्रान्ति-भावना नष्ट हो जाती है।' अभ्यास और वैराग्यसे ही मनका निरोध होता है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योग० समाधि० १२)

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईश० ६-७)

'जो सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है और सब भूतोंमें अपने आत्माको देखता है। वह किसीसे घृणा नहीं करता। जिस समय मनुष्य सब प्राणियोंमें आत्माको पहचानने लगता है, उस समय न मोह रहता है, न शोक। फिर वह स्वरूपमें स्थित हो कर्त्तापनके अभिमानसे दूर हो जाता है।' इसीलिये गोस्वामीजीने लिखा है—

कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।

श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायमें निर्दिष्ट है कि जो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न सिद्ध पुरुष है, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं। कामना या संकल्पके त्यागसे ही स्वरूपकी प्राप्ति होती है। कल्पनाके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् अहं-भावना (आत्माको देहमात्र मान लेने)की ही कल्पना करते हुए आत्माको आकाशके समान अपरिमित अनन्त और व्यापक मानकर परमात्माके वास्तविक रूपका निरन्तर चिन्तन करते हैं। यही तत्त्वज्ञ पुरुषोंके मनमें कल्पनाका या संकल्पका त्याग कहलाता है।'

तत्त्व-विचार—'मैं कौन हूँ और यह संसार नामक शेष मेरे निकट कैसे आ गया।' इस विषयमें न्यायपूर्वक किया गया अनुसंधान विचार कहलाता है। इस जगत्में

सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागकी बुद्धिसे सम्पन्न पुरुषोंको विचारके बिना उत्तम तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। विचारसे ही तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वका बोध कराते हुए भगवान्‌ने कहा है—'सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न भाव था न अभाव और न तो दोनोंका कारण अज्ञान। न स्थूल जगत् था न सूक्ष्म जगत् और न दोनोंका कारण प्रकृति। जहाँ यह सृष्टि नहीं है—वहाँ मैं ही मैं हूँ। और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और इस सृष्टिके न रहनेपर जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ' (भागवत २।९) 'शिवसंहिता'में स्पष्ट किया गया है कि जीव शिव या परमात्मासे भिन्न नहीं है। कहीं किसी वस्तुमें कोई भेद नहीं है और जो भेद प्रतीत होता है, वह भ्रम है। जो हुआ है और जो होगा, जो मूर्तिमान् है और जो अमूर्त्त है, वह सब परमात्मामें अज्ञानसे भासता है। श्रीमद्भागवतमें यह बात स्पष्ट कही गयी है कि एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन प्रकारसे कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(भा० १।२।११)

जिस प्रकार एक ही वस्तु दूध, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जानेपर भिन्न-भिन्न गुणोंवाला जान पड़ता है—जैसे नेत्रोंके द्वारा शुक्ल, रसनाके द्वारा मधुर इत्यादि, उसी प्रकार एक ही परमतत्त्व वस्तुतः अभिन्न होनेपर भी उपासनाके भेदसे विभिन्न रूपोंमें ग्रहण किया जाता है। उसकी प्रतीति ज्ञानीके प्रति ब्रह्मरूपसे, योगीके प्रति परमात्मारूपसे और भक्तके प्रति भगवद्रूपसे होती है। श्रीमद्भागवतके अनुसार श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। जिन भगवान्‌के नामोंका सकीर्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान्‌के चरणोंमें आत्मसमर्पण, उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंको शान्त कर देती है, उन परमतत्त्व-स्वरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ (श्रीमद्भा० १२।१३।२३)। भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मैं ही स्वयं सत्य तत्त्व हूँ। (श्रीमद्भा० ११।२८)

पाश्चात्य विद्वान् भी नश्वरताके बीच केवल एक सत्यका ही अस्तित्व मानते हैं। 'टेनिसन'के शब्दोंमें—

That God, which ever lives and loves,
One God, one Low, one Element,
And one far-off, divine event,
To which, the whole creation moves-

वही भगवान् चिरन्तन है, अमर है और सबको प्यार करता है। एक ही ईश्वर है। उसका एक महान् नियम, एक महान् तत्त्व है, उसीकी सुदूर दैवी घटनाकी ओर—चिरशान्तिकी ओर समूची रचना चली जा रही है।

A H Cotton नामक विद्वान्‌ने 'Has Science Discovered God?' नामक पुस्तकमें वैज्ञानिकोंके ईश्वर-विषयक विचारोंका संकलन किया है। उसमें Millikah Einstein, Oliver Lodge, Thompson, Syrad, Curtiss, Eddington, Jean Mather आदि प्रसिद्ध विज्ञान-विशारदोंके विचार दिये गये हैं। इनमेंसे प्रत्येकने अपने ढंगसे 'परमात्म-तत्त्वकी महिमा गायी है, उनके अनुसार जो सबसे ऊँचा एवं सबका समन्वय करनेवाला तत्त्व है और जिसके बिना अनन्तताके महत्त्वकी कल्पना भी असम्भव है।

परब्रह्म—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्ववेद १०।८।१)

परमात्मतत्त्वको यथार्थतः जान लेनेपर वासनाओंका जो उत्तम यानी अशेषरूपसे अभाव है, उसे ही सबमें समभावसे सत्तारूप मोक्षपद कहा गया है। ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके साथ विचार करके और अध्यात्मभावनासे शास्त्रोंको समझकर सत्ता-सामान्यमें जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठाको मुनिलोग परब्रह्म कहते हैं।

तत्त्वज्ञान—

सार-वस्तुका नाम ही तत्त्व है तथा आत्म और अनात्मके भेदको जान लेना ही ज्ञान है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवे स्कन्धमें कहा गया है कि जिसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें पुरुषप्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र-रूप नौ तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच भूत और तीन गुण—इन अट्ठाईस तत्त्वों और उनमें अधिष्ठानरूपसे अनुगत एक आत्मतत्त्वका भी साक्षात्कार किया जाता है, वही मेरा निश्चित ज्ञान है तथा जब उस एक ही आत्मतत्त्वका निरन्तर अपरोक्ष अनुभव होता रहता है और उसके अतिरिक्त त्रिगुणमय भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि दिखलायी नहीं पड़ते, तब ज्ञानकी इस प्रगाढ अनुभूतिको ही विज्ञान (तत्त्वज्ञान) कहते हैं। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये वैदिक कालसे ही यह प्रार्थना चली आ रही है—

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

(तैत्ति० शीक्षावल्लीका शान्तिपाठ। यह मन्त्र अंशतः शु० यजु० ३६।९, ऋग्वेद १।९०।९, अथर्ववेद १९।९।६ में भी मिलता है।)

'हे सर्वशक्तिमान्! सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। अतः मै आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्मके नामसे पुकारूँगा। मैं ऋत नामसे भी आपको पुकारूँगा; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके आप ही अधिष्ठाता हैं। तथा मै आपको 'सत्य'के नामसे पुकारूँगा, क्योंकि सत्यके अधिष्ठातृदेव आप ही हैं····।'

इस जगत्में आदि और अन्तसे रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है। इस प्रकारका जो दृढ़ निश्चय है उसी निश्चयको महात्मागण सम्यक् ज्ञान यानी परमात्माका स्वरूप अर्थात् ज्ञान कहते हैं। यह सब जगत् परमात्मा ही है ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्ण तत्त्वको प्राप्त हो जाय यह यथार्थ आत्मदर्शन है। उस परमात्मासे भिन्न न तो दृश्य जगत् है और न ही मन है। ब्रह्म ही दृश्य बनकर चेष्टा कर रहा है, ऐसा विचारकर तत्त्वज्ञानीके चित्तमें जगत्की स्थिति और स्फुरणा प्रकाशस्वरूप ही भासती है, क्योंकि बोध हो जानेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें निःसंदेह न तो अहंकार रह जाता है और न ही जगत्की स्थिति रहती है। इसलिये कहा गया है— दृश्य शोभाके पारदर्शी ज्ञानी पुरुष परादृष्टि (तत्त्वज्ञान)को प्राप्त कर चुके है। उन्हें इस विस्तृत दृश्य-प्रपञ्चके विद्यमान होनेपर भी इसका भान नहीं होता। वे सबको परब्रह्म ही समझते हैं। जो परदृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं, दृश्य-प्रपञ्चका भान न होनेके कारण उनकी चेष्टा भी वास्तविक चेष्टा नहीं होती। ऐसे तत्त्वज्ञानीके पराभवमें देवता भी असमर्थ होते हैं; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।

कर्म—

वेदान्तकी दृष्टिसे कर्मका प्रवाह अनादि है। जबतक प्राणी जीवित है, उसे कर्म करना पड़ता है। वह पूर्णतया कर्मोंको छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज और तम सबसे बलपूर्वक कुछ-न-कुछ कर्म कराते रहते हैं। सुनना, देखना, चखना, सूँघना, स्पर्श करना, चलना, विचारना, संकल्प और निश्चय करना आदि सब कायिक, वाचिक, मानसिक और बौद्धिक चेष्टाएँ कर्मके अन्तर्गत हैं। पर ब्रह्मदृष्टिसे कर्मका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड़ और चेतन उभयरूप होनेपर भी हो सकते हैं। जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो सकते हैं, अतः वह विकारयुक्त

होनेके कारण जड़ होनी चाहिये और हिताहित ज्ञान रखनेके कारण चेतन । किंतु देह तो अचेतन है और उसमे पक्षीकी तरह निवास करनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है । इस प्रकार कर्मोंका कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता ।

मनुष्य निष्कामभावसे अपने कर्तव्यकर्मोंको करता रहे तो वे (कर्म) भूने हुए या उबाले हुए बीजोंके समान सुख-दु:खादि फल पैदा न कर सकेंगे और इस तरह बन्धन-शून्यता होनेके कारण वे मोक्षप्राप्तिमें बाधा भी न डाल सकेंगे । ये कर्म अकर्म हैं, अर्थात् फलप्रद नहीं हैं; क्योंकि अन्य कर्मोंकी तरह इनमें कर्तापन नहीं रहता । नित्य-नैमित्तिक कर्म जब निष्कामबुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जाते हैं, तब ये चित्तशुद्धि करके मोक्षप्राप्ति कराते हैं और इसी कारण उन्हें निष्कामकर्म कहते हैं । तत्त्वज्ञानी परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित जो कर्म करता है, वह भी मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल देनेवाले न होनेसे अकर्म ही है ।

उपसंहार—

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट होता है कि तत्त्वस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही इस संसारमें अपने वास्तविकरूपमें स्थित है । उन्हे सदा-सर्वदा समस्त जड़-चेतन पदार्थोंमें विराजमान जानकर उनके शरणागत हो अनन्यभावसे आत्मसमर्पण कर देनेके बाद भक्त अपना अस्तित्व समाप्त-कर प्रभुमय हो जाता है । उस समय उसके द्वारा कोई भी कार्य उसके द्वारा किया हुआ नहीं समझा जा सकता ।

जगत्में सत्य, आत्मा और ब्रह्मको छोड़ और कुछ भी नहीं है । ब्रह्म ही द्रष्टा बनकर दृश्यको देखते हैं । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी संज्ञाको नष्टकर जब साधक अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, उस समय उसके द्वारा जो कर्म होते है, वे भी आत्म या ब्रह्मरूप होनेके कारण कर्म नहीं कहलाते । भगवान् श्रीकृष्णद्वारा उद्धवको बतलाये हुए 'भागवतधर्म'के अनुसार सच्चा साधक यह जानकर कि मै जो कुछ कार्य कर रहा हूँ, वह भगवान्के लिये कर रहा हूँ और उनके करते समय प्रभुके नामोंका सदैव स्मरण करता हूँ । इससे कर्तापनके अभिमानसे दूर रहकर निष्कामभावसे वह जो कुछ करता है, साधकमें निष्कामकर्म ममताके अभावसे वे कभी बन्धनकारक नहीं होते । अतः मानव-जीवनकी सफलता तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और सदैव प्रभुहितार्थ ममत्व-विहीन-कर्तव्याभिमानसे रहित कार्य करने स्वरूपस्थिति एवं भगवन्नामस्मरणमें सन्निहित है ।

निष्कामकर्म और अध्यात्मवाद

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

कर्म प्राणीका स्वभाव है । कोई भी प्राणी कर्मके बिना जी नहीं सकता । जबतक कर्म है, तबतक जीवन है । जीवनकी हर प्रवृत्तिका सञ्चालन कर्मके द्वारा होता है । कर्मकी समाप्ति ही चैतन्य जीवनकी समाप्ति है । इसी दृष्टिसे भगवद्गीताका एक सिद्धान्त है— **'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो कभी निष्क्रिय रह सके । कर्म जीवकी सत्ताका प्रतीक है । कर्म छूटते ही प्राणीकी उस सत्ताका लोप हो जाता है, जिसमें वह अबतक कर्म करता रहा है ।

'जैनदर्शन' भी इसी सिद्धान्तको स्वीकारकर चलता है कि सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अयोग अवस्था-(अकर्म अवस्था-) को प्राप्त नहीं कर सकता । मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्ति हर क्षण चलती रहती है । स्थूल-प्रवृत्ति किसी क्षण रुक भी जाय तो भी सूक्ष्म प्रवृत्तिका निरोध नहीं होता । साधक कर्मसे छुटकारा

चाहता है; क्योंकि कर्म ही दुःखका सर्जक है। ऐसी स्थितिमें कौन-सा पथ प्रशस्त है, जो साधककी साधनाके लिए अनुकूल हो, जिस पथपर चलकर वह अपनी आत्माको परमात्माके पदतक पहुँचा सके?

गीतामें इस प्रश्नका समाधान निष्कामकर्म करनेकी प्रेरणा देकर किया गया है। जैन-शास्त्रोंमें इसके लिए दो उपाय सुझाए गये हैं—निरोध और संशोधन। निरोध, संवर, गुप्ति आदि शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। निरोधका अर्थ है रोकना। मनुष्य अपनी इस क्षमताको विकसित कर सम्पूर्ण क्रियाका निरोध कर ले। जबतक इस रूपमें क्षमताका विकास नहीं होता है, वह कम-से-कम अनावश्यक कर्मको छोड़ दे। आवश्यक और अनावश्यक कर्मोंमें एक निश्चित भेद-रेखाका होना बहुत जरूरी है; अन्यथा शक्तिका अपव्यय होता है और कर्मका कोई सुफल नहीं होता।

गहराईसे देखा जाय तो मनुष्यकी अधिकतर प्रवृत्तियाँ अनावश्यक होती हैं। प्रवृत्तिके अनेक रूप हैं—बोलना, चलना, खाना, सोना, हँसना आदि। इनमेंसे एक प्रवृत्तिपर ही विमर्श किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि अस्सी प्रतिशत क्रिया अनावश्यक होती है। इसकी जाँच करनेके लिए एक दिनका पूरा मौन करके निश्चित परिणाम निकाला जा सकता है। देखना यह चाहिये कि एक दिनके मौनमें अनिवार्य-रूपसे बोलनेका प्रसङ्ग कितनी बार उपस्थित होता है। कठिनाईसे दो-चार प्रसङ्ग ऐसे बनते होंगे, जहाँ बोले बिना काममें अवरोध आ जाता है। अधिकांश बोलना तो अभ्यासवश होता है। महात्मा गांधीने मौनको सर्वोत्तम भाषण बताते हुए कहा—'यदि तुम्हारा काम एक शब्द बोलनेसे चल सकता है तो तुम दो शब्द मत बोलो।' साइरसका अनुभव है कि 'मुझे मौन रहनेका पश्चात्ताप कभी नहीं हुआ, किंतु इस बातका पश्चात्ताप अनेक बार हुआ कि मैं क्यों बोला?'

बोलना समस्या है और मौन समाधान है। बोलनेवाला अनेक प्रकारकी उलझनें बढ़ाता है और मौन रहनेवाला प्राप्त उलझनको भी सुलझा लेता है। मौन रहना संभव ही न हो तो चिन्तन और विवेक-पूर्वक सीमित शब्दोंका सहारा लिया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य क्रियाओंमें भी अनावश्यकका निरोध साधनाकी दृष्टिसे निरापदमार्ग है। मन, वाणी और शरीरकी सारी अनपेक्षित प्रवृत्तियोंका निरोध होनेके बाद जो प्रवृत्ति बचेगी, उसमें निष्कामकर्मकी पुट लग सकती है।

आवश्यक और अनावश्यक कार्योंका सम्यक् अवबोध होनेके बाद अनावश्यक प्रवृत्तिका निरोध और आवश्यकमें संशोधन करनेवाला निष्कामकर्मकी दिशामें गति करता है। निष्कामका अर्थ है अनासक्त कर्म। काम छोटा हो या बड़ा, आवश्यक हो या अनावश्यक, आसक्तिका परिहार उस कर्मकी उपादेयताका मानदण्ड है। वह आसक्ति किसी भी फलका स्पर्श करनेवाली नहीं होनी चाहिये। इस संदर्भमें जैन आगमोंमें बहुत ही स्पष्ट दृष्टिकोण है। वहाँ साधकको यह सुझाया गया है कि वह अपनी तपःसाधना और आचार-साधनामें भी किसी प्रकारकी आशंसा (इच्छा) न जोड़े। आशंसाका परिहार होनेसे तपस्या और आचार दोनों समाधि बन जाते हैं। जहाँ भी इनमें किसी प्रकारकी आशंसा जुड़ी कि समाधि खण्डित हो जाती है। तपःसमाधिके चार प्रकारोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है—

१—इस लोकके निमित्त तप नहीं करना चाहिये।

२—परलोकके निमित्त तप नहीं करना चाहिये।

३—कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (यश)के लिये तप नहीं करना चाहिये।

४—निर्जरा आत्म-शुद्धिके अतिरिक्त किसी भी उद्देश्यसे तप नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार आचार-समाधिके भी चार प्रकार बताए गये हैं—

१—इस लोकके निमित्त आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

२—परलोकके निमित्त आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

३—कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोकके निमित्त आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

४—आर्हत हेतु—अर्हतोंद्वारा मोक्ष-साधनाके लिये उपदिष्ट हेतु (सवर और निर्जरा) के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्यसे आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

उक्त संदर्भमे गीताका निष्काम कर्म और भगवान् महावीरकी सकाम निर्जरा—दोनो समान महत्त्वके हैं। किसी भी कामनासे जुड़ी हुई कोई भी प्रवृत्ति सकाम निर्जरामें परिगणित नहीं होती। गीतामे—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**—तुम्हारा कर्म करनेका अधिकार है, पर फलाकाङ्क्षाका तुम्हे अधिकार नहीं है—कहकर श्रीकृष्णने व्यक्तिको कर्म करनेकी खुली छूट दी है। उसका वैशिष्ट्य यही है कि वह कर्म निष्काम हो। 'जैनदर्शन' निष्कामभावसे किये जानेपर भी अनपेक्षित कर्मको नियन्त्रित करनेका परामर्श देता है।

सामान्यत: लोगोंकी एक धारणा है कि मनुष्यको अकर्मण्य नहीं होना चाहिये। कुछ-न-कुछ करते रहना ही जिन्दगी है, जीवन है। जिस दिन कर्म छूट गया, उस दिन जीनेका उल्लास भी छूट गया। किंतु यह धारणा उन लोगोकी हो सकती है, जिन्होने अन्तर्मुखताका अभ्यास नहीं किया हो। इस मान्यताका समर्थन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जो ध्यानकी भूमिकासे गुजरे न हो। ध्यानसाधना व्यक्तिको अकर्म रहनेकी प्रेरणा देती है। मन, वाणी और शरीरकी स्थूल क्रियाओका निरोध ध्यानका प्रथम बिन्दु है। सूक्ष्म क्रियामात्रका निरोध ध्यानका अन्तिम बिन्दु है। इस स्थितिमें पहुँचनेवाला ही मोक्षको पा सकता है।

स्वयं भगवान् महावीर साढ़े बारह सालतक अकर्मकी साधनामे संलग्न रहे। उस अवधिमें उन्होने न किसीको उपदेश दिया, न प्रवचन किया। उस समय वे किसीके साथ बात करना भी नहीं चाहते थे। बहुत बार न बोलनेके कारण उन्हे कई प्रकारकी यातना सहनी पड़ी। वे सब कुछ सहते रहे, पर अनपेक्षित एक शब्द भी नहीं बोले। जब कभी वे बोलते, आत्मशोधनकी दृष्टिसे ही बोलते थे। वे अधिकांश ध्यानमें रहते थे। कई-कई दिनोतक निरन्तर ध्यानकी साधना करते थे। ध्यानकालमें चाहे मच्छर काटे, चाहे बिच्छू या साँप काटे; चाहे आगकी लपटे उनके शरीरको झुलस दे, वे एक क्षणके लिये भी प्रकम्पित नहीं हुए। साधारणतया ये बाते समझमें आने-जैसी नहीं है, फिर भी इनपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। निष्काम कर्मका इससे बढकर कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता। जिस कर्ममें अपनी दैहिक आसक्ति और परिकर्म भी छूट जाते हैं, वहाँ कोई कामना रह ही कैसे सकती है। वैसी अवस्थामें ही निष्कामता पुष्ट होती है।

निष्काम कर्मका परिणाम अध्यात्म है। अध्यात्मवादी व्यक्ति ही इस दृष्टिकोणको विकसित कर सकते हैं। भौतिकवादी व्यक्ति तो अनेक प्रकारकी कामनाओसे घिरा रहता है। उसकी एक कामना पूरी होती है, चार दूसरी उभर आती है। आज हमारे राष्ट्रिय संकटका भी सबसे बड़ा कारण यही है। यदि हमारे राष्ट्रनेता निष्काम कर्मकी दीक्षा स्वीकार कर ले तो अनेक समस्याएँ स्वयं समाहित हो सकती है। किंतु जबतक उनके चारो ओर कामनाओका जाल बिछा रहेगा, आकाङ्क्षाओंका विस्तार होता रहेगा तथा कर्मको सशोधित करनेका दृष्टिकोण निर्मित नहीं होगा, तबतक स्वस्थ राष्ट्रिय चेतनाके विकासकी कल्पनामात्र बनकर ही रह जायगी।

कर्मयोगका तत्त्व, महत्त्व और कर्मयोगीका स्वरूप-स्वभाव

[श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर]

(लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

योगका तात्पर्य है—'समता'—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २ । ४८) । परमात्मा भी 'सम' है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५ । १९) । अतएव योग, समता और परमात्मा—तीनों एक ही तत्त्व हैं ।

समताकी प्राप्ति संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है; क्योंकि संसार विषम है । इसलिये भगवान् गीता-(६ । २३-) में कहते हैं—

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।'

'दुःख-संयोगके वियोगको 'योग' नामसे जानना चाहिये ।'

संसार दुःखोंका घर है—'**दुःखालयम्**' (गीता ८ । १५) । अतः संसारसे सम्बन्ध होना ही 'दुःख-संयोग' है । इस दुःखरूप संसारसे वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर मनुष्य योगी हो जाता है और उसकी स्थिति समता या परमात्मतत्त्वमें हो जाती है ।

वास्तवमें जीव स्वरूपतः पहलेसे ही योग अथवा समतामें स्थित है । परंतु उसने भूलसे संसार-(विषमता-) से अपना सम्बन्ध मान लिया, जिसके कारण उसे अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी । अतएव संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक अपने स्वरूपकी स्मृति जगानेके लिये अहैतुक करुणावरुणालय भगवान्ने तीन योग-साधन बतलाये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग* । यहाँ केवल कर्मयोगपर विचार किया जा रहा है ।

कर्मयोगका तात्पर्य है—कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त करना । आसक्ति और कामनाको त्यागकर समत्व-बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मका आचरण 'कर्मयोग' कहलाता है । कर्मयोगमें 'कर्म' दूसरोंके लिये और 'योग' अपने लिये होता है । कर्मयोगी अपने लिये कभी कोई कर्म नहीं करता । परमात्मप्राप्ति 'कर्म'से नहीं, अपितु 'कर्मयोग'से होती है । 'कर्म'से रागकी वृद्धि होती है और 'कर्मयोग'से रागका नाश होता है । कर्म-योगमें सभी कर्म आसक्ति और कामनाको त्यागकर किये जाते हैं । आसक्ति और कामनाको त्यागकर किये गये कर्म कर्म होनेपर भी निष्प्राण निस्तत्त्व होनेसे 'अकर्म' बन जाते हैं, अर्थात् वे बन्धनकारक नहीं होते (गीता ४ । २०) । इसलिये कर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता (गीता ५ । ७) । वह आसक्ति और कामनासे रहित होकर कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त कर लेता है (गीता ३ । १९) । गीतामें प्रायः दो-चार नहीं सर्वत्र इसी भावनाकी धुनसक्ति दीखती है इसमें योग शब्द भी बहुधा कर्मयोगके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

कर्मयोगमें सर्वप्रथम निषिद्ध-कर्मों-(झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि-)का स्वरूपसे त्याग किया

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

श्रीभगवान् कहते हैं—'मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये मैंने इन तीन योगोंका उपदेश किया है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग । मनुष्यके कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।'

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ६)

जाता है; क्योंकि निषिद्ध कर्म मनुष्यको बलपूर्वक बाँधनेवाले होते हैं। शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको फलकी आसक्ति और कामनाका त्याग करके किया जाता है; क्योंकि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना अनुचित है (१८ । ६)। शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना राजस एवं तामस त्याग कहा गया है और कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करना सात्त्विक त्याग कहा गया है (१८ । ७–९)। श्रीभगवान्‌का कथन है—'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो (गीता २ । ४७)।'

कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये नहीं मानता। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, मकान, जमीन आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब मनुष्यको संसारसे ही (संसारमें जन्म लेनेपर) प्राप्त हुई हैं, और (मृत्यु आनेपर) संसारमें ही छूट जायँगी। मनुष्यके पास कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। संसारसे मिली हुई वस्तुओंको अपनी मानकर उनसे सुख लेनेसे मनुष्य बँधता है और उन्हे संसारकी ही सेवामे लगा देनेसे मनुष्य मुक्त होता है। शरीरादि वस्तुओको अपनी और अपने लिये माननेसे 'भोग' होता है, 'योग' नहीं रह जाता। इसलिये हमारे पास जो सामग्री है, उससे दूसरोकी सेवा कैसे हो? दूसरोंका हित कैसे हो? दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे?—यहींसे कर्मयोग प्रारम्भ होता है। कर्मयोगीकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही होती है। इस प्रकार संसारकी वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे संसारसे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और समता या परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

अन्तःकरणकी शुद्धि कर्मयोगसे ही होती है (गीता ५ । ११)। सांसारिक वस्तुओंको अपना मानना ही अन्तःकरणकी मूल अशुद्धि है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपने लिये अपनी न मानकर उसे दूसरोंके हितमें लगाता है। इसलिये उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और फलस्वरूप उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति भी अपने-आप (बिना किसी दूसरे साधनके) हो जाती है*।

कर्मयोगका मूल मन्त्र है—सेवा। जो कर्म अपने लिये किया जाय, वह 'भोग' और जो कर्म दूसरेके लिये किया जाय, वह 'सेवा' है। कर्मयोगी अपने लिये कुछ भी न करके निःस्वार्थ और निष्कामभावसे अपनी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके सुखके लिये ही करता है। उसके द्वारा दूसरोंको सुख मिल सके या न मिल सके, पर उसका भाव दूसरोंको सुख पहुँचानेका ही रहता है। सुख तो उन्हे ही मिलेगा, जिनके भाग्यमें सुख है, पर सुख देनेका भाव रखनेसे कर्मयोगीका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। कर्मयोगी स्वाभाविकरूपसे निरन्तर सबके हितमें रत रहता है। इसलिये उसे सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति हो जाती है;† क्योंकि जो दूसरोके हितमें लगा रहता है, उसका परम-हित भगवान् करते ही है।

कर्मयोगी कभी स्वप्नमे भी ऐसा विचार नहीं करता कि दूसरे बदलेमें मेरी सेवा करें, मेरी प्रशंसा एवं सम्मान करे, मेरा एहसान (उपकार) मानें

* तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
'काल पाकर उस तत्त्वज्ञानको कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ योग संसिद्ध पुरुष अपने-आप ही आत्मामे पा लेता है।' (गीता ४ । ३८)

† ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
'सम्पूर्ण प्राणियोके हितमे रत योगिजन मुझे ही प्राप्त कर लेते है।' (गीता १२ । ४)

इत्यादि। जो दूसरेसे सुख, सेवा, सम्मान या अन्य किसी लाभको पानेकी आशासे दूसरेकी सेवा करता है, वह भोगी होता है, योगी नहीं होता। सेवा करनेकी वस्तु है, करवानेकी नहीं। एक व्यापारी शीतकालमें सैकड़ों कम्बल बेच देता है, और उन कम्बलोंसे लोगोंको सुख भी मिलता है; परंतु इसे व्यापार ही कहा जायगा, सेवा नहीं; क्योंकि व्यापारी बदलेमें धन कमानेके उद्देश्यसे ही कम्बल बेचता है। सेवामें भावका विशेष महत्त्व होता है, क्रियाका कम।

कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी न मानकर उसीकी मानता है, जिसकी वह सेवा करता है। इसलिये वह दूसरेकी सेवा करनेमें अपना कोई एहसान नहीं मानता, अपितु वह यह मानता है कि संसारसे ली हुई वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देना अपना ऋण उतारना है, किसीपर कोई एहसान करना नहीं।

सेवाके विषयमें लोगोंकी एक मुख्य शङ्का यह रहती है कि जिसकी सेवा की जाती है, उसकी वृत्तियाँ बिगड़ती हैं, जैसे—एक निर्धन व्यक्तिकी धनसे सेवा की जाय, तो उसमें शनैःशनैः लोभ उत्पन्न हो जायगा और धन लेने या माँगनेकी बुरी आदत पड़ जायगी। परंतु यह शङ्का निराधार है। वास्तवमें अपनेद्वारा की गयी सेवामें त्रुटि होनेपर ही दूसरे-(सेवा लेनेवाले-)में 'लेने'का भाव उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि यदि हम बदलेमें मान, आदर, सुख आदि पानेकी कामनासे अथवा ममता-आसक्तिको साथ रखते हुए दूसरेकी सेवा करते हैं, तो उसमें 'लेने'की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसके विपरीत आसक्ति और कामनासे रहित ईश्वर बुद्धिसे शुद्ध सेवा करनेसे दूसरे-(सेवा लेनेवाले-) के अन्तःकरणमें भी दूसरोंकी सेवा करने-(या दूसरोंको देने-) का भाव स्वतः ही जागृत होता है।

हम जिस (शरीरादि) वस्तुको अपनी मानते हैं, वह अशुद्ध हो जाती है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता। अतः कर्मयोगीके पास आनेवाली प्रत्येक वस्तु पवित्र हो जाती है, धन्य हो जाती है। जिस स्थानमें कर्मयोगी निवास करता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है। वहाँका वातावरण पवित्र हो जाता है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत उस कर्मयोगीके दर्शन-स्पर्श-वार्तालापसे ही लोगोंको शान्ति मिलती है।

कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान (कर्तापनका अहंकार) कर्म करते हुए भी सुगमतापूर्वक मिट जाता है। कारण यह कि कर्मयोगी जिस समय जो कर्म करता है, उसी समय उस कर्मका कर्ता रहता है अन्य समय नहीं; जैसे, व्याख्यान देते समय ही वह 'वक्ता' रहता है, सुनते समय ही वह 'श्रोता' बनता है और शिक्षा देते समय ही वह 'शिक्षक' बनता है—अन्य समय नहीं। जैसे लिखनेके समय हम लेखनीको ग्रहण करते हैं और लिखना समाप्त करते ही उसे यथास्थान रख देते हैं, वैसे ही कर्मयोगी कर्म करते समय ही कर्म और कर्म-सामग्री-(शरीरादि वस्तुओं-)से अपना सम्बन्ध मानता है, और कर्म समाप्त होते ही उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने (कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रहित) स्वरूपमें स्थित हो जाता है। कर्म करते समय भी कर्मयोगीका भाव वैसा ही रहता है, जैसा भाव नाटकके स्वाँगका रहता है। तात्पर्य यह कि जैसे नाटकमें श्रीरामका स्वाँग करनेवाला व्यक्ति अपनेको श्रीराम नहीं मानता, वैसे ही कर्मयोगी संसारमञ्चपर स्वाँगकी तरह सारे कर्तव्य-कर्म करते हुए भी अपनेको उनका कर्ता नहीं मानता। संसारमें पिता, पुत्र, भाई, पति आदिके रूपमें उसे जो स्वाँग मिला है, उसे वह ठीक-ठीक निभाता है। दूसरा अपने कर्तव्यका पालन करता है या नहीं करता—उसकी ओर न देखकर वह अपने कर्तव्यका उत्तमसे उत्तम पालन करता है। दूसरेके कर्तव्यको देखनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक

पालन नहीं कर सकता। कर्मयोगीको दूसरेके कर्म-निरीक्षणसे कोई तात्पर्य नहीं होता। मूलतः वह 'सुधारक' नहीं होता, सुधारका आदर्श होता है।

कर्मयोगी अपने लिये न तो कोई कर्म करता है और न अपनेको किसी कर्मका कर्ता ही मानता है, फिर उसमें कर्तृत्वाभिमान आ ही कैसे सकता है? वह कर्म-सामग्री और कर्म-फलके साथ भी अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता। इसी प्रकार वह शरीर-इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि, माता-पिता, स्त्री, भ्राता-पुत्र, परिवार, वर्ण-आश्रम-जाति, विद्या, शक्ति अथवा योग्यता आदि किसीके भी साथ अपना स्वार्थसम्बन्ध नहीं मानता। केवल सेवा-दृष्ट्या कर्तव्य-पालनके लिये ही वह इनसे सम्बन्ध मानता है। कर्तव्यमात्रके लिये माना गया सम्बन्ध बन्धन-कारक नहीं होता। जैसे मनुष्यका दवामें राग नहीं होता, वैसे ही कर्मयोगीका कर्तव्य-कर्मोंमें राग नहीं होता। आसक्ति और कामना न रखकर अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेसे उसमें निर्लिप्तता आती है और मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

कर्मयोनि होनेके कारण मनुष्य-शरीरमें कर्मकी प्रधानता है। मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३।५)। मनुष्य चाहे तो कर्मफलका त्याग कर सकता है, पर कर्मका नहीं। इस दृष्टिसे मनुष्य-मात्र कर्मयोगके अधिकारी हैं। अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर कोई भी मनुष्य कर्मयोगका अनुष्ठान कर सकता है। गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो मनुष्य-शरीर कर्मयोगका पालन करनेके लिये ही मिला है। वर्तमानमें लोग भक्ति और ज्ञानपर ही अधिक ध्यान दे रहे हैं, कर्मयोगपर नहीं। कर्मयोगको तत्त्वसे जाननेवाले और उसका अनुष्ठान करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी कमी होनेके कारण ही कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। वर्तमानमें निःस्वार्थभावसे दूसरोंका हित करनेवाले मनुष्योंका बहुत अभाव है। इसलिये वर्तमानमें सबसे अधिक आवश्यकता कर्मयोगकी ही है। कर्मयोगके सिद्धान्तसे ही लोकसंग्रह होगा और लोक-संग्रहसे विश्वका मङ्गल होगा।

कर्मयोगका पालन किये बिना ज्ञानयोग या भक्ति-योग इन दोनोंमेंसे कोई भी एक सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे कोई ज्ञानयोगका पालन करे या भक्तियोगका, कर्मयोगकी प्रणाली शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करना, अपने लिये कुछ न करना आदि—उसे अवश्य अपनानी पड़ेगी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कर्मयोगको ज्ञानयोग और भक्तियोगके समकक्ष शीघ्र सिद्धिदायक बतलाया है (३।७ और ५।२)। भगवान् निष्काम-कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' भी कहते हैं (गीता ५।३)। उपनिषदोंमें सबसे पहली ईशावास्योपनिषद्का द्वितीय मन्त्र भी स्पष्टरूपसे कर्मयोगकी महत्ता और आवश्यकताका प्रतिपादन करता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'इस जगत्में निष्कामभावसे शास्त्रनियत कर्मोंको आचरण करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्मोंसे मुक्त हो सके।' इसके लिये विश्वमें परमात्मदर्शन भी आवश्यक है। अखिल-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको सर्वत्र देखते हुए त्यागपूर्वक आत्मपालन या आत्मरक्षण करते रहो। इसमें आसक्त मत होओ।

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलस्वरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूपके महान् भयसे रक्षा कर लेता है (गीता २।४)।

भगवदर्पित कर्म ही निष्काम है

(लेखक—महामण्डलेश्वर श्रीरामदासजी शास्त्री)

हरिद्वारके गत कुम्भमेलाके अवसरपर दो सज्जन सड़कपर झाड़ूसे सफाई कर रहे थे। दर्शकोंकी भीड़मेंसे 'वाह! वाह!!' 'सच्चे सन्त', 'कर्मयोगी सन्त' आदि वाक्योंकी ध्वनि आ रही थी। हमने विचार किया यह कौन-सा कर्म है? निष्काम या सकाम? अकर्म, विकर्म अथवा सुकर्म? सम्भव है कि उन सन्तोंको अपने इस कर्मसे तथा-कथित जनसेवाकी सुखानुभूति हो रही हो, पर इस कर्मके दूरगामी परिणाम क्या होंगे? यह उनके विचारमें होगा, यह निःसंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। अस्तु।

यह कर्म निष्काम तो इसलिये नहीं; क्योंकि लौकिक व्यवहारके सभी कर्म कामनाप्रेरित होते हैं और सकाम कर्मकी संज्ञा भी इसे कैसे दे? क्योंकि सकाम कर्म भी किसी सदुद्देश्यकी पूर्तिके लिये देवाराधन, इष्टोपासनायुक्त होता है। जीवनका उद्देश्य सड़ककी सफाईसे पूरा नहीं होता, अतः इसको विहित कर्म भी कैसे कहा जाय। यह वर्णाश्रमधर्मके स्वरूप-विचारसे अननुरूप आचरण है। वैसे, **'गहना कर्मणो गतिः'**—कर्मकी गतिको समझ पाना अत्यन्त कठिन है। क्या कर्म है, क्या अकर्म है—इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित है—**'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'** (गीता ४। १६)। कर्म तो सभी है; हाथ-पैरोंका हिलाना भी कर्म है, पानीमें व्यर्थ लाठीका प्रहार भी एक कर्म है, एक नन्हे शिशुका हाथ-पैरोंका चलाना भी कर्म है। गीता (३। ५)के अनुसार कर्म किये बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

परंतु ऐसे निरर्थक कर्मोंका फल क्या है? निष्फल-कर्मोंसे जीवनके ध्येयकी प्राप्ति कभी नहीं होती। ये कर्म शास्त्रीय-कर्मकी परिभाषामें नहीं आते—यद्यपि ये जीवमात्रमें होते हैं और स्वभाव-नियत हैं।

सकाम-कर्मका फल तो मिलता है, पर वह सीमामें बँधा है। फलकी समाप्तिपर फिर वही दुर्दशा सम्भावित है; इसीलिये शरीरसुख या इन्द्रिय-तृप्तिके लिये किये गये समस्त सकाम-कर्म भवबन्धनके हेतु हैं। जबतक जीव शारीरिक सुखकी वृद्धिके उद्देश्यसे क्रियाओंमें प्रवृत्त है, तबतक जन्म-मरण या देहान्तर-प्राप्तिका क्रम मिट नहीं सकता। इस प्रकार भवबन्धन सदा ही बना रहेगा। श्रीमद्भागवत (५। ५। ४-६)के श्लोकोंसे यह बात और भी अधिक सुस्पष्ट प्रमाणित हो जाती है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः॥
पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

'साधारणतः लोग इन्द्रिय-तृप्तिके लिये उन्मत्त रहते है। वे नहीं जानते कि यह क्लेशमयी देह उनके पूर्वकृत सकाम कर्मोंका ही फल है। यह देह नश्वर होनेके साथ-साथ नित्य शत-शत कष्टदायिनी भी है। अतः इन्द्रिय-तृप्तिके लिये सकामकर्म करना कदापि श्रेयस्कर नहीं है। आत्माको जबतक परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा नहीं होती, तबतक उसकी सर्वत्र पराजय होती है; क्योंकि अज्ञानवश जबतक वह लौकिक या वैदिक सकाम कर्मोंमें

※

फँसा रहता है, तबतक उसका चित्त कर्मवासनाओंमें लीन रहता है; इसीसे उसे शारीरिक बन्धनमें बँधना पड़ता है। यही कारण है कि कर्मवासनाओंमें आसक्तचित्त मनुष्यको फिर कर्मोंमें प्रवृत्त कर देता है।'

अतएव शास्त्र कहता है कि मनके सकाम कर्मोंमें आसक्त एवं अज्ञानग्रस्त होनेपर भी विहित कर्मोंको भगवदर्पण बुद्धिसे करता ही रहे; तभी इसे शरीर-बन्धनसे मुक्ति मिलेगी; क्योंकि केवल कर्म करनेसे ही कर्म-बन्धन नहीं छूटता। महर्षि शुकदेव परीक्षित्‌से कहते हैं—

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
(श्रीमद्भा० ६।१।११)

किंतु वही कर्म जब भगवदर्पित होता है, तब वह निष्कामभावपूर्ण भक्ति बन जाता है, जिससे जीवको सहजमें ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये उद्धवजीसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तबतक मनुष्य निरन्तर कर्म करता ही रहे, जबतक मेरे कथाकीर्तन आदिमें पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय अथवा स्वर्गादिसे वैराग्य न हो जाय—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

कर्मबन्धनसे यदि छुटकारा पाना है तो समस्त कर्तव्यकर्मोंको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करना ही पड़ेगा। जीवनकी यावन्मात्र क्रियाएँ हैं, उन सबको केवल भावनात्मक मोड़ देनेकी आवश्यकता है। जब स्वसुख और इन्द्रिय-तृप्तिकी भावना छोड़ करके स्वार्थरहित होकर निष्काम-भावनासे भगवदर्थ—**'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** वाली—कल्याणकारी उत्तम भावनासे भावित होकर समस्त कर्म किये जाते हैं तब वे भक्तिका रूप ले लेते हैं। उस समय लौकिक दीखनेवाले कर्म भी भवबन्धनसे मुक्ति देकर परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठा देते हैं। स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीता (९।२६-२७) में यही उद्घोष किया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

पवित्र बुद्धिवाले, निष्काम प्रेमीभक्तके प्रेमपूर्वक अर्पित किये हुए पत्र-पुष्प भी मेरे प्रीति-भोजन हो जाते हैं। इसलिये सकाम-निष्काम सभी कर्मोंको मुझे अर्पित करते चलो। श्रेष्ठ सकाम कर्म भी भगवदर्पण-बुद्धिसे सम्पन्न होनेपर 'पुण्य'की परिधिमें चले आते हैं और कल्याण-विधान करते हैं।

इसके विपरीत जो क्रियाभिमानमें लिप्त और कामनाओंसे आसक्त होकर विषयकी तृप्ति-कामनासे प्रेरित हुए अहर्निश सकाम कर्मोंमें लिप्त रहकर अपनी सक्रियता बनाये रखते हैं, उनका संसारके क्रिया-क्षेत्रमें पुनरागमन बना रहता है। अतएव ऐसे जीव भगवद्धामकी प्राप्ति नहीं कर पाते, प्रत्युत प्राकृत लोकोंमें ही उन्हे पुनः कर्म करनेका अवसर दिया जाता है। गीता आदि शास्त्रोंमें जो यज्ञादिका विधान है। **'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा', 'देवान् भावयतानेन'**—(३।१०-११) वह तो देवताओं और मनुष्योका परस्पर भावनात्मक आदान-प्रदान है। यज्ञादि कर्मोंसे प्रसन्न होकर देवता मानवकी आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं। इससे सकाम कर्मके फलकी प्राप्ति तो होती है, परंतु वह विशुद्ध भगवदीय न होनेसे प्रभुचरणारविन्दोंकी उपलब्धिमें सहायक (निष्काम-कर्म) नहीं होते। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें व्यासजीके प्रति श्रीनारदजीका कथन है कि—'जिस कर्मका फल भगवान्‌को समर्पित नहीं किया जाता, वह कर्म कितना भी उत्तम क्यो न हो, शोभा नही पाता; क्योंकि अन्ततः वह परिणाममें दुःखदायी ही सिद्ध होगा। सर्वथा निष्काम एवं पूर्ण आत्मज्ञानी होते हुए भी यदि निष्काम भक्तिसे हीन हो तो वह जीवन्मुक्त भी शोभा नहीं पाता। अतः यह मानना पड़ेगा कि भक्तिहीन, निष्काम कर्म

भवबन्धनका कारण है और भगवदर्पित सकाम कर्म—भगवत्प्रसन्नतार्थ किया गया कर्म—भी निष्काम है—

> नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
> न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
> कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
> न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
> (श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

भगवदर्पित निष्काम-कर्ममें निज सुख और निजेन्द्रिय तृप्तिविषयक कामनाकी गन्धतक नहीं रहती । वह तो ठीक यन्त्रस्थ उपकरणके समान अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌के लिये कार्य करता रहता है । उसकी प्रत्येक क्रिया भगवदर्थ होती है । जिस प्रकार संयन्त्रके उपकरणको तेल आदिद्वारा परिमार्जन तथा शक्तिपूर्तिकी अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार भगवच्चरणाश्रित एवं भगवद्भावनाभावित भक्त निष्काम-कर्मके द्वारा अपना पालन करता है, जिससे कि वह दिव्य भगवत्सेवाके लिये स्वस्थ रह सके । इस प्रकार वह भक्त-साधक सकाम प्रतीत होनेवाले कर्मफलसे सर्वथा असङ्ग रहता है । भगवत्-समर्पित जीवनवाले भक्तके पास इतना समय ही नहीं होता कि वह सकाम कर्मजन्य विषयोंमें स्वामीपनका मिथ्या अभिमान कर सके; यही कारण है कि वह कर्मबन्धनसे सदा नित्यमुक्त बना रहता है ।

सर्वकारण-कारण जगन्नियन्ता परमात्माकी प्रसन्नताके लिये फलेच्छारहित शुभ-कर्म करनेका मानवको स्वभाव बनाना चाहिये । वस्तुतः वही कर्म सच्चा कर्म है, जो श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिये किया जाय; वही सार्थक भी है । सच्ची विद्या भी वही है, जिसके द्वारा जीवकी मति प्रभुचरणोंमें संलग्न रहती है । एकमात्र श्रीहरि ही सबकी आत्मा हैं । वे ईश्वर और विश्वके नियामक हैं । सभी कर्म और विद्या, जो भगवत्प्रीत्यर्थ हैं, श्रीहरिकी निःस्वार्थ निष्काम-आराधनामें सहायक हैं । बस, वे ही और ऐसी क्रियाओंसे निष्पन्न कर्म ही निष्काम कर्म है; क्योंकि कर्ता प्रभुचरणोंमें समर्पित है । भागवत (४ । २९ । ४९-५०) का कथन है कि—

> तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥
> हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।

भगवदर्पित कर्म फिर सकाम कर्म नहीं रहता, वह तो भगवदर्थ ही प्रयुक्त है । भगवान्‌के मन्दिरोंमें मार्जनी [illegible] अपना परम सौभाग्य समझता है, इस सेवाके आगे उसे मोक्षसुखकी भी स्पृहा नहीं है । इस कामना-वासनारहित सेवाकार्यमें उसे एक दिव्य आनन्दानुभूति मिलती है । इस आनन्दानुभूतिके आधारपर ही वह [illegible] प्राप्त करता है; क्योंकि वह निष्काम है ।

सज्जनकी झाड़ू और मन्दिरोंकी झाड़ूमें दिन और रातका अन्तर है; पहलेके पीछे प्रतिष्ठा-तृष्णा है, जो निरन्तर कामना-पूर्तिमें वृद्धि करती है और दूसरीमें सद्गुणोंके त्याग और वैराग्यके साथ दिव्य आनन्दकी धारा प्रवाहित है, जो समस्त कामनाओंका ध्वंस करके तप्त काञ्चनकी भाँति देदीप्यमान आत्मा नित्य मुक्त-स्वरूप प्रदान करती है । [illegible] एक, दोनोंमें भी अन्तर मिलता है ।

इसीलिये भक्त प्रार्थना करते हैं कि 'शरीर, वाणी, इन्द्रिय और मन, बुद्धि आदिके द्वारा स्वभावतः मैं जिन-जिन कर्मोंका सम्पादन करूँ वे समस्त सदा एकमात्र श्रीनारायणके लिये ही हैं—इस भावसे समर्पित हों ।'

> कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
> बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
> करोमि यद् यत् सकलं परस्मै
> नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २ । ३६)

निष्कामताकी भावनात्मक यही निष्ठा कल्याण-प्रसू होती है ।

भक्तियोग और कर्मयोग

(लेखक—प० श्रीविलोचनजी झा 'विधु' साहित्याचार्य, बी० ए०)

भक्तियोग और कर्मयोग दोनों परस्पर एक-दूसरेके सहायक है और दोनोंका मणि-काञ्चनयोग है। भक्ति एवं याग तथा कर्म और योग—ये दोनों सामासिक शब्द हैं। सेवार्थक भज् धातुसे क्तिन् प्रत्ययके द्वारा भक्ति और 'कृ' धातुसे मन् प्रत्ययके द्वारा कर्म शब्द निष्पन्न हुआ है। महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिकी परिभाषा की है—**'सा परानुरक्तीश्वरे।'** भगवत्पाद शंकराचार्यके अनुसार—**'स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।'** स्वरूपानुसंधान ही भक्ति है—

योगदर्शनमें **'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'**—ईश्वरकी शरणागतिसे भक्तिरूपा समाधि प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। उसके नाम-रूप, लीला-धाम एवं गुण और प्रभाव आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन करना, समस्त कर्मोंका भगवान्‌को समर्पण कर देना, अपनेको भगवान्‌के हाथका यन्त्र बनाकर वे जिस प्रकार नचायें, वैसे ही नाचना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनमें अनन्य प्रेम करना—ये सभी ईश्वर-प्रणिधानके अङ्ग हैं। इसी ग्रन्थमें आगे **'तपःस्वाध्येश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'**—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—इन तीनोंको क्रियायोग कहा गया है। संक्षिप्तमे इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

तप—अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यताके अनुसार स्वधर्मका पालन करना और अधिक-से-अधिक शारीरिक या मानसिक कष्टको सहर्ष सहन करना 'तप' है। निष्कामभावसे तपका पालन करनेसे मनुष्यका अन्तरङ्ग या अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। यह गीतोक्त कर्मयोगका अङ्ग है। **स्वाध्याय**—जिनसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध हो सके, ऐसे वेद, शास्त्र, महापुरुषोंके लेख आदिका पठन-पाठन और भगवान्‌के ॐकार आदि किसी नामका जप करना स्वाध्याय है। इसी प्रकार ईश्वरके प्रति पूर्वोक्त कथनानुसार कर्मार्पण करनेका नाम **ईश्वर-प्रणिधान** है।

उपर्युक्त तीनों साधनोंका विशेष महत्त्व है और इनकी सुगमता दिखलानेके लिये क्रियायोगका अलग वर्णन किया गया है। जबतक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध नहीं हो जाता, तबतक द्रष्टा अपने चित्तकी वृत्तिके ही अनुरूप अपना स्वरूप समझता रहता है, उसे अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः एक भगवान् या आत्माको जाननेके लिये साधन-जीवनमें भक्तियोग और कर्मयोग सबका प्रयोजन होता है। उसी तरह साधन-की विशेष-विशेष अवस्थाओंमें भगवान् अद्वैतभावमें, द्वैताद्वैतभावमें या द्वैतभावमें ग्रहणीय होते हैं। भगवान् इतने विशाल और इतने विराट् हैं तथा उनके इतने भाव हैं कि किसी भी एकका अवलम्बनकर उनकी उपासना की जा सकती है। भगवान्‌को कभी मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। तद्विपरीत यदि कोई नास्तिक केवल अपने ही मतको सत्य और अन्य सबको असत्य मानता है तो यह निश्चय ही मिथ्या है। हम यह समझना भूल जाते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं और सब जीवोंके परम सुहृद् हैं। सारे भावुकजनोंके लिये और सारे साधकोंकी सुविधाके लिये वे सब कुछ बनकर बैठे हुए हैं—

'सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।'

भारतमें मुक्ति पानेके लिये जो प्रचलित मार्ग हैं, वे मुख्यतः तीन हैं—भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग। इन तीनों मार्गोंके अवलम्बनके विना जीव आवागमनसे नहीं छूट सकता। श्रीभगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक अनुरागको भक्तियोग कहते हैं।

जातश्रद्धः मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
(श्रीमद्भा० ११)

'मेरी कथामें जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, सब कामोंमें विरक्ति है, कामोंको दुःखात्मक समझता है, पर उनके त्यागमें समर्थ नहीं है।' जो मनुष्य न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त, उसके लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है। इसके द्वारा ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

भगवान्में भक्तियोगका प्रयोग करनेपर शीघ्र वैराग्य उत्पन्न होता है तथा उसके बाद अपने-आप ही ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धके द्वितीय अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें भक्तिके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

'जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवन-शक्तिका संचार) और क्षुधा-निवृत्ति, ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भगवान्के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है।'

भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे ही जितनी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्के लिये करना सीखें। यज्ञ-दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री-पुत्र, घर-परिवार अपना जीवनप्राण, जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो, सब-का-सब भगवान्के चरणोंमें निवेदित करना चाहिये। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है। जब भगवान्के चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छा तीव्र भक्तिद्वारा की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। योगीन्द्र प्रबुद्धने कहा था—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥
(श्रीमद्भा० ११।३।३१)

भगवान् पापराशिको क्षणभरमें भस्म कर सकते हैं, सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करायें। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे युक्त शरीर धारण करते हैं। भक्ति ह्लादिनी-शक्तिकी एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी-शक्ति महाभावस्वरूपा है। अतएव भावरूपा भक्ति चाहे साधनपूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक, वह वस्तुतः महाभावसे ही स्फुरित होती है।

जीव कर्म कर सकता है, परंतु भावको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपतः भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भावजगत्से उसमें भावका अनुप्रवेश हुआ करता है। शास्त्रविहित कर्म ही कर्म हैं और निषिद्ध-कर्म, अकर्म तथा कर्मका उल्लङ्घन करना विकर्म है। ये तीनों एक वेदके द्वारा ही जाने जाते हैं। इनकी व्याख्या लौकिकरीतिसे नहीं होती।

जिसके ज्ञान एवं इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वह यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देता है तो वह विहितकर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप

अधर्म ही करता है। इसलिये वह मृत्युके बाद फिर मृत्युको प्राप्त होता है। अतः फलकी अभिलाषा छोडकर और विश्वात्मा भगवान्‌को समर्पित कर जो वेदोक्तकर्मका ही अनुष्ठान करता है, उसे कर्मोंकी निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। जिनका चित्त कर्मोंमें आसक्त है, तथापि कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये व्याकुल है, ऐसे लोगोंको निष्काम-कर्मका अवलम्बन करना चाहिये। यह निष्काम-कर्मयोगकी साधना ही आत्म-क्रिया कहलाती है। क्रियायोग तथा इस विषयकी विविध साधनाओंकी आलोचना भगवान् श्रीकृष्णने गीताके ४, ५, ६, ८ तथा १५वें अध्यायोंमें की है।

इस क्रियायोगकी साधना, क्या ज्ञानी, क्या भक्त और क्या कर्मी—सबके लिये अत्यन्त ही आवश्यक साधना है। यथार्थतः यही कर्मयोग है, इस क्रियाके द्वारा ही सारे कर्म ब्रह्मार्पण किये जा सकते हैं। सुदीर्घकालतक कर्मयोगका अभ्यास किये बिना आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। स्वकुलोचित कर्मोंको करते हुए यदि ईश्वरमें निष्ठा बनी रहे, अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये ही कर्म किये जायँ तो मनुष्यको नरकका भय नही रहेगा। परमेश्वरमें समर्पितकर या फलासक्तिका त्यागकर जो कर्म करता है, वह पापात्मक कर्मोंमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार कमलपत्र जलसे लिप्त नहीं होता—**'पद्मपत्रमिवाम्भसा'**। कर्तृत्वका अभिमान रहनेपर कर्म-बन्धन अनिवार्य हो जाता है। कर्मयोगमें जड़तासे सम्बन्ध छूट जानेपर अज्ञान नष्ट हो जाता है। संचित कर्मको भी अपने लिये न माननेसे उसका प्रभाव कर्मयोगीपर नहीं पड़ता। वह क्रियमाण-कर्मका फल नहीं चाहता। मानवद्वारा निष्काम-कर्म तीन प्रकारसे अनुष्ठित होते हैं—(१) कर्ममे फलासक्तिके त्यागसे, (२) अहंकार-शून्यतासे तथा (३) ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भगवत्प्रेरित होकर कर्म करनेसे, जिससे फलाफलके लिये मनमें कोई उद्वेग न रहे। इस प्रकार कर्म करनेपर सारे कर्म ब्रह्मार्पित हो जाते हैं, परंतु मनमे समता हुए बिना इस प्रकार कर्म नहीं किये जा सकते।

भक्तिमे स्तुति तथा प्रार्थना भी आती है। स्तुतिमे प्रभुके गुणोका ज्ञान उसके स्वरूपको समझनेमे अधिक सहायता देता है। अतः स्तुति (गुणकीर्तन) ज्ञान-काण्डके अन्तर्गत है। प्रार्थनामे प्रभुके साथ पाप-प्रक्षालन और पुण्यकी प्राप्तिके लिये याचना की जाती है। दानवताका दमन और दैवी विभूतियोका विकास कर्मकी अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म, सतत अभ्यासके द्वारा ही उनकी सिद्धि सम्भव होती है। इस प्रकार अकेली भक्ति भी ज्ञान (स्तुति), कर्म (प्रार्थना) और उपासनाकी पावन त्रिवेणीके संगमरूपको धारण कर लेती है। इस प्रकार कर्मयोगका समावेश भक्तियोगमे है।

इस कलिकालमे जो साधन फलीभूत हो सकता है, उस सुलभ-सुखद और सच्चे साधनकी दुंदुभि बजायी गयी है। कर्मयोग और भक्तियोग इन दोनोमे प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। जैसे ज्ञानमार्ग श्रद्धा-विश्वास आदिसे रहित नहीं है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग भी विवेक और वैराग्यसे शून्य नहीं है।

> अस हरि भगति सुगम सुखदाई।
> को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

'कर्मयोग' स्वतन्त्र अवलम्बन नहीं है। जबतक स्वधर्मका पालन नहीं किया जायगा, तबतक वैराग्य उत्पन्न न होगा। जबतक वैराग्य न होगा, तबतक कर्मोंका फल-त्यागादि न होनेके कारण निष्काम-कर्मयोगका आचरण न हो सकेगा। जबतक निष्काम-कर्मयोग न होगा, तबतक ज्ञान उत्पन्न न होगा। जबतक ज्ञान न होगा, तबतक मोक्षकी प्राप्ति न हो सकेगी। हाँ, भक्तियोगके द्वारा भगवान् शीघ्र द्रवीभूत होकर भक्तोंके अधीन हो जाते हैं और इससे उसके सभी श्रेय सम्पन्न हो जाते हैं।

प्रेमलक्षणा भक्तिमें कर्मयोग

(लेखक—आचार्य श्रीसत्यव्रतजी शर्मा, 'सुजन' शास्त्री, एम्० ए० (द्वय), बी० एल०, साहित्याचार्य)

सृष्टिका मूल कारण कर्म है । सृष्टि पूर्णब्रह्मकी लीला-क्रिया है—**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**। (ब्रह्मसूत्र, २ । १ । ३३) यह लीला स्वफलानुसंधिपूर्विका नहीं; बल्कि स्वरूपानन्दका स्वाभाविक उद्रेक है, अतः इसमें बन्धन आदिका प्रश्न नहीं है । दूसरी ओर जीवका कर्म ऐसी अनाद्यन्त परम्परा है, जिसका विपाक उसे कभी कहीं चैन लेने नहीं देता । कालशक्ति-सहचरित जीवकी कर्म-वासनासे ही साम्यमें क्षोभ उत्पन्न होकर सृष्टिका उन्मेष होता है । जीव क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता और कर्मपाशकी गाँठ उसे कसती जाती है । इधर श्रीभगवान् अकारणकरुणामय हैं । इस दुरन्त बन्धसे उबरनेका उपाय भी उन्होंने सुलभ कर दिया है । उपेय एवं उपाय भी स्वयं वही हैं । किंतु जीवकी खुली आँखें तो बाहर ही देखती हैं । पलक गिर-गिरकर कहती है—उन्हें भीतर देख, कहाँ बाहर भ्रमित हो रहा है, किंतु जीव भीतर देखता ही नहीं, आँखें झट खोल देता है और पुनः बाहर खो जाता है । एक बार भी भीतर झाँक ले तो भीतर-बाहर सर्वत्र वे ही दीखने लगें और कर्मपाश छू-मंतर हो जाय ।

समस्त देहियोंको अपनी आत्मा सबसे प्रिय है—पुत्र-कलत्र-वित्त आदि अन्य सभीसे प्रेयं[1] । फिर, भगवान् आत्माके भी आत्मा हैं—अतएव प्रियतमसे भी श्रेष्ठ[2] हैं । भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, रसतम हैं, आनन्दघन हैं । मूलतः जीवका भी यही स्वरूप है । इसलिये प्रियतम भगवान्को पानेका मुख्य-मार्ग है—प्रेम, प्रेमा । किंतु यह सँकरी कँकरीली-पथरीली गली है, राजमार्ग नहीं । इसमें पैठते ही मनुष्य 'बाहर' हो जाता है, उसके आँसू कभी नहीं सूखते । फिर भी इसकी मधुरताकी कोई सीमा नहीं । इस पथमें जो खो जाता है, उसेही प्रियतम मिलते हैं । ऐसे प्रेमको काम कहें तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

कामका एक नाम है—अनङ्ग । यहाँ तो प्रेमी ही अनङ्ग हो जाता है, उसे अङ्गोंकी सुध ही कहाँ रहती है । भगवज्जन सर्वात्मना भगवन्मय होते हैं । वे कर्म छोड़ते नहीं, कर्म उनसे स्वयं छूट जाते हैं । उनके जो व्यापार होते हैं, सादृश्यके कारण इन्हें कर्म भले ही कहें, वस्तुतः वे सभी चिन्मय भगवन्मय ही होते हैं । प्रेमलक्षणा भक्तिमें कर्म-योगके स्वरूपको हृदयंगम करनेके लिये हमें पहले भक्तिका याथात्म्य समझना होगा । मोटे तौरपर भक्ति द्विविध है—सगुण और निर्गुण । सगुण-भक्ति भी गुणभेदसे त्रिविध है—तामस, राजस और सात्त्विक । इन तीनोंमें स्वभावतः भक्ति ही भेददृष्टि है । हिंसा, दम्भ और मात्सर्यसे भगवान्में भाव करना तामस-भक्ति है । विषय, यश एवं ऐश्वर्यके संकल्पसे प्रतिमा आदिमें भगवान्की पूजा-अर्चना करना राजस-भक्ति है । कर्मरूपके उद्देश्यसे अपने सारे कर्म भगवान्को अर्पित करना, विधेय-दृष्टिसे भगवान्को अर्पित करते हुए सारे कर्म करना—यह सात्त्विक-भक्ति है[3] । फलानुसंधान-शून्य भेददर्शनरहित निर्गुण-भक्ति इन सबसे ऊपर है । जैसे गङ्गा सागरमें अविच्छिन्न गिरती

१–तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदारण्यकोपनिषद् १ । ४ । ८)

२–तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् । तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । (श्रीमद्भा० १० । १४ । ५४-५५)

३–कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १०)

रहती है, वैसे ही भगवान्‌में भक्तके मनकी एकताल संतत गति*—यही निर्गुण-भक्ति है। इसमें भक्ति ही परम फल है, भक्तिका कोई इतर फल अनुसंधेय नहीं है। प्रेमलक्षणा भक्ति इसी निर्गुण-भक्तिका परिपक्वरूप है।

स्पष्ट है कि भगवच्चरणोंमें कर्तव्यदृष्टिसे सचेष्ट कर्मार्पण प्राप्तव्य भगवत्प्रेमका सुदृढ़ सोपान है। गीतोक्त कर्मयोग प्रायेण यही है। इसके बाद उच्चतर भूमिकामें कर्मयोगका स्वरूप कुछ और ही निखर जाता है। वह है—कर्मोंका भगवान्‌में ऐकात्म्य। यहाँ कर्मका पृथक् कोई अस्तित्व नहीं। वह तो मात्र प्रेमका कल्लोल है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादने 'भक्ति' शब्दके ही व्युत्पत्ति-लभ्य दो अर्थ करके भक्तिको द्विधा विभाजित किया है। **'भज्यते अनया इति भक्तिः'**—करणार्थक 'क्तिन्' प्रत्यय-द्वारा जिसके द्वारा भजन किया जाय, अर्थात्—साधन भक्ति; और **'भजनं भक्तिः—भावे क्तिन्'** प्रत्ययद्वारा भजन साध्य-भक्ति है। यह साध्य-भक्ति है—विशुद्ध प्रेम, और साधन-भक्ति है—इस साध्य प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिके लिये साधनरूपा। साधन-भक्तिके जिन अङ्गोंसे, जिन साधनोंसे साधक साध्य-भगवत्प्रेमकी सिद्धिके लिये अग्रसर होता है, वे स्वभावतः कर्म हैं। कर्म इन्द्रियोंसे होते हैं, इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। प्रेमलक्षणा भक्तिमें ये सारे इन्द्रिय-कर्म तैल-धारावत् अविच्छिन्न भगवान्‌की ओर प्रवाहित होते हैं। पहले तो यह व्यापार सचेष्ट होता है साधनभक्तिके स्तरपर, फिर ज्यों-ज्यों साधक भक्त उच्चतर भूमिकाओंमें पहुँचता है, ये कर्मव्यापार श्वास-प्रश्वासकी भाँति स्वतः आप-ही-आप होने लगते हैं। यही है—सर्वेन्द्रियोंसे भगवदाराधन। मन, बुद्धि अहंकारसमन्वित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, अधिष्ठित देवताओंसहित प्रेमरससे आप्लुत हो जाती हैं। मन, बुद्धि और अहंकार—तीनोंका अधिष्ठान एक ही है, हृदय। इनके देवता हैं—क्रमशः चन्द्रमा, ब्रह्म और रुद्र। ज्ञानेन्द्रियोंका ज्ञान-साधनत्व विषय-ग्रहणरूपी कर्मके द्वारा ही है, इसलिये उनका कर्मसम्बन्ध अक्षुण्ण है। मनसहित सभी एकादश इन्द्रियोंसे संतत भगवदाराधनके ज्वलन्त निदर्शन हैं—महाभागवत राजर्षि अम्बरीष।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। १७–२०)

अम्बरीषका मन निरन्तर श्रीकृष्णचरणकमलोंमें लगा रहता था। उनकी वाणी अपने भगवान् नारायणका गुणगान करती रहती थी। हाथ श्रीहरि-मन्दिरकी स्वच्छतामें सलग्न रहते थे, कान अच्युतके मधुर कथा-प्रसङ्गमें सदा लीन बने रहते थे। उनके नयन मुकुन्दकी श्रीमूर्तिको निहारते न अघाते थे, भगवद्भक्तोंके गात्रस्पर्शसे उन्हें अङ्गसङ्गका अनिर्वचनीय सुख मिलता था। नासिका श्रीकृष्ण-पादपद्मोंमें अर्पित तुलसीके अपूर्व सौरभसे उन्मत्त रहती थी, जिह्वा श्रीकृष्णार्पित नैवेद्यके रसास्वादनमें सलग्न

* मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। ११-१२)

हो गयी थी। उनके पग श्रीहरि-तीर्थोंकी धूलिमें लोटते थे और मस्तक हृषीकेशकी वन्दनासे कृतार्थ होता था। वे माल्य-चन्दन आदि कामका उपभोग केवल भगवद्-दास्यके निमित्त प्रसाद-ग्रहणमें करते थे। इस प्रकार अम्बरीष सर्वात्मभावसे भरित अपना समग्र कर्मकलाप प्रियतम भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अनुक्षण समर्पित करते रहते थे।

सर्वात्मभाव प्रेम-भक्तिकी चरम अवधि है। सर्वेन्द्रिया-राधनसे सर्वत्र अपने श्रेष्ठ भगवान्‌की स्फुरणा होने लगती है, कण-कणमें, अणु-अणुमें प्रियतमकी झाँकी मिलती है—यही है सर्वात्मभाव—सर्वत्र अत्मरति भावी भावना। यदि सर्वात्मभाव प्रेम-भक्तिकी चरम अवधि है तो सर्वात्मभावकी चरमतम पराकाष्ठा है—गोपी-भाव, जहाँ सर्वात्मभावमयी सर्वेन्द्रियाराधनाका सर्वातिशायी स्वरूप मिलता है। सर्वेन्द्रियाराधनकी महिमाका यत्किंचित् अनुमान ब्रह्माके इस उद्गारसे लग सकता है, जो अपने मोह-भङ्गके बाद उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति किया है—

> एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
> मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
> एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
> शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥[3]

इन महाभाग व्रजवासियोंके भाग्यकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? भला अहंकार और बुद्धिसहित मन आदि एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हम तेरह देवता ही अहो, बडे भाग्यशाली हैं, जो अपने अधिष्ठानस्वरूप एक-एक इन्द्रियकी प्यालीमें तुम्हारे चरणकमलका अमृत-मधु बार-बार पीते नहीं अघाते। आशय यह कि एक-एक इन्द्रियके अभिमानी हम देवता श्रीभगवान्‌की रूप-माधुरीके अंशमात्रका आस्वादन करके कृतार्थ हैं, तब भला जो व्रजवासी सर्वेन्द्रियोंसे सर्वरसका सतत पान करते हैं, उनके परम भाग्यकी वर्णना कैसे की जाय?

गोपियाँ जब श्रीकृष्णके दर्शन करती थीं, तब उनकी सारी इन्द्रियाँ, उनका रोम-रोम नयन बन जाता था। अन्य इन्द्रियोंके भी सभी अधिष्ठानोंमें चक्षुरिन्द्रियके व्यापारसे ही ऐसा सम्भव होता था। इसी प्रकार कृष्णके वेणुकूजनमें गोपियोंकी सभी इतर इन्द्रियाँ स्थगित हो जाती थीं, केवल श्रोत्रेन्द्रिय सारे अधिष्ठानोंमें प्रविष्ट होकर रसपान करती थी। नीलकण्ठने श्रीहरिवंशकी व्याख्यामें इस रहस्यको प्रकट किया है—

'सार्वात्म्ये तु सर्वमिन्द्रियं सर्वविषयग्राहकं भवति ॥'[4]

नीलकण्ठका तात्पर्य है कि सार्वात्म्य-सिद्धि होनेपर सभी इन्द्रियाँ सभी विषयोंकी ग्राहिका हो जाती हैं अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय रूपके अतिरिक्त शब्द और गन्ध आदिका भी ग्रहण कर सकती है, त्वगिन्द्रिय रूप-ग्रहणमें भी समर्थ हो जाती है। निष्कर्ष यह कि प्रेमी साधककी आराधनामें मस्त इन्द्रियाँ सर्वात्मना भगवन्मय हो जाती हैं। प्रेमलक्षणा भक्तिमें कर्मयोगका यही स्वरूप है। समस्त इन्द्रियोंके सभी कर्मोंका योग श्रेष्ठ भगवान्‌में हो जाता है, प्रियतमसे पृथक् इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

१—द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत ९।४।२१। २—श्रीधरस्वामी ९।३।२१। ३—श्रीमद्भागवत १०।१४।३३। ४—श्रीहरिवंश, भविष्यपर्व, अ० २, श्लोक १५।

कर्म, अकर्म, विकर्म और कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीशम्भूशरणजी बाजपेयी)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
(गीता ४ । १७)

कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंका स्वरूप जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति दुर्बोध है। इन तीनोंको अच्छी तरह जाने बिना कर्मके बन्धनकारकत्वसे छुटकारा पाना कठिन है। कर्ममें कुशलता लाना, कर्मसे समत्व प्राप्त करना, कर्मको योगका रूप देना, योगस्थ होकर कर्म करना, कर्मद्वारा आत्मशुद्धि तथा कर्मद्वारा ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मोंको भस्मसात् करते हुए मुक्ति प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। कर्मके वास्तविक रहस्यको जाने बिना कर्मयोगका अनुष्ठान उत्तम नहीं हो सकता।

अकर्म और विकर्म कर्मके ही रूपविशेष हैं, जिन्हे पहचानना, जिनका मर्म जानना कर्मयोगीके लिये वाञ्छनीय है; क्योंकि तब कर्मयोगके आचरणमें सुविधा होगी। असलमें केन्द्रस्थ है कर्म, जिसका मर्म जाने बिना कर्मयोगका साधक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये मीमांसकोंने कर्मकी पर्याप्त चर्चा की है—**'कर्मेति मीमांसकाः'** की उक्ति प्रसिद्ध है। मीमांसक चाहे जिस दृष्टिसे कर्मको देखें, संसारमें सदा कर्मका महत्त्व रहा है और रहेगा, क्योंकि कर्मपर ही आधारित है प्राणीका वर्तमान जीवन, कर्मपर ही अवलम्बित है हमारा उत्थान-पतन, विकास-ह्रास, बन्धन-मोक्ष। अतीत जीवनमें भी कर्म प्रधान था, आगामी जीवन भी कर्मका परिणाम होगा। अतएव कर्मका फल इस जीवनमें ही नहीं, आगेके जीवनमें भी भोगना पड़ेगा, जो जैसा बोयेगा वैसा काटना पडेगा।

कर्मका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। एक क्षण भी हम बिना कर्मके नहीं रह सकते, चाहे जगे रहें, स्वप्नमें रहें या सोये रहे। गीता (५ । ८-९ मे) कहती है—

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

अर्थात्—देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता तथा सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता और बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोंको खोलता और मींचता हुआ भी प्राणी किसी-न-किसी प्रकारका कर्म ही कर रहा है, चाहे वह कर्म अपने-आप हो या किसी इन्द्रियद्वारा हो, ऐच्छिक हो या अनैच्छिक हो अथवा स्वतः संचालित (Reflection) हो। कर्म स्थूल-शरीरतक ही सीमित नहीं है, सूक्ष्म शरीर तथा कारण-शरीरतक इसका विस्तार है। जीवनमें ही नहीं, मरण-कालमें भी जो भाव प्राणीमें प्रबल हो उठता है, उसका प्रभाव उसपर पड़ता है।

कर्मकी गति इस तरह पेचीदी है और इतनी सूक्ष्म है कि दूरस्थ सूर्य और चन्द्रका ही नहीं, विश्वके किसी कोनेमें घटित किसी घटनाका, किसी कर्मका भी प्रभाव हमपर पड़ सकता है, पड़ता है। अतएव इन्द्रियोंद्वारा ऐच्छिक कर्मोंको छोड़कर यदि हम चुपचाप हाथपर हाथ धरे बैठे रहे तब भी वह कर्म त्याग नहीं समझा जायगा; क्योंकि वैसी हालतमे भी हमारा मन कुछ-न-कुछ सोचता ही रहेगा; मनका धर्म ही है संकल्प-विकल्प, और यह भी कर्म ही हुआ। पुनश्च, हमारे कर्म छोड़कर बैठे रहनेकी कोई निन्दा करेगा, कोई प्रशंसा करेगा। इस निन्दा या स्तुतिको सुननेका प्रभाव भी हमारे चित्तपर पड़ेगा ही। यह भी कर्म ही हुआ। अतएव कुछ हदतक स्वरूपतः कुछ कर्मोंको छोड़ देना अकर्म नहीं है।

कर्मका असली महत्त्व क्रियामें नहीं है। असली महत्त्व उसके द्वारा प्राणीके चित्तपर पड़े संस्कारका

हो गयी थी। उनके पग श्रीहरि-तीर्थोंकी धूलिमें लोटते थे और मस्तक हृषीकेशकी वन्दनासे कृतार्थ होता था। वे माल्य-चन्दन आदि कामका उपभोग केवल भगवद्-दास्यके निमित्त प्रसाद-ग्रहणमें करते थे। इस प्रकार अम्बरीष सर्वात्मभावसे भरित अपना समग्र कर्मकलाप प्रियतम भगवान्‌के श्रीचरणोमें अनुक्षण समर्पित करते रहते थे।

सर्वात्मभाव प्रेम-भक्तिकी चरम अवधि है। सर्वेन्द्रिया-राधनसे सर्वत्र अपने श्रेष्ठ भगवान्‌की स्फुरणा होने लगती है, कण-कणमें, अणु-अणुमें प्रियतमकी झाँकी मिलती है—यही है सर्वात्मभाव—सर्वत्र अत्मरनि भावी भावना।[2] यदि सर्वात्मभाव प्रेम-भक्तिकी चरम अवधि है तो सर्वात्मभावकी चरमतम पराकाष्ठा है—गोपी-भाव, जहाँ सर्वात्मभावमयी सर्वेन्द्रियाराधनाका सर्वातिशायी स्वरूप मिलता है। सर्वेन्द्रियाराधनकी महिमाका यत्किंचित् अनुमान ब्रह्माके इस उद्गारसे लग सकता है, जो अपने मोह-भङ्गके बाद उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति किया है—

> **एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-**
> **मेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः।**
> **एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिवामः**
> **शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥**[3]

इन महाभाग व्रजवासियोंके भाग्यकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? भला अहंकार और बुद्धिसहित मन आदि एकादश इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हम तेरह देवता ही अहो, बडे भाग्यशाली हैं, जो अपने अधिष्ठानस्वरूप एक-एक इन्द्रियकी प्यालीमें तुम्हारे चरणकमलका अमृत-मधु बार-बार पीते नहीं अघाते। आशय यह कि एक-एक इन्द्रियके अभिमानी हम देवता श्रीभगवान्‌की रूप-माधुरीके अंशमात्रका आस्वादन करके कृतार्थ हैं, तब भला जो व्रजवासी सर्वेन्द्रियोंसे सर्वरसका सतत पान करते हैं, उनके परम भाग्यकी वर्णना कैसे की जाय?

गोपियाँ जब श्रीकृष्णके दर्शन करती थीं, तब उनकी सारी इन्द्रियाँ, उनका रोम-रोम नयन बन जाता था। अन्य इन्द्रियोंके भी सभी अधिष्ठानोमें चक्षुरिन्द्रियके व्यापारसे ही ऐसा सम्भव होता था। इसी प्रकार कृष्णके वेणुकूजनमें गोपियोंकी सभी इतर इन्द्रियाँ स्थगित हो जाती थीं, केवल श्रोत्रेन्द्रिय सारे अधिष्ठानोंमें प्रविष्ट होकर रसपान करती थी। नीलकण्ठने श्रीहरिवंशकी व्याख्यामें इस रहस्यको प्रकट किया है—

'सार्वात्म्ये तु सर्वमिन्द्रियं सर्वविषयग्राहकं भवति॥'[4]

नीलकण्ठका तात्पर्य है कि सार्वात्म्य-सिद्धि होनेपर सभी इन्द्रियाँ सभी विषयोंकी ग्राहिका हो जाती हैं अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय रूपके अतिरिक्त शब्द और गन्ध आदिका भी ग्रहण कर सकती है, त्वगिन्द्रिय रूप-ग्रहणमें भी समर्थ हो जाती है। निष्कर्ष यह कि प्रेमी साधककी आराधनामें मस्त इन्द्रियाँ सर्वात्मना भगवन्मय हो जाती है। प्रेमलक्षणा भक्तिमें कर्मयोगका यही स्वरूप है। समस्त इन्द्रियोके सभी कर्मोंका योग श्रेष्ठ भगवान्‌में हो जाता है, प्रियतमसे पृथक् इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

१–द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत ९। ४। २१। २–श्रीधरस्वामी ९। ३। २१। ३–श्रीमद्भागवत १०। १४। ३३। ४–श्रीहरिवंश, भविष्यपर्व, अ० २, श्लोक १५।

कर्म, अकर्म, विकर्म और कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीशम्भूशरणजी वाजपेयी)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
(गीता ४। १७)

कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंका स्वरूप जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति दुर्बोध है। इन तीनोंको अच्छी तरह जाने बिना कर्मके बन्धनकारकत्वसे छुटकारा पाना कठिन है। कर्ममें कुशलता लाना, कर्मसे समत्व प्राप्त करना, कर्मको योगका रूप देना, योगस्थ होकर कर्म करना, कर्मद्वारा आत्मशुद्धि तथा कर्मद्वारा ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मोंको भस्मसात् करते हुए मुक्ति प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। कर्मके वास्तविक रहस्यको जाने बिना कर्मयोगका अनुष्ठान उत्तम नहीं हो सकता।

अकर्म और विकर्म कर्मके ही रूपविशेष है, जिन्हें पहचानना, जिनका मर्म जानना कर्मयोगीके लिये वाञ्छनीय है; क्योंकि तब कर्मयोगके आचरणमें सुविधा होगी। असलमें केन्द्रस्थ है कर्म, जिसका मर्म जाने बिना कर्मयोगका साधक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये मीमांसकोंने कर्मकी पर्याप्त चर्चा की है—**'कर्मेति मीमांसकाः'** की उक्ति प्रसिद्ध है। मीमांसक चाहे जिस दृष्टिसे कर्मको देखें, संसारमें सदा कर्मका महत्त्व रहा है और रहेगा, क्योंकि कर्मपर ही आधारित है प्राणीका वर्तमान जीवन, कर्मपर ही अवलम्बित है हमारा उत्थान-पतन, विकास-ह्रास, बन्धन-मोक्ष। अतीत जीवनमें भी कर्म प्रधान था, आगामी जीवन भी कर्मका परिणाम होगा। अतएव कर्मका फल इस जीवनमें ही नहीं, आगेके जीवनमें भी भोगना पड़ेगा, जो जैसा बोयेगा वैसा काटना पड़ेगा।

कर्मका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। एक क्षण भी हम बिना कर्मके नहीं रह सकते, चाहे जगे रहें, स्वप्नमें रहें या सोये रहे। गीता (५। ८-९ मे) कहती है—

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

अर्थात्—देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता तथा सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता और बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोंको खोलता और मींचता हुआ भी प्राणी किसी-न-किसी प्रकारका कर्म ही कर रहा है, चाहे वह कर्म अपने-आप हो या किसी इन्द्रियद्वारा हो, ऐच्छिक हो या अनैच्छिक हो अथवा स्वतः संचालित (Reflection) हो। कर्म स्थूल-शरीरतक ही सीमित नहीं है, सूक्ष्म शरीर तथा कारण-शरीरतक इसका विस्तार है। जीवनमें ही नहीं, मरण-कालमें भी जो भाव प्राणीमें प्रबल हो उठता है, उसका प्रभाव उसपर पड़ता है।

कर्मकी गति इस तरह पेचीदी है और इतनी सूक्ष्म है कि दूरस्थ सूर्य और चन्द्रका ही नहीं, विश्वके किसी कोनेमें घटित किसी घटनाका, किसी कर्मका भी प्रभाव हमपर पड़ सकता है, पड़ता है। अतएव इन्द्रियोंद्वारा ऐच्छिक कर्मोंको छोड़कर यदि हम चुपचाप हाथपर हाथ धरे बैठे रहे तब भी वह कर्म त्याग नहीं समझा जायगा; क्योंकि वैसी हालतमे भी हमारा मन कुछ-न-कुछ सोचता ही रहेगा; मनका धर्म ही है संकल्प-विकल्प, और यह भी कर्म ही हुआ। पुनश्च, हमारे कर्म छोड़कर बैठे रहनेकी कोई निन्दा करेगा, कोई प्रशंसा करेगा। इस निन्दा या स्तुतिको सुननेका प्रभाव भी हमारे चित्तपर पड़ेगा ही। यह भी कर्म ही हुआ। अतएव कुछ हदतक स्वरूपतः कुछ कर्मोंको छोड़ देना अकर्म नहीं है।

कर्मका असली महत्त्व क्रियामें नहीं है। असली महत्त्व उसके द्वारा प्राणीके चित्तपर पड़े संस्कारका

प्रभाव है; क्योंकि चित्त और मन ही वह विशाल दर्पण है, जिसपर विश्वेश्वरका—विराट् विश्वका प्रतिबिम्ब प्रतिक्षण पड़ता रहता है। जब उसपर संसारके मलका आवरण सघन हो जाता है, तब संसार-सारकी प्रतिच्छाया उसपर स्पष्ट नहीं दीखती है। वह मलका आवरण हमारे कर्मोंका परिणाम है। कर्म-योगका मुख्य उद्देश्य है चित्तपर कर्म-संस्कारको निर्मित नहीं होने देना, कल्पान्तमें चित्त जैसा निर्मल कहा गया था वैसा ही निर्मल रखना, मेघके जलकी तरह स्वच्छ—निर्दोष रखना। जैसे—'भूमि परत भा ढाबर पानी।' इसी तरह मनुष्यके संसारमें जन्म ग्रहण करते ही उसमें सांसारिकता आकर मिल जाती है; चित्त-दर्पणपर कर्म-धूलका पर्दा धीरे-धीरे मोटा होता जाता है, आत्म-बोध मिटने लगता है, देह-बुद्धि बढ़ने लगती है; शुद्ध-बुद्ध, निर्विकार आत्मा अपनेको नाशवान्, मलायतन शरीर समझने लगता है, पुरुष प्रकृतिके अञ्चलसे ढक जाता है। कर्मयोग इसीको रोकनेका सत्प्रयत्न है। कर्मयोग पुरुषका पौरुष निखारना चाहता है, उसके स्वाभाविक स्वातन्त्र्य, शक्ति और तेजको दीप्त रखना चाहता है। वह प्रकृतिको दासी नहीं, अर्द्धाङ्गिनीका हक देना चाहता है, लेकिन आत्मापर उसे हावी भी नहीं होने देना चाहता।

यह सम्भव है—अकर्मसे ही; क्योकि अकर्मसे (कर्म-की अनुपस्थितिसे) चित्तपर कोई सस्कार नहीं बनता है; सस्कार तो बनता है कर्मसे। किंतु कर्मयोग कर्मको ही इस युक्तिसे योगमें परिवर्तित कर देता है, चित्तवृत्तियों-का ऐसा निरोध कर देता है कि कर्मद्वारा उसपर कोई संस्कार नहीं पड़ने पाता है। कर्मयोगी कबीरकी तरह 'चादर'को ज्यों-की-त्यों रख देता है। उसे ओढ़कर नानाविध कर्म करता है अवश्य, लेकिन समत्वबुद्धिके कारण, योगस्थ होनेके कारण इस कुशलतासे करता है कि उसपर कोई दाग, कोई संस्कार नहीं पड़ने देता है। न कर्मका संचय होने पाता है और न कोई कर्म 'प्रारब्ध' ही बनने पाता है। कर्म मानो अकर्म हो जाता है और वह कर्ताके चित्तपर कोई चिह्न नहीं छोड़ता है। धन्य है इस युक्तिसे कर्म करनेवाला व्यक्ति। वस्तुतः—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

जो कर्ममें अकर्म (कर्मोंका अभाव) और अकर्म-(अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण कर्मोंके तथाकथित त्याग-) में कर्म (संस्कारका पड़ना या बनना) देखता है, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही यथार्थमें योगी है (गीता ४। १८)। वही सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है। महर्षि अष्टावक्र अपनी गीतामें कहते हैं—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥

'मूढ़ोंकी निवृत्ति (कर्म-विरति) भी प्रवृत्ति (कर्म-रति) भी उत्पन्न करती है। इधर धीर पुरुषकी प्रवृत्ति (कर्म-रति) भी निवृत्तिका फल प्रदान करती है।' कुशल कर्मयोगीका कर्म अकर्मवत् (संस्कार-निर्माणमें अक्षम-सा) हो जाता है, उसका कर्म बन्धनकारक नहीं होता है, आत्मविकासक होता है। मूढ़ोंके अकर्म और धीरोंके अकर्ममें, सकाम कर्मियो और निष्काम कर्मयोगियोंके कर्ममें यही अन्तर है कि प्रथमके कर्म-त्यागसे भी चित्तपर संस्कार पड़ जाता है और दूसरेके चित्तपर योगयुक्त कर्मका कोई संस्कार नहीं बन पाता है।

विकर्मके साथ भी वैसी ही बात है। शब्दकोष विकर्म शब्दका दोनों अर्थ—निषिद्धकर्म और कामसे अवसर ग्रहण करना—देता है। आचार्य विनोबा भावेने विकर्मकी जो व्याख्या 'गीता-प्रवचन'में दी है उसे समझनेका प्रयास करना चाहिये। उनके शब्दोंमें—'कर्मके साथ मनका मेल होना चाहिये। इस मनके मेलको

ही गीता विकर्म कहती है। बाहरका स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आन्तरिक विशेष कर्म अर्थात् विकर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकताके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर चौथे अध्यायमें बताये गये हैं। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायमें किया गया है। इस विशेष कर्म (विकर्म)का इस मानसिक अनुसन्धानका योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता-की ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अन्दर आती रहती है।.........'कर्मके साथ जब आन्तरिक भावका मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ तो निष्कामता आती है।'.........स्वधर्माचरणकी अनन्त सामर्थ्य गुप्त रहती है। उसमें विकर्म(विशेष कर्म) को जोड़िये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोटसे अहंकार, काम, क्रोधके प्राण उड़ जायँगे, उसमेंसे परम ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

'कर्ममें विकर्म डाल देनेसे कर्म दिव्य दिखायी देने लगता है। माँ बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। परंतु इस मामूली कर्मसे उन माँ-बच्चोंके मनमें जो भावनाएँ उठीं, उनका वर्णन कौन करेगा!......वह विकर्म उडेला हुआ है। इसीसे यह अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। कर्मके साथ जब विकर्म (विशेष कर्म-) का जोड़ मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म निर्माण होता है। इस तरह अकर्ममें विकर्मकी ज्योति जला देनेसे अन्तमें अकर्म हो जाता है। कर्ममें विकर्म उड़ेलनेसे अकर्म होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह ज्ञात ही नहीं होता है कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नहीं मालूम होता; [illegible] भी अकर्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण कर्मका कर्मत्व उड़ जाता है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे वह अकर्म हो आता है, मानो कर्म करके फिर उसे पोंछ दिया हो'—(गीता-प्रवचन-पृष्ठ ४६—४९)।

दूसरे शब्दोंमें यदि सफल कर्मयोगी कर्मको अकर्म बनाकर क्रियमाण कर्मको सञ्चितकर्म नहीं होने देता है, चित्तपर कर्म-संस्कार नही पडने देता है तो विकर्म सञ्चितकर्म और प्रारब्धकर्मको भी पोंछ डालता है, भस्मसात् करता है। सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है। इस ज्ञानाग्निमें सर्व कर्म—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध भस्मसात् हो जाते हैं, मिट जाते हैं, अशेष हो जाते हैं (गी० ४। ३७)। कर्मको यज्ञ समझकर चित्तकी विशुद्धता, तन-मनकी पवित्रताके साथ करनेसे (कर्ममें विकर्म उड़ेल देनेसे) सब कर्मोंका (त्रिविध कर्मोंका) पूर्णतः नाश हो जाता है (४। ३३)। फलस्वरूप जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। संस्कार-शून्य चित्तपर आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीख पड़ता है। आत्मस्वरूपका बोध हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगकी साधना करते-करते सब आसक्ति मिट जाती है और फलाकाङ्क्षा या कोई कामना नहीं रह जाती। इससे समत्व आ जाता है और अपने सुखकी इच्छा बिलकुल नहीं रह जाती। इन्द्रियाँ और मन वशमें आ जाते हैं, कर्मसे चित्त-शुद्धि हो जाती है और प्रत्येक नियत कर्म यज्ञके लिये होने लगता है। अन्तमे हृदयमें प्रेम उमड़ने लगता है और तब कर्ममें विकर्मके घोलके मिश्रणसे अकर्म निर्मित होकर कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है। इससे तत्त्वज्ञान अत्यन्त [illegible] है। ज्ञानके प्रकाशमें अज्ञान या मिथ्या

ज्ञान नहीं ठहर पाता है। संसार मिट जाता है, मनुष्यको मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

कर्मयोगकी सिद्धिके लिये, इसमें पूर्ण निष्कामता लानेके लिये साधकको कर्मशास्त्र और कर्म-विज्ञान दोनोंकी ओर समान ध्यान देना है। कर्म-विज्ञान सर्वत्र एक है, समान है; लेकिन कर्म-शास्त्र पृथक्-पृथक् है। इस भिन्नताका कारण यह है कि प्रत्येक मजहब, प्रत्येक धर्म-संस्थापक, सुधारक-प्रचारकका कर्मके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न विचार हैं, मान्यताएँ हैं। जो कर्म एकके लिये निषिद्ध है, वही कर्म दूसरेके लिये कर्तव्य है, नियत है; जो एकके लिये निन्द्य है, वही दूसरेके लिये प्रशस्य है। राष्ट्रका भी अपना एक कर्म-विधान या कर्म-शास्त्र रहता है। कुछ कर्म समाजद्वारा भी त्याज्य अथवा कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं।

पुनश्च, गुण और स्वभावके आधारपर, वर्णाश्रमके आधारपर भी कर्म निर्धारित किये गये हैं। एक ही कर्म, एक ही समाजमें, एक ही राष्ट्रमें जो एकके लिये विहित है, वह दूसरेके लिये निषिद्ध है। इतना ही नहीं एक ही कर्म, एक ही व्यक्तिके लिये एक आयुमें निषिद्ध है और दूसरी आयुमें विहित; किसीके साथ निषिद्ध है, किसीके साथ विहित। कालके अनुसार भी कर्मकी कर्तव्यता या त्याज्यतामें अन्तर आता है। सामान्यकालमें जो निषिद्ध है, वह आपत्तिकालमें निषिद्ध नहीं भी समझा जाता है; क्योकि 'आपद्धर्म' सामान्यधर्मसे भिन्न होता है। इन कारणोंसे देश, काल, परिस्थितिके अनुसार कर्मकी गति और भी गहन हो उठती है। कर्मयोगीको सर्वप्रथम यह जानना है कि कब उसके लिये कौन-सा कर्म नियतकर्म है, सहजकर्म है, स्वधर्म है और कौन-सा कर्म त्याज्य है, क्या परधर्म है। कर्मयोगीको देश, काल, समाज, परिस्थितिके अनुसार सदैव निर्धारितकर्म या नियतकर्म ही करना है। नियतकर्मकी अनुष्ठेयता गीता—(३ । ८) से प्रमाणित है—

'नियतं कुरु कर्म त्वम्…'

कर्म-विज्ञानका कर्मयोगीको जानना है कि, कर्मोंकी सिद्धिके लिये गीता (१८ । १४) में प्रतिपादित पाँच हेतुओंका समन्वय किस प्रकार होगा। पाँच हेतु ये हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

अर्थात्—अधिष्ठान (जिसके आश्रयसे कर्म किये जायँ), कर्ता, करण (इन्द्रियादि और साधन) नाना प्रकारकी चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ दैव। कर्मोंकी सिद्धिमें इनका क्या, कितना अंशदान रहता है तथा इनमें आपस तालमेल उत्तम रीतिसे कैसे बैठाया जाय—यह विचार करना आवश्यक होता है।

कर्मयोगीको 'कर्म चोदना' (कर्मके प्रेरक) यानी ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता तथा 'कर्म-संग्रह' यानी कर्ता, कर्म, करणका कर्म-निष्पादनमें क्या स्थान है, यह भी जानना चाहिये। इन्द्रिय-मन-बुद्धि आत्माका परस्पर सम्बन्ध और कर्ममें उनका कैसे सहयोग प्राप्त किया जाय, यह भी जानना चाहिये। सत्त्व-रज-तम तीनों गुण मनुष्योंको किस तरह कर्मसे बाँधते हैं तथा आहार-विहार और भावोंके साथ देही और कर्मका जो सम्बन्ध है, वह भी जानना चाहिये; क्योंकि ये सब कर्मकी गतिको जटिल बना देते हैं, दुर्बोध बना देते हैं। और, बिना इन्हें तत्त्वतः जाने कर्मगतिकी अवगति नहीं हो सकती।

जो कर्मयोगी नियतकर्म निष्कामभाव और सात्त्विक श्रद्धासे चित्तकी पवित्रताके साथ सात्त्विक भावापन्न हो, कर्मासक्ति और कर्म-फल त्यागकर निःस्वार्थ हो, पर-कल्याणके लिये सब कर्मोंको ईश्वरार्थ मानते हुए चित्त-शुद्धिके निमित्त करेगा, वह निष्काम कर्मयोगके अभ्याससे ज्ञान प्राप्तकर कर्ममें विकर्मका साथ देते हुए, अकर्मवत् कर्म करता हुआ, सब कर्मोंको ज्ञानाग्निसे भस्मसात् करते हुए ब्रह्मोपलब्धि करेगा ही; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि—

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः (गीता ३। १९)।

संक्षेपमें 'कर्मयोग' निःस्वार्थपरता और सत्कर्मद्वारा मुक्ति-लाभ करनेका एक धर्म और साधन है । इसको ठीकसे समझनेके लिये कर्मयोगीको कर्म-रहस्य अर्थात् वह कर्म किन कारणोंसे होता है, कर्म-प्रेरणाका स्रोत क्या है, कर्म-संग्रह क्या है, कर्मका सफल सम्पादन किन-पर निर्भर करता है, गुणों, इन्द्रियो, मन और चित्तका कर्मसे क्या सम्बन्ध है, कर्म विकर्म कैसे हो जाता है तथा कर्म अकर्ममें क्या भेद है—समझना चाहिये; क्योंकि इसके बिना निष्काम कर्मयोगकी सम्यक् साधना सम्भव नहीं है । इसीलिये गीतामें इसे गहन गतिके साथ ही 'बोधव्य' भी कहा गया है ।

कर्मयोग-सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियोंका निराकरण

(लेखक—प० श्रीश्रीरामजी शर्मा, आचार्य)

लोक-परलोकमें कल्याणके लिये शास्त्रो और मुख्यतः गीतामें मनुष्यमात्रको 'अनासक्त कर्मयोग' का उपदेश किया गया है । निःसदेह अनासक्त-कर्मयोग कल्याणका बहुत बड़ा साधन है । यह एक ऐसा जीवन-दर्शन है, कर्म करनेकी ऐसी पद्धति है, जिसका अनुसरण करनेसे मनुष्यके लिये लोक अथवा परलोकमें कोई भय नहीं रहता । किंतु इस अनासक्त योगके विषयमें बहुत-सी भ्रान्तियाँ और शकाएँ सामने आती हैं । इनका समाधान किये बिना इस योगको न ठीकसे समझा जा सकता है और न उचित रीतिसे उसका अनुसरण ही किया जा सकता है । अस्तु; इस महत्त्वपूर्ण योगको ठीक-ठीक समझ लेना नितान्त आवश्यक है । प्रायः लोग इस अनासक्त कर्मयोगका आशय यह समझते हैं कि मनुष्यकी अपनी शक्ति-सामर्थ्य कुछ भी नहीं है । वह विश्व-ब्रह्माण्ड-की एक सामान्य इकाई है और मनुष्यके व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी कर्मका हेतु, प्रेरक और संचालक केवल एक परमात्मा ही है । मनुष्यकी न तो अपनी कोई प्रेरणा है और न कर्म । उसके सारे कर्म और सारी क्रियाएँ उसकी इच्छा, प्रेरणा और शक्तिद्वारा सम्पादित होती हैं ।

अनेक लोग कर्मोंके साथ अनासक्तका अर्थ यह लगाते हैं कि 'जो भी कार्य किये जायँ, असम्बद्ध एवं निरपेक्ष भावसे किये जायँ । वे किये तो जायँ, पर उनके और उनके परिणामसे कोई सम्बन्ध न रखा जाय । यन्त्र-प्रवृत्तिसे उनका प्रतिपादन कर दिया जाय ।' कुछ लोग इससे थोड़ा आगे बढ़कर इस प्रकार मान लेते है कि अपना कर्तव्य तो करते चला जाय लेकिन उसके परिणामकी चिन्ता न की जाय । बहुतसे अतिवादी लोग तो यहाँतक बढ जाते है कि हम जो भी काम करते हैं, वह वास्तवमें हम नहीं करते । ये कर्म हमसे कराये जाते हैं और करानेवाला वह परमात्मा है । हमारेद्वारा होनेवाला काम अच्छा है या बुरा इसकी न तो हमें चिन्ता करनी चाहिये और न अपने ऊपर उत्तरदायित्व ही लेना चाहिये । उन सबका उत्तरदायी वह करानेवाला ईश्वर ही है । इस प्रकार अनासक्त-कर्मयोगके सम्बन्धमें न जाने कितनी भ्रान्तियाँ लोगोके मस्तिष्कोमें चला करती हैं । वस्तुतः अनासक्ति-योगके सम्बन्धमें ये सारी धारणाएँ भ्रान्तिपूर्ण हैं ।

यह बात सत्य है कि मनुष्य इस विश्व-ब्रह्माण्डकी एक इकाई है और उस परमात्मा-रूप चेतन-सत्तासे संचालित होता है । फिर भी यह मानना कि मनुष्यका प्रत्येक कार्य उसीकी प्रेरणासे होता है, उसका करानेवाला वही है, मनुष्य तो एक यन्त्रमात्र है, जैसा सचालित कर दिया जाता है, वैसा चल पड़ता है, जिधर चला

दिया जाता है चल पड़ता है—उचित नहीं है। इस मान्यतामें सामान्यरूपसे दो बाधाएँ हैं—एक तो यह कि वह सत्य, शिव और सुन्दर परमात्मा किसी मनुष्यसे कोई गलत काम नहीं करा सकता और यदि वह कराता है तो उसका दण्ड मनुष्यको नहीं मिलना चाहिये। लेकिन तथ्य इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है। जो भी मनुष्य कोई गलत या बुरा काम करता है, उसे देर या सवेर उसका दण्ड भी मिलता ही है। यह बात किसी प्रकार भी समझमें आनेयोग्य नहीं है कि एक ओर तो वह परमात्मा गलत काम कराता है और दूसरी ओर दण्ड देता है या दिलाता है। परमात्मा जो कि इस समस्त जड़-चेतन संसारका पालक, संचालक और स्वामी है, ऐसा अन्याय-परायण नहीं हो सकता।

दूसरी धारणा है—कर्म तो किये जायँ, पर असम्बद्ध या निरपेक्षभावसे। यह धारणा भी युक्त एवं भ्रान्तिपूर्ण है। जो कार्य असम्बद्धभावसे किया जायगा उसमें किसी प्रकारकी अभिरुचि अथवा तत्परता न रह सकेगी। जिस काममें अभिरुचि तथा तत्परता न रहेगी, वह ऊपरी मनसे यों ही असंलग्न प्रवृत्तिसे किया जायगा तो न ठीकसे किया जा सकता है और न उसका परिणाम ही उपयुक्त हो सकता है। ऊपरी मनसे अस्त-व्यस्त ढंगसे किये गये कार्यका परिणाम असफलताके रूपमें ही सामने आयेगा—जबकि संसारमें न तो कोई कार्य असफलताके लिये किया जाता है और न संसारका कार्य असफलताओंसे चल सकता है। सारे कार्य सफलताओंके लिये ही किये जाते हैं और कार्योंकी सफलतापर ही व्यक्ति तथा संसारकी प्रगति तथा उन्नति निर्भर है। कार्योंमें सफलता तभी मिलती है, जब वे संलग्नता तथा तत्परतापूर्वक किये जाते हैं। इसलिये अनासक्त-कर्मयोगका यह अर्थ लगाना कि सारे कार्य असम्बद्धभावसे, परिणामकी चिन्ता किये बिना, किये जायँ, सर्वथा असंगत तथा अनुपयुक्त है।

कर्माकर्मका दायित्व अपने ऊपर न मानकर परमात्मापर मानना भी अनासक्त-कर्मयोगका गलत अर्थ लगाना है। इससे मनुष्यका दुःसाहस बढ़ेगा और वह पाप-पुण्यकी मान्यताके प्रति धृष्ट हो उठेगा। वह अपनी पतनोन्मुख प्रवृत्तियोंके कारण अपकर्मोंमें ही लग सकता है, जिससे संसारमें भयानक अव्यवस्था तथा अनैतिकता फैल सकती है! किसी भी उत्तरदायित्वहीन व्यक्तिसे सत्कर्मकी आशा नहीं की जा सकती। इस आशयके साथ भगवान् कृष्ण तथा अन्य ऋषि-मुनियोंने अनासक्त-कर्मयोगका उपदेश किया होगा—ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कर्तव्यमें तत्परता और फलकी ओरसे उदासीनता—अनासक्त कर्मयोगका ऐसा अर्थ लगानेवाले भी गलतीपर माने जायेंगे। सफलता-असफलता और लाभ-हानिका दृष्टिकोण रखे बिना कार्योंमें तत्परताकी बात कहना मनोवैज्ञानिक विरोध है। सुफलको लक्ष्य करके ही कोई कार्य किया जाता है और तभी उसमें तत्परता भी आती है। जिन कार्योंके फलोंसे कोई प्रयोजन न होगा, वे कुशलतापूर्वक किये ही नहीं जा सकते। कार्यमें सफलता तो मनुष्यका ध्येय होता ही है, असफलतासे भी निष्प्रयोजन नहीं रहा जा सकता। यदि ऐसा होगा तो असफलताके कारण और उनको दूर करनेके उपायोंको खोजनेकी प्रवृत्ति ही न होगी, जिससे बार-बार असफलता ही हाथ आयेगी, जो किसी प्रकार भी वाञ्छनीय नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब अनासक्त कर्मयोग-का आशय यह भी नहीं है, वह भी नहीं है, तब अन्ततः उसका वास्तविक आशय है क्या? अनासक्त कर्मयोगका वास्तविक आशय इस प्रकार समझना चाहिये—

कर्मसम्बन्धी इस उपदेशको दो शब्दोंद्वारा निर्दिष्ट किया गया है—'एक निष्काम या अनासक्ति' और दूसरा 'कर्मयोग।'

अनासक्तिका आशय है—राग न रखना। आप कोई कितना ही बड़ा अथवा छोटा काम क्यों न करें, उसके प्रति अपनेपनकी भावना न जोड़िये। ऐसा न करनेसे उस कर्तृत्वमें अहङ्कारका समावेश होगा। बार-बार यह विचार आयेगा कि अमुक कार्य मैंने सम्पादित किया है, मैं एक कुशल कर्ता अथवा कर्तृत्वयुक्त व्यक्ति हूँ। अहंकारकी भावना क्या व्यक्ति और क्या समाज—दोनोंके लिये हानिकारक है। **'पाप मूल अभिमान'**—अहंकारको सभी पापोंकी जड बतलाया गया है। जब किसी कार्यमें आसक्ति नहीं होगी, तब उसके प्रति अहंकार भी नहीं होगा। अहंकारकी उत्पत्ति आसक्तिसे ही होती है और आसक्ति वहीं होती है, जहाँ अपनेपनका भाव होता है। अस्तु, कर्मोंमें अकर्तापनका भाव रखना ही अनासक्ति है। यह एक आध्यात्मिक अनुशासन तथा नम्रता है।

निखिल ब्रह्माण्डकी चेतन-सत्ताके अधीन होनेसे हम सबकी सारी शक्ति, जिसके आधारपर हम कर्म करनेमें समर्थ हैं, उसीकी है; अतः अपने समर्पित कर्मोंका कर्ता अपनेको न मानकर उस मूल सत्ता परमात्माको मान लेनेमें जहाँ एक ओर अपना कल्याण है वहीं दूसरी ओर सत्यको स्वीकार करनेकी नैतिकता भी है।

दूसरा शब्द है—'कर्मयोग'। इसका स्पष्ट अर्थ स्वयं भगवान्‌ने गीतामें दिया है—**'समत्वं योग उच्यते'**—फल एवं सिद्धिमें कामनाका अभाव ही योग है। सम वही हो सकता है, जो अच्छी तरहसे जानता हो कि योगमें ही लाभ है, जो योगकी स्थिति ही नहीं समझ सकता, वह योगी कैसा? साथ ही योग शब्दके अन्तर्गत शिव, सत्य तथा सुन्दरका भी भाव प्रवाहित होता है। अतः कार्यकुशलताके क्षेत्रमें अशुभ कर्मोंके आनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अन्तर्गत सर्वथा कल्याणकारी काम ही आते हैं। गीताने उसे ही 'लोक-संग्रह'का व्यापक नाम दिया है।

कुशलताका अर्थ निपुणता भी है। कर्मयोगका तात्पर्य तभी पूरा हो सकता है, जब कोई भी कार्य आसक्तिपूर्वक किया जाय। निपुणता तबतक नहीं आ सकती, जबतक वह पूरी तन्मयता, शक्ति और एकाग्रतासे नहीं किया जायगा। इस प्रकार सम्पूर्ण योग्यताओंके साथ किये गये कार्यमें सफलताकी आशा की जा सकती है; असफलताकी नहीं। फिर भी पूर्ण प्रयत्नों तथा प्रतिभाओंके बावजूद भी प्रारब्ध, संयोग अथवा किसी परिस्थितिवश असफलता भी मिल सकती है, उसके लिये पुनः अनासक्तिका निर्देश प्रस्तुत है। कर्मयोगका यह सामान्य स्वरूप है।

अनासक्त-कर्मयोगका वास्तविक तात्पर्य यह है कि किसी भी कामको पूरी कुशलता (समता) के साथ, कर्तापनका अभिमान छोड़कर किया जाय और उसके फलसे निर्लिप्त, निस्पृह अथवा अनासक्त रहा जाय, जिससे न तो सफलताका अभिमान हो और न असफलतामें निराशा अथवा निरुत्साह। किन्तु सिद्धान्ततः यह ठीक होनेपर भी स्वभावतः प्रवृत्ति-प्रेरक न होनेसे लोक-संग्रह अथवा भगवदर्पणरूप आधार लेकर ही अनासक्त होकर निष्काम कर्म करना सम्भव है, अतः कर्मयोगके क्रियान्वयनमें लोक-संग्रह या भगवदर्पणको लक्ष्यबिन्दु रखना अनिवार्य तथ्य है। ज्ञातव्य है कि ये दोनों प्रेरक भाव हैं; पर स्वार्थता न होनेसे निष्काम कर्ममें परिगृहीत हैं। इसीलिये भगवद्वाक्य हैं—**'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'** और **'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।'**

योग तथा कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीरामजी उपाध्याय)

'योग' शब्दका प्रयोग भारतीय साहित्यमें चाहे आगे-पीछे जब कभी हुआ हो, इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योगकी विधि वेदोक्त ही है। इतिहास साक्षी है कि ब्रह्मा, मरीचि, कश्यप आदि भी योगमें निपुण थे। चिन्तनमें प्रवृत्त लोगोंके द्वारा अपनायी गयी थी। सुदूर सिन्धु-सभ्यताके युगमें जो ध्यान-निष्ठित नेत्र-वाली मूर्ति मिली है, वह सम्भवतः किसी योगीकी है। इससे भी स्पष्ट है कि योग सृष्टिमें आरम्भसे ही प्रचलित रहा है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ भौतिक जगत्से आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार आत्मा परमात्म-तत्त्वसे यथेष्ट वस्तुएँ प्राप्त करती है। अथर्ववेद(१० । २ । २६)-में योगका मौलिक अर्थ इस प्रकार बताया गया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

'अथर्वा सिर और हृदयको आपसमें सीकर प्राणको सिरके बीचमें और मस्तिष्कके ऊपर प्रेरित करता है।' योगके प्रतिपादनकी अपनी अलग भाषा होती है, जैसा अथर्ववेद-(९ । १० । २७)में कहा गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

तुरीया वाणी लौकिक खरीवाक् है। वाणीके शेष तीन कण्ठसे मूलाधारतक अन्तर्निहित रहती हैं। सोते समय विस्मृतिके कारण सर्वविधि अपरिग्रहसे सर्वाधिक सुख होता है। उससे उच्चतर कोटिका सुख अनासक्त योगीकी समाधि-में होता है, तब वह तत्त्वतः ब्रह्ममें लीन होता है।

वैदिक मान्यताके अनुसार इन्द्रियोंकी स्थिर धारणा योग है। योगी इन्द्रियोंको वशमें करके अप्रमत्त हो जाता है।[1] योगकी साधारण परिभाषा है—चित्त-वृत्तियोंका निरोध करना। पातञ्जलयोगसूत्रकी यही परिभाषा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[2]।' प्रायः सभी लोग चित्त-वृत्तियोंका किसी-न-किसी अंशमें निरोध करते हैं, अन्यथा चित्तकी वृत्तियाँ उच्छृङ्खल और परिणामतः असंख्य होकर चिताके रूपमें असह्य बोझ मनुष्यके ऊपर डाल देंगी। योगशास्त्रके दृष्टिकोणसे चित्त चञ्चल है और वह सतत कोई-न-कोई समस्या मनुष्यके लिये उपस्थित किया करता है। चित्तकी शक्ति असीम है, तभी तो वह इतना सोचता है। दिन-रात कल्पनाओंके सागरमें उन्मग्न और निमग्न होते हुए थकता नहीं। इस शक्तिका सदुपयोग करनेके लिये चित्तवृत्तिको एकाग्र करनेकी योजना बनायी गयी है। अभीष्ट-प्राप्तिके उद्देश्यसे योग-मार्ग अपनानेवाले व्यक्तिके लिये चित्त साधन-स्वरूप साथी है। यह साथी जितना अधिक शुद्ध, सात्त्विक और एकपरायण हो, उतना ही अधिक उपयोगी है। जब योगसे अभीष्टकी प्राप्ति हो जाती है, तो इस साथी चित्तका कोई काम नहीं रह जाता है। यही चित्तवृत्तिका निरोध है। कुमारसम्भव-(३ । ५०)में कालिदासने भगवान् शिवके लिये ऐसा ही कहा है—

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति-
हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्त-
मात्मनमात्मन्यवलोकयन्तम्॥

१—कठोपनिषद् ६ । ११ । २—योगसूत्र १ । २ ।

योगीके लिये सम्मानको सबसे अधिक हानिकारक माना गया है। जो योगी अन्य मनुष्योंसे अपमानित होता है, वह शीघ्र ही सफल होता है—इस धारणासे कुछ योगी ऐसा आचरण करते थे कि लोग उनका अपमान या अवहेलना करते थे।[1] योग-मार्गमें नारीके प्रति आसक्तिको भी बाधक माना गया है। योगीकी मान्यताओंके अनुसार नारी नरकका द्वार है। स्त्री योगीके लिये मृत्यु है। वह तृणसे ढके कूपकी भाँति भयंकर पतनका कारण है।[2]

योगकी धार्मिक उपयोगिताका निरूपण किया गया है। इसके अनुसार योगमार्गसे हीनवर्णके पुरुष और स्त्री भी परम गतिके अधिकारी हो जाते हैं।[3] बौद्धसंस्कृतिमें योगकी प्रायः वैसी ही प्रतिष्ठा की गयी है, जैसी पतञ्जलिके योगसूत्रमें मिलती है। आध्यात्मिक योगमें जहाँतक चित्त और शरीरकी शुद्धिके लिये यम-नियम आदिकी योजना है, वह बौद्धसंस्कृतिके दस शिक्षापादों और चार स्मृति उपस्थानोंमें संगृहीत है। धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका अन्तर्भाव गौतम-बुद्धके द्वारा प्रवर्तित अष्टाङ्गमार्गकी समाधिमें हुआ है।

बौद्ध-संस्कृतिमें चित्तका वैज्ञानिक अध्ययन करके उसको संयमके द्वारा उपयोगी बनानेकी योजना प्रस्तुत की गयी। चित्तके विषयमें कहा गया है कि यह चञ्चल है, चपल है, कठिनाईसे रक्षा करने योग्य है और दुर्निवार्य है। मेधावी इसको उसी प्रकार सीधा करे, जैसे बाण बनानेवाला बाणकी नोकको करता है। चित्तका दमन करना श्रेयस्कर है। दमन किये जानेपर यह सुख देता है। चित्त कठिनाईसे दिखायी देता है। यह अत्यन्त निपुण होता है। इसकी गति यथेष्ट होती है। चित्त स्थिर होनेपर प्रसन्न होता है और ऐसी स्थितिमें प्रज्ञा उत्पन्न होती है। जिसका चित्त निर्मल, स्थिर और पाप-पुण्य-विहीन होता है, उस जागरूक पुरुषके लिये भय नहीं है। अनासक्त होकर चित्तकी रक्षा करनी चाहिये। कोई भी शत्रु मनुष्यकी उतनी हानि नहीं कर सकता, जितनी हानि असत्प्रवृत्त चित्त करता है। माता-पिता आदि सभी सम्बन्धी उतना काम नहीं कर सकते, जितना सम्यक् प्रकारसे प्रणिहितचित्त।[4]

आध्यात्मिक मार्गमें जिस सम्यक्समाधिकी प्रतिष्ठा की गयी है, उसके चार सोपान हैं। इन सोपानोंको ध्यान कहते हैं। प्रथम ध्यानमें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता—चित्तकी ये पाँच वृत्तियाँ रहती हैं। द्वितीय ध्यानमें प्रीति, सुख और एकाग्रता—ये तीन वृत्तियाँ रह जाती हैं। तृतीय ध्यानमें केवल सुख और एकाग्रताकी वृत्तियाँ रहती हैं। चतुर्थ ध्यानमें सुख नहीं रह जाता, केवल उपेक्षा और एकाग्रता रहती है[5]। समाधिके लिये चार स्मृतिप्रस्थानोंको निमित्त और चार सम्यक्प्रस्थानोंको परिष्कार-रूपमें ग्रहण किया जाता है[6]।

बौद्ध-संस्कृतिमें समाधिके लिये अरण्य, वृक्ष-मूल, पर्वत, कन्दराएँ, पर्वतकी गुफाएँ, श्मशान, वन-प्रदेश, खलिहान आदि उपयुक्त प्रदेश बतलाये गये हैं। गाँवोंसे भिक्षा लेकर साधक ऐसे ही स्थानोंपर पहुँचता था और आसन लगाकर समाधिमें लीन हो जाता था।[7]

१—विष्णुपुराण २।१३।४२-४३। २—(क) भागवत ३।३१।२९-४०। (ख) कालिदास कुमारसम्भव ३।७४। योगी शिवके विषयमें कहते हैं—स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्। ३—महाभारत शान्तिपर्व २३२।३२।

४—धम्मपदकी चित्तवग्गो। ५—दीघनिकायका महासतिपट्ठानसुत्त।

६—शरीरके प्रति जागरूक रहना, वेदनाओंके प्रति जागरूक रहना, चित्तके प्रति जागरूक रहना और धर्मोंके प्रति जागरूक रहना—ये चार स्मृति-उपस्थान हैं। सद्गुणोंका रक्षण, अलब्ध सद्गुणोंका उपार्जन, दुर्गुणोंका परित्याग और नूतन दुर्गुणोंकी अनुत्पत्तिका प्रयत्न—चार सम्यक्प्रस्थान हैं। इनकी आसेवना, भावना और बहुलीकरण समाधिभावना है।

७—मज्झिम निकाय—चूळहत्थिपदोपमसुत्त।

जैन-संस्कृतिके अनुसार तीर्थंकर महावीरने अपने जीवनमें समाधिके द्वारा स्वयं अपने चित्तको समाहित किया था। वे चार वर्ग-हाथ भूमिमें अपनी दृष्टि सीमित रखकर समाधि लगाते थे। वे तेरह वर्षोंतक दिन-रात मनोयोगपूर्वक निर्विघ्नरूपसे समाधिस्थ रहे। उन दिनोंमें वे बहुत कम सोते थे और पूर्णरूपसे निष्काम रहते थे। भिक्षा माँगते समय भ्रमण करते हुए भी वे चिन्तनमें ही निमग्न रहते थे। वे चलते हुए भी कहीं-कहीं अचल होकर समाधिस्थ हो जाते थे। इस प्रकार वे जीवन भर संयमपूर्वक रहे।[1]

परवर्ती धार्मिक साहित्यमें धर्म्य और शुक्ल ध्यानोंके द्वारा मोक्ष पानेकी योजना प्रस्तुत की गयी है। इन दोनों ध्यानोंमें शास्त्रीय निर्देश, विश्वकी रचना आदिका विचार तथा आध्यात्मिक विवेचन करनेकी रीति ही है। इनके परिणाम-स्वरूप आत्मामें सर्वथा लीन हो जानेकी कल्पना सिद्ध होती है[2]। पौराणिक युगमें ध्यानका महत्त्व बढ़ा और जैन-संस्कृतिमें योगके द्वारा व्यक्तित्वके सर्वोच्च विकासकी योजना बनी। इस युगमें ध्यानकी परिभाषा अधिक व्यापक दिखायी देती है। किसी एक वस्तुमें एकाग्रता-पूर्वक चित्तका निरोध ध्यान है। जिस ध्यानकी वृत्ति बुद्धिके द्वारा नियन्त्रित होती है, वही यथार्थ ध्यान है, अन्यथा वह अपध्यान है। ध्यानके पर्याय योग, समाधि, धीरोध, मनोनिग्रह, अन्तःसंलीनता आदि माने गये हैं[3]।

ध्यानके लिये निर्विघ्न स्थानका चुनाव होता था। ऐसे स्थानमें भूतलपर ही वीरासन[4] या कार्योत्सर्ग-आसनसे बैठकर हथेली, दाँत तथा शरीरके शेष भागोंके समुचित विन्यासका विधान होता था। फिर मनको नियोजित किया जाता था। योगके द्वारा व्यक्तित्वके अनुपम विकासकी सिद्धि मानी जाती थी। महापुराण (२१। २३८) का वचन है—

अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयम्।
भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित्॥

'योगज्ञ मुनि इस लोकमें अणिमा आदि गुणोंसे युक्त सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय और ऐश्वर्योंका भोगकर मुक्ति या परिनिर्वाण पाता है। उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध होता है कि वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों संस्कृतियोंमें योगको मानव व्यक्तित्वके सर्वोच्च विकासके लिये एकमात्र साधन माना गया है। गीताके अनुसार तो योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—तीनोंसे उच्चतम हैं।

मानव अपने सुखके लिये जबतक अपने शरीरके बाहरकी वस्तुओंपर अवलम्बित है, तबतक उसे निराशा हो सकती है। शरीरके जराजीर्ण होते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग न तो शाश्वत आनन्दके साधन हैं और न इनसे स्वच्छ आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार प्रथम पदमें बाह्य वस्तुओंको छोड़कर केवल अपने शरीरको आनन्दका साधन बनाया जा सकता है, वैसे ही शरीरका संन्यास करके आत्माको आनन्दके साधन-रूपमें सीमित कर लेना सफलताकी दिशामें दूसरा पद है। जबतक व्यक्ति शरीरको आनन्द या सुखका साधन बनाता है, तबतक मरणोत्तरकालमें वह शरीरी होता है। योगके द्वारा जब वह आत्माको ही आनन्दके साधन-रूपमें सीमित कर लेता है तब वह मरनेके पश्चात् शरीरी होता हैं। यही मुक्तिकी अवस्था है। यही आत्मरतिकी परमपद-प्राप्ति है। आत्माका आत्मामें ही रमण करना सर्वोच्च अनुभूति है। जैसे शरीर और संसार संसारी जीवके आनन्द-निस्यन्द हैं, वैसे ही योगीके लिये आत्मा और ब्रह्म हैं। (अपूर्ण)

१—आचाराङ्गसूत्र (१।८।१।४)।

२—तत्त्वार्थसूत्र (९।२७।४४) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन—तीनोंके साथ वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको धर्म कहते हैं। इन्हींका ध्यानधर्म्य है। कषायरूपी मलोंका छूटना शुक्लता है। यह ध्यानशौक्ल्य है। महापुराण (२१। १३३। १३४)। ३—महापुराण (२१।५।१२)। ४—आसनोंके लिये 'कल्याण'का योगाङ्क द्रष्टव्य है।

कर्मयोगका 'कर्म' एवं 'योग' क्या है ?

(लेखक—श्रीगोरखनाथ सिंह, एम्० ए०)

किसी देशका दर्शन उस देशकी सभ्यता-संस्कृतिकी अमूल्य निधि है। भारतीय संस्कृतिके संसारमें बेजोड़ होनेका एक कारण यह भी है कि उसके षड्दर्शन जीवन और जगत्की समस्याओंको सुलझानेमें आगे रहे हैं। मुक्तिकी समस्या भारतीय मनीषाकी उपज और उसका समाधान उसकी प्रज्ञाकी सफलता है। मुक्ति-साधनोंमें गीताका 'कर्मयोग' अथवा 'निष्काम कर्मयोग' अद्वितीय है; क्योंकि इसका अभ्यास बड़ा सरल एवं व्यावहारिक है। इसका अभ्यास एक रिक्शाचालकके लिये उतना ही सरल है, जितना एक करोड़पतिके लिये अथवा एक राजनैतिक एवं संन्यासीके लिये। आजके युगके महान् कर्मयोगी महात्मा गाँधी थे। जिन्होंने संसारको अहिंसा तथा सत्याग्रहका अस्त्र प्रदान किया। उनके जीवनका प्रेरणास्रोत गीताका कर्मयोग रहा है। कर्मयोग क्या है, इसके विवेचनके पहले हम 'योग'का विवेचन करेंगे; उसके पश्चात् 'कर्म'का।

भारतीय वाङ्मयमें आध्यात्मिक और धार्मिक संदर्भमें जिन शब्दोंका व्यापक प्रयोग हुआ है, उनमेंसे 'योग' भी अन्यतम है। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा, ब्रह्म, जीव, मोक्ष, निर्वाण, धर्म और ईश्वरकी भाँति 'योग'का भी प्रयोग बहुत हुआ है। इस देशकी विचारधाराको तीन मुख्य धाराओंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) वैदिकधारा, (२) बौद्धधारा और (३) जैनधारा। इनमे सबसे प्राचीन वैदिकधारा है। इसे नैगम अथवा वेदमूलक कह सकते हैं। उल्लेखनीय है कि वेद केवल संहिताओंको ही नहीं कहते प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थ भी इस नामके अधिकारी हैं। इतना सुनिश्चित है कि वे सभी लोग, जिनको 'हिन्दू' कहा जाता है, वेदको प्रमाणग्रन्थ मानते हैं। वेद प्राचीन संस्कृतभाषा-(वैदिकभाषा-)में है एवं वेद पर आधारित अन्य ग्रन्थ भी संस्कृतमें ही हैं; यथा—रामायण, महाभारत, महापुराण, उपपुराण, स्मृतियाँ प्रभृति। इन सबमेंसे बहुतोंमें योगसम्बन्धी चर्चाएँ भरी पड़ी हैं; कहीं स्वतन्त्ररूपमें, कहीं आनुषङ्गिकरूपमें।

दूसरी दार्शनिकधारा 'बौद्धधारा' है। इसका उद्भव बुद्धदेवके उपदेशोंसे होता है। बौद्धग्रन्थ पालिभाषामें हैं। बौद्ध ग्रन्थ भी योग और योगियोंकी चर्चाओंसे भरे पडे हैं। भगवान् बुद्धका जीवन स्वतः इसका प्रतीक है। जिस 'मध्यममार्ग'का उपदेश उन्होंने दिया था, वह उनकी योगसाधनाकी बहुत बड़ी उपलब्धि थी। अर्हत् पद, जहाँ पहुँचकर फिर जन्म नहीं लेना होता, योगज समाधिका ही प्रतिफल है।

तीसरी धारा जैनदर्शनकी है। इसके संस्थापक वर्द्धमान महावीर तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर थे। इनके भी मुख्य प्रस्थान 'प्रामाणिकग्रन्थ' पालिभाषामें हैं। इस सम्प्रदायमें योगकी जगह तपश्चर्याको दी गयी है। इस कारण जैन वाङ्मयमे योग और योगियोकी कम चर्चा मिलती है।

इन तीन दार्शनिक धाराओके अतिरिक्त एक चौथी धाराका भी उदय हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इसका भी महत्त्व है। इसे तन्त्रशास्त्र कहते हैं। इसके दो भेद है (१) आगम और (२) बौद्ध। तन्त्रका जो रूप वैदिक समाजमे प्रस्फुटित हुआ उसे 'आगम' कहते है। वेद निगम हैं, तन्त्र आगम हैं। वैसे आधुनिक जैन आगमोंकी संख्या शताधिक है। बौद्ध-तन्त्र भी अनेक हैं। तन्त्रशास्त्रके दो भेद हैं—(१) शैव (२) शाक्त। बौद्धतन्त्र और आगममें यह भेद है कि आगमके लिये परमपुरुषार्थ मोक्ष है, परन्तु बौद्धतन्त्रमें चरमलक्ष्य 'निर्वाण' है। इसके अतिरिक्त आगमग्रन्थ वेदको प्रमाण

नहीं मानते हैं। परंतु बौद्धतन्त्र-ग्रन्थ बुद्धके उपदेशोंको पूर्णतया प्रमाण मानते हैं।

योगशब्द 'युज्-समाधौ' धातुसे निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—ध्यान लगाना। यह माना जाता है कि योग वह क्रिया-कलाप है, जिससे जीवात्मा परमात्मामें मिलता है। अतः योगी वह व्यक्ति है, जिसकी आत्माका परमात्मासे मिलन हो चुका हो या जुड़नेका प्रयास चल रहा हो। जीवात्मा एवं ब्रह्मके मिलनका अर्थ है कि जीव अपने दोषोंसे ऊपर उठकर ईश्वरके अनन्त तेज, अनन्त सौन्दर्यका नित्य आनन्द लेने लगे। वैसे योगिराज श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'समत्वं योग उच्यते' यानी समत्वको योग कहते है। स्पष्टतः यहाँ साध्य और साधन दोनोके लिये एक ही शब्दका प्रयोग हुआ है। 'समत्व' के अभ्याससे योगके मार्गपर चलनेमें सफलता मिलती है। ज्यों-ज्यों अभ्यासी आगे बढ़ता है, उसमें समत्वकी दृष्टि आती जाती है। इसलिये समत्व योगकी परिभाषा नहीं है, अपितु योगका आनुषङ्गिक गुण है; जैसा कि गीता-(२। ५६-५७ और ५। १८) में कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

इसके अतिरिक्त 'योगः कर्मसु कौशलम्', अर्थात् कुशलताके साथ कर्म करनेका नाम योग है—ऐसा भी कहा है। ज्योतिषमें ग्रहों और नक्षत्रोंकी विशेष स्थितिको 'योग' कहते हैं। पुनश्च आयुर्वेदमें ओषधियोंके मिश्रणको 'योग' कहते हैं। युक्तिवाचक योगशब्द 'जोगाड़'में स्पष्ट है।

आयुर्वेद-शास्त्रमें योग शब्द 'समाधि'के अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। जब वात, पित्त और कफ तीनों दोष एक साथ उद्दीप्त होते हैं तो उस अवस्थाको सन्निपात कहते हैं तथा जिस समय ये तीनों दोष समानरूपसे एक साथ शान्त हो जाते हैं, तब उस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। वहाँ (आयुर्वेदमें) यह स्पष्ट है कि यह अवस्था मरणका सूचक है।

अध्यात्म और योगके सम्बन्धमें बहुधा लोग शङ्का करते हैं, पर इस सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रत्यक्षतः योगका सम्बन्ध धर्मसे नहीं है; क्योंकि धर्म तो मुख्यतया यज्ञ, दान, शौचादि आचार या तप, स्वाध्यायादि अष्टाङ्ग, दशाङ्ग पुण्योंका नाम है तथापि इस सम्बन्धमें याज्ञवल्क्यका यह कथन भी ध्येय है कि 'अयं तु परमो धर्मः यद् योगेनात्मदर्शनम्' अर्थात् योगके द्वारा आत्माका दर्शन करना तो सबसे बड़ा धर्म है।

अब हम दूसरे प्रश्नपर आते हैं कि कर्म क्या है? जो कुछ इस शरीरसे होता है वह सब कर्म है। इस कर्मकी प्रक्रिया तबतक चलती रहती है, जबतक इस स्थूल-शरीरका अवसान नहीं होता है। यह कर्म ही मनुष्योंके सुख-दुःखका कारण है। इस कर्मजनित सुख-दुःखके कष्टोंके निवारणका क्या उपाय है? इसका दार्शनिक किंतु व्यावहारिक उत्तर गीताके कर्मयोगमें सन्निहित है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि हर एक आदमी न तो संन्यासी हो सकता है और न तो उसके लिये संन्यासी होना जरूरी ही है। उपनिषदोंमें, जिनको शंकराचार्यने प्रस्थानग्रन्थोंमें प्रथम स्थान दिया है, ऐसे कई लोगोंकी चर्चाएँ हैं, जो संन्यासी नहीं थे। काशिराज अजातशत्रु गृहस्थ थे। उन्होंने दृप्तबालाकि और उनके पिताको ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया था। विदेह राजा थे, संन्यासी नहीं। स्वयं याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके पूर्व संन्यासी नहीं थे। शंकराचार्यका दूसरा प्रस्थानग्रन्थ गीता है। इसके रचयिता श्रीकृष्ण गृहस्थ थे और

उन्होंने अपने अभिन्न मित्र एवं शिष्य अर्जुनको गृहस्थाश्रम छोड़नेका आदेश नहीं दिया। योगवासिष्ठके अनुसार श्रीरामचन्द्रजीको बचपनमें वैराग्यहुआ, तथापि वे गृहस्थाश्रममें ही पड़े रहे। कबीर और नानक गृहस्थ थे। यह गीताका कर्मयोग गृहस्थके लिये भी व्यावहारिक है। उसे परिवार एवं गृहस्थी छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि गृहस्थाश्रम छोड़नेका आशय यह नहीं है कि संन्यासीने संसारको छोड़ दिया। संसार हमारे बाहरके ईंट, पत्थर, वृक्ष, वनस्पति, मनुष्योंकी भीड़में नहीं है। वह तो हमारे भीतर है। मनुष्य जहाँ जाता है, अपना संसार अपने साथ लिये जाता है। यह संसार, जैसा कि कहा जा चुका है—ईंट, पत्थर, वनस्पतियोंसे नहीं अपितु हमारे अन्दरके काम-क्रोध, राग-द्वेषसे बना हुआ है। कपड़ेको बदल लेनेसे ही संसारका परित्याग नहीं होता। घर छोड़कर जंगलमें रहनेपर भी संसार साथ जाता है। किंतु कर्मयोगकी साधना करनेसे मनुष्य सांसारिक बन्धनोसे छुटकारा पा जाता है। श्रीकृष्णने (गीता २। ४८ में) इस कर्मयोगकी व्याख्या निम्नवत् की है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

'अर्जुन! योगभावमें स्थित होकर कर्म करो। कर्मफलके प्रति मोह छोड़ दो और सफलता-असफलतामें समानभावसे रहो—कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करो, फलकी लिप्सासे नहीं।' इसी समत्वको योग कहते हैं।

यह कर्मयोग-भारतीय दर्शनका प्राण है। तभी तो इसकी महिमाके सम्बन्धमें 'योगबीज' उपनिषद्में कहा गया है—

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये॥

कर्मके सम्बन्धमें गीतामें कहा गया है कि किसी भी क्षण मनुष्य बिना कर्मके नहीं बैठता है—'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' किंतु कर्म ही करते सौ वर्षोंतक जिया जाय—इस सम्बन्धमें ईशावास्योपनिषद्में कहा गया है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

—'कर्म करता हुआ सौ वर्षोंतक यानी पूर्ण आयुभर जीनेकी इच्छा करे। मनुष्योंके लिये यही मार्ग है। इसपर चलनेसे मनुष्य कर्मसे लिप्त नहीं होता है।' यहाँ अन्तिम वाक्य अधिक महत्त्वका है; क्योंकि कर्ममें बहुत बड़ा दोष यह है कि वह अनन्तचक्रको जन्म देता है। कर्मसे फल होता है और फलस्वरूप वासनाएँ होती हैं। वासनाओंसे फिर कर्म होते हैं। यह ताँता कभी टूटता नहीं है। मनुष्य सदा कर्ममें लिप्त रहता है। परंतु इसके विपरीत इस प्रकारसे भी कर्म किया जा सकता है कि मनुष्य कर्म करता जाय, किंतु उससे लिप्त न हो। उसके अच्छे-बुरे फलके प्रति आसक्ति न हो। किंतु यह सम्भव कैसे होगा? इसका रहस्य इसके पहलेके मन्त्रमें है—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—त्यागके द्वारा आत्मरक्षण करे। क्यों? इसलिये कि मनुष्य सहस्रों दूसरे प्राणियोंका ऋणी है। यदि वह इस बातका निरंतर प्रयत्न करे कि दूसरोंका ऋण सतत हटता जाय तो वह अनायास ही दूसरोंकी सेवा करता रहे। परिणामतः वह कर्मके फलसे लिप्त न होगा। इसीको 'निष्काम-कर्म' कहा गया है। इस प्रकारके कर्ममें लगे रहनेको कर्मयोगकी संज्ञा दी गयी है। इसीको गाँधीजीने अनासक्ति योगका नाम दिया है। दो शब्दोंमें कर्मयोगका मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य कर्मके फलमें आसक्ति न रखे। वह लोकसंग्रहके लिये काम करता जाय, परंतु उसके फलकी चिंता न करे। इसका आशय यह नहीं है कि कर्मयोगी पागलोंकी तरह होता है। जो भी कार्य सामने आ गया, उसे कर

बैठता है; वरन् कर्मयोगी जो भी कार्य करता है, वह लोकसंग्रह अथवा लोकहितके लिये करता है । कर्म करते समय वह मैं कर्ता हूँ—इस भावनासे रहित होकर कार्य करता है । परिणामतः यदि कार्य सफल हुआ तो लोकहित हुआ; फिर भी उसमें गर्व और हर्षकी अनुभूति नहीं होनी चाहिये तथा असफल होनेपर उसमें विषादकी भी अनुभूति नहीं होनी चाहिये । कर्मयोगी तो कर्मको केवल इसलिये करता है कि लोकहित हो, उसका करना उसके लिये कर्तव्य है । इसलिये गीतामें कहा गया है—

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।'

किंतु तुमको कर्म करनेका ही अधिकार है । फलका अन्वेषण करनेका नहीं* । अतः कर्मयोगी न तो कर्मफलके पीछे परेशान होता है और न तो कर्मका परित्याग ही करता है । वह तो सत्य और ऋतके भरोसे कर्म करता है । इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय है कि ऋत भौतिक नियमोंके समुच्चयको कहते हैं, जिसका अध्ययन मुख्यरूपसे भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान तथा गणितमें होता है । ऋतका आशय उन नियमोंसे है जिनके अनुसार कर्मोंके फल मिलते हैं । अमुक प्रकारके कर्मका अमुक प्रकारका फल मिलेगा—यह सत्य ऋत है । यह भी सत्य है कि ऋत और सत्यके अनुसार यह जगत् चल रहा है । इस सम्बन्धमें 'ऋग्वेद'में भी कहा गया है—

'ऋतं च सत्यं चाभिद्धात् तपसोऽध्यजायत ।'

अर्थात्—जब सृष्टिके आरम्भमें हिरण्यगर्भने तप किया तो उस तपसे ऋत और सत्यका जन्म हुआ । इस प्रकार कर्मयोगका अभ्यास करनेका सबसे बड़ा लाभ यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनोंसे रहित हो जाता है; यथा गीतामें कहा गया है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(२ । ५०-५१)

अर्थात् 'कर्मयोगी, जो समत्वदृष्टिको प्राप्त हुआ है वह पाप-पुण्यको इस संसारमें ही छोड़ जाता है । इसलिये कर्मयोगका अभ्यास करना परमपुरुषार्थ है और हमें इस प्रकारके योगमें कुशलता प्राप्त करनी चाहिये । इस प्रकारका योगी फलकी आसक्तिको त्यागकर, जन्म-मृत्युके बन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है; क्योंकि वह सबके हितमें कर्म करनेमें लगा रहता है ।'

निष्कर्ष यह है कि वह कर्म-बन्धनको आसक्तिसे रहित होकर तोड़ देता है और विश्व-व्यवस्था या लोक-मङ्गलकी भावनासे पावन कर्तव्यकर्मोंको करनेमें दत्तचित्त होकर संलग्न रहता है । उसका ऐसा कार्य ही लोकसंग्रह है, जो भगवान्‌का निजी कर्तव्य है ।

अनासक्त ही जीवन्मुक्त है

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्तु जाग्रन्न विद्यते । यस्य निर्वासनो बोधो जीवन्मुक्तः स उच्यते ।
यस्यं नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते । कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

'जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तिकी तरह स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूप निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, पर जो जाग्रत् भी नहीं है—भोग-जगत्‌में सदा सोया हुआ है अर्थात् भोगबुद्धिसे जो किसी भी पदार्थका उपभोग नहीं करता और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसमें अहंकारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और कर्म न करते समय अकर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

(योगवा० उत्पत्ति-प्रकरण ९ । ७-८)

* गीता २ । ४७

निष्काम कर्म क्यों करें ?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

वैदिकसाहित्यमें 'निष्काम' पदका प्रयोग मेरी जानकारीके अनुसार केवल 'शतपथब्राह्मण' तथा 'मुण्डकोपनिषद्'में हुआ है। पौराणिक साहित्यमें गीताको छोड़कर निःस्वार्थ इच्छारहित, तटस्थरूपसे काम करनेके अर्थमें 'निष्कामकर्म'का प्रयोग मार्कण्डेयपुराणमें भी मिलता है। 'कादम्बरी'में भी 'निष्कामुक' शब्द आया है, जिसका अर्थ है—सांसारिक इच्छासे रहित। भारतीय इतिहासके विद्वानों तथा भारतीय इतिहासके लेखकोंने महाभारत-युद्धका समय ईसासे १४०० वर्ष पूर्व तथा उपनिषद्-रचनाकाल ईसासे १००० वर्षसे ६०० वर्ष पूर्वके भीतर माना है*। इस तरहसे निष्कामकर्मकी भावनाकी उपज आजसे न्यूनातिन्यून तीन सहस्र वर्ष पूर्वकी या वस्तुतः पाँच सहस्रवर्ष पूर्वकी मानी जानी चाहिये, जब कि संसारमें किसी कोनेमें ऐसी कल्पना तक न थी।

'मनोरथ'के अर्थमें 'काम' शब्दका उपयोग बहुत स्थानोंमें मिलता है। महाभारत (१३।१४९।४५)के विष्णुसहस्रनाममें इसका सुन्दर प्रयोग है—**'कामहः कामकृत् कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः'** महाकवि माघने **'कामं क्षम्यतु यः क्षमी'** (२।४३)में इसका बडे सुन्दर ढंगसे प्रयोग किया है। पर यहाँ 'काम' अव्यय है और उसका अर्थ है—'चाहे या भले', 'निष्कामता' नहीं। कालिदासका समय यदि विक्रमीय संवत्से लिया जाय तो वह आजसे २०३७ वर्ष पूर्व होता है। इस प्रकार विचार करनेसे भी 'निष्काम' शब्द पर्याप्त पुराना है। डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजीने गणित-ज्योतिषसे सिद्ध किया था कि वेदकाल ईसासे १०,००० वर्ष पूर्वका है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलरका कथन है कि वेदोंकी रचना ईसासे ५००० वर्ष पहलेकी तो अवश्य है, पर इससे भी कितने पहलेकी है, यह निर्णय करना सम्भव नहीं है। अतएव हम इस विवादमें न पड़कर यही मानकर चलें कि हिन्दू-दर्शनने सर्वप्रथम निष्काम कर्मका प्रतिपादन आजसे प्रायः चार सहस्र वर्ष पूर्व किया था। पर किसी शब्दकी रचना आपसे आप नहीं हो जाती। 'ॐकार' शब्द नहीं है, नाद है। अक्षर क्षर नहीं होते। वे ब्रह्माण्डमें विचरते रहते हैं। पाणिनिके कथनानुसार वे शंकरके ढक्का-नादसे निकले और 'अ इ उ, ऋ ऌ' की ध्वनिसे ही अक्षर समाम्नायका प्रादुर्भाव हुआ; पर शब्दके रूपमें अक्षरोंको समाजने गूँथा था और सदा ही गूँथा करता है। अंग्रेजी भाषा इसलिये धनी होती जा रही है कि संसारके समाजके प्रत्येक अङ्गसे खींच-खींचकर उनके उपयोगी शब्दोंको वे अपनी भाषामें जोड़ लेते हैं, इसीलिये उनके शब्दकोषके हर नये संस्करणमें ४-५ हजार नये शब्द जुड़ जाते हैं। इसीलिये हमारे लू, खादी, गुण्डा आदि भारतीय शब्द अब अंग्रेजी शब्द बन गये हैं। इनके पर्यायवाची अंग्रेजी भाषामें शब्द ही दूसरे नहीं हैं। इसी प्रकार कामसे निष्काम शब्दकी रचना तत्कालीन समाजकी सांसारिक विचारधाराको सही मार्गदर्शनके लिये हुआ होगा। अतः विचारणीय है कि निष्काम भावना कब उदित हुई।

निष्काम भावनाका उदय

अनुमान है कि निष्काम कर्मकी भावनाका उदय और विकास हमारे समाजमें तभी आवश्यक हुआ, जब मानवमें अहंभावकी वृद्धि हुई और मनुष्य अपनेको कर्ता-

* अभी हालमें प्रकाशित 'The Age of Mahabharat war' ग्रन्थमें प्रायः पचासों विद्वानोंने निर्विवाद रूपसे सप्रमाण महाभारत-युद्धका काल ३१३७ ई० पूर्व वर्ष सिद्ध किया है।

धर्ता समझने लगा होगा। वैष्णवोंका साधनसप्तक हमें उस दिशाकी ओर ले जाता है, जहाँसे मनुष्य अपने वास्तविक उद्देश्यकी ओर बढ़ता है, उनके साधन-सप्तकमें ये सातपग इस प्रकार दिये हुए हैं—१–विवेक, २–व्यामोह (बुद्धिका मोहरहित होना), ३–अभ्यास, ४–क्रिया, ५–कल्याण (धर्मकार्य), ६–अनवसाद (क्षोभसे रहित) और ७–अनुद्धर्ष (हर्ष या उल्लाससे रहित)।

यदि ईश्वरको प्रत्येक प्राणीमें वर्तमान मान लें तो किसीके प्रति राग-द्वेष होना ईश्वरके प्रति राग-द्वेष होगा। अतएव सबसे प्रेम हो जानेपर फिर कर्ममें कोई आसक्ति नहीं रहती; मन केवल यन्त्रवत् कार्य करता है। इसीलिये विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायने विशेषकर रामानुजने 'प्रपत्ति' आत्मसमर्पण अथवा भक्तिका मार्ग प्रतिपादित किया था। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन्हीं मार्गोंसे मुमुक्षुको—मोक्षके अभिलाषीको चलना होगा। जब जीवको ईश्वरसे तादात्म्यका भाव या आभास होगा तभी वह मोक्षके आनन्दको भी समझ सकेगा। मोक्ष अन्ततः है क्या ?—ईश्वरके अनन्त प्रेममें डूब जाना। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि एक भी (चाहे वह कितना ही छोटा या महान्) उद्देश्य ही क्यों न हो, उसे लेकर चला गया तो वह कार्य निष्काम कैसे हुआ ? इसका उत्तर केवल एक है—प्रेमकी पराकाष्ठामें कामना शून्य हो जाती है। 'निष्काम कर्म करेंगे'—ऐसा सोचकर निष्काम कर्म नहीं होता। वह स्वतः आपसे-आप जाग्रत होता है। गीतामें जहाँ भी इसका उपदेश है, वह एक लक्ष्य-साध्य है। उसका यह अर्थ नहीं है कि निष्काम-कर्म कोई कामना करके नहीं किया जाता। वह लक्ष्य है—वह अन्तिम स्थिति है, जो रामानुजके कर्म-ज्ञान तथा अन्तमें भक्तियोगसे प्राप्त होती है। भक्त यदि भगवान्से लौकिक पदार्थोंकी याचनाके लिये उपासना करता है तो वह केवल सौदा कर रहा है। वह अपने देवताको इतना अज्ञानी समझता है कि उसे भक्तकी कठिनाइयोंका ज्ञान करानेपर जानकारी होगी। यह उसकी भूल नहीं तो और क्या है ?

भक्ति-पथ

जीव जब अपने शरीरके प्रति अनुरक्तिकी भावनासे मुक्त हो जाता है तब वह अपनी आत्मा और प्रकृतिमें भेदको पहचान जाता है। तब प्रकृतिद्वारा प्रदत्त मिथ्या-भास, भ्रम, मोह, माया समाप्त हो जाती है। अतएव कर्मयोग केवल ज्ञानयोगका साधन है। कर्मयोगसे ज्ञानयोग, ज्ञानयोगसे मोक्षका द्वार खुलता है। गीता हमें इसी ओर ले जाती है। भक्तिमार्गीका तर्क है कि ज्ञानयोगके जीवको कैवल्य तो प्राप्त होता है, पर वह कैवल्य केवल आत्मातक—अपनेतक सीमित रहता है। ईश्वरत्व अथवा ईश्वरके अनन्त प्रेमकी प्राप्तिके लिये यह आवश्यक है कि जीव-ज्ञानसे भक्ति-मार्गमें आ जाय, तभी वह परम पुरुषके अनन्त प्रेममें विलीन हो जायगा। अतः मोक्षके लिये भक्ति आवश्यक है।

भक्तिमार्गका सिद्धान्त कहता है कि अहंकारके नष्ट हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अहंकार भक्ति-की साधनासे ही नष्ट होता है। जब भक्त अपनेको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देता है तब अहंकार भी वहीं विसर्जित हो जाता है। ऐसे आत्मविसर्जनसे ही निष्काम कर्मकी उत्पत्ति होती है। तभी जीव अपनेको प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त कर आत्मामें तल्लीन हो ईश्वरीय तथा ईश्वरमें विलीन हो जाता है।

निवृत्ति-मार्ग

पर समस्या यहाँ भी हल नहीं हो पाती। ईश्वरकी जैसी कल्पना भारतीय दर्शनने की है, वैसी संसारके किसी धर्म या दर्शनमें नहीं मिलती। अनेक धर्मोंने ईश्वरको एक व्यक्ति, एक सत्ताके रूपमें मानकर जीवको उसकी उपासनासे उसके पास पहुँचनेका मार्ग दिखलाया

है। पर निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी भावनाकी बात, जो उपासना तथा पूजा-पाठसे भी ऊपर है, किसीको न सूझी। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इतनी दूरतक कोई नहीं पहुँचा। हमारे सांख्यदर्शनने भी प्रकृतिको सगुण मानकर भी स्वतन्त्र तथा नित्य माना है। पर वेदान्ती इस सिद्धान्तको नहीं मानते। वे कहते हैं कि सगुण वस्तु अन्ततः नाशवान् होती है। अतएव सत्त्व, रज तथा तम गुणत्रयविशिष्ट प्रधानको पुरुषसे स्वतन्त्र तथा नित्य स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है। सांख्य पुरुषोंको एक नहीं मानता। जन्म-मरण, अवस्था, मानसिक गुण आदिके कारण वे भिन्न हैं। पर संस्कार तथा विकासके सिद्धान्तको माननेवालेको यह स्वीकार नहीं है। यदि परब्रह्म है तो रचना-जगत्में उससे भिन्न कुछ नहीं है और स्वर्ग-नरक तो अस्थायी स्थितियाँ हैं। अन्ततोगत्वा लक्ष्य तो उसीमें विलीन होता है, जो संसारकी सब अवस्थाओंसे परे है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा'की बात सही है, पर एक स्थिति ऐसी है, जो इसके भी ऊपर पहुँचा देती है। इसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये निवृत्ति-मार्गका सिद्धान्त हमारे उपनिषद्कालसे प्रारम्भ हुआ।

समाजको जब गूढ़ रहस्योंके बीचमें खड़ाकर वैदिक धारको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता हुई, तभी उपनिषदोंने निवृत्तिमार्गका उपदेश दिया था। इतनी ऊँचाईतक विश्वका कोई दर्शन नहीं पहुँचा है। इसका स्पष्ट विवेचन जर्मन विद्वान् मैक्समूलरने किया। वे लिखते हैं—'यदि मुझसे कोई पूछे कि आकाशके नीचे किस स्थानपर मानवकी बुद्धिने सबसे अधिक मूल्यवान् विकास किया, जीवनकी कठिनतम समस्याओंकी विवेचना कहाँ की गयी है, उनका कुछ ऐसा हल निकाला है, जिनसे कुछको, (जिन्होंने प्लेटो और काण्ट जैसे दार्शनिकोंको पढ़ा है) प्राप्त होगा तो मैं कहूँगा—भारतमें। यदि मुझसे कोई पूछे कि किस साहित्यने हम यूरोपियनोंको जिन्होंने रोमन तथा यूनानी विचारधाराओंको सेमिटिक जातिके विचारोंको पढ़ा है ऐसा वैचारिक संतुलन प्रदान किया है, जिससे कि हम अपने आन्तरिक जीवनको अधिक पूर्णताके साथ, अधिक ठोस ढंगसे, अधिक व्यापक रूपसे या संक्षेपमें—अधिक मानवीढंगसे केवल इसी जीवनको नहीं; अपितु एक परिवर्तित, अनन्त जीवनको समझ सकें हैं तो मैं पुनः यही कहूँगा कि वह देश भारतवर्ष है।'

वस्तुतः पाश्चात्त्य विद्वान् तो भारतकी ओर देखना चाहते हैं, पर हम स्वयं न अपनी ओर देखना चाहते हैं, न अपने दर्शन और साहित्यसे ही कुछ सीखना चाहते हैं। निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादन तन्त्रशास्त्र या आगमोंने भी किया है। तन्त्रशास्त्रके विषयमें भी बड़ी भ्रान्ति है। लोग इसे पञ्चमकारात्मकतक ही समझते हैं। उनकी दृष्टिमें इसकी क्रियाएँ पञ्चतत्त्वमें ही आधारित हैं। किंतु 'कुलार्णव-तन्त्र'ने सात आचार बतलाये हैं, जो वेदाचारसे प्रारम्भ होकर कौलाचारमें समाप्त होते हैं। तन्त्र वामाचारमात्रसे ही सम्बद्ध नहीं है। वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य आदि अनेक प्रकारकी तन्त्रोपासनाएँ हैं। वैसे बौद्ध, जैन-तन्त्र आदि भी अगणित हैं। कालान्तरमें भले ही उनकी क्रियाओंमें जो भी दूषण आ गये हों, पर भिन्न प्रकारके व्यक्तियों तथा भिन्न मानसिक उपासनाओं-के लिये इनकी दिशाओंमें चाहे जितने भी मोड़ हों, पर अन्ततोगत्वा लक्ष्य एक ही है—पूर्ण निवृत्ति। यह निष्काम कर्मको साध्य बनाये बिना नहीं चल सकता। हिन्दू-दर्शनमें अनेक पथ हैं, अनेक मत हैं, पर सबका आधार निवृत्तिमार्ग ही है। जिज्ञासु पाठकोंको इस सम्बन्धमें शैव-मतके दो ग्रन्थ—'विज्ञान-भैरव' (काश्मीर सं० सी०) तथा 'स्पन्दकारिका' (काश्मीर तथा विजयनगरसे प्रकाशित)को अवश्य देखना चाहिये।

जितनी भी क्रियाएँ हैं, सबकी उपासनाका अन्तिम लक्ष्य है—'समाधिस्थ' हो जाना। 'समाधि' तभी हो सकती है, जब कर्म पीछे छूट जायँ। समाधि-

योगकी शारीरिक–मनोवैज्ञानिक क्रियाओंसे भी हो सकती है और भक्तिके अतिरेकमें भी। पर हर उपासनाका अन्त समाधिसे ही होगा। चित्त-भूमि जैसी होगी, वैसी ही समाधि होगी। इसीलिये पतञ्जलिने जिस 'सहजीय' अभ्यासका प्रतिपादन किया है, उससे हम समाधिके कर्मको थोड़ा समझनेका प्रयास कर सकते हैं।

'समरस' या सहज हो जाना दुर्लभ वस्तु है, पर जब यह प्राप्त हो जायगी तो मनुष्यका सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही बदल जायगा। नाथ-सिद्ध लोग जिस काम-साधनाकी बात कहते हैं, वह साधारणतः सबकी समझमें नहीं आ सकती। महारस'से सोमरस झरता है। शरीरमें दस द्वार हैं, जिसे योगमें शंखिनी कहते हैं। हृदयमें जो 'कदम्बनाल' है, जहाँ सर्पाकार कुण्डलिनीके दोनों ओर मुँह खुले हुए हैं, उसके दशम द्वारसे सोम या महारस झरता है, यह शरीरमें चन्द्रमासे प्राप्त होता है। यदि यह रस योगाभ्याससे शरीरमें रोककर नहीं रखा गया तो काल-मृत्यु उसे खा जायगी। अतएव योगद्वारा इस रसको रोककर रखना है। प्रत्येक तन्त्र एवं योगशास्त्रका यही लक्ष्य है—शरीरमें ऊपरसे प्राप्त होनेवाले सोमरसको संचित रखना। ऐसी स्थिति बिना समाधिके नहीं प्राप्त हो सकती। कुलकुण्डलिनी तथा इस प्रतिपाद्य तत्त्वके विषयमें इतना अवश्य जानना चाहिये। सब शास्त्रों, तन्त्रों तथा सम्प्रदायोंका लक्ष्य एक ही है, साधन भिन्न हैं, और वह है—निष्काम प्रधान निवृत्तिमार्ग। निष्काम कर्मयोग इसीका मुख्य अन्तरंग साधन है।

मुक्तिका सुभग सोपान—निष्कामकर्मयोग

(लेखक—एक निष्कामी)

मनुष्य-शरीर साधन-धाम है। इसे किसी ज्ञानीने मोक्षका द्वार कहा है, किसीने मुक्तिका सुभग सोपान। तात्पर्य यह है कि चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य इस सृष्टिमें सर्वाधिक विकसित सत्ता है। इस शरीरके माध्यमसे आत्मा आसानीसे पुनः अपना पूर्वका पूर्णरूप, शुद्धरूप सत्-चित्-आनन्दरूप, स्वतन्त्ररूप प्राप्त कर ले सकता है।

अन्य प्राणियोंसे मनुष्यकी यह विशेषता है कि इसे ऐसा शरीर, ऐसा बाह्यकरण, ऐसा अन्तःकरण, ऐसी कर्म करनेकी क्षमता, ऐसी विवेकशक्ति मिली है कि जिस अज्ञानता, जिस माया, जिन प्रकृतिके तीनों गुणोंके कारण वह शरीर और आत्माका विभेद, दोनोंका सच्चा स्वरूप भूलकर तत्त्वज्ञानसे वञ्चित होकर अनेकानेक कर्मोंको करते रहनेपर भी नाना विध कष्ट भोगता है, बारंबार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता रहता है, उससे छुटकारा—मुक्ति पा, सकता है—मात्र उचित रीतिसे कर्म करके, योगस्थ होकर कर्म करके, समत्व-दृष्टिसे कर्म करके, दुःख-संयोग-वियोग-विधिसे कर्म करके।

यों तो करोड़ों, अरबों मनुष्योंमें कुछ विरले ही होते हैं जिन्हें अज्ञानता या भ्रान्ति अथवा शरीररूपी बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा होती है, किंतु जिन अत्यल्प संख्यक व्यक्तियोंमें ऐसी इच्छा प्रकट होती है, उनमें भी बहुत कमकी यह शुभेच्छा दृढ़ हो पाती है। जिनकी ऐसी इच्छा अचल हो जाती है, उनके चरम उद्देश्यकी पूर्तिके लिये तथाकथित तीन मार्ग हैं, जिन्हें (१) ज्ञानयोग, (२) कर्मयोग और (३) भक्तियोग कहा गया है; किंतु वास्तवमें ये तीनों उसी तरह एक हैं, एक साथ रहते हैं, जैसे प्रकृतिके तीनों गुण—सत्त्व, रज, तम एक साथ रहते हैं; यद्यपि किसी क्षण किसी एककी प्रधानता रहती है और शेष दो गौण रहते हैं; परंतु हैं—तीनों मूलतः अभिन्न ही।

मनुष्य स्वभावके आधारपर तीन श्रेणियोंमें विभाजित किये जा सकते हैं—ज्ञानप्रधान, कर्मप्रधान, भक्तिप्रधान। इस आधारपर तीन साधन हो जाते हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति-योग इन त्रिविध योगोंमें अधिकतर मनुष्योंके स्वभावानुकूल

होनेके कारण निष्काम कर्मयोगको मुक्तिका मुख्य साधन अथवा सुभग सोपान माना गया है, जिनमें केन्द्रीय स्थान प्राप्त है कर्मको—जो साधकद्वारा 'निष्काम' और योगरूपी दो दृढ़ अटल शिलाओंपर प्रतिष्ठित है।

कर्म मनुष्यको जीवनमें करना ही है, करना पड़ता ही है। सब कर्मोंका स्वरूपतः निःशेष त्याग सम्भव ही नहीं है। यदि कोई सम्भव माने भी तो उसमें मानव-जीवनकी सार्थकता कदापि नहीं है; क्योंकि सर्वकर्म-त्यागसे यदि किसी प्रकार शरीर-यात्रा सम्भव भी मान ली जाय तो पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि नहीं हो सकेगी और यदि मानव-जीवनमें अज्ञानतासे, भ्रान्तिसे, मायासे, दुःखोंसे, परतन्त्रतासे मोक्ष नहीं मिल सका तो महती विनष्टि; महान् हानि है। अतएव यदि वर्तमान मानव-शरीरसे मुक्ति प्राप्त करना है तो कर्म करना ही है और ऐसी युक्तिसे, ऐसे कौशलसे कर्म करना है कि आत्माका योग परमात्मासे हो जाय, जीव सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाय, अज्ञानान्धकारका अन्त हो, ज्ञानकी ज्योति जल उठे।

यह ज्ञान-ज्योति जलाना ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है, पर है। अत्यन्त दुष्कर कर्म किंतु उसके बिना परमपदकी प्राप्ति, सर्वश्रेष्ठ धामकी प्राप्ति हो नहीं सकती है। योग कर्मका पथ-प्रदर्शक है। योग आगे-आगे राह दिखाता जायगा, कर्म उसका अनुसरण करता जायगा; तब मानव निरापद हो मुक्ति-पथपर, परम धामके सोपानपर, ऊपर उठता-उठता मोक्ष-मन्दिरमें प्रविष्ट हो जायगा—जहाँ ज्ञान-ज्योतिके प्रकाशमें निराकारका साक्षात्कार कर लेगा, जिसे पानेके बाद और कुछ पानेकी चाह नहीं रह जायगी और इसलिये जहाँ पहुँच जानेपर पुनः संसारमें जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, संसार समाप्त हो जायगा। मानवजीवनकी लक्ष्यसिद्धि-सम्पन्न हो जायगी।

कर्मयोगका प्रथम सोपान है, 'निष्काम'; क्योंकि कामना ही अखण्डको खण्डित करती है, असीमको सीमित करती है, शुभको अशुभ बनाती है, उदारताको संकीर्णतामें और सुखको दुःखमें बदल देती है। कामका सीधा-सादा अर्थ है—इच्छा, अपनेको सुख पहुँचाने, पदार्थोंके संग्रह और संयोग-जनित सुख पहुँचानेकी इच्छा; 'अपनेको'से तात्पर्य है—अपने शरीरको, नित्य परिवर्तनशीलको' सुख पहुँचाना।

कामनाके उदयसे अन्धकारका, अज्ञानताका, भ्रान्तिका, असत्यमें सत्यके भ्रमका श्रीगणेश होता है। कामनासे मनका संतुलन, मनकी एकाग्रता, मनकी शान्ति, मनकी निर्मलता नष्ट हो जाती है और मनकी अशेष शक्ति नष्ट होने लगती है; क्योंकि उसे नाना दिशाओंमें, अनेक प्राप्तव्योंको पानेके लिये दौड़ना पड़ता है। परिणाम होता है—श्रम, शक्ति-क्षय, अशान्ति और दुःख; क्योंकि जहाँ सब पदार्थ, सब कुछ एकके सिवा परिवर्तित हो रहा है, प्रतिक्षण बदल रहा है, वहाँ किसी पदार्थका संयोग स्थिर कैसे रह सकता है, सुख स्थायी कैसे बन सकता है? संकीर्णतामें सुखकी अनुभूति हो भी कैसे सकती है? अतएव निष्काम कर्मयोगके साधकको चाहिये कि वह योगस्थ होकर निष्काम बननेका, निष्कामभावसे सब कर्म करनेका सतत प्रयत्न करे।

वैज्ञानिकोंकी धारणाके अनुसार जिस तरह संसारमें पदार्थ और ऊर्जाका योगफल सदैव बराबर रहता है, उसी तरह आध्यात्मिक दृष्टिसे संसारमें सुख-दुःखका, गुण-दोषका, पुण्य-पापका, कल्याण-अकल्याणका, स्वार्थ-परमार्थका योगफल सदैव बराबर रहता है। अतएव जिस अनुपातमें एक घटेगा उसी अनुपातमें दूसरा बढ़ेगा ताकि योगफल बराबर रहे। नौके पहाडेकी भाँति ही संसारकी गति है, द्वन्द्वोंका योगफल सदैव नौ ही रहेगा, चाहे १+८=९ हो या ८+१=९ हो, ०+९=९ हो या ९+०=९ हो। एक घटेगा तो दूसरा बढ़ेगा, दूसरा घटेगा तो पहला बढेगा। इस सिद्धान्तके अनुसार

कामना—स्व-सुख भोगेच्छाको घटानेके लिये, धीरे-धीरे शून्य करनेके लिये, पर-सुखेच्छाको बढ़ाना पड़ेगा, इसे पूर्ण ९ बनाना पड़ेगा। इस तरह निष्काम कर्मयोगका साधक धीरे-धीरे स्वार्थको परमार्थमें रूपान्तरित करेगा और तब अपनेको पूर्णतः निष्काम बना सकेगा। प्रारम्भसे ही वह जो करेगा वह दूसरोंके उपकारके लिये; अपने निजी—तुच्छ स्वार्थके लिये वह कुछ भी नहीं करेगा। उसका प्राथमिक लक्ष्य होगा—लोकसंग्रह।

निष्कामता और योग दोनोंमें सम्पुटित कर नियत-कर्म करते हुए वह अपने कर्मोंको श्रेष्ठतर बनानेके लिये 'स्व' और 'पर', 'देह' और 'देही' का चिन्तन करेगा, दोनोंका अन्तर समझनेका प्रयास करेगा। ज्यों-ज्यों निष्काम कर्मोंद्वारा उसका चित्त शुद्ध होता जायगा, त्यों-त्यों वह और साफ-साफ देखने लगेगा कि दूसरोंके कल्याणमें ही उसका अपना कल्याण भी छिपा है तथा शरीर और आत्मा दोनों दो हैं, सर्वथा पृथक्। शरीर प्रकृतिनिर्मित है, परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण बदलता रहता है, विनाशशील है। आत्मा चेतन है, ज्ञान है; इसका विनाश नहीं होता और इसमें कभी कोई परिवर्तन भी नहीं होता। शरीर तो आकृति है; क्योंकि यह प्रकृतिका अंश है। आत्मा निराकार है; क्योंकि यह कभी बदलता ही नहीं; साथ ही वह इतना सूक्ष्म है कि इसपर किसीका कोई प्रभाव, कोई विकार पड़ता ही नहीं है; वह सदा एक-जैसा रहता है। जिसकी आकृति है, उसीकी आकृति बदलती है, मिटती है, पुनः बनती है। आकृतिपर ही दूसरेका प्रभाव पड़ता है। शरीर और आत्माकी कुछ-कुछ समता पृथ्वी और आकाशसे की जाती है। पृथ्वीपर शीत और उष्णका, धूप और वृष्टिका प्रभाव प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। इसमें ऋतु-परिवर्तनके अनुकूल अन्यान्य परिवर्तन होते हैं। इसके समुद्रमें ज्वार-भाटे बनते हैं। किंतु आकाशमें ऐसा कोई परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ता है—यद्यपि अज्ञानताके कारण उसमें परिवर्तनकी प्रतीति हो जाती है। पृथ्वीके बादलोंको, कुहासेको कभी-कभी आकाशपर आरोपित कर दिया जाता है। उसी तरह शरीरस्थ आत्मा यद्यपि शरीरमें रहते हुए भी अनित्य; परिवर्तनोंसे, जरा-मरणसे, यौवन-वार्धक्यसे, सुख-दुःखसे सर्वथा मुक्त है तथापि अज्ञानताके कारण, भ्रान्तिके कारण हम शरीरके, प्रकृतिके परिवर्तनोंको आत्मापर आरोपित कर देते हैं। निष्काम कर्मयोगका साधक देखता (यह, मैं नहीं हूँ)से शरीरको, क्षेत्रको देखता है और वह जानता है कि शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंके बीच जो निर्विकार अपरिवर्तनशील बना रहता है वही आत्मा है; जो शरीरके सोनेपर भी जगा रहता है, जो शरीरके नष्ट होनेपर भी बना रहता है, जो एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर सकता है।

इतना ही नहीं, परहित कार्य करते-करते उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि सब शरीरोंमें, सब क्षेत्रोंमें जो एक क्षेत्रज्ञ है उन क्षेत्रज्ञोंमें भी एक और महाक्षेत्रज्ञ है। इसी 'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञः'—'सर्व क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञको इन महाक्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा (परम+आत्मा) कहते हैं। यह है—समष्टि-आत्मा। आत्मा एक शरीरका स्वामी है। वह एक शरीरसे सम्बद्ध है, एक शरीरका संचालन करता है। परमात्मा समष्टि-आत्माका अथच समष्टि-शरीरका, सम्पूर्ण विश्वका, जड़-चेतनका संचालन करता है। अद्वैतवादी सम्पूर्ण विश्वको उसी एक परमात्माका (समष्टि-आत्माका) प्रक्षेपण मानते हैं। इसको वे—'सूत्रे मणिगणा इव' मानते हैं। निष्काम कर्मयोगी भी निःस्वार्थभावसे कर्म करते-करते सब प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सब प्राणियोंको देखने लगता है। विश्वके साथ वह समस्त हो जाता है। उसकी व्यष्टि समष्टिमें समाहित रहती है।

ऐसे ज्ञानका उदय होते ही उसका कर्तृत्वाभिमान मिट जाता है। उसे अनुभव होने लगता है—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।'
(गीता ३ । २७)

प्रकृतिके गुण—सत्त्व-रज-तम ही सब कर्मोंको करते हैं, गुण ही मानो गुणोंमें रहते हैं, 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते।' ऐसी स्थितिमें यह कर्म मैंने किया—ऐसा विचारनेका स्थान ही कहाँ रह जाता है। इस तरह साधकका कर्तृत्वाभिमान क्षीण होते-होते मिट जाता है। उसके मिटते ही अहंकार या अहं भाव मिट जाता है। वह 'अहंकार शून्य' हो जाता है।

किंतु साधकको विचारके अनुरूप ही आचार भी बनाना पड़ता है। इस अहंकारके मिटते-मिटते इन्द्रियोंपर ही नहीं, अन्तःकरणपर भी, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारपर भी उसकी विजय हो जाती है, उसका निग्रह हो जाता है, पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। मन निष्काम होते-होते, कामनाहीन होते-होते निस्तरंग हो जाता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं; वे स्थूल विषयोंकी ओर न दौड़ कर अन्तःस्थित अक्षय सुख-स्रोतसे तृप्त होने लगती हैं, आत्मतृप्त होने लगती हैं। मन अन्तस्तलमें ही आराम पाने लगता है, शान्ति पाने लगता है। वह आत्माराम हो जाता है। बुद्धिकी सत्-असत् विवेकिनी-शक्ति दृढ़तर हो जाती है। चित्त आसक्ति और फलाशाके त्यागसे इतना प्रसन्न, इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसपर कर्मका संस्कार ही नहीं पड़ने पाता है। फलस्वरूप उसका कर्म भी अकर्म हो जाता है, कर्मके होते रहनेपर भी चित्तमें कर्म नहीं हो रहे हैं—ऐसा विकारहीन हो जाता है—'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।' (मानस ७ । १११ । ३)

सकामके निष्काममें बदल जानेपर, स्वार्थके निःस्वार्थका रूप ले लेनेपर, अपने सुख-भोगका स्थान परहित-साधनके ले लेनेपर, इन्द्रियोंकी विषयासक्ति मिट जानेपर, मनकी चञ्चलता, उमंग किंवा लहरके शान्त हो जानेपर, चित्तकी पूर्ण शुद्धि हो जानेपर तथा अहंकारके शून्य हो जानेपर प्रकृतिका, मायाका आत्मापर हावी होना समाप्त हो जाता है। आत्मा प्रकृतिके बन्धनसे छूट-सा जाता है। प्रकृति और आत्मा पृथक्-पृथक् दोनों अपने-अपने स्वरूपमें दिखायी पड़ने लगते हैं। शरीर जो करता है, वह भोगता है; निष्क्रिय आत्मापर शरीरके कर्मका कोई प्रभाव होता ही नहीं है और न किसी प्रभावकी भ्रान्ति ही रह जाती है। आत्मा निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिवर्तनशील, मात्र ज्ञानस्वरूप, सत्-स्वरूप लक्षित होने लगता है। यही तत्त्वज्ञान है, यही है मुक्ति, यही है मोक्ष, यही है निर्वाण और यही है परमपद या परमधामकी प्राप्ति। यही है मानव-जीवनका लक्ष्य, उद्देश्य; इसीकी अनुभूतिमें है मानव-जीवनकी सार्थकता।

व्यक्ति-विशेष, आत्मकल्याण और परमार्थके लिये ही नहीं, बल्कि समाजके लिये, राष्ट्रके लिये, मानव-मात्रके लिये, इहलौकिक अभ्युदयके लिये, विश्वकल्याणके लिये भी निष्काम कर्मयोग सर्वश्रेष्ठ साधन है।

आज संसारमें जितने कर्म हो रहे हैं, प्रायः सब कर्म मनुष्य अपने लिये, अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी-प्रभृतिके लिये, परिवारके लिये करते हैं। परिवारकी परिधिसे जो बाहर जा पाते हैं, वे अपने समाज या राष्ट्रके लिये कर्म करते हैं। राष्ट्रियताके घेरेसे विरले ही पार जा पाते हैं। जो व्यक्ति राष्ट्रियतासे ऊपर उठकर विश्व-कल्याणके लिये कभी कर्म करते हैं, वे ही महात्मा समझे जाते हैं। संकीर्ण दायरेमें—परिवार, समाज या राष्ट्रियताकी परिधिके अन्दर ही कर्म होनेके कारण कर्म न तो निष्काम हो पाता है और न योग होकर ज्ञानका, आनन्दका, शान्तिका ही विस्तार कर पाता है। फलस्वरूप किसी व्यक्तिमें शान्ति नहीं है, किसी राष्ट्र या महादेशमें शान्ति नहीं है, विश्वमें शान्ति नहीं है। कहीं भी शान्ति नहीं है। सर्वत्र, गाँव-गाँवमें, नगर-नगरमें, देश-देशमें हिंसा है, अशान्ति है; द्वेष है, भ्रष्टाचार है; चोरी-डकैती है, छीना-

झपटी है, हाय-हाय है। आजका विश्व विभीषिकाओं, त्रासों और कलह-कोलाहलका भयंकर जंगल हो गया है।

ऐसी चिन्त्य स्थितिमें, कष्टमय स्थितिमें, दुःखपूर्ण-स्थितिमें यदि विचारशील व्यक्ति निष्काम कर्मयोगको अपना सकें, तत्त्वको समझ सकें या समझनेका प्रयास करें, यज्ञार्थ कर्म वर्णधर्म, दान, तप परोपकार आदि करने लगें, पूरी तन्मनस्कतासे अपना नियतकर्म अथवा निर्धारित कर्म निःस्वार्थ भावसे करने लगें, ऐसा समझने लगें कि यह शरीर या जो कुछ हमें मिला है संसारमें वह संसारके कल्याणार्थ ही अर्पित करना है तो क्या ही दिव्य हो उठे यह धराधाम! स्वर्ग उतर आवे इस मर्त्यलोकमें! क्या यह वाञ्छनीय नहीं है?

शायद इसी पुनीत उद्देश्यसे प्रेरित हो 'कल्याण' अपने जीवनके ५४वें वर्षमें 'निष्काम कर्मयोग' लेकर आपके समक्ष उपस्थित है, मानो शत-शत अङ्कोंसे अनुरोध कर रहा है कि कलह-पूर्ण, द्वेषपूर्ण, स्वार्थपूर्ण, अशान्त विश्वको, हे सृष्टि-मुकुटमानव! तुम निष्काम कर्मयोगद्वारा सुख-समृद्धि-शान्तिमय बनाते हुए स्वर्गोपम बना दो, सिञ्चित कर दो इसे प्रेम सुधासे, लगा दो वह ज्ञानकी ज्योति, जिसमें जलकर राख हो जाय सब अज्ञान, सब आसुरी वृत्तियाँ और गूँज उठें सर्वत्र 'शिवोऽहम् शिवोऽहम् शिवः केवलोऽहम्।'

निष्काम-कर्मयोग—मोक्षका द्वार

(लेखक—प्रो० डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, एम्० ए० वेद-धर्मशास्त्र-मीमांसा-दर्शनाचार्य)

संसार संसरणशील अर्थात् चञ्चल है। चञ्चलता क्रियासे उत्पन्न होती है। क्रियाके प्रादुर्भावमें त्रिपुटीका सन्निधान है। 'त्रिपुटी' शब्दका विभिन्न शास्त्रोंकी परिभाषामें विभिन्न अर्थ हैं। हमने यहाँ 'त्रिपुटी' शब्दका व्यवहार क्रियाके प्रादुर्भाव सम्बन्धी उन तीन भावात्मक जीवगत स्थितियोंके लिये किया है, जिनको दार्शनिक (१) **जानाति,** (२) **इच्छति** और (३) **यतते**—इन शब्दोंसे बताते हैं। जीव चाहे मानव हो या पशु-पक्षी या कीट-पतङ्ग सभी क्रिया करनेके पूर्व मनमें कुछ जानी या सुनी या कल्पित बातको विचारता है। यह भावी क्रियाका मूलभूत ज्ञान है। इसके बाद वह उस क्रियाको साकार करने-हेतु इच्छा करता है। इच्छा करते समय जीव अधिकार या इष्ट-अनिष्ट विचारकी परिधिके बन्धनकी मर्यादाकी उपेक्षा कर सकता है। फलतः वह अपने विचारको साकार तथा इच्छाको सफल बनानेके लिये यत्न या चेष्टा करता है, यही चेष्टा उसकी क्रिया है, जो अन्य जीवोंकी दृष्टि या समझमें आती है। अविकार तथा इष्ट-अनिष्टके विवेकसे रहित क्रिया फलवती अवश्य होती है[1], पर उसका फल लाभप्रद ही हो यह निश्चित नहीं है। ऐसी ही अविवेक-प्रयुक्त क्रिया हास्यास्पद है। वह व्यक्ति, कुल, देश, राष्ट्रको पतनोन्मुख बनाती है[2]।

विवेक-मूलक क्रिया बिगाड़ नहीं करती, भले ही किसी कार्य कारण-वश परिस्थितिके अनुकूल फलदायी न बन सके। ऐसा होनेपर भी व्यक्तिका स्वयं या दूसरोंकी दृष्टिमें आत्मबल नहीं गिरता अर्थात् विवेक-मूलक क्रियासे व्यक्ति, कुल, देश, राष्ट्र स्थिर बने रहते हैं तथा उत्तरोत्तर गौरवान्वित होते रहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगिराज श्रीकृष्णने जीवोंको क्रिया करनेकी स्वाभाविकताको **'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** अर्थात् कोई भी जीव बिना क्रिया करता हुआ एक क्षण भी नहीं रहता—इस प्रकार बताया है। भगवान्‌ने इन शब्दोंमें स्वाभाविक

१—फलयुक्तानिकर्माणि (का० श्री० सू० १।१।२) २—विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः। (भर्तृहरि)

जीवनसे सम्बद्ध अपरिहार्य क्रियाओंके साथ ही विवेकमूलक क्रियाओंका भी संकेत किया है।

जीवनकी अपरिहार्य क्रियाएँ—श्वास लेना, खाना-पीना, मल-मूत्रका परित्याग आदि कर्म जीवकी सत्तासे सम्बद्ध हैं, जब कि विवेकमूलक क्रियाएँ जीवकी विशिष्टता (मुमुक्षा आदि)से सम्बद्ध हैं। स्वाभाविक अपरिहार्य क्रियाओंको भी विवेक अर्थात् शास्त्र-सदाचार-नियमित मर्यादाकी परिधिमें बाँध दिया जाय तो उनमें निखार आकर एक तेजस्विता आ जाती है। इसी तेजस्विताको सुरक्षित रखनेकी स्थितिको आचार[1] कहते हैं। आचार ही विश्वके समस्त प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, विलीन या प्रचलित धर्मोंका मूल है[2]। यदि आचार न हो तो धर्म या धार्मिकताका उदय न हो। धर्मका बाह्य प्रकाश्य स्वरूप आचार है।

मनीषियोंका अनुभव है कि साम्प्रतिक युगमें लोगोंमें धर्महीनता तेजीसे बढ़ती जा रही है। धर्महीनतासे विश्वमें अनिश्चितता और अशान्ति होती है। धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति, कुल एवं देश-राष्ट्रको निश्चिन्तता और शान्ति दे सकता है[3]। धर्महीन मानव तो पाशविक वृत्तियोंके अनुगमनसे पशु बन जाता है[4]। ऐसे व्यक्तिको वेदकी भाषामें 'अनद्धा पुरुष' कहते हैं। देशमें 'अनद्धा पुरुषों'का होना पतनकी सूचना है। आज ऐसे पुरुषोंकी संख्या बढ़ गयी है।

आजकल धर्मके नामसे बहुत-से 'मत-मतान्तर' प्रचलित हैं। व्यक्ति परिस्थिति, वातावरण या बुद्धि-विवेकसे किसी मतको धर्म समझ बैठता है, मत धर्म नहीं होते। धर्म तो वे हैं जो विश्वजनीन हैं, सर्वोपकारी हैं। इसके दस प्रकार किये गये हैं, जिनका उल्लेख मनुस्मृतिमें स्पष्टतः यों है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियोंका नियन्त्रण, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—ये दस धर्मके रूप हैं। इनका विस्तार-विश्लेषण श्रीमद्भागवतमें तीस तत्त्वोंसे किया गया है और उन तीस क्रियाओंको जीवनकी अपरिहार्य क्रियाओंकी भाँति अपनाना निष्काम-कर्मयोग है। इसी भावको ईशावास्योपनिषद्में इस प्रकार कहा गया है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'शास्त्रबोधित कर्म धर्मानुष्ठान करते हुए सौ वर्ष (अपनी पूरी आयु) तक जीनेकी इच्छा रखो। संसारके झँकोरोंसे ऊबकर बीचमें अपने जीवनको निःसार समझकर उसे मत त्यागो। फलबुद्धिके लक्षणसे हीन त्रयीके अनुष्ठानसे वेद-प्रतिपादित कर्मोंके आचरणसे मनुष्यमें कर्मका लेप—जो पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, सुख-दुःख भोगका कारण बनता है, वह—न होगा। इससे अतिरिक्त अन्य कोई कर्म-लेपके अभावका प्रशस्त पथ नहीं है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें इसी दिशामें चलनेके लिये कहा है—

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'

अर्थात्—'कर्मफलमें आसक्ति न रखकर शास्त्र-निर्दिष्ट कर्तव्यकर्ममें लगे रहो। फलेच्छासे रहित होकर केवल कर्तव्यकर्ममात्र लोकसंग्रह अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे करनेपर कर्मोंका लेप नहीं होता—कर्मबन्धन नहीं होता। इसी पद्धतिको निष्काम-कर्मयोग कहा गया है, यह निश्चय ही मोक्षका द्वार है।

१—सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते। (विष्णुसहस्रनाम)

२—आचारप्रभवो धर्मः (विष्णुसहस्रनाम)। ३—धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।—(नारायणोपनिषद्)

४—आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ (हितोपदेश)

मुक्तिका अमोघ साधन—निष्कामकर्मयोग

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

कर्मयोगका मुख्य प्रयोजन है, ज्ञानयोगकी प्राप्तिद्वारा आत्मानुसंधान एवं आत्मोपलब्धि । स्वल्प शब्दान्तरसे अन्तर्निहित प्राणशक्तिको जाग्रत्कर [illegible] -हेतु परिश्रम ही कर्मयोगका उत्कृष्ट परिणाम है । ईश्वरके इस महत्तम परम विधानको अमान्यकर जब मानव परम प्रामाण्यसे [illegible] स्वयंको प्रकृतिद्वारा निर्मित एक पृथक् प्राणी मानता है और विश्वात्माके इस विराट् आवासगृहको मात्र भोगोंका प्रकोष्ठ बना लेता है, तब व्यक्ति बन्धनमें पड़कर आत्मसत्ताके आन्तरिक ज्ञानको संभ्रमावस्थामें स्वयं ही परिवर्तितकर प्रकारान्तरसे संसारी बन जाता है । जिस मानव-देहके लिये वेदकी घोषणा है कि 'यह शरीर सप्तर्षियोंका पुनीत आश्रम है । ये ऋषि प्रमादरहित होकर इस शरीररूपी आश्रमका संरक्षण करते हैं, यहाँ सप्ततीर्थ-स्वरूप सरिताएँ जाग्रत्-अवस्थामें इस शरीरसे बाहर और सुप्तावस्थामें अंदर प्रवाहित होती हैं । यह शरीर एक पवित्र यज्ञशाला है, जिसके प्रहरी दो देव अहर्निश जागकर इसकी रक्षा करते हैं'—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र
जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥
(वाजसनेयिसंहिता ३४ । ५५)

ऐसे दिव्य शरीरमें वास करनेवाले ईश्वरको जानना और उन प्रभुके प्रतिबिम्बको प्राणिमात्रमें देखना ही वास्तविक आत्मानुसंधान है । अपने मनको प्राकृत ज्ञानकी इन्द्रियोंसे हटाकर अपना अन्तरात्म-विषयक ज्ञान ईश्वरके साथ अपने सम्पर्कमें लगाया जा सकता है । इन्द्रियोंके गुण-दोषमें आबद्ध रहकर सुख-दुःखके प्रत्यावर्तनका अनवरत क्रम मानव अनन्तकालसे अनुभव कर रहा है । व्यामोह उसे—'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'के लिये विवश किये हुए है । अतः इसके [illegible] हेतु एकमात्र सरल उपाय है—निष्कामकर्म । [illegible] या दर्शनशास्त्रों [illegible] अनुभूति [illegible] कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ [illegible] अहिंसात्मिकाएँ उभार [illegible] जायँ ।

आज चतुर्दिक् भौतिक विज्ञानके इस युगमें व्यक्ति अपनी सत्ता विस्मृत कर रहा है । भोग सम्मोहक नहीं, संतापक हैं । भौतिक [illegible] इतनी द्रुतगतिसे लेकर भागा है कि आगे भी अपना लक्ष्य ही भूल गया है । काम्य वस्तुके उपभोगसे कभी कामनाकी निवृत्ति नहीं होती, वरन् घृताहुतिसे अग्नि-सदृश वह उत्तरोत्तर अधिक ही प्रज्वलित होती जाती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

इस प्रकार सिद्ध है कि इन्द्रिय-विलास, भौतिक-आनन्द, सांसारिक सम्मोहन तथा सभी प्रकारके [illegible] सुख मिथ्या हैं । अन्ततः इन सबोंकी परिणति अवसाद या विनाशके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । एक-न-एक समय ऐसी परिस्थितिका निर्माण अवश्यम्भावी है, जब मानव यह सोचनेको विवश होगा कि उसके अबतकके सभी प्रयत्न व्यर्थ थे और उस [illegible] स्थितिमें उसे आवागमन करना पड़ेगा । कुछ लोग इसे वैराग्य कह सकते हैं, पर वास्तवमें वह निष्काम कर्मयोगके लिये आभ्यन्तरिक प्रेरणाप्रदत्त सुअवसर है । अगर जीवन इस आत्मनिरीक्षणकी देहलीपर खड़ा हो तो इसे सौभाग्य समझकर निष्काम कर्ममें प्रवृत्त हो जाना चाहिये । मनुष्य कर्मका कर्ता है या साक्षिमात्र ? इस प्रश्नका समाधान भी निष्काम कर्मद्वारा कुछ समय बाद स्वतः हो जायगा ।

मानवको यन्त्रवत् कर्मका द्रष्टा न बनकर अपनी क्षमताके प्रति आस्था पुरुषार्थका सम्बल, दूसरोंके सौजन्यमें विश्वास और नैतिकतामें निष्ठाका सम्बल लेकर कर्म-पथपर बढ़ जाना चाहिये । ये कर्म आरम्भमें आत्म-सिद्धिके साधनके रूपमें भले ही लगें; पर अन्तमें 'श्रीर्विजयो भूतिः' आदि सिद्ध होंगे। इस प्रकार 'नियोगक्षेम आत्मवान्' की स्थिति अपने-आप प्राप्त हो जायगी ।

प्रायः शरीरधारी कोई भी प्राणी बिना कर्म किये क्षणमात्र भी नहीं रह पाता, फिर मानव तो सभी योनियोंमें श्रेष्ठतम उपादान है । उसके कर्मोंमें भी अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा अलगाव है । कर्म शब्दका पारिभाषिक अर्थ परिश्रम भले ही किया जाय, पर लोकहितैषणासे रहित परिश्रम कर्म भले ही हो, कर्मयोग नहीं हो सकता । ज्ञान-साधिका बुद्धि और कर्म-साधक मनके अतिरिक्त भी इस देह-मन्दिरमें एक दिव्य वस्तु विद्यमान है, जिसे हृदय कहा जाता है । इसकी जड़ें स्नेह, प्रेम और प्रभुभक्तिका सिंचन चाहती हैं । हृदयको गर्हणीय भावोंकी ओर फेरकर प्रभुकी ओर प्रवृत्त करना ही कर्म है और योगका सम्पूर्ण सार-तत्त्व इसीमें निहित है ।

संसार माया है, भ्रमजाल है, इससे छुटकारा असम्भव है, कहकर न तो हम समस्याका समाधान ही कर पायेंगे और न तो विपत्तियोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ ही बन पायेंगे । घटनाओंपर पर्दा डालना रोगका प्रतीकार नहीं है । श्वानके भयसे शशक-शावक जिस प्रकार टाँगोंमें अपने मुँहको छिपाकर सुरक्षितताका अनुभव करता है, उसी प्रकार हम भी करने लगें तो श्वासके परिश्रमको व्यर्थ करनेका उत्तरदायित्व भी हमपर ही रहेगा । महर्षि याज्ञवल्क्यने अत्यन्त ओज-पूर्ण भाषामें भारतीयवाङ्मयके सारभूत विचारोंके सूत्रबद्ध मन्त्रोंसे अवगुम्फित बृहदारण्यकोपनिषद्के माध्यमसे निष्काम, आप्तकाम और आत्मकामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है—

'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।

(४।४।६)

—एक अगोचर शक्तिस्वरूप-द्रष्टा ही सर्वमय है । वही निरतिशय पूर्णानन्दस्वरूप है, जो तत्त्वज्ञानी इस 'सीयराम मय सब जग जानी'के रूपको हृदयंगम कर लेता है, उसके लिङ्गदेहरूप प्राणोंका उत्क्रमण शरीरान्तरके लिये नहीं होता । वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त करता है ।

मानव अपनी ही बुद्धिके चमत्कारोंमें द्विधाग्रस्त है । इधर दूसरी ओर वह उसका परित्याग भी नहीं कर पाता । आज भी उसकी प्रबुद्ध चेतावृत्ति भ्रान्तिका अनावरण कर मुक्त होनेको छटपटा रही है । स्वरूपानुभव अथवा तदुपलब्धिका क्रम, बुद्धिमन्थनसे विनिर्गत अहमित्वका दायित्व, तमिस्र युगके बीच साकार दिव्य गौरव विराट् पौरुषके पुञ्जीभूत ज्वालाकी तपन-जैसे प्रश्नोंका एक ही समाधान है—'निष्काम-कर्मयोग' । अन्यथा—जो पुरुष दृष्टादृष्ट विषयोंके गुणोंका चिन्तन करता हुआ उसकी इच्छा करता है, वह उन कामनाओंके कारण उनकी प्राप्तिके लिये जहाँ-तहाँ जन्म लेता है । किंतु (परमार्थतत्त्वके विज्ञानसे) पूर्णकाम कृतकृत्य पुरुषकी सभी कामनाएँ इस लोकमें ही लीन हो जाती हैं—

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्-
त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥'

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।२)

जिस आत्मानन्द या कैवल्यानन्दके विषयमें ऊपर चर्चा की जा चुकी है तथा जो मानवमात्रका चरम लक्ष्य है और जिसे मोक्ष कहा जाता है, वह इन्द्रिय, वाणी और मनसे परे है—**'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः ।'** यह वह रस है, जिसका आस्वादन अनिर्वचनीय है । श्रुतियाँ इसे **'रसो वै सः'** कहती हैं । इस

स्वर्ग-नरकसे परे दिव्य धामस्थकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए भगवान् कृष्ण परम भक्त उद्धवजीसे कहते हैं—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। १०)

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'उद्धव! मनुष्य अपने वर्ण एवं आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थिर रहकर यज्ञोंके द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके, निष्कामभावसे मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर विहित कर्मोंका आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके अतिरिक्त मनुष्यके कल्याणके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है।'

पाँच हजार वर्ष पूर्वका—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'**-का घण्टाघोष आज भी सजग प्रहरीके रूपमें विश्वके मानव-समाजको चेतावनी दे रहा है कि अपना उद्धार स्वयं करो, कोई दूसरा तुम्हारा उद्धार नहीं कर सकता। इसे दर्शनशास्त्रकी भाषामें न समझकर हमने यदि अपने आपको **'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः'** तक ही सीमित रखा तो इसमें किसीका क्या दोष? जिस कर्मके करनेसे बादमें खाटपर बैठकर पश्चात्ताप करना पड़े, उसे पहले ही आचरित नहीं करना चाहिये।

येन खट्वासमारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति॥
(विदुरनीति ७। २९)

मायाके मुकुलित आकर्षणको सत्य समझकर जगतीके मोहकतारूप सेमर-वृक्षमें लगे फलको देखकर उसपर शुककी भाँति लुब्ध हो गया है। परंतु स्वाद लेने लगा तो रूई उड़ गयी। भोगोंकी निःसारता प्रकट हो गयी। न शान्ति मिली, न सुख और न संतोष। कुछ भी हाथ न लगा। अब पश्चात्ताप करनेसे क्या होगा! पापकर्मकी कमाईका भुगतान कौन करेगा! भजन न करनेपर सिर धुन-धुन कर पछताना ही तो रह जायगा।

सूरदासजीने ठीक ही कहा है—

कहत सूर भगवंत भजन बिनु सिर धुनि-धुनि पछितायो।

मुक्तिका सुगम पथ—निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र)

श्रीमद्भगवद्गीताका निष्काम-कर्मयोग मनुष्यमात्रके लिये बड़ी ही सुगमतापूर्वक आचरण करनेयोग्य श्रेयोमार्ग है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानवजीवन कर्मयोगका अनुष्ठान-क्षेत्र ही है। मनुष्य एक क्षणके लिये भी कर्म नहीं छोड़ सकता; क्योंकि मानव-जीवन ही कर्मसंस्काररूपी बीज लेकर हुआ है। जिस प्रकार घड़ीमें भरी चाबीके दबावके कारण घड़ी टिक-टिक ध्वनि करती हुई चलते रहनेके लिये बाध्य है, उसी प्रकार मानव-जीवन भी कर्म-संस्कारोंद्वारा प्रेरित-कर्म करनेके लिये विवश है। ऊपर जड़ पदार्थ घड़ीका उदाहरण एक अंशमें समझानेमात्रके लिये दिया गया है, किंतु मानवमें कर्म करनेकी स्वाभाविक स्फुरणाके साथ ही भगवान्‌ने बुद्धिके भीतर विवेकका प्रकाश भी दिया है, जिसके सहारे मानव कर्मके उचित, अनुचित, हेय-उपादेय आदिका निर्णय भी कर सकता है।

भारतीय दर्शन सृष्टिकी रचनाको निरुद्देश्य अथवा निष्प्रयोजन नहीं मानता है। वह कहता है कि मानवकी उत्पत्ति कर्म करनेके लिये ही हुई है। अपने स्वयंके कल्याणके लिये चराचर विश्वके कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर कर्म करो। सक्रियतामें ही जीवन है। इसी दृष्टिकोणको सामने रखते हुए

हमारे पूर्वज ऋषि एवं शास्त्र मानवके प्रति तीन प्रकारके ऋणोका दायित्व आरोपित करते आये हैं। वे तीन ऋण हैं—(१) देव-ऋण, (२) ऋषि-ऋण और (३) पितृ-ऋण। शारीरिक कर्म तो शरीरसम्बन्धी क्रियाओं-को सक्रिय बनाये रखनेके लिये प्रकृतिके नियमानुसार अपने-आप बिना किसी प्रेरणाके होते ही हैं, किंतु जीवन-क्षेत्रके अन्य व्यवहार कर्म-संस्कारसे प्रेरित होकर मानवको नवीन कर्म (पुरुषार्थ) करनेका सुअवसर प्रदान करते हैं। उनमें कुछ कर्म तो व्यक्तिगत हित एवं सांसारिक सुखभोगोंकी कामनासे प्रेरित होकर किये जाते हैं और उनसे उत्कृष्ट कुछ कर्म समाज-हित, देशहित तथा विश्वकल्याणके उद्देश्यसे सम्पादित किये जाते हैं। ऐसे कर्मोंको श्रेयःकर्मोंकी संज्ञा दी गयी है तथा उनमें अनिवार्यरूपसे प्रवृत्त होनेके लिये मानवके प्रति उपर्युक्त तीन प्रकारके ऋणोंका आरोपण किया गया है। हमारे दैनिक-व्यावहारिक जीवनमें भी यह स्पष्ट देखनेमें आता है कि किसी भी कार्य अथवा व्यवसायका कर्ताके ऊपर दायित्वका आरोपण किये बिना सम्बद्ध कार्य सुव्यवस्थित-रूपमें संचालित नहीं होता है और न तो उस कार्यका प्रयोजन ही सिद्ध होता है। कर्ताके प्रति दायित्वका यह बन्धन कार्यके उद्देश्यको सफल बनानेमें पूर्णरूपेण सहायक हुआ करता है।

कर्म करनेकी सामर्थ्य एवं शक्तिके साथ सृष्टिकर्ताने मानवको विवेक-दृष्टि प्रदान करके उसको अपने कर्मकी योग्यता, उपादेयता तथा समाज एवं विश्व-हितमें कर्तव्य-परायणताका निर्वाह करते हुए, श्रेयोमार्गपर अग्रसर होनेका सुअवसर प्रदान किया है। भारतीय दर्शनकी इसी विशेषताने कर्मबन्धनसे मुक्तिका मार्ग भी प्रशस्त किया है। बुद्धिमान् मनुष्य कर्मक्षेत्रमें उतरनेसे पूर्व कर्मके पूर्वापर परिणामोंपर विचार अवश्य कर लेता है; किंतु उसके शुभाशुभ फल भोगनेमें वह सर्वथा ईश्वराधीन रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता (५।१२)में भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्म करते हुए उसके बन्धन-कारक परिणामसे बचनेके लिये निर्देशित किया है कि—

> युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
> अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

योगयुक्त कर्मोंके फलका त्याग करनेवाला कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है और इस निष्ठासे मिलनेवाली शान्ति प्राप्त कर लेता है तथा अयुक्त मनमें कामना (वासना) होनेके कारण फलमें आसक्त बुद्धिवाला कर्मबन्धनमें बँध जाता है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि कर्ममें आसक्ति एवं फलकी कामना ही कर्ताके बन्धनका प्रधान कारण है। कर्ता अहंबुद्धिसे कर्ममें प्रवृत्त होता है, आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और कर्मकी सिद्धिके लिये, फलके लिये लालायित भी रहता है। साथ ही उसकी असिद्धिकी सम्भावनासे भी भयभीत बना रहता है; अतः कर्मकी सिद्धि अथवा असिद्धि जो भी परिणाम उसके सामने आता है, उसमें उसका सुखी अथवा दुःखी होना स्वाभाविक हो जाता है। बस, कर्म-बन्धन यहींसे प्रारम्भ हो जाता है। इसी हेतु भगवान्‌ने अर्जुनको पूरी सावधानी बरतनेके लिये निर्देश दिया है जो कर्मसिद्धान्तका मूलमन्त्र है कि—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
> (गीता २।४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमात्रमें अधिकार है, फलकी प्राप्तिमें कदापि नहीं। तू कर्मफलका कारण मत बन और न अकर्म (कर्म न करने)की ही आसक्ति रख, व्यर्थमें अपनेको कर्ता मानकर उसके बन्धनका कारण क्यों बनता है?' यहाँपर विचारणीय बात यह है कि कर्म बन्धनकारक किस कारण होता है और जब वह सार्वभौम ईश्वरीय विधान है, तब उससे मुक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है?

यह एक सामान्य नियम है कि मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होनेसे पूर्व कर्मका संकल्प करता है और संकल्प कर्मके कर्तृत्वके अभिमान (अहंबुद्धि)के बिना बनता नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि कर्मबन्धनका कारण कर्तृत्वका अभिमान तथा उसके शुभाशुभ फल-प्राप्तिकी कामनामात्र ही है । इसीसे जन्म-जन्मान्तरके क्रमका प्रवाह अनन्तकालतक जारी बना रहता है । इससे छूटनेका अन्य कोई उपाय नहीं जान पड़ता ।

मोटे तौरपर हम देखते हैं कि किसी रस्सीमें गाँठ जिस स्थानपर लगी हुई होती है, उसी स्थानसे ग्रन्थिको विपरीत दिशामें बल देकर (मरोड़कर) खोलनेका प्रयास किया जाता है और धीरे-धीरे ग्रन्थिके बन्धनको ढीला करते हुए एकदम खोल दिया जाता है । बँधा हुआ स्थान ग्रन्थिके खुलते ही मुक्त हो जाता है । इसी प्रकार जीवात्मामें जड़-चेतनकी ग्रन्थि कर्म-संस्कारवशात् अनेक कामना, वासनाओंसे जकड़ी हुई चली आ रही है; अतः मानवको जीवनपर्यन्त कर्तृत्वका अभिमान (अहंबुद्धि) एवं फलाशासे रहित होकर कर्ममें प्रवृत्त रहना आवश्यक है; क्योंकि तभी वे कर्म बन्धन-कारक नहीं होंगे । कर्मके बन्धनके मूलमें कर्ताका कर्तृत्वाभिमान एवं फलाशामात्र होते हैं । श्रीमद्भगवद्-गीतामें (३ । १९, ४ । १९-२०, २२में) कई स्थलोंपर इस सिद्धान्तका निरूपण किया गया है, उसका सारभूत आशय यह है—(१) 'अर्जुन ! इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है । (२) जिसके सम्पूर्ण शास्त्र-सम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाते हैं, उस महापुरुषको ज्ञानी जन भी पण्डित कहते हैं । (३) जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य-तृप्त है, वह कर्ममें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता । (४) जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता ।' तदनुसार इस संसारकी कर्मशालामें मनुष्य कर्म करते हुए उसके बन्धनमें न आवे, यही 'योगः कर्मसु कौशलम्'का दिग्दर्शन है ।

विश्वके अन्य धर्मग्रन्थोंमें कर्मफल भोगनेसे छूटनेका कोई मार्ग नहीं बतलाया गया है । सकाम कर्मोंका प्रलोभन तो सर्वत्र ही भरा पड़ा है; किंतु निष्कामकर्मयोग—'भलाई कर और कुएँमें डाल'की बात क्वचित् ही देखनेको मिलती है । एक दूसरा पक्ष यह भी स्वीकार करता है कि निष्कामकर्मयोगमें भी साधकसे कर्मके आरम्भमें अपने स्वार्थके लिये तो नहीं, परमार्थ एवं परोपकारकी सूक्ष्म भावनासे प्रेरित होकर कर्म किये जा सकते हैं । अतः उन शुभ-कर्मोंका फल भी परोक्षरूपमें होना ही चाहिये । यदि ऐसा मान भी लें तो 'सर्वभूतहिते रताः'की आत्मभावनासे किये गये कर्म केवल अन्तःकरणकी शुद्धि ही करते हैं और अन्तःकरणकी शुद्धि ही हमें बन्धनमुक्त होनेके लिये अभीष्ट है ।

वास्तवमें निष्कामकर्मयोगके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है, जिसके फलस्वरूप अन्तःकरणसे अज्ञान एवं अविद्याका आवरण तत्काल हट जाता है । अज्ञानावरण नष्ट होते ही आत्मसाक्षात्कार एवं स्वरूप-स्थिति हो जाती है । जिस पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो चुकी है, उसकी समस्त संचित आगामी एवं क्रियमाण कर्मराशि ज्ञानाग्निमें भस्म हो जाती है—'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः'

जिस प्रकार भुने हुए बीजमें अङ्कुर होनेकी सामर्थ्य तनिक भी नहीं रह जाती, उसी प्रकार निःसंकल्प हो जानेसे कर्मयोगी (ज्ञानी)के कर्म फल उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं रहते, क्योंकि कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होनेके कारण उनमें फल देनेकी शक्ति नहीं रह जाती। शरीरका किञ्चिन्मात्र प्रारब्ध शेष रहनेपर्यन्त निष्काम-कर्मयोगीके कर्म एवं व्यवहार, जो लोकमें देखनेमें आते हैं, वे उसके द्वारा सर्वथा उदासीनभावसे निष्पादित होते हैं। स्वयं भगवान्‌के निर्देशानुसार उस निष्काम-कर्मयोगीकी स्थिति अधोलिखित गीताके (४। २२-२३) श्लोकोंमें और स्पष्ट कर दी गयी है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

'प्रारब्धानुसार प्राप्तमें संतुष्ट, निर्द्वन्द्व, ईर्ष्या-द्वेषादिसे रहित, कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें समभाव रखनेवाला निष्काम-कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी बन्धनमें नहीं पड़ता है। जिसकी बुद्धिमें आसक्ति नहीं रही, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो गया। ज्ञानमें स्थित हो जानेके कारण निष्काम कर्मयोगीके सभी कर्म समाप्त ही हो जाते हैं। मुक्तिका ऐसा सुगम मार्ग श्रीमद्भगवद्गीताके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता है; क्योंकि गीतामें सब उपनिषदोंका साररूप अमृत है, जिसका पान करके केवल भारतीय नहीं, अपितु विश्वके अन्य धर्मावलम्बी भी तृप्ति-लाभ कर रहे हैं। ऐसा मुक्तिका सुगम पथ—कर्मयोग गीताकी देन है।

निष्काम-कर्म एवं मोक्ष

(लेखक—पं० श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय)

भारतीय सिद्धान्तोंकी यदि समालोचना की जाय तो सुस्पष्ट हो जायगा कि मानव-जीवनकी सार्थकता पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्तिमें ही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये ही चार पुरुषार्थ हैं। भारतीय मनीषियोंकी प्रखर-प्रभाकी ज्योतिने किसे नहीं चमत्कृत किया? उसने विश्वव-स्थलीके प्रपञ्च इन्हीं चार पुरुषार्थोंमें अन्तर्निहित बतलाये हैं। इनमेंसे एकका भी त्याग नहीं किया जा सकता। मानवीय सहज प्रवृत्तियोंके साथ इनका शाश्वत सम्बन्ध है। ये क्रमेण जीवको अपनी ओर खींचते हैं। इनमेंसे एकका भी उल्लङ्घन मानवको लक्ष्य-च्युत कर देता है; अतएव उद्घोषके कहा गया है कि—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकसक्तो स नरो जघन्यः।

अतिशयिता अनर्थकारिणी होती है। एकमें ही अगाढ अनुरक्तिका होना मानवकी तन्द्रा-अवस्थाकी स्थितिको द्योतित करता है। पुनः प्रश्न उठता है—अर्थ एवं काममें मानवीय प्रवृत्तियाँ अत्यधिक आकृष्ट होती हैं। ऐसी स्थितिमें अपरपुरुषार्थ—धर्म या मोक्षका ह्रास होना स्वाभाविक-सा हो जाता है। अतः ऐसे समयमें श्रेय क्या है? हेय क्या है? इसका विवेक अत्यन्त विलक्षण-धीके लोग भी नहीं कर पाते।

कर्म मानव-जीवनका मुख्याधार है। मोक्षस्वरूप कल्याणमय मंजिलको पानेके लिये विभिन्न पथपर भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंके साथ कर्मका पदप्रक्षेप करना पड़ता है। सहज बन्धनसे बँधा जीव मुक्त होनेकी चेष्टा करता है। यद्यपि संसारियोंके लिये यह विशिष्ट बन्धन (सांसारिक सम्बन्ध) जीवनका वरदान मालूम होता है तथापि योगिजन उसमें नहीं रमते। वेदान्तदर्शनके अनुसार कर्मच्युत शरीरी गर्भसे मृत्युपर्यन्त महत्प्रपञ्चकी दृढ़ रज्जुसे आवृत रहता है। इस बन्धनका कट जाना ही मोक्ष है।

मोक्षका शाब्दिक अर्थ 'मुक्त हो जाना' होता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यके अनुसार परब्रह्मका ही द्वितीय नाम मोक्ष है—

'नित्यशुद्धबुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य ।'

उभय स्थितियोंमें कर्मसे छुटकारा पाना ही मोक्ष है। बौद्ध विद्वानोंकी दृष्टिमें जन्म-कर्मसे 'निर्वाण' ही मोक्ष है। भारतीय दार्शनिक मृत्युको मोक्ष नहीं स्वीकार करते; क्योंकि जन्म और मृत्यु ही अमोक्ष है। जीवनरज्जुकी ये दो गाँठे हैं। भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णने गीता (३।५)में कहा है कि 'प्राणिमात्र क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति सुखपूर्वक सो रहा है तो भी वह कर्म कर रहा है। श्वाससंचालन होना एवं सोना दोनों क्रियाएँ पञ्चमहाभूतसे निर्मित शरीरके सुखार्थ ही निष्पादित होती हैं। दोनों सहज मानवीय प्रकृतियाँ हैं, दोनों मानवके लिये प्रकृतिप्रदत्त उपहार हैं, इस प्रकार कर्मका परित्याग अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। श्रीगीताजीके अनुसार कर्म दो प्रकारके हैं—(क) सकाम कर्म और (ख) निष्कामकर्म। दोनोंके ढंग भी सुस्पष्ट हैं। परंतु जिस प्रकारसे व्यक्ति कर्म किये बिना रह सकता, उसी प्रकारसे क्या वह सकामकर्म किये बिना रह सकता है? नीरकी प्रकृति अधोमुखी है, उर्ध्वमुखी नहीं। ठीक इसी प्रकारसे जीवकी प्रकृति सकामकर्ममें प्रवृत्त होनेकी है। नानाविध उपायों, साधनों, आविष्कारों एवं विज्ञानकी कृपासे जलको आकाशमें स्थित किया जा सकता है, पर उससे क्या उसकी स्खलनशील प्रवृत्तिको भी अवरोधित किया जा सकता है?

इसीलिये गीतामें कर्मपर विशद विवेचन किया गया है तथा अन्य कतिपय भारतीय ग्रन्थ एवं दर्शन भी कर्मपर विचार प्रस्तुत करते हैं। 'वेदान्तदर्शन'के अनुसार कर्म तीन प्रकारके हैं—(क) संचित (ख) प्रारब्ध एवं (ग) क्रियमाण। पर इस दर्शनमें निष्कामकर्मका नामोल्लेख भी नहीं हो पाया है। एक उत्कृष्ट एवं तीक्ष्ण विचारकी वासना देते हुए शास्त्रकार तीनोंकी निवृत्तिको आवश्यक बताते हैं। संचित कर्मका नाशक ज्ञानाग्नि है। भगवद्गीता कहती है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(४।३७)

प्रारब्धकर्मके अनुसार जीवकी योनि निर्धारित होती है। अतएव इस कर्मका क्षय भोगसे ही हो सकता है। यदि प्रारब्धकर्मका एक जन्ममें भोग समाप्त न हो सका तो दूसरे जन्ममें उसे भोगना पड़ता है। क्रियमाणकर्मका नाश तभी हो सकता है, जब उसके विषयमें प्रमाता अत्यन्त औदासीन्य प्रदर्शित करे। उदाहरणस्वरूप—'यह ऐन्द्रजालिक विविध चमत्कारोंसे लोगोंको चमत्कृत कर तो रहा है, परंतु इसकी यह चमत्कृति वृथा है'—ऐसा ज्ञानवान् पुरुष सोचता है। विचार करनेपर—'क्रियमाण कर्मका वृथात्व और उसके प्रति उदासीनताकी भावना ही निष्कामकर्म सिद्ध होता है।' एतदतिरिक्त निष्कामकर्मका अन्य कोई द्वितीय स्वरूप नहीं हो सकता। 'मैंने जो कुछ किया, किसी विशेष भावनासे अभिप्रेत होकर नहीं किया', यदि ऐसी बुद्धि सम्भव हो सकती है, तभी वह कर्म किया जाता हुआ भी अफलवान् हो सकता है। इसीको अनुष्ठेय बताते हुए श्रीकृष्णने गीता (३।१९)में कहा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

इसीको आगे (४ । २०)मे और स्पष्ट करते हुए कहते है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

सांख्यशास्त्रके अनुसार जिस कर्ममें रागाभाव हो वह निष्कर्म हो जाता है । सामान्य राग भी निबन्धनका कारण होता है । जो कर्म निबन्धनका कारण होता है वह निष्काम नहीं हो सकता । अतः कर्मके कर्तृत्वमें रागकी सत्ता हेय एवं अवाञ्छित है ।

मूलतः सभी शास्त्रज्ञों एवं विचारकोंकी धारणा कर्मसे निर्लिप्त रहनेकी है—जैसे कमल जलसे रहता है ।

किंतु निष्काम-कर्म करते हुए भी तो फलकी प्राप्ति होगी ही ? फलावासिका क्षय तभी होगा जब उसका उपभोग किया जाय । और, फलोपभोग करना सकाम-यात्राकी अभिलषित अट्टालिका है । तब हम फलासक्तिसे सर्वथा पृथक् कैसे रहें ? अनजानवश यदि कोई पुष्प-पुञ्जपर पतित हो जाय तो उससे मकरन्दके दो-चार रेणु अवश्य ही सट जायँगे, इसका दुकूल सुरभित होगा ही, न चाहते हुए भी वह मादकताका अनुभव करेगा; वह झूम उठेगा । दूसरी स्थितिमें यदि फलोपभोगका त्याग कर देनेका दावा किया जाय तो जन्म-मरणका चक्र टूट नहीं सकता । सामने दुर्लङ्घ्य पहाड़ है, पीछे अपार जलनिधि । प्रश्न अनिर्वचनीय है, स्थिति दारुण है, पथिक दिग्भ्रान्त है । क्या करे ?

ज्ञानकी कौमुदीने जिस पुरुषपर आलोक फैलाया वह महान् हो जाता है, वह भवभूति हो जाता है । उसका मन महान् हो जाता है । उसकी विचारधारा असीम हो जाती है, वह लोककल्याणके लिये अग्रसर रहता है । सम्पूर्ण मानवीय सुरक्षाके प्रति जागरूक रहना, अपनी कामनाकी तिलाञ्जलि दे देना निष्काम-कर्मीके उज्ज्वल पक्षको प्रस्तुत करता है । जनकादिसे लेकर आजके लोकमान्य तिलक एवं महामना मदनमोहन मालवीय-जैसी विश्वविभूतियोंके मूलमें भी यही पवित्र भावना काम करती रही है । इन्होंने अपनी सम्पूर्ण मनोभावनाओंका दमन एवं महत्त्वाकाङ्क्षाओंका उपशमन कर विश्वके लिये जो उदात्त कर्म किये, औरोंके लिये जो त्याग किये—वे कर्म करते हुए भी कर्मसे पृथक् रहे । यही समष्टि हित है, लोक-संग्रह है, निष्काम-कर्मयोग है, उदात्तचरित है और मानव-जीवनके लिये सब कुछ है ।

जिसने अपने ही लिये सब कुछ किया वह कामी है, जघन्य है । स्वार्थका जितना अंश जिसमें रहा, उसकी जघन्यता उतनी ही अधिक बढ़ती गयी । वह कर्मफलका त्याग नहीं कर सका, अपितु मदोन्मत्त मधुपकी तरह मधुराशिमें गिर पड़ा; परिणाम········! निष्काम कर्म करनेकी कुछ पद्धतियाँ भी निर्देशित की गयी हैं; यथा—काम्य निषिद्धादि कर्मोंका सर्वथा त्याग, सर्वभूतोंमें समान दृष्टिका रखना, सर्वकर्मफलत्याग आदि आदि···· । श्रीगीता (१२ । १२)में योगेश्वर श्रीकृष्णने सर्वत्र निष्काम-कर्मकी प्रशस्ति की है । अपने कल्याणकारी सुगम साधनोंको बताते समय उत्तरोत्तर प्रशस्त कर्मोंको इङ्गित किया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

कर्मफलका त्याग करनेका अर्थ यह नहीं है कि फलको उठाकर इतस्ततः फेंक दिया जाय अथवा उसके प्रति अनास्था रखी जाय; अपितु फल-त्यागका स्पष्टार्थ है—'भगवान्‌के प्रति फलका समर्पण करना ।' जो व्यक्ति फलका जितना ही निःस्वार्थभावसे, छल-छद्मसे रहित हो त्याग करता जायगा, बदलेमें उसे उतना ही मनन एवं निदिध्यासन (अभ्यास)की शक्ति मिलती जायगी । और, अन्तमें अत्यन्त काम्य मोक्षका भी त्यागकर वह स्वतः परब्रह्म हो जायगा । वह ब्रह्ममें नहीं मिलेगा, अपितु

राम चरन प्रिय पंकज जिन्हहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं
(मानस २ । ८३ । ४)
रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
(मानस २ । ३२३ । ४)

—के अनुसार रामभक्त तो कामविमुख ही होते हैं। क्योंकि साधकोंमें—'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ॥' काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।' 'राम प्रेम पथ देखिये, दिये विषय तन पीठि'की अत्यन्त प्रसिद्धि है। यही बात ज्ञान, भगवद्दर्शनादिकी है—'परं दृष्ट्वा निवर्तते।' (गीता २ । ५९)। शास्त्रोंके अनुसार कामीके सभी सत्कर्म ही निष्फल होते हैं या कुकर्ममें परिगणित होकर बलि आदिको प्राप्त होते हैं—

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥
(भागवत ११ । १४ । ३०, ११ । २६ । १२; महाभा० १३ । ३८ । ४०, नारदपुराण ७ । ८, ब्रह्मवैवर्त० १६ । ९०), मनुके २ । ९७ श्लोक

एवं उनके व्याख्याताओंका भी यही भाव है। कामनाके उत्पन्न होते ही ज्ञान-तेज, मन-प्राण, धर्म, बुद्धि, ह्री-श्री-स्मृति-धृति-सत्य, किमधिकं आत्मातकका नाश हो जाता है—'आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः। ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना' (भागवत ७ । १० । ८)। इसके विपरीत उपर्युक्त सभी महान् गुण एवं श्रीभगवान् अकामीको तत्काल सुलभ हो जाते हैं (श्रीमद्भागवत ६ । १६ । ३४), 'सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (श्रीमद्भा० ७ । ७ । ३) यही वास्तविक ब्रह्म-प्राप्ति या गीता २ । ५५—७२की ब्राह्मी स्थिति है। प्रह्लादके अनुसार साधक ज्यों ही पूर्ण निष्काम होता है, वह साक्षात् भगवान्का स्वरूप बन जाता है—

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ७ । १० । ९)

यमराज भी नचिकेतासे यही कहते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठोपनिषद् २ । ३ । १४, बृहदा० ४ । ४ । ७, शाट्यायनी २५)

अतः विद्वान् व्यक्तिको निष्काम, निर्वासन मनसे बाँसुरीके समान ही अनासक्त ध्वनि, स्वर एवं वाणीका प्रयोग तथा शरीरद्वारा क्रियाएँ करनी चाहिये। निष्कामभावको ही आगमभूषणोंने समाधि या सभी शङ्काओंका वास्तविक समाधान कहा है—

निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः।
(योगवासिष्ठ ६ । २ । ३६ । २३)

कामनाके उदयसे जो क्लेश होता है, वह नरकोंमें भी नहीं है। कामना ही चित्त है, उसकी शान्ति ही मोक्ष है—'तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते।' (योगवासिष्ठ ६ । २ । ३६ । २५) कामना-वृद्धि ही दुःख, चिन्ता एवं विष, अग्निकी ज्वाला है। इसकी ओषधि धीर पुरुषकी साधना या यत्न है, बाह्य ओषधि इंजेक्सन नहीं। इसका स्वल्पाभ्यास भी महान् भयसे त्राण करनेवाला है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(गीता २ । ४०)

इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति॥
(योगवासि० ६ । २ । ३६ । ३०)

कामनामात्र ही संसार है, उसकी विस्मृति ही मोक्ष है। (वही ३२) कामना—इच्छाका अनुसंधान ही असम्प्रज्ञात या नित्य-समाधि है। जिसके लिये यह दुःसाध्य है, उसके लिये गुरु, उपदेश, शास्त्र-साधन, सत्सङ्ग आदि सब निरर्थक हैं (वही ३५)। कामना-विषसे विकृत चित्त ही समस्त आधि-व्याधियोंका मूल है, यही बन्धन है एवं निष्काम-भावना ही मोक्ष है। वासनाजाल दलेशजनमें दुःखद आदि-[illegible] दूर्वोंका [illegible] है। इसे [illegible] [illegible] [illegible] करके ही [illegible] है। जितनी-जितनी [illegible]

१. निर्जीव बाँसुरी वादकके मनोऽनुसार बजती है, पर उसकी अपनी कोई कामना नहीं होती। वैसे ही जीव—'ईश्वरः' सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (१८ । ६१) से ईश्वरद्वारा चालित रहता है—'उच्यता शब्दजालानि वक्षवद्गत-वादनम्' (योगवासिष्ठ ६ । २ । ३६ । १६)

होती है, उतनी ही मुक्तता होती है, अतः यथाशक्ति गति-मति, ज्ञान, वैराग्यादि साधनोंके सहारे शनैः-शनैः इस वासनाजाल—कामना-समूहका धीरतासे उन्मूलन करना चाहिये—

यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः।
यावद्गतिर्यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम्॥
(योगवासि० ६। २। ३६। ४०)

विवेकी सत्पुरुषके मनमें एक क्षण भी यदि कामनाका उदय हो गया, इच्छा-निरासमें असमर्थता हुई तो मानो उसका सर्वस्व लुट गया। ऐसे समयमें दस्युमूषित अर्थीजन—डाका पड़े घरवालोंके समान उसे तो बहुत देर रोना-विलाप-शोक करना ही चाहिये—

इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च।
दस्युभिर्मुषितस्यैव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम्॥
(योगवासि० ६। २। ३६। ४२)

वस्तुतः कामनाओंके उदयका मूल कारण ही है—अज्ञान। यदि परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु हो, तब तो उसकी कामना की जाय। पर जब सब कुछ परमात्मा ही है तो क्या चाहा जाय—**'ईशावास्यमिदं सर्वम्'**, **'वासुदेवः सर्वमिति'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'किमिच्छन् कस्य कामाय'** **'प्राप्त एव हि सोऽप्यर्थो०'** इत्यादिसे यही सिद्ध है। महर्षि वसिष्ठ भी कहते हैं—

आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद् विद्यते तदिहेच्छया।
इष्यतामसति त्वेतत् त्वात्मन्यत्वं किमिष्यते॥
(योगवासिष्ठ ६। २। ३७। २)

कामना, तृष्णा आदिके कारण ही लोग सूत्रयन्त्रमे बँधे पक्षी-जैसे पराधीन होकर इधर-उधर भटकते हुए नष्ट हो रहे है। कामनाके समान वार्द्धक्य एवं मृत्यु भी दुःख-दायक नहीं है। कामना अमङ्गलमयी उल्का है। इसके कारण साक्षात् भगवान् विष्णुतकको वामनका रूप धारण करना पड़ा था—**'कृपया भगवानेव विष्णुर्वामनतां गतः।'** किम्बहुना पुरुषको कामनाको विषैली नागिनके समान दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। बलवान् मनुष्य लोहेकी शृङ्खलाको तोड़कर मुक्त हो सकता है, पर कामनासे बँधे मनुष्यका छूटना कठिन है। राजर्षि जनक-जैसे अन्तः-शीतल-मन निष्कामभावसे कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला प्राणी ही जीवन्मुक्त है—

अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वत्या लीलया क्रियाम्।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
(योगवासिष्ठ ६। २। ३७। १)

इसे ही विदेह-मुक्ति कहते हैं—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः',
(गीता ३। २०)

जीवन्मुक्ता महात्मानः सुजना जनकादयः।
विदेहमुक्तास्तिष्ठन्ति ब्रह्मण्येव परावरे॥
(योगवासिष्ठ ५। १६। १४)

निष्कामभावसे श्रेष्ठ धर्म अथवा सहज सामान्य प्राकृत कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला भी जीवन्मुक्त ही है—

प्राकृतान्येव कर्माणि यया वर्जितवाञ्छया।
क्रियन्ते तृष्णयेमानि तां जीवन्मुक्ततां विदुः॥
(वही ५। १७। २)

प्रायः प्राणीसे प्रतिक्षण कुछ कर्म होते हैं, पर वस्तुतः कर्मकरने-करानेवाले भी दूसरे है—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'** **'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत'**, **'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥'** (गीता १८। १४) **'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता'** आदिसे आत्मा तो साक्षीमात्र है, उसका कर्तृत्वाहंकार अज्ञान-के ही कारण है। अतः फलकी कामना अज्ञानमूलक एवं क्लेशकर है। वितृष्ण, निष्फल भावना ही सुख-शान्ति एवं निर्दुःखावस्था है। एतावता राग-द्वेष एवं फलकी आसक्तिसे रहित होकर भक्ति-स्वाध्याय, योग-यज्ञ, परोपकारार्थ तपोदान, ब्रह्मचर्य एवं सत्सङ्गादि क्रियायोगादिका अनुष्ठान कर्तव्य है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज भी भगवान् श्रीरामके इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए मानस (३। १६) मे कहते है—

वचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निष्काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥

काकभुशुण्डि आदिकी स्थिति ऐसी ही थी—

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
प्रेम मगन मोहि कछु न सुहाई। × × ×
छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥
(रामच० उत्तर० ११० । ३, ४, ७)

श्रीमद्भागवतके अनुसार कर्मयोगके अनुष्ठानके समय उठनेवाली स्वल्प कामना भी भगवत्-प्राप्तिमें प्रबल प्रतिबन्धक है। यह भागवतोक्त नारदोपाख्यानसे स्पष्ट है। स्वयं नारदजीने ही श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेवको अपना पूर्व-चरित्र सुनाते हुए कहा था कि—'पूर्वजन्ममें मैं एक दासीका पुत्र था। जब मेरी माताका देहान्त हो गया, तब ऋषियोंके द्वारा दिये गये ज्ञानके अनुसार ही मैं साधनामें जुट गया और एक दिन घोर अरण्यमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठकर मैं भगवान्‌के चरणोंका ध्यान करने लगा। ध्यान करते-करते तल्लीनता ऐसी बढ़ गयी कि हृदय प्रेमसे भर आया, नेत्रोंमें आँसू आ गये, शरीर पुलकित हो उठा, मन संसारसे अत्यन्त निवृत्त-सा हो गया और मैं आनन्दके प्रवाहमें लीन हो गया। इसी समय हृदयमें धीरे-धीरे मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले तथा समस्त शोकोंके अपनोदन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीहरि हृदयमें आ गये। उस समय मुझे और कुछ भी नहीं दीखा। किंतु यह दशा क्षणिक ही थी। दूसरे ही क्षण वह परमप्रिय रूप हृदयसे तिरोहित हो गया। मैं अत्यन्त विकल हो उठा। मैंने उस रूपके दर्शनके लिये पुनः समाहित होकर प्रयत्न किया, किंतु वहाँ कुछ न दीखा। उसी समय सहसा आकाशवाणी हुई कि 'मैं अपक्वकषाय कुयोगियोंके लिये दुर्दर्श हूँ। जिसका मन कामनाओंसे सर्वथा शून्य नहीं हुआ, जिनके मनसे मोहावरण—सकामभाव सर्वथा दूर नहीं हुए, मेरा दर्शन उन्हें दुर्लभ ही समझो। एक बार तुम्हें मैंने अपना यह रूप इसलिये दिखलाया, जिससे तुम मेरी ओर आकृष्ट हो सको। मेरी प्राप्तिकी इच्छावाला साधु पुरुष समस्त कामनाओंको धीरे-धीरे छोड़ देता है'—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥
सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत् कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । २२-२३)

संतोंकी यह हार्दिक अनुभूति है कि यदि दसों इन्द्रियोंका संयम न किया जाय तो सारे साधन निष्फल एवं व्यर्थ हो जाते हैं और शार्ङ्गपाणि भगवान् नहीं मिलते। हृदयमें कामनाओं, भोगेच्छाओंके रहते हुए प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती—

आठइँ आठ प्रकृति-पर निरबिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम॥
दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि॥
(विनय० २०३। ९, ११)

इसलिये दृष्ट, श्रुत सभी भोगोंको असत् समझकर उन्हें मनसे सर्वथा भूल जाय, कभी उनका स्मरण भी नहीं करें; क्योंकि उनका स्मरण-उपसर्पण संसृतिप्रद तथा आत्मविनाशक है—

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्॥
(श्रीमद्भा० ९ । १९ । २०)

विषयोंका दर्शन, श्रवण-स्मरण, उपसर्पण तथा ग्रहण यदि न हो तो मनुष्यका उनके प्रति कोई आकर्षण या राग नहीं होता—जैसे मदिरा न पीनेवालेके मनमें मदिराके प्रति या मांस न खानेवालेके मनमें मांसके प्रति कोई आकर्षण—अभिरुचि नहीं होती, अपितु घृणा ही होती है। महाभारत, शान्तिपर्वके शृगाल-काश्यप-संवादमें इसे अच्छी तरह समझाया गया है—

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते।
संस्पर्शाद् दर्शनाद्वापि श्रवणाद् वापि जायते॥
न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम्।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित्॥
(१८० । ३०-३१)

—मद्यस्य लटवाक्पक्षिमांसस्य च कर्मणि षष्ठ्यौ, त्वं न स्मरसि ब्राह्मणत्वेन तव तद्रसग्रहाभावात् ॥
(नीलकण्ठी व्याख्या)

शृगालवेषमें इन्द्र कहते हैं—काश्यप! तुम ब्राह्मण हो; अतः वारुणी, मदिरा तथा लट्वाक्पक्षीके मांस-जैसे सरस पदार्थोंके भी रसको नहीं स्मरण करते; क्योंकि इनका तुम्हें आस्वाद ही नहीं मिला। इसी तरह जिन्हें जिन-जिन विषयोंका संनिधान-ज्ञान नहीं हुआ, वे उन-उनके प्रति अनाकृष्ट ही रहते हैं। शृङ्गी ऋषिके सम्बन्धमें महाभारत वनपर्व तथा वाल्मीकिरामायण, बालकाण्डमें कथा आती है कि वे वेश्याओंको भी ब्रह्मचारी समझते हुए निर्विकार ही रहे; क्योंकि उन्हें स्त्रियोंका कोई ज्ञान ही न था। ईंधन न मिलनेसे अग्नि जैसे स्वयं बुझ जाती है, वैसे ही उपरामतासे भोग-तृष्णा शान्त होती है। जैसे ईंधन या घी डालनेसे अग्निकी लपटें और तेज हो जाती है, उसी प्रकार भोगोंके द्वारा तो विषय-तृष्णा और भी बढ़ जाती है—

योगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्। (योगभाष्य २ । १५)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनुस्मृति २ । ९४, नारद० परि० ३ । ३६, भाग० ९ । १९ । १४, विष्णुपु० ४ । १० । २६, वायुपु० ९१ । ९५)

अतः भोगत्याग, निष्कामभाव या पूर्ण-संतोष शान्ति-निर्वाण तथा भगवान्‌की प्राप्ति है—

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

साथ ही मन तथा इन्द्रियोंका संयम, शान्ति, शीलता, निरोधका अव्यर्थ प्रयास, महान् तप तथा महायोग है—

'परो हि योगः मनसः समाधिः ।' (भागवत ११ । २३ । ४६)

इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा।
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ॥
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च।
(महाभा० वन० अ० २११)

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगद० १ । २)

और सबसे बड़ी बात यह है कि सभी इन्द्रियोंके संयमित करनेसे भगवान् भी अति शीघ्र प्रसन्न होकर दर्शन दे सकते हैं—

[illegible]
([illegible])

सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥
(भागवत ४ । ३१ । [illegible])

[illegible] यस्य पदं [illegible]
[illegible] मुनयः [illegible]
[illegible] यो
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ३ । ७)

इसलिये विषयोंकी आशा-तृष्णाका मनसे सदाके लिये विसर्जन कर देना ही सर्वोत्तम ज्ञान, वैराग्य, भक्तिकी साधना है, अन्यथा संसृतिका निस्तार कठिन है—

सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥

× × ×

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं।
तुलसिदास जग जोनि भ्रमत तब लगि सपनेहुँ सुख नाहीं॥

कुछ ऐतिहासिक लोग 'काम्यो हि वेदाधिगमः' (मनु० २ । २-५), 'सोऽकामयत', 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' (ऋक्०—पुरुष० १ । १ । २) आदिके आधारपर 'निष्कामता'को बौद्धधर्म तथा परावीन भारतकी उपज कहते हैं। पर अथर्वपरिशिष्ट २३ । १४ । ४-५, मुण्डक, बृहदारण्यक, नृसिंहतापनी आदि उपनिषद्, महाभारत शान्तिपर्व, योगवासिष्ठ आदिमें 'निष्काम' अकामादि पद बार-बार आये हैं। पातञ्जलयोगादिके असम्प्रज्ञात-योगादिके उपदेश भी निष्काम-साधनामय ही हैं। इससे सिद्ध है कि निष्कामकर्मयोगका आदर्श अनादिकालकी शाश्वत सनातनी परम्परासे ही रुचि, वय, वर्ण, अधिकारानुसार उपदिष्ट होती रही है और वह वेदादिसम्मत ही है।

निष्कामकर्मयोग—ज्ञान, भक्ति और कर्मकी अनन्त पूर्ति

(लेखक—प्रो० श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी तायल, एम्० ए०)

यह जगत् परमेश्वरद्वारा नियमबद्धरूपसे शासित होता आ रहा है। ब्रह्माण्डके कण-कणमें उस सर्वोच्च संचालनकी सत्ताका वास है, जो आत्माके साथ तादात्म्य स्थापित करती है। इस सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा (सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न) परब्रह्म परमात्मा या ईश्वर है। वह सब प्रकारकी अनेकताओंके मूलमें एकरूपमें विद्यमान है।

वैदिकसिद्धान्तके अनुसार कर्मका फल जीवात्माको मिलता है और उसीके आधारपर उसके अगले जन्म-कर्म होते हैं। हिन्दूसमाजव्यवस्थाके दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं—वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था। महाभारतके 'अश्वमेधपर्व'के अनुगीता-प्रसङ्गमें निष्काम कर्मोंकी पुनः विस्तृत व्याख्या की गयी है। महाभारतमें कहा गया है कि महाभारतरूपी अमृतका मन्थन कर उस सारभूत 'गीतामृत'को भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें होम (उडेल दिया) किया—

भारतामृतसर्वस्वं गीतार्थमथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥

सर्वेश्वरवादी रिचर्ड गार्बे एवं श्रीहोल्ट्जमन श्रीफ़येने निश्चित किया है कि मूल गीताके मन्तव्योंमें चार सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। १—आत्माकी अमरता, २—विश्वरूप-दर्शन, ३—नियतिवाद तथा ४—मनुष्यका ईश्वरके कार्योंका निमित्त बनना। इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था कि तुम्हारा कल्याण-युद्ध करनेमें ही है। इसे सबसे महत्त्वपूर्ण श्रुतिमेंसे एक माना गया है। इसीलिये अधिकतर दार्शनिकोंने इसकी विवेचना की और इसके उपदेशमें अपने-अपने विचारोंकी पुष्टि की। श्रीमद्भगवद्गीताका मुख्य उद्देश्य मोहित बुद्धि-वाले अर्जुनको निश्चित और स्पष्ट मार्ग बतलाकर उसके सम्मुख कर्मयोगका महत्त्व स्पष्ट करना था। भगवान् श्रीकृष्णसे गीता सुननेके बाद अर्जुनने यह बात स्वीकार की कि उसके सभी संदेह और मायामोह दूर हो गये हैं। किंतु फिर भी निश्चितरूपसे ज्ञान, भक्ति अथवा कर्ममेंसे किसकी प्रधानता गीतामें है, यह कहना कठिन है। बल्कि निष्पक्षरूपसे तो यह कहा जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने गीताके द्वारा निष्कामकर्मयोगके नामसे एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म, बुद्धि, भावना और संकल्प सभीकी अनन्त पूर्ति है। इस निष्कामकर्मयोगको ही गीताजीका मुख्य उपदेश और विषय माना जा सकता है। लेकिन निष्कामकर्मयोगका शाब्दिक, वैषयिक अर्थ क्या है, यह समझना कठिन है। इसके लिये आवश्यक है कि भारतीय दार्शनिकोंके विभिन्न मतोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय। जिसके मन्थनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि श्रीहरिने किस उद्देश्यको प्रमुख मानकर श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना की। दूसरे समन्वयवादी (Fysthecic) आध्यात्मिक (Spiritual) दृष्टिकोणसे देखनेपर गीताके कुछ परस्पर विरुद्धसे लगने-वाले वाक्य परस्पर पूरक (Complimentary) दिखलायी पड़ते हैं।

वस्तुतः श्रीगीताजीके दर्शनको किसी दार्शनिक सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं रखना चाहिये, गीताको वेदान्त-का एक प्रस्थान व स्रोत माना जाता है। गीताके प्रत्येक अध्यायकी पुष्पिकाके अनुसार भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानोंने इसे एक उपनिषद् माना है। लोकमान्यतिलकके अनुसार 'कर्मयोग' ही गीताकी मुख्य शिक्षा है। श्रीमद्भगवद्गीता जीवनका अर्थ सुलझानेके लिये नहीं, बल्कि अपने कर्तव्यके ज्ञानके लिये तथा कर्मकी सहायतासे जीवनकी पहेलीपर अधिकार

प्राप्त करनेके लिये कही गयी है। तिलकने गीताको कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ माना है। विवेकसे परम तत्त्वकी उपलब्धि होती है, इस बातको वेद, उपनिषद् और छहों दर्शनोंने स्वीकार किया है। भगवद्गीताके अनुसार इस विवेककी उपलब्धि चित्त-शुद्धिके बिना सम्भव नहीं है और चित्त-शुद्धिके लिये अनुष्ठानकी आवश्यकता है। अतः परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये सबसे बड़ा साधन कर्मानुष्ठान ही सिद्ध होता है। श्रीगीताजीका कहना है कि कर्मयोगीको पाप-पुण्य नहीं लगते। श्रीकृष्णने स्वयं ही अर्जुनसे कहा है, सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर फिर युद्धमें प्रवृत्त होनेसे तुम पापके भागी न बनोगे।

निष्ठावान् कर्मयोगीके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो परमोच्चस्थान निर्धारित किया है, उसको जानकर सहज ही श्रीगीताके कर्मरत मार्गका रहस्य समझमें आ जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि सब कर्मोंका फल मुझे समर्पितकर अनन्ययोगसे मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें आश्रित अपने उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही मरणशील संसारसे पार कर देता हूँ। यह गीताके कर्मयोगकी विधि है और यही उसका फल है। यही कर्मयोग गीताका मुख्य विषय है, जिसको भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।'

वास्तवमें ईश्वर सब कुछ करते हुए भी किसी कर्म या वस्तुमें आसक्त नहीं रहता। वह तो कर्तव्यको करता है। इस तरह अनासक्त होकर जो कर्म किया जाता है, वही कर्म करनेका सच्चा ढंग है और यही निष्काम कर्मयोग है। निष्कामतासे सभी कर्मोंको यन्त्रवत् करना और उनसे निर्लिप्त रहना ही कर्मयोग है। यही ज्ञानयोग भी है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग एक ही है। ऐसा जो समझता है वही पण्डित है। इसीका उपदेश श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया है। कर्मके महत्त्वको समझानेके लिये गीतामें बड़ी सूक्ष्मदृष्टिसे काम लिया गया है। गीता ब्रह्मविद्या है, क्योंकि वह सब उपनिषदोंका सार है, जिस साधनके द्वारा उस ब्रह्म-तत्त्वका साक्षात्कार किया जा सकता है, उस योगका भी श्रीगीताजीमें प्रतिपादन है। इसीलिये गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तको योगशास्त्रसे अभिहित किया गया है। गीताका यह योग तीन तरहसे कहा गया है—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। योगके ये तीन अंग ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारके लिये अभिन्न अंग हैं। इनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

महान् दार्शनिक आचार्य शंकरके अनुसार गीताका मुख्य उपदेश ज्ञान है। वे कर्म और भक्तिको ज्ञानके लिये आवश्यक नहीं मानते और उनको वे ज्ञानसे अवर कोटिका साधन मानते हैं। उनके अनुसार केवल तत्त्व-ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें आचार्यपादने लिखा है—

केवलात् तत्त्वज्ञानादपि मोक्षप्राप्तिः न कर्मसमन्वयात्।

श्रीरामानुज और मध्वके अनुसार गीताका मुख्य उपदेश भक्ति है। श्रीवल्लभाचार्यजीका कथन है कि 'ईश्वरके प्रति भक्ति मोक्ष-प्राप्तिका एकमात्र साधन है।' श्रीनिम्बार्काचार्य भी इसी मतको मानते हैं। उपर्युक्त सभी दार्शनिकोंके मत सत्य एवं अनुभवपर ही आधृत हैं। यद्यपि वे समन्वयवादी न होकर एकाङ्गी हैं। श्रीगीताजीमें निश्चय ही कर्म भी करनेका उपदेश है, वह भी निष्कामभावसे। निष्कामका अर्थ है—कामना अथवा फलेच्छाका परित्याग कर समभावसे कर्म करना। शुद्ध भक्ति और कर्मोंके पूर्ण भगवदर्पणबुद्धिसे भी निष्कामताका भाव प्रकट हो सकता है। इसलिये ज्ञानकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस तरह 'स्थितप्रज्ञ'-की अवस्थापर पहुँचनेके लिये ज्ञान, भक्ति और कर्म-

विचार, भावना तथा संकल्प सभीका समन्वय कर ईश्वरसे तादात्म्य करके अपने कर्म करते जाना आवश्यक है। ये कर्म, कर्मके लिये नहीं, बल्कि ईश्वरके लिये हैं।

वास्तवमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण सदा ही पूर्ण और समन्वयवादी दृष्टिकोण होता है। उसमें विरोधी पूरक हो जाते है। प्रो० हिरियानाके शब्दोंमें गीताका उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और ज्ञानके दो आदर्शोंमेंसे स्वर्णिम माध्यम (Golden Midium) निकालना है। निष्काम-कर्मयोग-ज्ञान, भक्ति और कर्मका आध्यात्मिक समन्वय है। यह समन्वय इन तीनों पक्षोंका व्यावहारिक समझौता है। यह अरस्तूके स्वर्णिम मध्यम मार्गसे भिन्न है और इसमें अवयवी सम्बन्ध (Organic Relation) नहीं है। यह आध्यात्मिक एकताकी स्थिति है। बौद्धिक प्रयत्नोसे इसे समझना कठिन है। केवल यह कहा जा सकता है कि इसमें संकल्प, और भावना सभी एकरस (Homogeneous) तथा रूपान्तरित (Transformed) होकर दैवी (Devinised) या दिव्य बन जाते हैं। डॉ० राधाकृष्णन्‌के अनुसार कर्ममार्ग हमें एक ऐसी अवस्थापर ले जाता है जहाँ भावना, ज्ञान और संकल्प सभी उपस्थित हैं।'

वेदान्तदर्शनमें कर्ममार्गसे समुचित ज्ञानमार्गकी बात कही गयी है। सुरेश्वराचार्यके अनुसार कर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और इस लोकमें अभ्युदय और निःश्रेयस मिलते है। किंतु वेदान्ती कर्मको मोक्षका साधन नहीं मानते। आचार्य शंकर कहते हैं कि कर्म और ज्ञानमें महान् अन्तर है। कर्मका फल अभ्युदय और ज्ञानका फल निःश्रेयस है। कर्म पुरुष-व्यापार-तन्त्र है और ज्ञान वस्तु-तन्त्र है। कर्मका विषय भव्य है, पर वह ज्ञानकालमें नहीं रहता। कर्मको अनुष्ठानकी अपेक्षा है। ज्ञान अनुष्ठानसे निरपेक्ष है, कर्म विकल्पज है और ज्ञान स्वप्रकाश। कर्मका फल अपूर्व है और ज्ञानका फल नित्य सिद्ध है। कर्मका फल उत्पाद्य, सत्कार्य, आप्य तथा विकार्य है और ज्ञानका फल ऐसा नहीं है—

उत्पाद्यमाप्यं सत्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैव मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्॥
(नैष्कर्म्यसिद्धि १। ५३)

इन अन्तरोंके कारण कर्मसे ज्ञानका फल नहीं मिल सकता और कर्म तथा ज्ञानका यहाँ, समुच्चय या युगपत् मेल भी नहीं हो सकता। किंतु कर्म सर्वथा व्यर्थ नहीं है। लोकसग्रह और अभ्युदयके लिये ये आवश्यक हैं। व्यावहारिक जीवनमें कर्मका मूल्य सबसे अधिक है। परमार्थमें भी वह चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानमें हेतु है। अतः यह पारमार्थिक ज्ञानका कारण है। लोकमान्य तिलक-महोदयके मतमें निष्काम कर्म साक्षात् 'निःश्रेयसकर' है।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। काम्यकर्म स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। नैमित्तिक कार्य वे हैं—जो विशेष अवसरोंपर किये जाते हैं। नित्यकर्म वे हैं, जो प्रत्येक व्यक्तिके लिये नित्य कर्तव्य हैं। इनमेंसे काम्यकर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंके पालनसे चित्त शुद्ध होता है और ज्ञानके जितने प्रतिबन्ध होते हैं, वे दूर हो जाते हैं। इसलिये गीतामें कहा गया है कि यज्ञ, दान और तप ज्ञानियोंको भी पवित्र करते है। नित्यकर्म न करनेसे प्रत्यवाय या पाप होता है। भगवत्पाद शंकराचार्य कहते हैं कि जो नित्यकर्म करता है, उसका अन्तःकरण संस्कृत तथा विशुद्ध होता है। फिर वह ज्ञानका अधिकारी हो जाता है। **'सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानोत्पत्ति-तन्निष्ठाहेतुत्वेन मोक्षकारणमिदम्'** (गीता शांकरभाष्य १८। १०)। काम्यकर्मके अतिरिक्त अन्य सभी कर्म आत्मज्ञानोत्पत्तिके द्वार-कारण है और परम्परया मोक्षके साधन हैं—**एवं काम्यवर्जितं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकतां प्रतिपद्यते।**
(आचार्य शंकरकृत बृहदारण्यक-उपनिषद्भाष्य)

पद्मपादाचार्यने 'विज्ञान-दीपिका'में कहा है कि कर्म-का नाश जहाँ योग-ध्यान, सत्सङ्ग, जप तथा ज्ञानसे होता है, वहीं उसका नाश स्वयं कर्मसे भी होता है—

कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्सङ्गाज्जपतोऽर्थतः।
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥
(विज्ञानदीपिका २२)

इस संदर्भमे कर्मके तीन भेद किये जा सकते हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। प्रारब्धकर्म वे हैं, जिनका फल वर्तमान जीवन है और इस जीवनमें होनेवाले सभी कर्म फल हैं। क्रियमाणकर्म वे हैं, जो इस जीवनमें किये जाते हैं। संचितकर्म वे हैं, जो पूर्वजन्ममें किये गये हैं और जिनका फल मिलना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। उनका फल भावी जीवनमें मिलेगा। ज्ञानसे सचित तथा क्रियमाणकर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जानेसे ज्ञानीका पुनर्भव नहीं होता, वह कहीं आता-जाता नहीं है, किंतु उसका भी प्रारब्धकर्म इस ज्ञानसे भी नष्ट नहीं होता। प्रारब्धकर्म तो भुक्त होनेपर ही नष्ट होता है। इस प्रकार प्रारब्धकर्मका समन्वय जीवन्मुक्तिसे हो जाता है। किंतु जीवन्मुक्तिमें ज्ञान और कर्मका पार्थक्य सुस्पष्ट है। मुक्तकी दृष्टिमें कर्म नहीं होते। वह जडवत् आचार करता है। उसके कर्म अज्ञान-दृष्टिसे ही देखे जाते हैं। इस प्रकार भी कर्म और ज्ञानका समुच्चय असंगत है। चित्त-शुद्धिके द्वारा ज्ञानसे सम्बन्धित होनेके कारण कर्मका ज्ञानसे क्रम-समुच्चय ही संगत बैठता है—पहले कर्म और तत्पश्चात् भक्ति तथा अन्तमें ज्ञान।

हिंदूविचारधारा ईश्वरको ज्ञानकर्ममय मानती है। ज्ञानके आधारपर कर्मके फलस्वरूप ही समस्त सृजन मान्य है। ज्ञान ज्योतिर्मय है और अखण्ड है। कर्म अनेक और अनगिनत हैं। संसारमें कर्मकी अधिकता होनेपर ज्ञान उससे आवृत हो जाता है। कर्म जीवनका आवरण है। इस आवरणका दूर हो जाना ही मोक्ष है। यह ज्ञानद्वारा सम्भव है, इसलिये महाभारतमें यह कहा गया है कि प्राणी कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त होता है—'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्यते'। कर्ममार्गपर प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मनसे अपने-परायेकी भावना मूलरूपसे नष्ट हो जाती है और वह अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्षकी ओर अग्रसर हो जाता है। मोक्षकी प्राप्ति दो प्रकारसे सम्भव है—ज्ञान या कर्म-संन्याससे और निष्कामकर्मसे। इन दोनोंमें दूसरेको श्रेष्ठ माना गया है। गीताका कथन है कि काम्यकर्मके अनुष्ठान करनेसे मोक्षकी उपलब्धि नहीं होती। वह तो ऐसे निष्कामसे प्राप्त होती है, जिसमें अपने व्यक्तिगत लाभ या कल्याणका कोई स्वार्थ निहित न हो। इसके सम्बन्धमें गीतामें कहा गया है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३।१९)

गीताका कर्म हमें यह नहीं बताता कि उपदेष्टा उससे मुक्त रहे; क्योंकि वह भी इस कर्मशृङ्खलासे आबद्ध है। कर्माचरण अपने लिये तो मोक्षदायक है ही, दूसरेके लिये भी कल्याणकारी है। इससे लोक-कल्याण और लोक-संग्रह भी होता है। कर्मयोग मनुष्यमात्रके लिये एक-जैसा है। व्यावहारिक दृष्टिसे तो यह बात सामने आती है कि कर्मके बिना जीवन-यापन असम्भव है। अतः भक्तिमार्गियोंने ईश्वर-प्राप्तिके जो उपाय बताये हैं, वे भी स्वयं कर्म ही हैं।

कर्मके द्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है और भक्ति ज्ञानकी ओर ले जाती है। रामानुजकी दृष्टिमें यह स्मृति-संतान है। भक्ति भी ज्ञानका ही एक रूप है और कर्म ज्ञानकी आधारशिला। जिस प्रकार कोई बालक किसी कार्यको जब प्रथम बार करता है तो उसमें कई त्रुटियाँ रहती हैं, किंतु निरन्तर उसी कार्यको करते रहनेसे वह उसमें पारंगत हो जाता है, उसकी बुद्धिका विकास हो जाता है, ठीक इसी प्रकार भगवान्‌की अर्चना-वन्दना, पूजन-कीर्तन आदि कर्म जब निष्कामभावसे किये जाते है, तब भक्ति प्रबल हो जाती है और भक्तकी आत्मामें निवास

*

करनेवाला भगवान् अपनी करुणाके कारण भक्तके ज्ञानको प्रकाश प्रदान करता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान् श्रीरामका भी कथन है—

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥

(रामचरित मा० ३। १६)

हिंदू-जीवन-दर्शनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इसके मुख्य साधन तप, ज्ञानादि हैं। तपका अर्थ है—किसी कार्यसिद्धिके लिये निरन्तर यत्नमें संलग्न रहना। तपके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है और तब बुद्धिका विकास होता है। बुद्धिका विकास ज्ञान-मार्गमें आगे बढनेके लिये आवश्यक है। जब व्यक्ति ज्ञान-मार्गमें सही ढंगसे चलने लगता है, तभी वह समझ सकता है कि ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक सत्य हैं; परंतु इसमें भी ईश्वर शासक है और जीव शासित। ईश्वर उपकारक है और जीव उपकार्य। दोनो ही ब्रह्मके विवर्त हैं और दोनो ही शुद्ध चैतन्य हैं, दोनो ही पारमार्थिक दृष्टिसे ब्रह्म ही हैं। जीवको ईश्वरका अंश माना है—**'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'**—यद्यपि ईश्वर वास्तवमें निरवयव है। जगत् अनादि है, कर्म भी अनादि है। जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही फल पाता है, अतः ससारमें जो दुःख, क्लेश, पाप इत्यादि दिखायी पड़ते हैं, उसका कारण ईश्वर नहीं, अपितु जीवोके कर्मफल हैं। अतः ईश्वरके विरुद्ध नैतिक समस्या नहीं उठायी जा सकती और न स्रष्टा होनेके कारण उसे अपूर्ण कहा जा सकता है। स्थूल, जड़ और विभाजित जगत् अपने आदिकारण ईश्वरमें लौटकर अपने इन विशेष गुणोको छोड़कर पुनः बीजरूप धारण कर लेता है। अतः उससे ईश्वरकी शुद्धतापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जगत् बाह्यरूपमें ईश्वरसे सर्वथा भिन्न है। परन्तु मूलरूपमें वही है। अतः यह प्रश्न निरर्थक है कि चेतन ईश्वरसे जड़की उत्पत्ति कैसे हुई। मनुष्यकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंके समान अविद्याके कारण जगत् भी अनेक रूपोमें प्रकट होता रहता है। जगत् और जीवकी जड़ता तथा अन्य दोषोंसे ईश्वरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि आचार्य शंकर सत्यकार्यवादी थे, परिणामवादी नहीं। जगत् ईश्वरका विवर्त है। अतः उनके मतसे जगत्के स्वभावसे ईश्वरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर तो कर्मका नियामक है, कर्माध्यक्ष है। वह सर्वज्ञ है, उसका यह ज्ञान सहज, अपरोक्ष, अतीन्द्रिय और अविद्यासे परे है। वह जगत्का साक्षी है। वह विभिन्न जीवोंको उनके कर्मानुसार शरीर देता है और उन्हींके कर्मानुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति करता है।

वस्तुतः संसृतिका कारण अविद्या है। परमात्म-साक्षात्कार करनेके लिये कर्मके बन्धनोंसे छूटना आवश्यक है। इसके लिये दो उपाय हैं—कर्म और ज्ञान। कर्मका तात्पर्य वर्णाश्रम-धर्मसे है। इस प्रकार मोक्षके जिज्ञासुओंको निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमधर्मोका पालन करना चाहिये। इससे ज्ञान-मार्गमें बाधक पिछले संस्कार समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक ज्ञान ईश्वरकी नव-नव-स्मृति अर्थात् लगातार ध्यान करना है। इसको ध्यान, उपासना और भक्ति कहा गया है। ध्यान तथा भक्तिसे अन्तमें करुणावरुणालय आनन्दकन्द भगवान्का दर्शन अथवा साक्षात्कार होगा। इससे समस्त अज्ञान और कर्मबन्धनोका नाश हो जायगा। यह सब मनुष्योके प्रयत्नोसे नहीं हो सकता, उसको तो सब छोड़कर ईश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और उसका बराबर ध्यान करते हुए सब कुछ उसीपर छोड़ देना चाहिये। यही निष्कामकर्मयोगका सिद्धान्त है जिसके द्वारा ईश्वरकी कृपासे ही साधकको मोक्ष प्राप्त होता है।

निष्कामका अर्थ वैयक्तिक कामनासे नहीं, वल्कि विश्वात्माकी कामनासे कर्म करना, भगवत्कर्मका सफल यन्त्र बनना है। कर्मका अर्थ अपने-अपने वर्णधर्मानुसार अथवा स्वभाव और शक्तिके अनुसार देव, गुरु और पितरोंके प्रति अपना कर्त्तव्य करना है। गीताने वर्णाश्रमधर्मको जन्मजात स्वभावके आधारपर माना है। यह नियम भी अत्यन्त वैज्ञानिक प्रक्रियापर आधृत है। श्रमविभाजन (Division of labour)को निष्काम-कर्मयोगने दैवी स्वीकृति प्रदान की है। इसका अर्थ किसी प्रकारकी वर्ग-भेदव्यवस्था न होकर समाजका सुचारुरूपसे संचालन था; क्योंकि वर्ण-धर्मका पालन जन्मसिद्ध अधिकार समझकर नहीं, वल्कि भगवान्‌का आदेश समझकर उसकी दी हुई शक्तियोंको उसीके कामके लिये उपयोग करनेके लिये है। निष्काम कर्मयोग मानवकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रकृतिके अनुकूल है। उससे स्वार्थ और परार्थ, व्यक्ति और समाज इस लोक तथा परलोक सभीका कल्याण-साधन होता है।

श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'गीता हमें कर्मोंका कामना-रहित होकर कर्म करना नहीं सिखाती, बल्कि वह सब धर्मोंको छोड़कर दैवी जीवनका अनुसरण करना, एकमात्र परममें शरण लेना सिखाती है और बुद्ध एवं रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्दके दैवी कर्म इस उपदेशसे पूर्ण सामञ्जस्यमें हैं।' गीताके अन्तमें श्रीकृष्णने अर्जुनको यह उपदेश दिया कि 'सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जा, मैं तुम्हें समस्त पापोंसे छुड़ा दूँगा। चिन्ता मत कर,—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अतः निष्काम-कर्मयोगका प्रयोजन मानवका दैवी रूपान्तर करके कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके द्वारा जगत्‌में ईश्वरके कार्यका साधक बनना है।

सकामकर्म और निष्काम-कर्म (कर्मयोग)

(लेखक—पं० श्रीआद्याचरणजी झा, व्याकरण-साहित्याचार्य)

प्रायः सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन-धाराका स्रोत 'कर्मयोग' ही है। और, यह शाश्वत सत्य है। किसी भी विचारधाराका चिन्तन, अनुशीलन तथा उसके मूल्याङ्कनकी कसौटी 'कर्मयोग' है। यह शब्द जितना सरल और स्वल्पाक्षरी है, उतना ही भाव-अर्थ-गाम्भीर्ययुक्त है। वैदिक वाङ्मयके बाद न केवल भारत-भूखण्डमें, बल्कि समस्त भूमण्डलमें 'गीताके कर्मयोग'का नगाड़ा मानवीय कर्तव्य-पथको उद्घोषित कर रहा है तथा यह एक ऐसा प्रेरक प्रयास है जिसके सहारे मनुष्य-जाति विश्वमें श्रेष्ठ जीवन-यापन करती आ रही है।

यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है कि **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'**—कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्मके नहीं रहता। ये कर्म कायिक-वाचिक एवं मानसिक तीन प्रकारके हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ करता ही रहता है, चाहे वह जाग्रत्-अवस्थामें हो या सुषुप्तावस्थामें। कर्मरहित होते ही प्राणी निष्प्राण हो जायगा। ऐसी स्थितिमें अब यहाँ विचारणीय हो जाता है कि कर्मके कितने प्रकार हैं, उसकी क्या प्रक्रिया है—आदि। इसमें सबसे पहले 'सकाम-कर्म' और 'निष्कामकर्म' ये दो भेद सामने आते हैं। इन दोनों भेदोंका संकेत यद्यपि वैदिक कालसे ही चला आ रहा है; किंतु 'गीता'के प्रमुख प्रतिपाद्य 'कर्मयोग'-के संदर्भमें यह विषय विशेष विवेच्यके रूपमें आया है।

इस विषयपर हजारों गवेषक, मनीषी तत्त्व-चिन्तकोंने चिरन्तनकालसे विभिन्न चिन्तन किये हैं और अपने विचार

व्यक्त किये हैं। इसपर शास्त्रीय विवेचना भी होती रही है। यह विषय इतना गहन है कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्षेत्रमें विशाल अन्तर आ जाता है। कर्मका प्रेरक उसके फलकी इच्छा होती है और गीता उस इच्छाको विष-दन्त समझकर उसे तोड़ देनेका आदेश करती है; फिर कर्म किया ही क्यों जाय? यह कहना जितना सरल है कि 'फलेच्छा-रहित होकर ही कर्म करे' उतना ही यह व्यवहारमें असम्भव-सा कठिन प्रतीत होता है। यद्यपि यह तो सर्वविदित है कि 'कर्म करनामात्र ही मनुष्यके बसकी बात है, फल तो सदा ईश्वराधीन ही है, फिर भी मायाका आवरण, अहंकारका जाल तथा मोहकी रज्जु इतनी विस्तृत तथा सुदृढ है कि इससे निकलकर वस्तुस्थितिपर आते-आते कोई भी भ्रमित हो जाता है।

व्यवहारमें प्रातःकाल उठनेसे लेकर रात्रिमें शयन-पर्यन्त कोई भी काम निष्काम नहीं होता है। प्रत्येक कार्यका उद्देश्य होता है। उन्हीं उद्देश्योंके सभी विधेय हैं। बुभुक्षा-निवारणके लिये भोजन, स्वास्थ्य एवं मनोरञ्जनके लिये भ्रमण, पारिवारिक सुख और अपने सुख-सुविधाके लिये भौतिक साधनोंका संचय—ये सभी सकाम कर्म ही हैं; क्योंकि यहाँ प्रत्येकमें फलकी कामना है। इसीलिये किसी भी प्रक्रियामें यदि इच्छित फलप्राप्ति नहीं होती है तो तुरंत उसे बदलकर दूसरी प्रक्रिया अपनायी जाती है।

इन तथ्योंको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। ऐसी स्थितिमें निष्काम कर्म कैसे सम्भव है? उसकी क्या पद्धति है, इत्यादि बड़ी गम्भीरताके साथ चिन्तनीय हैं। यहाँ थोड़ी-सी गहराईमें जाकर देखनेसे यह ज्ञात होगा कि प्राणिमात्र सदा शान्ति चाहता है। भीषण-से-भीषण व्यक्ति भी दिनभर हिंसा, हत्या, लूट-पाट करनेके बाद भी रात्रिमें या अन्तमें विश्राम या शान्तिके लिये ही निद्राकी शरण लेता है। वह गहरी नींदका प्रयास करता है और चाहता है एकान्त। हिंसक जन्तु भी ऐसी ही शान्ति चाहते हैं। यह शान्ति सकाम कर्ममें नहीं है। कामनाकी न कोई सीमा है और न उसका कहीं अन्त ही है। कामनाएँ—फलेच्छाएँ अनन्त हैं। जितनी फलप्राप्ति होगी उतनी इच्छा (वासना) बढ़ती जायगी—**'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'**। फलतः हमें देखना है कि कर्म तो करना ही है, वह करणीय भी है; लेकिन उसके परिणाममें अनासक्त रहना है। वहाँ हमें अपनेको तथा अपने कर्मोंको जो वास्तविक फलदायक है उस परमशक्तिमें समर्पित करना है। यह अनासक्तभाव अत्यन्त ही कठिन है। यह क्रमशः 'अभ्यास'से ही होगा। अभ्याससे 'भावना'को एक जगह दृढ़ करना होगा। तब यह क्रिया **'पद्मपत्र-मिवाम्भसा'** हो सकेगी।

भावना मानसिक विकार है। मन अत्यन्त सीमातीत चञ्चल है—**'मनो दुर्निग्रहं चलम्'**। यह अभ्यास एवं वैराग्यसे ही वशमें हो सकता है—**'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'**। बिना अभ्यासके वैराग्य भी सम्भव नहीं है। अतएव कर्म करनेके समय उसे निष्ठा, दृढता एवं तत्परतासे करनेका तो शुभ संकल्प रखना ही है, लेकिन उसी दृढ भावनासे उन कर्मोंके परिणामपर आसक्तिसे मुक्त होना है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

कर्मयोगकी सिद्धान्त-प्रतिपादिका भगवद्गीता इन्हीं रहस्यों-का उद्घाटन करती है, जिसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। हम तो सांसारिक-सामाजिक प्राणी हैं, हमें यथार्थके धरातलपर ही खड़ा होकर कुछ करना है। यथार्थता-

से विमुख होकर केवल सैद्धान्तिक बातोंका उपदेश देना-मात्र पर्याप्त नहीं होगा । इसे जीवनमें उतारना होगा । जीवनमें उतारनेके लिये अभ्यास करना होगा । 'अभ्यास' से जीवनमें दृढ़ता आयेगी । यही दृढ़ता हमें दैहिक एवं भौतिक चाकचिक्य (चकाचौंध)से विमुख करेगी । तभी हम कर्म करते हुए भी निष्काम भावनासे अनासक्त होकर अशान्त होनेसे बचेंगे, जो जीवनका चरम लक्ष्य है । यह 'निष्काम कर्मयोग'का मार्ग बड़ा ही कठिन है—जो सकाम कर्मके रोड़े, ईंट और पीचसे बना हुआ 'राजमार्ग' है । यह योगियोंके परब्रह्म प्रत्यक्षीकरणकी तरह अगम्य है, अनिर्वचनीय है । आलङ्कारियोंके साधारणीकरणकी तरह चामत्कारिक है । लेकिन है यह अत्यन्त आनन्ददायक और भूमण्डलका जन्म लेनेका 'चरमोत्कर्षपूर्ण परिणाम ।

निष्कर्ष यह कि विश्वके समस्त कर्मोंके प्रेरक उनके फल होते हैं । कर्मोंमें प्रवृत्ति सकाम होती है । मनुने 'काम्यो हि वेदाधिगमः' कहकर काम्यकर्मोंमें ही वेदोंका तात्पर्य बतलाया है । परंतु कामना—फलकी इच्छा—बन्धन-कारक होती है । इससे जीवका परम कल्याण या चरम लक्ष्य नहीं सिद्ध हो सकता । परम कल्याणके लिये नैष्कर्म्य-सिद्धि ज्ञानयोगसे विहित होती है किंतु निष्कामतासे कर्ममार्ग—कर्मयोग भी निःश्रेयस्कर (कल्याणप्रद) माना गया है । अतः सकाम कर्मोंको करते हुए निष्कामताकी दिशामें बढ़ना चाहिये—यह काम अभ्याससे और फलोंमें वैराग्य लानेसे क्रमशः साध्य है

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

साठ साल पहलेकी बात है । उन दिनों हम बच्चे अपने गाँव कैथवा (इटावा)के पूरबवाले तालाबपर जाते और कमलोंके मनमोहक दर्शन-सुखके साथ-साथ घंटों खेलते उनके हरे-हरे कोमल पत्तोंके साथ । खेल कैसा ?—पत्तोंपर पानी उछालनेका खेल ।

पानी पत्तोंपर पड़ता । मोती बनते । एक-दो, तीन-चार, दस-बीस मोती बने कि पानीमें ढुलके । क्या मजाल कि कमलके पत्तोंपर पलभरको पानी ठहर तो जाय, चिपक तो जाय ।

घंटों चलता यह खेल । कैसा बढ़िया खेल ! हम लाख कोशिश करते हैं । पानी ठहरता ही नहीं पद्मपत्रोंपर । हमें क्या पता था कि भगवान् कृष्ण हमारे इस खेलका स्वयं भी आनन्द ले चुके हैं, तभी न वे कुरुक्षेत्रके मैदानमें अर्जुनसे कहते हैं—

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना ।

क्या पड़ा है तू कर्म-अकर्म-विकर्मके चक्करमें—कृष्णार्पण करके, फलकी आसक्ति छोड़कर कर्म कर । कर्म तो तुझे करना ही पड़ेगा, कर्म किये बिना तू रह नहीं सकता, तो अकलमंदी इसीमें है कि जो कर, सो ब्रह्मार्पण कर दे । अनासक्त होकर कर्म कर । फिर तू कर्मोंके फलसे उसी तरह निर्लिप्त रहेगा, जैसे जलमें रहते हुए कमल । यही तो गीता-(५ । १०)में कहते हैं —

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

क्या ही सटीक उदाहरण है कर्मकी निष्कामताका ! कमल ! कितने पर्याय हैं इसके । चाहे उसे नीरज कहिये, चाहे जलज-अम्बुज कहिये, चाहे सरोज-वारिज कहिये, चाहे पङ्कज—सब नामोंसे एक ही ध्वनि निकलती है—पानीसे पैदा होनेवाला, पानीमें बसनेवाला, पानीमें पलनेवाला ।

पर ओह, कैसा निर्लिप्त रहता है कमल !

पैदा होता है पानीमें, बढ़ता-पनपता है पानीमें, विकसित होता है पानीमें, खिलता है पानीमें, आठ पहर चौसठ घड़ी बसता है पानीमें; पर पानीसे सर्वथा अछूता !

पानी कमलपर टिकता नहीं, ठहरता नहीं । पानीको वह ठहरने नहीं देता, अपनेसे चिपकने नहीं देता; आया कि तुरंत उसने लुढकाया, फेंका । कोई मुलाहिजा नहीं; कोई झिझक नही; कोई सकोच नहीं ।

हमें भी कमलकी ही भाँति निर्लिप्त होकर संसारमें रहना है । हमें भी **'पद्मपत्रमिवाम्भसा'** रहना है इस जगत्में । कर्म तो करने है । कर्म किये बिना हम एक क्षण नहीं रह सकते । पर कर्म सभी करने हैं कमलका आदर्श अपने सामने रखकर—**जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना ।**

क्या बात हुई यह ?

आप तुरंत कहेंगे—अजी, हम कोई कबीर हैं कि चादर ओढ़ेंगे, बिछायेंगे, प्रयोगमें लायेंगे, इस्तेमाल करेंगे और फिर भी चलते-चलते ताल ठोंककर कहते जायेंगे—

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़ि के मैली कीन्ही चदरिया ।
दास कबीर जतन तें ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों धरि दीन्ही चदरिया ॥

भला, बताइये तो कि आप कबीर क्यों नहीं वन सकते ? आप क्यों नहीं—**'ज्यों-की-त्यों धरि दीन्ही चदरिया'** कह सकते ? केवल 'जतन'से ओढ़ने भरकी तो बात है ।

आप क्यों उस लजीली वधूकी मिसाल पकड़े हैं, जो वेदनामें डूबकर पुकार रही है—

सुन्दर-सी साड़ी मोरी मइके में मलिन भई,
का लैके जइबे गवनवाँ हाय राम ।
घूँघट खोलि पिया जब पुछिहैं,
करिबे तौ कौन बहनवाँ हाय राम ॥

होता क्या है ?

हमारे चारो ओर कर्मोंकी चादर फैली है । उसपर कभी राग-द्वेषके छींटे पड़ जाते हैं, कभी काम-क्रोधके । कभी उससे लोभ-मोहकी कालिख छू जाती है, कभी मद-मत्सरकी । इन दागोंको, इन धब्बोंको, इन छींटोंको, इस कालिखको देखकर हम सिहर उठते हैं—'हे भगवन् ! क्या हो गया यह ? जाना था पूरब, चले गये पश्चिम ! कामना की स्वर्गकी, पैर फँसा लिये नरकके दलदलमें । उम्मीदे बाँधीं मुक्तिकी, फँस गये जालमें बन्धनके ।

राही कहीं है, राह कहीं, राहबर कहीं ।
ऐसे भी कामयाब हुआ है सफर कहीं ?

हम कर्म करते हैं । रात-दिन करते हैं । पलभर-को भी कर्मोंसे हमारा छुटकारा नहीं । बहुत-से कर्म हम करते है हाथ-पैरोंसे, बहुत-से शरीरके अन्य अङ्गोंसे । बहुत-से कर्म हम वाणीसे करते हैं, बोलकर करते हैं । पर सबसे ज्यादा कर्म हम करते हैं—मनसे । हमारे बहुत-से कर्म प्रकट रहते हैं, बहुत-से अप्रकट । अप्रकट कर्मोंको या तो हम जानते है या हमारे भीतर बैठा अन्तर्यामी । पर फल हमें भोगना पडता है—सभी कर्मोंका, फिर वे चाहे तनसे किये गये हो या वचनसे या मनसे । कर्मोंका फल देर-सवेर भोगना ही पड़ता है और भोगना पड़ता है दूसरेको नहीं, हमीको । बात ठीक भी है—शास्त्रोंका तो कहना है कि इस जन्ममे फलभोग न हुआ तो अगले जन्ममें खाता साफ करना पड़ता है ।

× × ×

मजे तुमने उडाये हैं, मुसीबत कौन झेलेगा ।

हम कर्मोंके बाजारमें बैठे है । यहाँ सभी कुछ कर्म है । देखना-सुनना हो या हँसना-बोलना, मिलना-जुलना

हो या बात-व्यवहार करना, खाना-पीना हो या खेलना-कूदना। सब कुछ कर्म है। 'कर्म प्रधान विस्व करि राखा'।

कार्यालयमें बाबूगीरी हो या दुकानपर बैठकर दुकानदारी, खेतमें हल जोतना हो या लेंहड़ी चलाना, इंजिनमें कोयला झोंकना हो या लाल-हरी झंडी दिखाना, पीठपर बोझा लादना हो या जहाजपर माल लादना, किताब पढ़ना हो या किताब लिखना, भाषण करना हो या बंदूक चलाना—कर्मोंकी चक्कीमें सभी पिसे जा रहे हैं। कर्मोंसे छूटना कठिन है, असम्भव है। इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंके व्यापार हैं—उनके सभी कार्य कर्मकी परिभाषामें आते हैं। स्वरूप भिन्न हैं, पर सब कर्म कर्म ही हैं। कोई पेटके लिये नाना प्रकारके कर्म करता है, कोई शौकके लिये। कोई नाना प्रकारकी कामनाओं, इच्छाओं, वासनाओंसे प्रेरित होकर कर्म करता है, कोई ऊपरसे मौन और शान्त दीखता है, पर भीतर-ही-भीतर जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलाता है। नाना प्रकारकी उखाड़-पछाड़के मनसूबे बाँधता है। उन सबका फल भोगे बिना गति नहीं।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

अक्सर ऐसा लगता है कि हम नहीं चाहते, फिर भी हमसे अनेक कर्म हो जाते हैं—जैसे किसीने जबरन घसीटकर हमसे करा लिये हो। क्यों? गीता (३।३६)में अर्जुन पूछते हैं कृष्णसे—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

कृष्ण वहीं (३।३७ में) उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

यह है रजोगुणसे उत्पन्न काम। यही रूपान्तरित होकर क्रोध बन जाता है। बड़ा पेटू, बड़ा पापी। इसे अपना शत्रु मानो।

ये काम-क्रोध हमें भरमाते हैं, नाना प्रकारके कर्मोंमें उलझा देते हैं। इनका कभी पेट ही नहीं भरता। इन्हें जीतना है, मारना है। गीता कहती है—

'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥'

(३।४३)

इन काम-क्रोधसे कैसे पार पाया जाय? कैसे जीतें इन्हें? इन्हें कैसे मारा जाय?

कोई कह सकता है कि हम गृहस्थीको लात मारकर जोगी बन जाते हैं, तब तो 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।' कर्मोंका चक्कर ही खतम हो जायगा। जी, ऐसा नहीं। नानक कहते हैं—'जोगीजी, इस धोखेमें मत रहिये। भस्म रमानेसे, गुदड़ी पहननेसे, लँगोटी लगानेसे जोग नहीं होता।' तब कैसे होता है जोग? उसका उपाय है—

'अंजन माहिं निरंजन रहिये।'

संसारके बीच रहते हुए, पाप-तापके बीच रहते हुए उससे अलिप्त रहिये, तब होगा जोग; तब होगा तप; तब होगी साधना। घूम-फिरकर वही बात—

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना।

महात्मा मोहनदास करमचन्द गाँधीने गीताका अनुवाद किया है—'अनासक्तियोग'के नामसे। उन्होंने 'गीताबोध' नामसे भी कुछ लेख लिखे हैं। और सबसे बड़ी बात वे जिये हैं—गीताके साथ। अनासक्ति उनकी शक्ति रही है। आइये उनसे पूछें कि कर्म करते हुए अनासक्त कैसे रहा जाय?

बापू कहते हैं—'एक ओरसे कर्ममात्र बन्धनरूप हैं, यह निर्विवाद है; दूसरी ओरसे देही इच्छा-अनिच्छासे

भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धन-मुक्त कैसे रहे? गीताका कहना है—'फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो', 'आशारहित होकर कर्म करो', 'निष्काम होकर कर्म करो'—यह गीताकी वह ध्वनि है जो भुलायी नहीं जा सकती। जो मनुष्य परिणामकी इच्छा किये बिना साधनमें तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है। विचित्र बात है! क्या बात है?

'गीताके फल-त्यागमें अपरिमित श्रद्धाकी परीक्षा है। जो मनुष्य परिणामका ध्यान करता रहता है, वह बहुत बार कर्मच्युत—कर्त्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता है और फिर वह न करनेयोग्य करने लग जाता है। एक कर्ममेंसे दूसरेमें और दूसरेमेंसे तीसरेमें पड़ता जाता है। परिणामकी चिन्ता करनेवालेकी स्थिति विषयान्धकी-सी हो जाती है।'

बापू आगे बताते हैं कि फलासक्त अन्तमें विषयीकी भाँति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करनेके लिये हर किसी साधनसे काम लेता है। (कर्म कुकर्म हो जाता है—कार्य-प्रक्रिया बिगड़ जाती है।) एक कसौटी रख दी है बापूने हमारे सामने कि कौन कर्म किये जायँ, कौन नहीं। वे कहते हैं—

'गीताके मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्तिके बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्यको अनेक धर्म-संकटोंसे बचाता है। इस मतके अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते है। मानव-जीवन सरल बनता है और सरलतामेंसे शान्ति उत्पन्न होती है। (शान्ति ही सुख है।)

इस विचार-श्रेणीके अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीताकी शिक्षाको व्यवहारमें लानेवालेको अपने-आप सत्य और अहिंसाका पालन करना पड़ता है। फलासक्तिके बिना न तो मनुष्यको असत्य बोलनेका लालच होता है, न हिंसा करनेका। चाहे जिस हिंसा या असत्यके कार्यको हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणामकी इच्छा रहती है।

मतलब? हम आसक्ति रखकर कोई काम न करें। इससे अकरणीय कार्य स्वतः छूट जाते हैं। बाकी कार्य कर्तव्यबुद्धिसे करते हैं। जो परिणाम आये, अच्छा या बुरा, वह सिर-माथे—इन्शा अल्लाह! प्रभुकी मर्जी, उसे शिरोधार्य करें। फिर तो जीवनमें आनन्द-ही-आनन्द रहेगा। मस्ती-ही-मस्ती रहेगी। हमारा रोम-रोम पुकारेगा—

तेरे काटोंसे भी प्यार,
तेरे फूलोंसे भी प्यार!
जो भी देना चाहे दे दे,
दुनियाके तारन-हार॥

फलासक्ति छोड़कर हम काम करें, जो फल आये उसकी आसक्ति न रखें, निर्लिप्तभावसे उसका स्वागत करें तो हमारा सारा जीवनक्रम ही बदल जायगा। आजके युगमें सर्वत्र फलाकाङ्क्षाका ही तो दौरदौरा है—रुपया, पैसा, पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मानके फलके लिये सभी मुँह बाये फिर रहे हैं और उसका नतीजा हमारे सामने है। हम अपना जीवन नारकी बना रहे हैं दूसरोंका भी। उपाय एक ही है—

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना॥
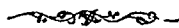
न कर्म लिप्यते नरे

(लेखक—श्रीरेवानन्दजी गौड़)

जन्म-जन्मान्तरसे कृतकर्मोंसे संस्कृत मानवजीवन वस्तुतः कर्मण्य है। उसका वर्तमान जीवन कर्म-शृङ्खला-की एक कड़ी है। मनुष्य ही क्या, कोई भी प्राणी अपने जीवनमें 'अथसे इति'तक कर्मसे अनुस्यूत है, गूँथा हुआ है। जीवित रहना है तो कर्म करना ही पड़ेगा। मनुष्यका यह भ्रम है कि वह सोचे कि मैंने कर्म करना छोड़ दिया। कर्म छोड़ना, घर-द्वार त्यागना, श्वास लेना भी तो एक कर्म ही है। अतः भगवान्के संकेत हैं—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्,
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यह निगमागमसम्मत-कर्मकाण्ड सिद्धान्त है कि मनुष्य इस लोकमें कर्म करता हुआ सौ वर्षोंतक जीने-की इच्छा करे। इसके अतिरिक्त कर्मलेपसे मुक्त होनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः **'जीवेम शरदः शतम्'** के साथ **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** भी आवश्यक है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'**का पर्यवसान भी **'मा फलेषु'**में किया है। फलतः फलासङ्ग-शून्य कर्मको ही निष्काम कर्मयोग कहा जाता है। यह जीवनमें सिद्धि प्रदान करनेवाला एक उत्कृष्ट साधन-पथ है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईशावास्य० २)

'संसारमें कर्म करते हुए जीवित रहो; किंतु अपने ऊपर कर्मका लेप न होने दो। परंतु कर्म करे और कर्मका लेप न हो, यह तो बड़ी विचित्र बात है। यह तो परस्पर-विरोधाभास-सा है। इसका एकमात्र समाधान है—निष्काम-कर्मयोग। निष्कामकर्मयोगी सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता और कुछ न करते हुए भी सब कुछ करता है। कर्मकी गहन गतिको वह सम्यक् समझता है। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना इत्यादि नित्य क्रियाओंमें जब 'मैं' है, कर्तव्य है, अकड़ है तब वह कर्म कर्म है और जब कर्ममें कर्तव्य खो जाय, अहं मिट जाय, अकड़की पकड़ न हो तब वह कर्म भी 'अकर्म' है; और, दोनोंके बीचका मार्ग—न जहाँ कर्ता है न कर्म, उसे कहते हैं—विशेष कर्म अर्थात् विकर्म। जो कर्म स्वतः हो रहा है, वह विकर्म है। जैसे श्वाँस-क्रिया, पाचन-क्रिया, रक्त-संचरणक्रिया इत्यादि। जब कर्मसे कर्तव्य-भावना, फलासक्ति पृथक् हो जाती है, तब सभी कर्म निर्मल और उज्ज्वल हो जाते हैं। फलकी इच्छासे रहित कर्म, केवल कर्तव्य-बुद्धिसे कृतकर्म ही निष्काम कर्मयोगका मूल है। निष्काम कर्ममें कर्तृत्व नहीं होता, अहंभाव नहीं होता; ऐसा कर्म जन्म-मरणके बन्धनका जनक नहीं होता; कर्तापर कर्म-लेप नहीं होता; जीव **'जन्ममृत्युजराव्याधिविमुक्तोऽमृतमश्नुते'**-की भूमिकाका अधिकारी हो जाता है। इसी नैष्कर्म्य-बुद्धि और भगवदर्पण सिद्धिसे परमपदकी प्राप्ति होती है। यह एक ऐसी लोकोत्तर स्थिति है, जिसके लिये आर्ष-वचन है—

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'।

निष्काम कर्मयोग साधन है तथा भक्ति और ज्ञान इसके निमित्त कारण हैं। भक्तिसे भक्तके हृदयमें भगवदर्पण-भावना और ज्ञानसे कर्म अकर्ममें प्रतिफलित होता है। अतः फलासक्तिके भारसे बचनेके लिये, कर्म-लेपसे छुटकारा पानेके लिये, स्थितप्रज्ञता, सर्वभूतहितैषणा, आत्मौपम्य-दृष्टि और निर्वाण-प्राप्तिके लिये निष्काम कर्मयोगका पर्यावरण अभीष्ट है। जैसे विषसे सर्प, भोगसे योगी, अहंसे ज्ञानी, विवादसे विद्वान् दूषित और भयंकर हो जाते हैं, वैसे ही फलासक्तिसे कर्ममें विपाक्तभावना, लाघवकी वासना और क्षुद्रकामना उत्पन्न

हो जाती है; तब कर्म करनेमें कर्ताका दम घुटता है, वह कर्म करनेसे डरता है, कर्तव्य-भावनासे दबकर आजीवन दु:खी रहता है, वास्तविक लक्ष्यसे भटक जाता है और वह शाश्वत शान्तिके लिये तरसता ही रह जाता है—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

'कर्म भी करे और उसका लेप भी न हो'—यह विचार ठीक ऐसा ही है, जैसे कोई कहे—रोटी खानेपर भी पेट खाली है, पञ्चाग्नि-तप करनेपर भी शरीर शीतल है, काजलकी काली कोठरीमें रहकर भी शरीर काजलसे अछूता है, किंतु काजलकी कोठरीमें यदि कोई सयाना आदमी एक-दो घडी मात्र रहे तो सम्भव है कि अछूता रह जाय, परंतु जब कोई व्यक्ति काजलकी कोठरीमें ही जन्मे, उसीमें मरे, उसीमें खेले-खाये, उठे-बैठे, अपनी मस्तीमें काजलकी कोठरीके दुर्गुणोंको ही भूल जाय, ऐसे नासमझ आदमीका शरीर और वस्त्र ही काले न होंगे, अपितु उसका आत्मस्वरूप ही अन्यथा हो जायगा और उस अन्यथा स्वरूपको ही वह सत्य समझेगा। ऐसे व्यक्तिको महाभारत (१।७४।२७) आत्महन्ता कहता है—

योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

कर्म करते हुए भी कर्मके लेपसे बचनेका, उससे अछूता रहनेका एकमात्र उपाय है—फलासंगशून्यकर्म अर्थात् निष्काम कर्मयोगकी भूमिका। पर यह हो कैसे? **—'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'**— के अनुसार मनुष्यका कर्मसे बचना कठिन है, वह जीयेगा तो कर्म करना ही पड़ेगा; कर्म करेगा तो कर्मके फलका लेप अवश्य होगा; क्योंकि जीव तो कर्मकाजलकी कोठरीमें अनेक जन्मोंसे रह रहा है। **अतः उससे अछूता रहनेके लिये निष्काम कर्मयोगकी प्रक्रिया ही महत्त्वपूर्ण है।** निष्काम कर्मयोगकी प्रक्रियाकी **प्रयोगशालामें निष्काम कर्मयोगी कर्ता नहीं बनता, बल्कि अभिनेताके रूपमें अभिनय करता है।** यही समाधान है। अभिनयकी अन्तर्दशामें अभिनेतापर कृत कर्मका प्रभाव (लेप) नहीं होता। कर्तृत्व कर्मका लेप करता है, परतु अभिनय लेपको मिटाता है। कर्तृत्व सलेप है, अभिनय निर्लेप है। अभिनेता गहरेमें नहीं घुसता, वह सतहपर तैरता है; वह मनसे नहीं शरीरसे, अन्दरसे नहीं बाहरसे कर्म करता है। वह सब कुछ करके भी कुछ नहीं, कुछ करके भी सब कुछ करता है। अतः उसका अन्तर कर्मसे अछूता है, उसपर कर्मका लेप नहीं होता। एक-दो अन्तर्बोध—उदाहरण अभीष्ट विषयको स्पष्ट करते हैं—

रामलीलामें पानवाला नत्थू रावणका पॉर्ट अदा करता है। शूर्पणखाके विकृत होनेपर, लङ्काके दहनपर शोकावेगमें अन्धा होकर बड़बड़ाता है, उछलता है, कूदता है। लङ्कादहनसे अपनी पराजय और सीताहरणपर अपनी विजयकी दुन्दुभि बजाता है। अभिनयकी समाप्तिपर नत्थू अपनी दूकानपर पान लगा रहा है, सिगरेट बेच रहा है, ग्राहकोंसे विनोद कर रहा है। उसपर सोनेकी लङ्का जलनेका, हाथी-घोडे, धनजनकी हानिका, नाती-पोतोंके हाहाकार-चीत्कारका कोई लेप नहीं; क्योंकि वह लीलामें कर्ता नहीं बना था, अभिनेता बना था।

अब दूसरा दृष्टान्त लें। कल्पना करें—मोहन दसवीं कक्षाका छात्र है। वह रामलीलामें रामका अभिनय करता है। रिहर्सलके कारण अच्छा अभिनय करता है। सीता-हरण, लक्ष्मणसंज्ञाहरणपर वह रोता है, आँसू टपकाता है; बावला-सा बनकर तन-मनकी सुधि भी खो बैठता है। प्रलाप करता है, पशु-पक्षी और लताओंसे बातचीत करता है। उसके अभिनयमें तादात्म्य है। दर्शक भी साधारणीकरण-की दशामें आँसू बहाने लगते हैं। परंतु अभिनयकी समाप्तिपर वह छात्र है, अपने अध्ययनमें रत है, अब उसे न सीताकी, न भाई लक्ष्मणकी चिन्ता है। मोहनने कर्म तो राम-जैसे ही किये, परंतु निर्लेपभावसे, फलासङ्ग-शून्यवृत्तिसे, निष्कामकर्मकी प्रक्रियासे। अतः उसपर कर्मका लेप नहीं हो पाता। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि

असक्त होकर कर्तव्य कर्म करो; इससे कर्मका लेप नहीं लगेगा और परमगति प्राप्त हो जायगी।

कर्ता और अभिनेतामें यही अन्तर है। कर्ता कर्तृत्वसे लिप्त और अभिनेता निर्लिप्त। कर्तृत्वमें बन्धन और अभिनेतृत्वमें मुक्ति अन्तर्निहित है। कर्ता बाँधता है, अभिनेता खोलता है। कर्तृत्व मनमें है, अभिनय शरीरमें है। नाटकीय अभिनेता हँसता है, रोता है, गाता है, सोता है, खाता है, दुनियादारीके सभी काम करता है; परंतु अहंकारयुक्त कर्तृत्व-भावनासे नहीं, अपितु अभिनय-की दृष्टिसे। तभी तो वह सुख-दुःखका भागी नहीं होता; उसकी अन्तरात्मा कर्मलेपसे अछूती रहती है; उसे कर्म पकड़ता नहीं। वह कर्तृत्वके भारसे दबता नहीं। वह तो सुख-दुःखमें, हानि-लाभमें, जय-पराजयमें, यश-अपयशमें, शत्रु-मित्रमें समबुद्धि रहता है। वह इस कलामें 'पण्डित' होता है, उसकी समदर्शिता विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणसे लेकर कुत्तेमें समानरूपसे व्याप्त होती है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

निष्काम-कर्मयोगीको मैं नहीं, तू-ही-तू दिखायी देता है। वह कर्म करता है, परंतु कर्ता-धर्ता परमात्माको मानता है; उसे ही पूर्ण और सर्वशक्तिमान् मानता है। अपनी कर्तृत्व-भावनाको परमात्माके चरणोंमें न्यौछावर कर देता है। वह जो करता है, खाता है, तप करता है, दान देता है, सब कुछ भगवदर्पण बुद्धिसे, नैष्कर्म्य-सिद्धि-हेतु—'हरिः ॐ तत्सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु' ही करता है। वह प्रभुसे आत्मनिवेदन करता है—'प्रभो! मैं कुछ नहीं, तू ही सब कुछ है; मैं तो तेरे हाथकी कठपुतली हूँ, चाहे जैसे नचा दे। मैं तो तेरे खेलकी चाल हूँ, चाहे जिधर चला दे। मैं तो तेरे डोरीका पतङ्ग हूँ, चाहे जहाँ उड़ा दे। मैं तो एक सूखा पत्ता हूँ, जहाँ चाहे उड़ाकर ले जा; मैं तो तेरे हाथकी चाबी हूँ, जैसे चाहे घुमा दे। तू चाहे जिता दे अथवा पराजित कर दे। मेरी जय-पराजय कुछ नहीं। हार भी तेरी, जीत भी तेरी और यह भी तेरा, वह भी तेरा। यही भगवदर्पण-बुद्धि-**'न कर्म लिप्यते नरे'**—का मूल मन्त्र है; और, निष्काम-कर्मयोगकी सच्ची प्रक्रियाशाला अर्थात् प्रयोगशाला है।

निष्काम-कर्मयोग—एक व्यावहारिक विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

सन् १९६५की बात है। मै टोकियोकी विश्व-ध्वनिविज्ञान-काँग्रेसमें उपाध्यक्षके रूपमें आमन्त्रित किया गया था। आतिथ्य-प्रदाता थे जापान ध्वनिविज्ञान-परिषद्के अध्यक्ष प्रो० मासाओ ओनीशी। महासम्मेलनके पश्चात् प्रोफेसर ओनीशीने मुझे अपने घरपर भी आमन्त्रित किया। जापानी प्रायः घरपर नहीं बुलाते, जो कुछ आतिथ्य-सत्कार आदि करना होता है, होटलोंमे ही कर देते हैं। मै इस विषयमें भाग्यवान् रहा; क्योंकि उसी वर्ष ओनीशीजीके अतिरिक्त हिन्दीके प्रोफेसर दोईजीने भी मुझे इस प्रकारका गौरव प्रदान किया। जब मै प्रोफेसर ओनीशीके घर पहुँचा तो द्वारपर ही प्रोफेसर अपनी पत्नी तथा उभय पुत्रियोसहित स्वागतार्थ उपस्थित थे। अभिवादनके रूपमें कई मिनटोंतक दोनों ओरसे झुकनेका क्रम चलता रहा और तब घरपर पहननेके चप्पल पेश किये गये, जिन्हें अपने जूते खोलनेके पश्चात् पहनकर घरमें प्रवेश करना था। घरमें एक कमरा तो यूरोपियन ढंगसे सजाया गया था, पर शेष सभी कक्ष पूर्णतः जापानी-पद्धतिसे अलंकृत थे और कुर्सी-टेबिल-सोफोके स्थानमें गद्दी-तकिए, चौकियाँ थीं। निर्मित भवनके बाहर, चहारदीवारीके अंदर जापानी ढंगका एक

बगीचा था जिसमें नदी, नाले, झरने, पुल, पर्वत, अपने लघुकायमें लक्षित हो रहे थे। एक किनारेपर एक गोल कमरा था जिसमें प्रवेश करनेहेतु घरऊ चप्पले भी उतारनी पड़ीं। बताया गया—'यह मेरा ध्यान-कक्ष है।' यह पूछनेपर कि वे किसका ध्यान करते हैं? उत्तर मिला—किसीका नहीं, 'शून्य' का। (भारतमें शून्यका गणित, दर्शन, प्रतीक, विज्ञान आदिमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है)। एक और प्रश्न किया, 'ध्यानसे क्या कामना करते हैं?' उत्तर बड़ा तथ्यपूर्ण था—'कोई भी कामना नहीं करते, क्या यह आपकी गीतामें प्रतिपादित 'निष्कामकर्म'के अनुरूप नहीं है?' मै चौंका; मै प्रोफेसर ओनीशीको केवल ध्वनि-विशारदके रूपमें ही जानता था। किंतु उनकी भारतीय दर्शनमें भी गम्भीर गति लक्षित हुई और साथ ही यह भी विदित हुआ कि भौतिक समृद्धिसे परिपूर्ण जापानके चिन्तक भी भारतीय दर्शनकी उच्चतासे कितने प्रभावित हैं। इस प्रसङ्गमें प्रोफेसर ओनीशीसे किया गया वार्तालाप बहुत उपयोगी प्रतीत हुआ। जापानमें एक बात और देखी गयी। जापानी अपने घरमें पूर्णतः जापानी है, परम्पराओका निर्वाह करनेवाले अपनी संस्कृतिका पालन करनेवाले हैं; किंतु घरसे बाहर भौनिक कर्मक्षेत्रमें यूरोपियन हैं—वेशभूषा, विचारधारा, कार्यक्षमता आदि उसी प्रकारकी है। किमोनो (जापानी वस्त्रविशेष) पहननेवाले या तो फैशन-शो, व्यवसायिक-वस्त्र प्रदर्शनीमें या बड़े स्टोरोंमें ग्राहकोंका सतत अभिवादन करते हुए दिखायी देते हैं अथवा जापानी होटलोंमें परिचारिकाओंके रूपमे। वहाँ जापानी परम्परा तथा आधुनिक भौतिकवादका उपयोगी समन्वय मिलता है।

जापानके अनुरूप ही पश्चिमी देशोमें कर्मक्षेत्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है और विना किसी बाह्य नियन्त्रणके अपने-अपने कार्योमें सलग्न कर्तव्यक्षेत्री व्यक्ति देखे जाते हैं। प्रोफेसर ओनीशीने तो 'निष्कामकर्म'की बात कही, पर पश्चिमी कार्यरत व्यक्ति इस महान् सिद्धान्तसे इतना परिचित नहीं। हाँ, जहाँ भारतीय विद्याओंका शिक्षण होता है, पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनोंका तुलनात्मक अध्ययन होता है, आध्यात्मिकताके विविध पक्षोंपर विचार-विनिमय होता है, वहाँ शैक्षिक स्तरपर गीतामें प्रतिपादित 'निष्कामकर्म' पर भी विचार होता है। प्रायः भारतीयोपर आलसी, निष्क्रिय, कार्यदिशाहीन होने आदिका दोष लगाया जाता है; उनके क्रिया-कलापमें शैथिल्यकी ही प्रधानता वतायी जाती है तथा कार्यपद्धतिको अनुपयुक्त बताकर सवेदना प्रकट की जाती है। हमारे विचारसे यह दृष्टिकोणका अन्तर है, वास्तविकताको न समझनेकी भ्रान्ति है और कुछ लोगोकी प्रमादमयी स्थितिका परिणाम है। जहाँ श्रीमद्भगवद्गीता-जैसा कर्मयोगका अद्वितीय ग्रन्थ विद्यमान है, जिसका कर्मयोग विश्वचर्चित है और जो विश्वके बौद्धिक स्तरपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका है, उस देशके निवासियोको इस प्रकारके लाञ्छनसे दूषित करना भ्रान्त बुद्धिका ही परिणाम है या सच्चे मूल्योंको न समझ पानेकी नासमझी है। यह हो सकता है कि हम अपने निर्धारित मार्गसे किंचित् हट गये हैं अथवा परिस्थितियोंके कारण तथ्यको देख नहीं पाते, पर हमारे सामने जो स्पष्ट निर्देश है, जिस मार्गके अनुसरणकी अपेक्षा है तथा जिसमें हम पूर्ण विश्वास करते हैं, सिद्धान्ततः वही हमारा अभीप्सित लक्ष्य है, वही हमारा अनुकरणीय एवं प्रस्तावित मार्ग है।

कर्ममार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये गीता विश्वका अद्वितीय ग्रन्थ है और इसकी विशेषता 'निष्कामकर्म' है, जो यदि विचारसे देखा जाय तो एकमात्र मान्य सिद्धान्त है—यद्यपि उसकी उपलब्धि अभ्यास एवं साधना-साध्य है। गीतामें निष्कामकर्मयोगका विद्वत्ता-पूर्ण, हृदयग्राही एवं तथ्यपूर्ण विवेचन हुआ है—हो भी क्यो न, जब यह शब्द-राशि एक ऐसी विभूतिद्वारा उचरित है, जिसकी मान्यता सम्पूर्ण विश्वमे व्याप्त है। गीताके विभिन्न

अध्यायोंको देखनेसे निष्कामकर्मयोगका विवरण इस प्रकार मिलता है—

अध्याय	श्लोक-सं०	विषय
२	३९	निष्काम कर्मयोगका महत्त्व,
	४०	निष्काम कर्मयोगका प्रभाव,
	५०	निष्काम कर्मयोगीकी पुण्य-पापसे निवृत्ति,
३	७	निष्काम कर्मयोगीकी विशेषता,
४	१९	कामनारहित आचरण करनेवालोंकी प्रशंसा,
	२०	फलासक्ति त्यागकर कर्म करनेवाला,
	२२	निष्काम कर्मयोगका साधक,
	२३	निष्काम योगमें स्थिति,
५	३	निष्काम कर्मयोगीकी विशेषता,
५	६	निष्काम कर्मयोगकी सरलता,
५	७	निष्काम कर्मयोगीकी अलिप्तता,
६	१	निष्काम कर्मी ही वास्तविक संयासी और योगी,
९	२२	निष्काम उपासनाका फल,
१८	५६	निष्काम कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति और
१८	५७	निष्काम कर्मयोग-हेतु भगवान्की आज्ञा।

निष्काम कर्मयोगका महत्त्व अनेक प्रकारसे प्रतिपादित किया गया है। गीताके निम्नाङ्कित श्लोकोमें सार आ गया है—

(१) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता ३। ७)

(२) ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥
(गीता ५। ३)

(३) अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(गीता ६। १)

इन सभी श्लोकोमें इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि सच्चा कर्मयोगी किसी प्रकारकी कामना नहीं रखता, उसकी कोई इच्छा नहीं, उसे किसी फल-प्राप्तिकी चाह नहीं होती। वह कर्म करता है—कर्म करनेकी दृष्टिसे, फलकी आकाङ्क्षासे नहीं। इसी प्रसङ्गमें अंग्रेजीकी कुछ पंक्तियाँ स्मृत हो रही हैं, जिनमें कहा गया है—'भविष्य कितना भी उज्ज्वल क्यों न हो, विश्वास न करो; अतीतको सर्वदाके लिये विलुप्त समझो, वर्तमानमें ही केवल काम करो, बड़े उत्साहके साथ और परमात्माके संरक्षणमें।' किंतु फलकी चाह न करना बड़ा ही कठिन कार्य है; एक प्रकारसे कार्य करनेसे पहले ही फलका स्वरूप निर्मित हो जाता है और हमारी क्रियाशीलतामें फल प्रायः सामने ही लक्षित होता रहता है। उसीसे हमें कार्य करनेमें उत्साह मिलता है। हम किसी परीक्षाकी तैयारी करते हैं तो सफलता-असफलताका भाव सदैव मनमें रहता है। किसी व्यापारमें लगे हुए हैं—हानि-लाभको भुला नहीं सकते। किसीके प्रति कुछ किया है—प्रत्युपकारकी भावना सामने रहती है। यात्रा कर रहे हैं—गन्तव्यपर निगाह लगी रहती है। परिवारमें परिवारका पालन कर रहे हैं—वृद्धावस्थामें पुत्रोंकी सेवाका विचार आ ही जाता है। भजन करते हैं—न जाने कितनी सुखमय कामनाएँ रूप धारणकर प्रत्यक्ष होती हैं। दर्शनार्थ जानेपर, भाषण करनेपर, अध्ययन करनेके पश्चात्, निमन्त्रण देते हुए, वस्त्राभूषणसे अलंकृत होनेपर, विवाह करते समय, पुत्र-पुत्रीके जन्मपर, भोजन करते समय—प्रायः सभी अवसरोंपर परिणामको विस्मृत नहीं कर पाते। कैसी विचित्र स्थिति है। विश्वास करना चाहते हैं निष्कामकर्ममें, जानते भी है कि वास्तविकता इसीमें है, सुख इसीमें है, पर कामनारहित होकर कार्य करना कठिन होता है। इसे कुछ ही साधक जान सकते हैं—पर हम यह तो जानते ही हैं कि आदर्श कार्य-पद्धति यही है।

कार्य करनेकी प्रेरणा कई स्रोतोंसे मिल सकती है। कोई कार्य प्रतिक्रियाके रूपमें प्रेरणा प्रदान करते हैं—किसीने अपशब्द कहे, हमें प्रेरणा मिली कि उसका

प्रतिवाद करें। हम अपने विचार दूसरोके प्रति व्यक्त करना चाहते हैं और अभिव्यक्ति क्रियामें संलग्न होते हैं। कभी-कभी स्वेच्छासे ही किसी कार्यमें प्रयुक्त हो जाते हैं। प्रेरणाकी परिणति प्रयत्नमें होती है और उसीके द्वारा कर्मका स्वरूप निर्मित होता है। प्रयत्नमें हमारी इन्द्रियाँ तथा मन सामान्यतः कार्य करते हैं—यद्यपि बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि भी अपनी भूमिकाका निरन्तर निर्वाह करते रहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा अनेक क्रियाएँ अवसरानुकूल सम्पादित होती हैं और कहीं-कहीं प्रयत्न मानसिकरूपमें ही रह जाता है; पर अधिक क्रियाओंमें मन और इन्द्रियोंका संयोग होता है; क्योंकि प्रयत्नको रूप देनेमें मन बहुत कुछ कार्य करता है। मान लीजिये—किसीने हमें गाली दी, प्रतिक्रियाके रूपमें हमें भी कुछ करना है; कभी मन अपनेपर ही प्रयत्नको सीमित रखता है और इन्द्रियोंका योगदान नहीं चाहता; कभी वह हमारे हाथोंको प्रेरित करता है कि उनके द्वारा प्रतिवाद करें; कभी मुखके द्वारा यह क्रिया सम्पन्न होती है और कभी पैरोंकेद्वारा स्थान छोड़ देनेका भी सुझाव उसके द्वारा दिया जाता है। हमारे प्रयत्नके फलस्वरूप जो क्रिया सम्पादित होती है, वह भी व्यर्थ नहीं जाती—कभी तो हमारे द्वारा किये गये कार्यकी प्रतिक्रिया होती है, कभी हमें व्यक्त या अव्यक्त अनुभूति होती है; पर कभी वह भी स्थिति आ जाती है जिसे हम 'निष्काम' शब्दद्वारा कह सकते हैं। परीक्षा दी, पास होनेकी कामना नहीं; व्यवसाय किया, लाभकी इच्छा नहीं; उपकार किया, प्रत्युपकारकी चाह नहीं। पर जैसा मैंने निवेदन किया यह स्थिति बहुत ही कम हो पाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक कार्यके पीछे कोई कामना अवश्य है। इस प्रसङ्गमें एक बात और कथनीय है। कर्म हमारे शरीरका स्थायी धर्म है—हम कभी निष्क्रिय नहीं होते; निष्क्रियताको मृत्युका ही उपनाम कहा गया है। इसका आलंकारिक महत्त्व ही नहीं है, वरन् यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है—हम सोते हैं, जागते हैं, बैठते हैं, दूसरोंको दिखाई देनेवाले कुछ काम नहीं करनेपर भी हमारा शरीर सक्रिय रहता है—रुधिरका प्रवाह अविच्छिन्न गतिसे चलता रहता है, दिल बराबर अपना काम करता है, श्वास-उच्छ्वासकी क्रिया स्वतः सम्पादित होती रहती है; वैसे बैठना, जागना, सोना, आराम करना, सभी अपने-अपने ढंगसे क्रियाएँ हैं; पर सामान्यरूपसे इन्हें क्रिया न मानकर क्रियाहीनताकी कोटिमें लेते हैं। एक बात अवश्य प्रत्यक्ष होती है कि सोना-बैठना, आराम करना आदिमें हमारी 'निष्काम कर्म'भावना अधिक जागरूक रहती है—यद्यपि उनमें भी शरीरको विश्राम देनेकी भावना, प्रच्छन्नरूपसे ही सही, काम करती रहती है। पर इन क्रियाओंको हम कर्मकी कोटिमें नहीं गिनते और शरीरका धर्ममात्र मानते हैं।

यदि व्यावहारिक दृष्टिसे देखें तो 'निष्काम' वाली बात केवल आदर्श प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। यह कैसे हो सकता है कि हम कार्य करें और कार्यफलकी इच्छा न करें। सत्य तो यह है कि विशुद्ध 'निष्काम' स्थिति तो वह होगी, जब 'निष्काम' भावनाका भी परित्याग कर दिया जाय। कहा जाता है शुद्ध 'त्याग' तब है, जब 'त्यागका भी त्याग' कर दिया जाय। जबतक किसी भी प्रकारकी कामना रहेगी, 'निष्काम भावना'की वास्तविकता साकार नहीं होगी। पर हमारे यहाँ स्पष्ट कहा गया है—

१—तेरा कर्म करनेमात्रमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं (गीता २। ४७)।

२—जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने-योग्य कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है (गीता ६। १)।

३—अनन्यभावसे परमेश्वरके चिन्तनमें भी निष्काम भाव हो (गीता ९। २२)।

४–निष्काम कर्मयोगी कर्मोंको करता हुआ परमपद पाता है (गीता १८ । ५६) ।

कर्मको फलसे युक्त करना श्लाघ्य नहीं बताया गया है । हमें काम करना है और निरन्तर करते रहना है । गीताके तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भी यही बताया गया है कि कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता; निःसंदेह सभी व्यक्ति प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते रहते हैं । इस क्रिया-युक्त स्थितिमें सामान्य व्यक्ति फलका चिन्तन करते हैं, पर इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले अनासक्त रहते हैं । सत्य तो यह है कि 'निष्कामभावना' अति कठिन होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक और प्रेरणाप्रद है । इसके कुछ विन्दुओंपर विचार करें—

(क)–निष्काम कर्मयोगी फलकी इच्छा नहीं करता, अतः विपरीत फल मिलनेपर भी उसे किसी प्रकारकी दुःखानुभूति नही होती । परीक्षामें असफल होनेपर, व्यापारमें अधिक हानि होनेपर कुछ लोग अवाञ्छनीय जघन्य पाप कर डालते हैं । यह सब इसलिये होता है कि कर्ममें निष्कामभावना तनिक भी नहीं रहती ।

(ख)–निष्कामभावना परमात्मामें पूर्ण आस्थाकी देनेवाली होती है । जब व्यक्ति फलकी इच्छा करता है, अपने कार्यका सुपरिणाम देखनेकी आकाङ्क्षा करता है तो उसका **'अहम्'** जाग्रत् रहता है और जिस व्यक्तिमें **'अहम्'** अथवा अहंकारका वास होता है, उसकी स्थिति निन्दनीय होती है । फलकी इच्छा न करनेवाला केवल यही सोचता है कि जिस कार्यमें प्रभुने लगा दिया है उसे कर्तव्य समझकर करना है, परिणाम जो हो, सो हो; प्रभुकी आज्ञाका परिपालन प्रभुमें पूरी आस्था स्वतः उत्पन्न कर देता है और ऐसे लोग काम करते हुए भी निष्काम रहते हैं; फलके भोक्ता होकर भी उसमें लिप्त नहीं होते; उनकी तो परमात्मामें पूर्ण श्रद्धा रहती है और उसीके प्रेरणास्वरूप उसको अच्छे लगनेवाले मार्गका अनुसरण करते हैं ।

(ग)–जो व्यक्ति फलकी इच्छा करता है, वह पहले तो सोचता बहुत है, फिर करूँ, न करूँके विकल्पमें फँस जाता है, जिसका परिणाम अनेक स्थितियोंमें निष्क्रियता हो सकती है । यदि मैं करूँगा तो उसका यह बुरा परिणाम होगा, या कोई भी लाभ नहीं होगा—ऐसा सोचकर वह कर्म करता ही नहीं, आलस्य और प्रमाद उसे घेरे रहते हैं, दृढ़ता नष्ट हो जाती है, आत्मविश्वास उठ जाता है । मानवीय जीवनका साम्पूर्ण्य तिरोहित हो जाता है । ऐसे जीवनका क्या लाभ जो कर्तव्य-मार्गपर चलता ही नहीं । सकाम व्यक्तिकी यही स्थिति होती है । निष्काम-धारणामें फलका प्रश्न सामने नहीं आता, कर्तव्यका ही ध्यान रहता है, अतः ऐसा व्यक्ति हाथपर हाथ रखकर नहीं बैठता—करणीयपर आगे बढ़ता ही है । वह प्रभु-प्रदत्त प्रेरणासे लाभ उठाता है और निष्क्रियताके अपराधसे अपनेको सहज ही बचा पाता है ।

(घ)–मेरे विचारसे 'निष्काम-भावना' एक वास्तविकता है । हम कितने भी सजग-सचेष्ट, सावधान क्यों न हो, यह सम्भव नहीं कि फल हमारी कामनाके अनुरूप ही हो । यह कहना बहुत कठिन है कि कर्म और फलमें क्या सम्बन्ध है, अतः पतेकी बात यह है कि 'कर्म करें, फलकी चाह न करें', यही निष्कामकर्मकी व्याख्या है, यही निष्काम कर्मयोगीका मूल-मन्त्र है । 'निष्कामकर्म' एक अत्यन्त पूत एवं व्यावहारिक भावना है, इस तथ्यको स्वीकार करनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता । इसका परिपालन और जीवनमें संयोजन एक कठिन साधना है अवश्य, पर सतत विचार करनेपर यही ठहरता है कि कर्मक्षेत्रमें यही सिद्धान्त परम सत्य और ग्रहणीय है ।

वैराग्य नहीं, कर्मजीवन ही मुक्तिमार्ग है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

बहुत-से व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यवसाय-सम्बन्धी कठिनाइयोंसे शीघ्र ही उद्विग्न हो जाते है। वे धैर्य-पूर्वक अपने आत्म-विश्वासको दृढ नहीं बना पाते; बल्कि विरक्त होकर कर्मजीवनसे भाग जाना चाहते हैं। मोहके कारण उत्पन्न हीनत्वकी भावना उन्हें अपने परिवार, समाज, देश और विश्वके प्रति कर्तव्य-पालनसे रोक देती है। यदि हम हीनत्वकी भावना त्यागकर कठिनाइयोका सामना करना आरम्भ कर दे तो भय एवं नैराश्यकी भावनाएँ उतने ही अंशोंमें दूर होती जायँगी। जो व्यक्ति संसारके कर्तव्यों, अपने परिवार या समाजके प्रति उत्तर-दायित्वो एवं जीवनकी कठिनाइयोंसे जितना अलग रहेगा, वह भयकी भावनासे उतना ही अधिक सत्रस्त रहेगा।

वैराग्य वही उत्तम है, जो आध्यात्मिक ऊँचाइयोंको प्राप्त करे, किंतु जो अपने जीवनमें कुछ भी उत्तम या श्रेष्ठ उपलब्धि न कर सके, वे वैरागी नहीं; प्रत्युत संसाररूपी संग्रामसे भयभीत भागे हुए कायर और असमर्थ कहे जायँगे। कविवर 'दिनकर'के शब्दोंमें—

> **जनाकीर्ण जगसे व्याकुल हो,**
> **निकल भागना वन में।**
> **धर्मराज ! है घोर पराजय,**
> **नर की जीवन रणमें॥'**

यहाँ अनवसरके वैराग्यका अर्थ सामाजिक या पारिवारिक उत्तरदायित्वोंसे भागना लगाया जा रहा है। वास्तवमें तो अपने-अपने वर्ग-आश्रमोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म पूर्ण करना ही धर्म है। जो व्यक्ति भीरु प्रकृतिके होते है और अपनी समस्त शक्तियोका कर्तव्य-कर्मोंमें विकास नहीं कर पाते, वे ही अपने कर्तव्य-कर्मसे डरकर दूर भागते है। हमारे शास्त्रोने अपने समस्त वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक और सांसारिक कर्तव्योंको पूर्ण-कर लेनेके बाद ही संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है। जिसने अपने परिवार और समाजकी कुछ भी सेवा नहीं की या उसके विकासमें यथोचित योगदान भी नहीं दिया, वह वस्तुतः कायर है, कर्तव्य-कर्मसे च्युत है। इस कर्तव्य-शैथिल्य या कायरताका त्याग ही हितकर है। श्रीभगवान्ने गीतामें योगस्थ होकर कर्मरत रहनेका परामर्श दिया है।

> **योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।**
> **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥**
> (२। ४८)

'फलासक्तिका परित्याग कर एवं सफलताओ और असफलताओंमें एकरस होकर कुशलतापूर्वक कर्मका अनुष्ठान करो वही योग है। कर्मजीवन ही सच्चा मुक्ति-मार्ग है। मनुष्य अन्ततक अपने कर्तव्य पूर्ण करे। उन्हे पूरा करनेके लिये सतत शुभ-कर्म करे तो इसीमें सफलता है। चाणक्यके शब्दोंमें—**'न कृतार्थानां मरणभयम्'**। 'जो व्यक्ति ज्ञानके द्वारा आत्मसाक्षात् कर कृतार्थ हो चुका है, उसे मृत्युसे भय नहीं होता।'

भारतमें ईश्वरतकने मानव-योनिमें जन्म लेकर साधारण मनुष्योंकी तरह अपने पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्योंका पालन किया था। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम तथा लोकनायक योगेश्वर श्रीकृष्णका तो समस्त जीवन ही परिवार, कुल, समाज, धर्म, नीति और राष्ट्रके उत्तरदायित्वोको वहन करनेमें ही लगा था। उन्होने कठोर कर्तव्यका पालन कर सामाजिक दायित्वोका सम्यक् निर्वाह किया था। भारतवर्ष कर्मभू है।

दिखावटी वैराग्य, अकर्मण्यता या हीनताका ही प्रतीक है। सच्चा वैराग्य तो बडी ऊँची वस्तु है। जिन्हे सच्चा

वैराग्य प्राप्त हो गया, वे धन्य हैं। सच्चे वैरागी पुरुष मानसिक विकारों, दूषित भावनाओं तथा विषय-वासनाओं-का परित्याग किये रहते हैं। वे कभी कायरोंकी तरह समाजके दायित्वोंसे नहीं भागते, बल्कि अवसर आनेपर धर्म, नीति तथा देशकी रक्षामें अग्रगणी बनकर दूसरोंके सामने कर्तव्य-कर्मका आदर्श उपस्थित करते हैं। संसार ऐसे ही कर्मठ पुरुषार्थी, कर्मयोगियोंसे संचालित, पालित एवं संरक्षित होता रहा है।

सच तो यह है कि हमारा यह सामाजिक जीवन चिरन्तन संघर्ष तथा अनवरत कर्मोंद्वारा अपने परिवार, समाज एवं देशकी सेवा करनेका सोपान है। मानवजीवन ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व, यहाँ-तककी मानवता भी वैरागियोंसे नहीं, अपितु कर्मयोगियोंसे जीवित है। आजकी सभ्यता-संस्कृति, कला, साहित्य, विज्ञान आदि—जिन्होंने जीवनको आधुनिक आरामदायक या सुख-सम्पन्न बनाया है, उन महान् ऋषि-मुनियों, कलाकारों, साहित्यकारों और वैज्ञानिकोंके अनन्त कर्मफलकी देन है, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानवके सेवार्थ निष्काम भावसे खपा दिया। मानव-समाज आज उन सभी कर्मठ कर्मियोंका ऋणी है। उसी संदर्भमें भगवान् श्रीकृष्णद्वारा दिया गया गीताका उपदेश सतत कर्मशील रहने तथा कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेके लिये ही है।

धर्मराज, कर्मठ मनुष्यका, पथ संन्यास नहीं है;
नर जिसपर चलता वह—मिट्टी है, आकाश नहीं है।

जीवनके हर क्षण, हर घंटे, प्रत्येक दिन, हर सप्ताह, प्रति मास और प्रति वर्ष हमें कर्मक्षेत्रसे कायरतापूर्वक भागकर नहीं, अपितु संघर्षरत होकर विजयी होना है। निष्काम-कर्मकी यह कसौटी है—कर्तव्य-कर्मकी निष्ठा एवं सम्पन्नता भी यही है।

निष्कामताका महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी सेठ, एम्० ए०, एम्० एड्०, पी-एच्० डी०)

शरीर और संसारसे जीवन्मुक्त होनेके लिये संतोंने तीन उपाय बताये हैं। सर्वप्रथम उन्होंने यह बताया है कि यह शरीर और संसार जो अनित्य है, क्षणभङ्गुर है, उससे असङ्ग हो जानेपर साधक जीवन्मुक्त हो सकता है। दूसरा, यदि असंगताका पथ कठिन लगता है तो साधक शरीर और संसारके अधिकारकी रक्षा करते हुए अपने कर्तव्य-पालनद्वारा जगत्‌की सेवा करते हुए ऋण-मुक्त होकर अकाम पद प्राप्त कर सकता है। और तीसरा, जिस संसारसे अपना जातीय सम्बन्ध नहीं है, उससे सम्बन्ध छोड़कर नित्य रहनेवालेसे सम्बन्ध जोड़ा जाय। पथ कोई भी हो, लेकिन परम सुहृद् प्रभुके हुए बिना साधकको चिर विश्राम कदापि नहीं मिलेगा।

नियम यह है कि मनुष्यको लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये किसी-न-किसी पथका अनुसरण अवश्य ही करना होगा। पथका नियमानुसार अनुसरण करनेपर ही सफलता सम्भव होती है, किंतु साधकको रुचि, योग्यता, सामर्थ्यके अनुसार ही पथ चुनना होता है।

साधकके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि 'समत्वबुद्धि' अथवा 'तत्त्व-विचार' सर्वश्रेष्ठ है तो गीताके तीसरे अध्यायमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको घोर कर्ममें प्रवृत्त क्यों कराते हैं? सत्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भसे ही इतना परिपक्व एवं विकसित नहीं होता है कि उसकी बुद्धिमें पूर्ण समत्व भाव आ जाय। अतः स्वयं श्रीकृष्णने यह बताया है कि तत्त्व-विवेकियोंको लक्ष्यकी प्राप्ति ज्ञान-योगसे, कर्म-योगियोंको प्रभु-प्राप्ति कर्मयोगसे और भक्तोंको भक्तियोगसे

ही सम्भव है। इसीलिये उन्होंने कर्मरत साधकोंको इस प्रकार समझाया है—

(क) बिना कर्म किये साधक निष्कर्मभावको प्राप्त नहीं हो सकता और न वह कर्मको नितान्त छोड़ देनेसे ही सिद्धिको प्राप्त कर सकता है; बिना कर्म किये व्यक्ति क्षणभर भी संसारमें नहीं रह सकता है; क्योंकि प्रकृतिके गुणोंसे विवश होकर प्राणीको कर्म करना ही पड़ता है।

(ख) बहुतसे व्यक्ति बाहरसे कर्मेन्द्रियोपर नियन्त्रण कर लेते हैं और ऊपरसे वे कर्मरहित अथवा निष्कर्मी दिखायी देते हैं, किंतु मानसिक धरातलपर अनेक कर्म करते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंको गीतामें मिथ्याचारी अथवा कपटी कहा गया है।

(ग) जो व्यक्ति अथवा साधक अपनी ज्ञानेन्द्रियोको मनके वशमें करके कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करते रहते हैं, वे व्यक्ति निरासक्त अथवा वास्तवमें निष्कर्मी कहे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोको ही भगवान् श्रीकृष्णने महत्त्वपूर्ण माना है। इसीलिये गीताकारने बार-बार नियत-कर्मोंको निष्कामभावसे करनेकी प्रेरणा दी है। अर्जुनसे वे यही कहते हैं कि यदि तू प्रत्येक कार्यको ईश्वरार्पणके पवित्र भावसे करेगा तो तू जीवन्मुक्त होकर लक्ष्यको अवश्य प्राप्त कर लेगा।

'निष्कामता' कहनेमात्रसे नहीं आ जाती; इसीलिये संतोंने यह भी कहा है कि अज्ञानी व्यक्ति आसक्त होकर कर्म करते हैं और ज्ञानवान् प्राप्तका सदुपयोग लोगोंकी भलाईके लिये निःस्वार्थ भावसे करते हैं। अज्ञानी स्वयं अपनेको कर्ता मानकर कार्य करते हैं, जबकि निष्कामकर्मी योगी या अपनेको किसी यन्त्रीका यन्त्र, मानकर निरासक्त भावसे कर्म करते हैं, वे प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करते हैं। इसीलिये चित्तको प्रभुको अर्पित करके कर्म करनेकी प्रेरणा दी गयी है। जो साधक निरासक्त होकर लोकोपकारकी दृष्टिसे कर्तव्य कर्मोंको सर्वेश्वरको समर्पित करके निरन्तर जीवनमें संलग्न रहते हैं, ऐसे व्यक्तियोंको उनके कर्म कभी भी लिपायमान नहीं करते अथवा बन्धनमें नहीं बाँधते।

संतोने बताया है कि इन्द्रियाँ अति सूक्ष्म और विषयोंसे परे हैं। इन्द्रियोंसे परे सूक्ष्म मन है, मनसे परे सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धिसे परे सर्वाधार आत्मतत्त्व है। इसीलिये विषयोंकी अपेक्षा ये इन्द्रियाँ अति प्रबल हैं। इन्द्रियोंसे प्रबल मन है, मनसे अधिक प्रबल बुद्धि है और बुद्धिसे अधिक प्रबल आत्मा है। जो साधक इस सत्यको जानकर अपनेको काम-मुक्त करके समर्पित-भावसे कर्म करते जाते हैं, ऐसे निष्काम कर्मयोगियोंको स्वतः तथा सरलतासे लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। अतः गीता (३ । १९ में) कहती है—'अनासक्त होकर कर्तव्य कर्म करो; क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेवाला पुरुष परम पदको पा लेता है'—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

भगवान् श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि जबतक साधकको आत्म-साक्षात्कार नहीं होता, तबतक वह भटकता ही रहता है। उसका मन उसे किसी-न-किसी कर्ममें प्रवृत्त ही रखता है। इसीसे वे अपने प्रिय सुहृद् अर्जुनको यह सलाह देते हैं कि परमानन्द अथवा आत्म-साक्षात्कारके इच्छुक साधकको अपने समस्त विहित कर्तव्य कर्मोंको उनके फलकी इच्छा और कर्तृत्वादि लगावसे रहित होकर निष्काम भावसे करते चलना चाहिये। निष्काम-चित्तसे कर्तव्य-कर्म करनेवाले पुरुषको परमानन्द और कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है।

एक बार एक महात्मासे यह पूछा गया कि 'महाराज! निष्काम कर्म करना तो एक गृहस्थके लिये बहुत कठिन है, फिर हम लोग क्या करें?' तो वे हँसकर कहने लगे कि—भाई, सकामकी अपेक्षा निष्काम कर्म ही अधिक सुगम है और उससे लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति भी होती है। जो मनुष्य दूसरोंसे कुछ लेना चाहता है, अपने सुखका आधार दूसरोंको मानता है और दूसरोंसे ही आशा लगाये रहता है, वह निश्चय ही वैभवशाली होकर भी दरिद्र ही है। कर्म करनेका विधान भी कर्मकी एवं संसारकी आसक्ति मिटानेके लिये है। अतः साधकको अपने स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विधानसे जो कर्तव्यकर्म प्राप्त हुआ हो, उससे बदलेमें कुछ चाह न रखते हुए जो सावधानी और उत्साहपूर्वक कर्म किया जाता है, वही निष्काम कर्म है।

'व्यक्ति जब प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यको अपने द्वारा अर्जित मानकर उसपर अपना अधिकार समझता है तो वह सकामी बन जाता है। यदि साधक यह समझ ले कि उसे जो प्राप्त है, वह प्रभुकी कृपाका फल है तो उसके सदुपयोगका अधिकार उसे मिल जाता है और वास्तवमें 'मेरा कुछ नहीं है'—ऐसा स्वीकार करते ही निष्कामता स्वतः आने लग जाती है। जब मेरा कुछ नहीं है और जो कुछ प्राप्त हुआ है, समाजकी, राष्ट्रकी या भगवान्‌की कृपासे मिला है तो हमें उसे निष्कामभावसे उन्हींके लिये सदुपयुक्त करनेमें हिचक क्यों? ऐसा इसलिये भी आवश्यक है कि इसीसे संसारकी आसक्ति मिटकर ज्ञानोत्पत्तिपूर्वक जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि वह निष्कामभावसे बिना फलकी कामना रखे, शास्त्रविहित कर्मको करते हुए जीवन्मुक्त हो जाय।'

आदर्श कर्मयोगी राजा जनक

(लेखक—संतोषचन्द्रजी सक्सेना, एम्० ए०, एम्० एड्०, एल्० एल्० बी०, एडवोकेट)

विदेह-राज्यमें जनक-नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे। उनकी सारी विपत्तियाँ नष्ट हो गयी थीं और सम्पत्ति दिनो-दिन बढ रही थी। वे सदा सत्कर्म और न्याययुक्त होकर प्रजा-पालन करते थे। एक समय वे वसन्तऋतुमें किसी पर्वत-शिखरपर घूमने गये। वहाँ तमालवनके कुञ्जमें उन्होंने सिद्धोंकी गीता सुनी। वे लोग परस्पर परमतत्त्व (ब्रह्म)के ही विषयमें विचार एवं निर्णय कर रहे थे। कोई कहता कि संसार असत् है, भोग-विलास आदि क्षणभङ्गुर हैं—अतः मैं उस सनातन अक्षरपुरुष परमात्माकी समाधिद्वारा उपासना करता हूँ। कोई कहता कि दृश्य-दर्शन एवं द्रष्टाकी त्रिपुटीको त्याग देनेपर जो विशुद्ध दर्शन या ज्ञानरूप प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्माकी हम उपासना करते हैं। कोई कहता कि अस्ति और नास्ति इन दोनोंके बीचमें इनके साक्षीरूपसे जो सदा विद्यमान रहता है और प्रकाशनीय पदार्थोंको प्रकाश देनेवाला है, उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं। एक अन्य सिद्ध कहता था—जिसमें सब है और जिसका यह सब है—जिसके लिये यह सब है और जिसके द्वारा यह सब है—जो स्वयं ही सब है, उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं। एक-दूसरेका कहना था, जो अकारसे लेकर हकार तक समस्त वर्णोंमें स्थित हुआ उच्चरित होता है, उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं। अन्यने कहा कि जो हृदय-गुहामें विराजमान, दीप्तिमान् परमेश्वरको छोड़ विषयोंको ग्रहण करते हैं, वे कौस्तुभमणिको त्यागकर मानो काँचकी डली हाथमें बदलेमें ले लेते हैं। सातवाँ सिद्ध बोला—सम्पूर्ण आशाओंका त्याग करनेपर हृदयमें स्थित ज्ञानका फलरूप ब्रह्म

सहज ज्ञानी शुकदेवजीसे कर्मयोगी जनककी तत्त्वचर्चा

प्राप्त होता है। आठवें सिद्धने कहा—जो दुर्बुद्धि-पुरुष भोग-पदार्थोंकी अत्यन्त नीरसता जानकर भी बारबार मनकी भावनाको उनमें बाँधता है, वह पशु है। नवें सिद्धका मत था—इन्द्रियरूपी सर्पोंको विवेक-वैराग्यरूपी लाठीसे मारकर परमानन्द परमेश्वर अर्थात् अक्षयसुखका लाभ करना चाहिये। सिद्धगणोकी गीता सुनकर राजा जनक अपने भवनमे वापस आकर एकान्तमें लोककी वर्तमान स्थितिपर विचार करने लगे।

राजा जनकने विचार किया—'अहो! बडे दुःखकी बात है कि जन्म-जरा, रोग, मरण आदिके कारण समस्त लोकोकी जो कष्टप्रद चञ्चल दशाएँ हैं, उन्हींमें मै बलपूर्वक लोटपोट रहा हूँ और आवागमनके चक्रमें पडा हूँ। जिस कालका कभी अन्त नहीं होता, उसका एक अल्पतम अंश मेरा जीवन है, जिसमें मैं आसक्त हो रहा हूँ। केवल जीवनकालतक रहनेवाला यह राज्य कितना है? कुछ भी तो नहीं; परंतु मै इसीसे संतुष्ट होकर मूर्खोंके समान निश्चिन्त बैठा हूँ। इस मूढतापर मुझे क्यों दुःख नहीं होता? इस जगत्की कोई वस्तु न सत्य है, न स्मरणीय; सभी क्षणिक हैं। आज जो देहादि सिरमौर बने हुए हैं, वे भी कुछ दिनोमें धूलमें भी मिल सकते हैं। फिर मूर्ख मन! तुम्हारी जगत्की महत्तामें क्यो इतनी दृढ आस्था है? यह राज्य, ये कुटुम्बी, ये गजवाहन तथा अन्य भोग्यपदार्थ सब मेरी मृत्युके पश्चात् मुझसे छूट जायँगे। इससे मै अभी इनका परित्याग क्यो न कर दूँ*? मेरे मन! यह सब असत् हैं। इसलिये तुझे सत् पदार्थ परमानन्द परमात्माकी खोज करके अक्षयसुखकी प्राप्तिके लिये जुट जाना चाहिये। प्राचीनकालके राजाओंके वैभव कहाँ चले गये? जिन-जिन सुन्दर वस्तुओसे मैंने स्नेह बाँधा है, वे सब असत् हैं; किंतु देखनेमें मृगमरीचिकाकी भाँति सत्य भासते हैं। इनका मोह करना मेरी मूर्खता नहीं तो क्या है? इन पदार्थोंमें अपनी आस्था बाँधना अपना नाश ही करना है—जैसे पतग अग्निकी शिखाओंपर आसक्त होकर अपना जीवन नष्ट कर देता है। इस असत् संसारकी रमणीयतामें अब मै रमण नहीं करूँगा। अज्ञानसे मोहित क्षुद्र प्राणी जन्म ले-लेकर बारबार संसृतिको प्राप्त होकर मरते हैं। अब मै ज्ञानद्वारा प्रबुद्ध हो गया हूँ। मैने अपने पारमार्थिक धनको चुरानेवाले चोर (मन) को पहचान लिया है। यह मुझे पतनके गर्तमें डालना चाहता है। अतः अब मै इसे मारनेकी चेष्टा करूँगा। परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानद्वारा मै अपने अज्ञानका छेदन करूँगा।

इस प्रकार विचार दृढ कर राजा जनक धीर एवं स्थिर-बुद्धि हो गये। वे राजकाज तो सँभालते रहे, परंतु उनकी दृष्टि बदल गयी। उनके मनमें ममता, आसक्ति नहीं रही। फिर तो उनके लिये हर्ष-विषाद, इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख सब समान हो गये। दृश्य जगत्को न तो उन्होने मनसे ग्रहण किया, न उसका परित्याग ही। इस प्रकार आत्म-विवेकके अनुसंधानसे राजा जनकका परमात्म-विषयक पदार्थज्ञान अनन्त एवं अत्यन्त विशुद्ध हो गया और वे जीवन्मुक्त हो गये।

अब वे राजकाज भी करते और सत्सङ्ग भी। बहुत-से साधु-संन्यासी उनके यहाँ रहते थे। महर्षि शुकदेव-जैसे अनेक तत्त्व-दर्शी ऋषि-महात्मा भी ज्ञान-चर्चाके लिये आया करते। एक समय उनके दरबारमें महर्षि वेदव्यास पधारे। आदर-सत्कारसहित उनको निवास दिया गया। सत्सङ्गकी तिथि-मुहूर्त निश्चित हुए। सभी साधु-समाज सहित व्यासदेव सत्सङ्ग-भवनमें उपस्थित हुए, परंतु राजा जनकके आनेमें देर हो गयी। साधुगण बोले—महाराज! प्रवचन आरम्भ कीजिये। राजा तो राजा ही हैं। राजकाजमें लिप्त हो गये होगे। पर कुछ ही क्षण बाद राजा जनक आ गये। सत्सङ्ग आरम्भ

* सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते। अंतहु तोहि तजैंगे पामर! तू न तजै अब हीं ते॥
(गो० श्रीतुलसीदासकृत विनयपत्रिका–१९८। ३)

हुआ। बीचमें ही महर्षि व्यासने अपने योगबलसे जनकपुरीमें आग लगा दी और समाजमें चिल्लाकर बोले, 'भाइयो! आग लगी है, दौड़ो, दौड़ो; आग बुझाओ, नहीं तो वह राजभवनतक पहुँच जायगी।' साधुओंका सारा समाज उठ गया। कोई अपने बर्तन बचाता तो कोई कौपीन-कपड़े। राजा जनक ज्यों-के-त्यों शान्त-स्थिर-चित्त बैठे रहे। व्यास बोले—'राजन्! आग राजभवन-तक पहुँच चुकी है; जाइये इसे बचाइये।' राजा जनकने उत्तर दिया–'भगवन्! जनकपुरीमें मेरा कुछ भी नहीं है– **'मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन।'** जिसकी जनकपुरी है, वह विश्वात्मा आग बुझानेमें स्वयं समर्थ है। फिर मैं क्यों भय करूँ?' व्यासने अग्नि शान्त कर दी और जनकसे कहा—'राजन्! तुमने अभयपद पा लिया। तुम उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो। तुम्हारा सत्सङ्ग लोकसंग्रहके लिये है।'

इन्हीं राजा जनकका प्रमाण गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति दिया है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥
(३।२०)

जनकादि ज्ञानी जन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखता हुआ भी तू कर्म करनेके ही योग्य है। ज्ञान-पूर्वक किंतु आसक्तिरहित—फलेच्छासे रहित होकर कर्म करते जाना राजा जनकका आदर्श था। इसीसे वे 'विदेह' कहे गये। जनक और श्रीकृष्ण कर्मयोगके महान् निदर्शन थे। दोनों उत्कृष्ट कोटिके ज्ञानी और विश्वविजयी थे, दोनोंने लोक-संग्रहका आदर्श उपस्थित किया। वस्तुतः लोकसंग्रह-बुद्धिसे विश्वकल्याणकारी कर्तव्य करनेवाले ही 'कर्मयोगी' पदके भाजन होते हैं।

भक्त और ज्ञानी भी निष्काम कर्मयोगी होते हैं

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी पाहवा, एम्० ए० (हिन्दी-संस्कृत), बी० एड्०, साहित्यरत्न)

कुछ लोगोंकी मान्यता है कि निष्काम कर्मयोगसे मनका मलदोष दूर करके भक्तिसे विक्षेप-दोषका निवारण करते हुए ज्ञानकी शक्तिसे अविद्याके आवरणको दूर हटाकर जब मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, तब उसे कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। उनके मतानुसार कर्मयोग साधककी निम्नावस्था है। भक्ति मध्यम कक्षा है और ज्ञान उच्च श्रेणी है। ज्ञानकी उच्च श्रेणीमें पहुँचे हुए मनुष्यको कर्म शोभा नहीं देते, अर्थात् उसे कर्मके गोरख-धधेमें नहीं पड़ना चाहिये। पर सच्ची बात यह है कि ज्ञान-प्राप्तिके बाद ही वास्तविक कर्म आरम्भ होता है। इससे पूर्व तो हम कर्मके नामपर अकर्म, कर्तव्यके नामपर अकर्तव्य और परोपकारके नामपर अहंकी पुष्टि करते हैं।

अतः कर्माचरणके लिये भी कर्तव्याकर्त्तव्यज्ञान अपेक्षित है। जब निरन्तर योग-साधना और भक्ति-साधनासे इच्छाओंका समूल नाश हो जाता है, तब मानव अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियोंको केन्द्रित करके अपने आपको उस विराट् सत्तामें मिलाकर उसकी विराट् सृष्टिको उसका रूप मानकर निरभिमानभावसे सबकी सेवामें लग जाता है। उसके कर्मके पीछे आसक्तिका नाम नहीं रहता और उसमें कहीं भी उसके स्वार्थकी गन्ध नहीं आती। ज्ञानसे सुवासित उसका आत्मा प्राणिमात्रमें प्रभुके दर्शन करने लगता है। पीड़ित मानवताकी आहोंमें वह प्यारेकी आवाज सुनता है। दुखियोंकी सेवा ही उसकी ईश्वरीय आराधना होती है और अनाथोंके आँसू पोंछना उसकी सच्ची अर्चना होती है। उसके

भीतर निहित सुदृढ़ एवं परिपक्व भक्ति-निष्ठा अथवा अव्यक्त ज्ञाननिष्ठा उसके निष्काम कर्मयोग एव सेवाके माध्यमसे व्यक्त रूप लेती है ।

ज्ञान-प्राप्तिके बाद यदि कर्म समाप्त हो जाते तो गीता-ज्ञान सुननेके बाद अर्जुन अन्याय और अनीतिके दमन-हेतु युद्ध-जैसा कठोर एव क्रूर कर्म न करते । यदि कर्म निम्न श्रेणीका साधन होता तो तत्त्ववेत्ता योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वय कभी पशुचारण, जूठी पत्तलें उठाने और रथ हाँकनेके कर्म न करते । यदि कर्म घटिया साधन होता तो नित्य भक्तिरूपी गङ्गामें डुबकी लगानेवाले भक्त रैदास जूते सीनेका कर्म क्यो करते और परम ज्ञानी कबीरदास चरखेके ताने-बानेपर तत्त्वज्ञानकी गुत्थियाँ कैसे सुलझाते । यदि कर्म छोड़ना इष्ट होता तो चौरासी लाख योनिको 'सीयराम मय' देखनेवाले भक्तशिरोमणि एव परम आत्मज्ञानी तुलसीदास जीवनके अन्तिम क्षणतक लोक-कल्याणार्थ साहित्य-सृजनका कर्म न करते और आत्म-तत्त्ववेत्ता अद्वैतवादके प्रतिपादक आचार्य शंकर आठ हजार फुटकी ऊँचाईपर ज्योतिर्मठमें बैठ कर **'सर्वभूतहिते रताः'** बने हुए ब्रह्मसूत्र और उपनिषदोके भाष्य न लिखते ।

वस्तुतः भगवान् और भगवान्के नित्यावतार ऋषि-मुनि निःस्पृह और द्वन्द्वातीत अवस्थामे पहुँचनेके बाद लोकसंग्रहकी भावनासे यदि शास्त्रोक्त कर्म न करते तो आज संसारको आदर्श जीवनकी प्रेरणा कहाँसे मिलती ? यदि निर्गुण निराकार अव्यक्त परब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राघवेन्द्रके रूपमें कर्मक्षेत्रमें न अवतरित होता तो संसारको आदर्श पितृ-सेवा, आदर्श मातृ-भक्ति, आदर्श प्रजापालन, आदर्श भातृ-प्रेम और आदर्श गुरु-भक्तिकी शिक्षा कैसे मिलती ? लिप्साओ, स्वार्थो और वासनाओंमें अन्धे बने हुए इस संसारके सम्मुख यदि त्याग, तपस्याका आदर्श न रखा जाता तो संन्यासियों और गृहस्थोको आदर्श निवृत्ति एवं प्रवृत्ति-मार्गकी प्रेरणा कहाँसे मिलती ? इसलिये लोकसंग्रहकी भावनासे भगवान् श्रीकृष्णने गीता (३ । २५)में समस्त भक्तों और ज्ञानियोंको भी ससारके सामने प्रशस्त मार्ग रखनेके लिये निरन्तर अनासक्तभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

उपर्युक्त श्लोकमें यद्यपि बाह्यरूपसे भगवान्ने अनासक्त ज्ञानीको भी आसक्त अज्ञानीकी भाँति निरन्तर कर्म करनेकी आज्ञा दी है, परंतु दोनोंके कर्मोंके मूलमें रहनेवाली भावनामें अन्तर रहता हैं । अज्ञानी जो भी कर्म करता है, अज्ञानपर आधारित होता है और उसके मूलमें फलकी आसक्ति काम करती है । परिणाम-स्वरूप फलकी प्राप्तिमें सुख और फल-प्राप्तिमें सहायक वस्तुओ एवं व्यक्तियोके प्रति राग हो जाता है । दूसरी ओर फलकी अप्राप्तिमें दुःख और फलकी प्राप्तिमें बाधक व्यक्तियो एवं पदार्थोंके प्रति द्वेष हो जाता है । राग-द्वेषजनित अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न अन्तःकरणसे विवेकशालिनी या व्यवसायात्मिका बुद्धि लुप्त हो जाती है और उस विवेक-शून्य मानवद्वारा शुभके नामपर अशुभ तथा धर्मके स्थान-पर अधर्म होने लग जाते हैं । यह कर्म-जाल उसके जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि दुःखोको जन्म देता है ।

दूसरी ओर ज्ञानी ज्ञानाग्निमे अपनी सम्पूर्ण इच्छाओको जला चुका रहता है एव भक्त अपनी सम्पूर्ण इच्छाएँ भगवान्में समर्पित कर चुका होता है, अतः ज्ञानी या भक्तकी कोई व्यक्तिगत इच्छा या स्वार्थस्पृहा नहीं होती । ऐसी स्थितिमे उसका प्रत्येक कर्म ईश्वरेच्छासे, ईश्वर-प्रेरणासे, ईश्वरप्रस्तुत हेतुसे स्वतः चलता रहता है । ऐसे व्यक्ति-द्वारा अशुभ-कर्म होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता । जो शुभकर्म भी होते हैं, वे सर्वथा स्पृहा-विहीनता और अहंकार-शून्यतामें होते हैं । यही

कारण है कि उनके कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें न तो सुख-दुःखकी भावना रहती है और न उन कर्मोंकी फल-प्राप्तिके साधक-बाधक व्यक्तियोंके प्रति राग-द्वेष उदित होते है। ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मके पीछे निहित भावकी विभिन्नताके कारण दोनोके कर्मोंके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अज्ञानीके कर्मका स्वरूप संकीर्ण, परिच्छिन्न एवं सीमित होता है तथा व्यक्तिगत स्वार्थपर केन्द्रित रहता है। जब भी उसका व्यष्टि-हित समष्टि-हितसे टकराता है तो वह स्वार्थान्ध मानव समष्टिका अनिष्ट करता है अर्थात् समष्टि-रूप ईश्वरके प्रतिकूल जाता है। दूसरी ओर ज्ञानीका व्यष्टि-भाव समष्टिमे लीन होता है। अतः उसका प्रत्येक कर्म व्यापक 'स्व' या समष्टिके हितके लिये होता है या दूसरे शब्दोमे समष्टि-रूप ईश्वरकी प्रसन्नता-हेतु होता है। इसलिये गीताके शब्दोंमें वही व्यक्ति सच्चे शब्दोंमें ज्ञानी और पण्डित है, जिसके समस्त कर्म एवं कर्म करनेकी इच्छाएँ तो ज्ञानकी अग्निमें भस्म हो चुकी हैं। फिर भी सम्पूर्ण शास्त्र-सम्मत कर्म उसके द्वारा स्पृहा-विहीनता और कर्तृत्वाभिमान-शून्यतामे स्वतः होते रहते हैं। इस विषयमें गीता-(४। १९)का साक्ष्य सुस्पष्ट है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

यद्यपि हम व्यवहार-जगत्में प्रत्यक्ष देखते हैं कि कामनाओके बिना और संकल्प-विकल्पके अभावमे कर्मकी उत्पत्ति नहीं होती, परंतु स्थिरबुद्धि निष्काम-कर्मयोगीपर यह सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता। इच्छाके नितान्त अभाव, संकल्प-विकल्पकी निःशब्दता और कर्तृत्वाभिमानकी शून्यतामें राजा जनक, सिरध्वज आदि ऋषि प्रवृत्ति-प्रधान प्रारब्धवश प्रवृत्तिमार्गपर चलते हुए निरन्तर कर्म करते रहे; और, दूसरी ओर आत्माराममें रमण करनेवाले जडभरत, वामदेव, शुकदेव आदि मुनियोंने निवृत्ति-प्रधान प्रारब्धवश निवृत्ति-मार्गका एवं संन्यास-धर्मका प्रशस्तमार्ग सन्यासियोंके सामने रखा। सच तो यह हैं कि परम्परामें भी दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्रतः श्रेयस्करी होती चली आयी हैं।

वस्तुतः कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये सभी एक दूसरेके पूरक हैं और न्यूनाधिक मात्रामे सब साधकोमे रहते हैं। यह मानना भूल है कि भक्ति या ज्ञान कर्मको छुड़ा देते हैं। कर्मको छोड़नेवाला भक्त या ज्ञानी आलसी बनकर न तो वैयक्तिक उत्कर्ष करता है और न समाजके लिये उपयोगी ही होता है।

भक्ति-कर्म-ज्ञान-समन्वय

भक्ति-मार्गमे जो सरसता, विनम्रता, तन्मयता, तल्लीनता, भावुकता और ईश्वरपरायणता रहती है, वे सब उसके गुण हैं। जब कर्म छोड़कर उसमें आलस्य, भाग्यवादिता और आत्महीनताके भाव आ जाते हैं तो ये उसके दोष हो जाते हैं। कर्मवादमें जो पुरुषार्थ-वृत्ति और प्रयत्नवादकी भावना है, ये उसके गुण हैं; परंतु भक्तिके अभावमें जब कर्ममे अहंकार और सकामता आ जाती है, तो ये उसकी अपूर्णता हो जाते हैं। यही कारण है कि कोरे कर्मकाण्डी अपने निर्मम कर्मकाण्ड और अतिशय स्वर्गस्पृहासे वास्तविक धर्मसे दूर पड़ गये और धर्मकी तात्त्विकता रहस्य बन गयी। कर्म धर्मके तत्त्वसे अलग होनेसे अवाञ्छनीय साधन माना जाने लगा।

ज्ञानमार्गमें जो आत्मविश्वास और आत्मविवेककी भावना रहती है, वह उसका गुण है, परन्तु भक्तिहीन ज्ञानमें जो शुष्कता और नीरसता आ जाती है या कर्महीन ज्ञानमें जो आलस्य और अकर्मण्यता आ जाती है, यह उसकी अपूर्णता है। यदि हम कर्म, भक्ति एवं ज्ञान—तीनोंको मिला दें तो सही धर्मका रूप हमारे सामने आ जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके बहाने हमारे लिये धर्मका रहस्य उद्घाटित किया तथा ज्ञान, भक्ति और कर्मका समन्वयकर कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त कर दिया। भक्तिकी सरसता और विनम्रतासे क्रमशः ज्ञानकी नीरसता और कर्मकी कर्कशता समाप्त होती है। सच्चे ज्ञानके प्रकाशसे भक्तिकी संकीर्णता और कर्मकी अहकार-वृत्ति दूर होती है। इसी तरह कर्मके प्रयत्नवादसे भक्तिकी भाग्यवादिता और लोकसेवा-भावनासे कोरे ज्ञानकी अव्यावहारिकता दूर होती है; सच्ची भक्ति निःस्पृह होती है। सच्चा कर्म ममत्वहीन है और सच्चा ज्ञान निरहकार होता है तथा तीनो गुणोंसे विभूषित सच्चा निष्काम कर्मयोगी **'निःस्पृहः निर्ममो निरहंकारः'** होता है तथा गीताके शब्दोमे **'स शान्तिमधिगच्छति',**— वही शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है।

निष्काम-कर्मयोग सम्पूर्ण योगका मूल है

(लेखक—नागोराव बासरकर, एडवोकेट)

आजकल योगकी बहुत चर्चा चारो ओर चल रही है, परंतु जनसाधारण तो 'योग' आसन-प्राणायामको ही समझने लगा है। यह तो वैसा ही है, जैसे सूँड या दन्त या कान इत्यादिको ही हाथी समझा जाय। 'योग' शब्द बहुत व्यापक है। चित्तका एकाग्र करना, जोड़ना, एकत्र करना, कार्यकुशलता, समता आदि उसके अनेक अर्थ है। शरीरकी शक्ति, मनकी शक्ति और बुद्धिकी शक्ति—ये मानवप्राणीकी मुख्य शक्तियाँ हैं, मन और बुद्धि भी शरीरमें ही रहते हैं और **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**— शरीर, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका साधन है। शरीर पञ्चमहाभूतोसे बना है। उनमेसे केवल तीन महाभूत अर्थात् अप, तेज अथवा वायुके प्रमाणमें न्यूनाधिक्यके कारण कफ, पित्त अथवा वातप्रकृति बनती है। उसीके कारण मनुष्य बुद्धिप्रधान, कर्मप्रधान अथवा भावना-प्रधान बन जाता है। परिणामस्वरूप उसे अपनी प्रकृतिके अनुसार अपने इष्ट-साधनके उपायोमेंसे (और इष्ट साधनका उपाय योग होनेसे) अनुक्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग सहजसाध्य और अनुकूल मालूम पड़ता है। योग तो एक ही है, परंतु साधककी इच्छा, प्रवृत्ति या स्वभावके अनुसार योगको ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोगका नाम दिया गया है। इन्हीं सारे अङ्गोंका विचार रखना 'सम्पूर्ण योग' है।

इतना ही नहीं, बल्कि मानव-जीवनके हर शाखामें उन्नतिके लिये अथवा मुक्ति, आत्म-साक्षात्कार या निर्वाण-प्राप्ति इत्यादिका जिन-जिन महापुरुषोने और दार्शनिकोंने विविध प्रकारके उपाय और साधनोका विचार किया, उन सबको योग कहा जा सकेगा। उदाहरणार्थ पूर्वमीमांसाको कर्मयोग, वेदान्तको ब्रह्मयोग, सांख्यदर्शनको सांख्ययोग, न्यायको बुद्धियोग, भागवतादि पुराणोको भक्तियोगका शास्त्र कह सकेंगे। इस बातसे स्पष्ट होता है कि सारे आर्यशास्त्रोका उद्देश्य सम्पूर्ण योगको बतलाना था, जो प्रत्येक मनुष्यके लिये, चाहे उसकी इष्टसिद्धि ऐहिक हो या पारलौकिक हो, मार्गदर्शक और सहायक बने। परंतु दुर्भाग्यवश कालके साथ-साथ आनेवाले आलस्यके कारण या तो कुछ लोग साधनका त्याग करके केवल बोलते ही रह गये या उस ओर ध्यान देना ही छोड़ दिये अथवा एक-एक अङ्गको ही भिन्न-भिन्न योग समझकर अन्य अङ्गोंकी उपेक्षा कर गये। आज इस त्रुटिको दूर करना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य बन गया है। यह तो स्पष्ट है कि चाहे साधककी इच्छा किसी इहलौकिक सिद्धिकी हो या मोक्ष इत्यादि पारलौकिक सिद्धिसम्बन्धिनी हो, उसे साधना तो करनी ही पड़ेगी। वही कर्म है। इसी प्रकार भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग इत्यादिमें मानसिक या बौद्धिक-

कर्म आवश्यक है। अतः यह सिद्ध हुआ कि समस्त साधन-प्रकारोंका मूल कर्म ही है।

[देश तथा धर्मकी सद्यःस्थितिको ध्यानमें रखकर 'कल्याण'के संचालकोने इसी कर्मयोगके रहस्यको सभी पाठकोंपर प्रकट करनेके विचारसे इस वर्ष 'निष्काम कर्मयोग' नामका विशेषाङ्क प्रकाशित करनेका निश्चय किया। यह वस्तुतः अत्यन्त योग्य, समयोचित, स्तुत्य और अभिनन्दनीय प्रयास है]

कोई मानव या प्राणी कर्म किये विना क्षणभर भी नहीं रह सकता, चाहे उसका स्वरूप कर्म, अकर्म या विकर्म—इनमेंसे कोई भी क्यों न हो; **'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३।५)। वैसे ही हर अल्पस्वरूप कर्म भी अपना परिणाम या फल दिये विना नहीं रहता। यह भी सत्य है कि प्रयोजनके विना कोई अल्प कर्म भी नहीं होता—**'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'** कर्म-काण्डके नित्य-नैमित्तिक कर्म स्वर्गप्राप्ति या पुण्य-सम्पादनकी इच्छासे किये जाते हैं; परंतु उनसे मोक्ष-प्राप्ति या शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। अतः कर्मयोगका रहस्य यह रहा कि कर्मको निष्कामभावसे अर्थात् केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जाय। यही निष्कामकर्म इहलोक अथवा परलोक-प्राप्ति और मोक्षका सर्वोत्तम साधन हो सकता है। फल-कामना-रहित कर्म ही 'निष्कामकर्म' है।

ऐसे निष्काम-कर्ममें भी उसे ईश्वरार्पण करके मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा तो होती ही है, फिर उसे निष्काम कैसे कहा जा सकेगा? सुविध, सशक्त, तरुण भी भोगैश्वर्यको त्यागकर, ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करके, अहोरात्र देश-कल्याण, लोककल्याण, राष्ट्रसेवाके हेतु श्रम करते हैं; उनमें भी कल्याणेच्छाका हेतु होता ही है। वृद्ध माता-पिताकी सेवा करनेमें, उन्हें आराम पहुँचानेकी इच्छा श्रवणकुमारमें देखी गयी। फिर निष्कामकर्म किस प्रकार शक्य हो सकता है? उच्च-से-उच्च उद्देश्य भी तदिच्छाके विना सम्भव नहीं हो सकते और उद्देश्यहीन कार्य मन्द भी नहीं करता है। अतः निष्कामता कैसे बनती है?

इसके समाधानके लिये दो सीढ़ियाँ तय करनी पड़ेंगी—(१) अपने शरीरका विचार कर्मयोगमें आवश्यक है। संक्षेपमें वह इस प्रकार होगा। विद्यारण्य स्वामीने पञ्चदशीग्रन्थके प्रथम प्रकरण—तत्त्वविवेकमें इसका उपदेश किया है। शरीरके पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ इत्यादि सारे पञ्चक सभी आत्माके सेवक हैं। इन सेवकोंमें अनेक सद्गुण बसे हैं। उनमेंसे प्रत्येकको केवल अपना ही एक काम करना आता है, जिससे उनको स्वयं अपना कोई लाभ उठाना नहीं आता। अतः वे आपसमें नहीं लड़ सकते। सबका मालिक आत्मा एक ही है। उन्हें आदेश देनेवाला आत्माके सिवा कोई अन्य नहीं, मालिकके बतलाये कामके सिवा वे कोई अन्य काम नहीं कर सकते। आदेश मिलनेपर इनमें देर करनेकी आदत भी नहीं।

इन सब सद्गुणी सेवकोंके तत्पर रहनेपर भी उनके मालिक (जीवात्मा)को यह शिकायत रहती है कि इच्छानुसार काम नहीं होता। इसका कारण यह है कि आदेश देनेके बाद इन्द्रियोंद्वारा अपना काम पूर्ण करनेके पूर्व ही मालिक उस आदेशको रद्द कर देता, या अन्य किसीको उस कामपर लगा देता है। परिणामस्वरूप काम इच्छानुरूप नहीं होता। मालिक आत्माको चाहिये कि वह अपने-आपको मालिक जानकर आज्ञा करे और उसे न बदले। प्रत्येक काम होकर रहेगा। उसे मैं मालिक हूँ, यह निश्चय रहे।

(२) आत्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। अतः सत् होनेके कारण उसे डर नहीं। चित् होनेके कारण

उसे आलस्य नहीं। आनन्द होनेसे दुःख नहीं। इसी कारण उसे कोई वासना या इच्छा न होगी। भविष्यकाल-सम्बन्धी दुःख गतकाल-सम्बन्धी होता है और आलस्य वर्तमान कालका है। इन तीनोंके भी न होनेके कारण वह कालातीत है; कोई अन्य वस्तु ही न हो तो चाहेगे क्या? अतः चित् शक्तिसे जो कोई उसका कार्य होगा वह निष्काम है। जिसको कोई चाह नहीं, उसका कार्य तो निष्कामका है ही। प्रत्येक जीवात्माका केवल इस निश्चयसे किया हुआ कर्म—कर्तव्यकर्म, यज्ञकर्म, किंवा परमेश्वर-प्रीत्यर्थकर्म निष्कामकर्म कहा जा सकता है। भक्तियोगी अथवा ज्ञानयोगी साधकोंका कर्म भी जब उपरिनिर्दिष्ट निष्कामतासे किया जाता है, तब वह भी 'निष्कामकर्मयोग' हो जाता है। इस दृष्टिसे की गयी प्रत्येक योग-साधना 'सम्पूर्णयोग' है। ऊपर दिये तत्त्वके स्पष्टीकरणार्थ यहाँ एक उदाहरण उपयोगी होगा।

जटाजूटधारी एक साधु-महात्मा, काषाय वस्त्र इत्यादि धारण किये हुए बड़े जोर-जोरसे **'अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि'** कहते हुए जङ्गलकी ओर जा रहे थे। उसी जङ्गलकी ओरसे एक किसान, जो अगोचरीमुद्राका (ऊपरी वेष-भूषासे सामान्य जन-जैसा दिखायी देनेवाला) एक योगी पुरुष था, खेतमें काम करके अपनी बैलगाड़ीमें बैठा जा रहा था। उस गाड़ीवानने जङ्गलमें रास्तेपर पड़ी एक सोनेकी अशरफी देखी; परंतु उसने देखनेपर भी उसे नहीं उठाया, आगे गाड़ी बढा दी। आते-आते जब साधुजीकी **'अहं ब्रह्मास्मि'** की रट सुनी तो उसे विचार आया, ब्रह्मको 'मैं ब्रह्म हूँ'—कहनेकी क्या जरूरत है? तब किसानने भी **'अहं गाड़ीवान अस्मि, अहं गाड़ीवान अस्मि'** ऐसा कहना आरम्भ कर दिया। यह सुनकर साधुजीको आश्चर्य हुआ। समीप आनेपर साधुने कहा—'ओ गँवार! तू गाड़ीवान तो है ही, फिर ऐसा क्यो पुकारता है?' किसानने उसे उत्तर दिया—'तू स्वयं ब्रह्म है तो **'अहं ब्रह्मास्मि'**का जप, करना निरर्थक नहीं तो और क्या है?'

साधुजी कुछ सँभले और **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहना छोड़कर दूसरे महावाक्य **'तत्त्वमसि'** कहते हुए आगे बढ़े। गाड़ीवान समझ गया कि उन्हें अभी पूरा ज्ञान नहीं हुआ है। उसने साधुजीसे कहा—जङ्गलकी ओर न जाइये, राहमें शेरनी बैठी है। उसे अनसुना करके साधुजी आगे बढ़े। यह समझकर कि ब्रह्मस्वरूपको डर किसका? **'तत्त्वमसि'**।

गाड़ीवानने अपने रास्तेपर आगे बढ़ते हुए सोचा,—साधुजीको मूलभूत उपदेशकी अभी आवश्यकता है। कुछ और आगे बढकर उसने गाड़ी-बैल एक वृक्षमें बाँध दिये। आड़े रास्तेसे आकर तुरंत अशरफीके पास ही एक झाड़की आड़मे छिपकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद साधुजी **'तत्त्वमसि'** कहते-कहते अशरफीके स्थानपर आ गये। अशरफीको देखा। आगे-पीछे देखनेपर कोई मनुष्य न दिखायी पड़ा। बस, धनकी लालचसे साधु अशरफीको लेनेका प्रयत्न करने लगे। सहसा वहाँ गाड़ीवान प्रकट हुआ और बोला—'बाबा! बाघिन खा गयी!' साधु ठिठक गये। कहा—'वह कैसे?' उत्तर मिला **'तत्त्वमसि'** वह तो तुम स्वय ही हो, अपने-आपको क्या लोगे?'

साधुजी निस्तब्ध होकर सहम गये। कुछ देर बाद वे होश सँभालकर बोले—'क्या इस अशरफीको किसीको भी नहीं लेना चाहिये?' उत्तरमें गाड़ीवानने कहा—'क्यों नहीं। इस अशरफीको प्रत्येक वह व्यक्ति ले सकता है, जो स्वयं अपने लिये न ले रहा हो; बल्कि प्रभुकार्यार्थ ले रहा हो, यह निष्कामकर्म होगा।'

निष्काम-कर्मयोगसे भगवान्‌की प्राप्ति

(लेखक—स्वामी श्रीरामदर्पणदासजी महाराज)

निष्काम कर्मयोग जीवात्माके स्वरूपानुरूप स्वकर्मोंद्वारा परमात्माकी तृप्ति-मूलक परम पूजा है। वैसे आत्मामें कर्तृत्वभाव और कर्मफलका संयोग स्वाभाविक नहीं है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगम् .....।' प्रकृति-सम्बन्धसे ही उसमें कर्तृभाव, भोक्तृभाव और ज्ञातृभाव—उसी प्रकार भासित होता है, जैसे शुद्ध निर्मल स्फटिकमणि हरे-पीले-लाल पुष्पोंकी सकाशतासे विविधरूपमें दृष्टिगोचर होती है। जीवात्मा परमात्माका आभास, प्रतिविम्ब या अंश है। उसका कर्म-फलमें अधिकार नहीं है।—**मा फलेषु कदाचन।'** निष्काम कर्मयोगकी महिमाके विषयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२। ४०)में कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

निष्काम कर्मयोगी जगत्‌में कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे जलमें रहता हुआ पद्मपत्र जलसे अपनेको लिप्त नहीं रखता है। निष्काम कर्मयोगीके मनसे जब सम्पूर्ण कामनाएँ विलीन हो जाती हैं तो वह मोक्षका भागी होता है। वासनाका बन्धन यदि उसे बाँधनेमें समर्थ नहीं हो सकता तो वह जीवन्मुक्त ही है। निष्काम कर्मयोगीको कर्म करनेमें कामनामूलक कोई प्रयोजन नहीं होता। ग्रहण और त्यागमें उसका कोई आग्रह नहीं रहता। इच्छा-अनिच्छा उसके मनमें सर्वथा नगण्य-सी रह जाती है। अतएव वह ब्रह्म-स्वरूप केवलीभूत हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगी अच्युतभावापन्न होकर भगवदर्थ विहितकर्मोंका आचरण करता है; अर्थात् जिसकी जिह्वा प्रेमसे भगवन्नामका स्मरण करती है, श्रवण भगवत्कथा-रसके रसिक होते हैं, नेत्र भगवद्दर्शनके लिये लालायित बने रहते हैं, वे भगवत्-स्वरूपको छोड़कर अन्यका दर्शन नहीं करते। त्वचा भक्तों या भगवान्‌का आलिङ्गन करनेमें अपनी सफलता समझती है। घ्राण-इन्द्रिय भगवदर्पित पुष्पादि सूँघकर ही कृतकृत्य होती है, सिर भगवद्‌दृष्ट्या सबको प्रणाम कर और भगवत्-कैंकर्य करके ही अपनी सार्थकता समझते हैं—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः।
(श्रीमद्भा० ९। ४। १८-२०)

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे भगवत्कैंकर्य अर्थात् परमात्माके सुखोल्लासके लिये तदर्पित कर्म करके उसी प्रकार परमशोभाको प्राप्त होता है, जैसे सुवर्ण यदि सुगन्धित हो जाय तो फिर उसकी शोभा-सम्पन्नताके विषयमें क्या कहना!

फूले कमल सोह सर कैसे। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसे।

प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदा
रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितम्।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते॥

तभी तो जनकादि राजाओंने भगवदर्थ निष्काम कर्मयोगका सम्पादन करते हुए गृहमें रहते हुए ही द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर आत्मविशारदत्वका प्रमाणपत्र प्राप्त किया और जिस परमतत्त्वमें योगीलोग रमण किया करते हैं— उस आनन्दमय ब्रह्म रामको भी अपने नेत्रोंका विषय बनाया। गोस्वामीजीने सच ही कहा है—

बंदउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि रामपद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

कर्मयोगसे पराभक्तिकी प्राप्ति

कर्मयोगका अनुष्ठान किये बिना चित्तशुद्धिका उपाय सहज ही प्राप्त नहीं होता। श्रीधरस्वामीने भागवतकी टीकामें लिखा है—**'अतः सम्यक् चित्तशुद्ध्या ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि कर्तव्यानि। अन्यथा चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुत्पत्तिरित्याह, न कर्मणामिति।''''न च चित्तशुद्धिं विना कृतात् संन्यसनाद् एव ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति।'** अर्थात्—सम्यक् चित्तशुद्धि-द्वारा ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त वर्णाश्रमोचित कर्मोंको अवश्य करना चाहिये; क्योंकि चित्तशुद्धिके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती और ज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती—**'ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्यत्वं च हि तत्फलम्। तत्फलं ज्ञाननिष्ठेव॥'** कर्मयोगका यही प्रधान उद्देश्य है। भगवत्पाद आचार्य श्रीशंकर ज्ञानकर्मसमुच्चयको नहीं मानते। कुछ आचार्योंने इससे विपरीत देहधारी संसारी जीवोंके लिये कर्मके बिना शरीरयात्राके निर्वाह होनेकी बात नहीं मानी। उनकी दृष्टिमें ज्ञानप्राप्तिके पूर्वतक वेद-विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये आवश्यक है। इससे चित्तशुद्धि होती है। अतएव ज्ञान और भक्तिकी प्राप्तिके लिये कर्मयोग साक्षात् कारण न होते हुए भी गौण कारणके रूपमे अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है।

परंतु एकमात्र कर्मयोगका आश्रय लेकर ही सारे जीवनको बिता देना वेदका उद्देश्य नहीं है। वेदान्त-शास्त्रने मोक्ष या भगवत्प्राप्तिका भी उपदेश दिया है तथा भगवत्प्राप्तिको ही जीवका वास्तविक उद्देश्य निश्चय किया है। गीताशास्त्रमे इन तीनो मार्गोंका अति सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है और अन्तमे पराभक्तिकी प्रशंसा की गयी है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

'ब्रह्मभावमे स्थित प्रसन्नात्मा पुरुष किसी विषयके लिये शोक नहीं करता तथा किसी विषयकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता। सब प्राणियोमे वह एक भाव रखता है। तत्पश्चात् वह मेरी परा भक्तिको प्राप्त करता है। पराभक्तिके द्वारा मैं (परमात्मा) किस प्रकारका हूँ तथा मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, इस विषयमे तत्त्वपूर्वक पूर्णरूपसे जान लेता है। इस प्रकार तत्त्वतः मुझको जानकर अन्तमे वह मुझमे ही प्रविष्ट होता है।'

पराभक्तिकी प्राप्तिके पहले सब प्रकारकी विषय-वासनासे चित्तको विशुद्ध करना होगा। पातञ्जलयोगदर्शन-में जो प्रकृतिसे पुरुषकी पूर्णरूपेण असङ्गताकी प्राप्तिका उपदेश दिया गया है, भगवद्गीतामे वही सांख्यज्ञानके उपदेशके रूपमे कहा गया है। इसके द्वारा चित्त जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोसे विच्छिन्न हो जाता है। इस अवस्थाके पश्चात् जो आनन्दकी प्राप्ति होती है, वही वेदान्तका मोक्ष है। इसी अवस्थाको हम ब्रह्मभूता-वस्था कह सकते हैं। ज्ञानयोगकी साधनाकी यह चरमावस्था है। परतु भक्तोंकी साधनाका अन्त यहीं नहीं होता। इस समदर्शन और ब्रह्मदर्शनके बाद उनकी श्रीभगवान्मे पराभक्तिका आरम्भ होता है। इस पराभक्तिकी प्राप्तिका फल होता है—साक्षात् भगवत्प्राप्ति। श्रीभगवान् केवल आनन्दमय, प्रेममय और रसमय हैं, इसकी अनुभूति पराभक्तिके साधकको ही प्राप्त होती है। तैत्तिरीय उपनिषद्मे कहा गया है—**'ज्ञानं ब्रह्म'**। **'आनन्दं ब्रह्म।'** फिर सबके अन्तमे कहा गया है—**'रसो वै सः'। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।'** अतएव रस-ब्रह्मकी अनुभूति ही मनुष्यकी साधनाका

चरम लक्ष्य है। पराभक्तिकी साधनामें साधक इस चरम लक्ष्यको प्राप्त होता है **'विशते तदनन्तरम्'**, इस वाक्यांशका यही अभिप्राय है। अतएव गीताके कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके बीच पृथक् साधनाका उपक्रम नहीं दीखता। यहाँ त्रिविध साधनाके द्वारा एक ही लक्ष्यमें पर्यवसित होनेका उपदेश दिया गया है। कर्मयोगसे प्रारम्भकर पराभक्तिकी प्राप्तिके द्वारा रसब्रह्मके साक्षात्कारपर्यन्त इस साधनाका पर्यवसान होता है। कर्मयोग इसका प्रथम प्रधान स्तर और ज्ञानयोग द्वितीय स्तर। इस प्रकार पराभक्तिकी प्राप्तिमे ही प्राणीकी वास्तविक सिद्धि निहित है। गीतामे भक्तियोगके द्वारा जिस रसब्रह्मकी साधनाका संकेत किया गया है, श्रीमद्भागवतमें इसीको सुस्पष्ट कर दिया गया है। श्रीगीताशास्त्रके इसी अभिप्रायको श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके पार्षद गोस्वामिगणोने स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है। श्रीमान् जीवगोस्वामीने अपने भागवत-व्याख्याके 'क्रमसदर्भ'में तथा षट्संदर्भान्तर्गत 'भागवत-संदर्भ'में एवं 'परमात्मसंदर्भ'में और अन्तमें 'प्रीतिसंदर्भ'में इसी तथ्यको विवृत किया है। पराभक्तिकी प्राप्ति ही गीतोक्त कर्मयोगका वास्तविक लक्ष्य है।

निष्काम-कर्मकी सार्थकता

(लेखक—पाण्डेय श्रीसुरेशचन्द्रजी शास्त्री)

संसारमें जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबका जन्म स्वकर्मानुसार ही होकर कर्म करनेके लिये होता है। कृतनाश (किये गये कर्मोका नाश) तथा अकृताभ्यागम (नहीं किये गये कर्मोके फलकी प्रसक्ति) दोष न हों; अतः कर्मफल, पुनर्जन्म आदि अवश्यमेव मान्य है। कुछ जीव तो इस संसारमें ही इस योनिसे उस योनिमें जन्म लेकर विविध कर्मोके फलोंका उपभोग करते रहते हैं। वे—**'योनिमन्ये॰ऽनुसंयान्ति यथा कर्म यथाश्रुतम्'**के अनुसार 'यथा कर्म यथा-श्रुत' कर्मजनित वासनाओके अनुसार यहाँ ही विविध योनियोंमे विचरते हैं। अन्य कुछ जीव कर्मफल-भोगार्थ नीच योनियोंमे जाकर भी क्रमशः स्वकर्मानुसार शनैः-शनैः उन्नत योनियोंमें चढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार वे अपने दूषित कर्मोका उपभोगकर क्रमशः मनुष्य-योनिमें भी पहुँच जाते हैं। पर मनुष्ययोनि कर्मयोनि है। श्वान्, शूकर, कीट, मर्कटादिकी भाँति यह केवल भोगयोनि मात्र नहीं है। मनुष्यको कर्मानुष्ठानका विशेष अधिकार है। मनुष्य यदि अपने शास्त्र-विहित कर्मोका यथाविधि अधिकारके अनुसार अनुष्ठान करता है तो वह अवश्यमेव भगवत्प्राप्तिके मार्गका अधिकारी बनकर क्रमशः उन्हें प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है। शास्त्रोकी रचना मनुष्योंको लेकर ही है। पशु स्वभाव-नियत कर्म करते हैं। उन्हे शास्त्र नियन्त्रित नहीं करता।

अपने अधिकारके अनुसार मनुष्य ही उनमें अधिकृत हैं—**'मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य'**। कर्म-विकर्मके फलोंका विधान मनुष्ययोनिको लेकर ही निर्णीत होता है। मनुष्य-योनिको छोड़कर सारी योनियाँ भोग-योनियाँ ही हैं। उनके लिये शास्त्र विधि-निषेध नहीं करते। मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है। धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सदाचार-दुराचार, दण्ड आदिका विधान मनुष्य-योनिको लेकर ही है। शासनका विधान मनुष्यके कर्मोको लेकर ही है। इन सब बातोको लेकर ही मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। केवल उसके वास्तविक कल्याणके लिये शास्त्र उसे नियम-नियन्त्रित करता है। शास्त्रानुसार मनुष्यके लिये विहित कर्म ही उसके कल्याणकारक हैं, स्वेच्छया किये गये कर्म नहीं। कर्मोके न करनेसे

निष्कर्मता नही आती—**'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।** (गीता ३ । ४) और क्षणभर कभी कोई भी मनुष्य विना कर्मके स्थित नही होता । प्राकृत गुण स्वयमेव उसे विवशकर कर्मोमे प्रवृत्त करा देते है ।

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(गीता ३ । ५)

जैसे पक्षीको पक्ष स्वय ही छोड देते है, पक्षी नहीं; जैसे केचुल स्वयं सर्पसे छूट जाती है, सर्प उसे नहीं छोडता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुपके कर्म स्वयमेव छूट जाते हैं—**'न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिः त्यज्यते ह्यसौ ।'** कर्म बन्धनकारक तभी होता है, जब उसमे आसक्ति एवं फलानुसंधान हो । आसक्ति और फलाशासे रहित कृत-कर्म निर्विष सर्पकी भाँति साधककी साधनामे विघातक न बनकर उसकी अन्तःशुद्धि कर शीघ्र ही उसमे भगवत्-प्राप्तिकी योग्यता ला देता है । अतः कर्म करनेकी दशामे मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये । मनुष्य स्ववर्णानुसार अपने अधिकारके अनुसार आसक्तिरहित होकर वेद-शास्त्रोक्त कर्मका आचरण करता हुआ उसे ईश्वरमे अर्पित कर निष्कर्मता-सिद्धि पा लेता है । पुनः उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है । कर्मोकी फलश्रुति तो केवल मनुष्योंको फल-श्रवणसे कर्मोंकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये है, आकर्षित करनेके लिये है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ४६)

अतः कर्म करते हुए आसक्ति और फलाशाका निःशेषतया परित्याग करना आत्म-कल्याणके लिये परमावश्यक है । इस प्रकार निष्काम होकर कर्मानुष्ठानसे मानवका मानस विशुद्ध होकर भगवत्प्राप्तिकी परमता पा जाता है । पुनः वह काम-क्रोधादि द्वन्द्वोसे हटकर भगवत्कृपा-प्राप्तिकी योग्यता पा लेता है । भगवत्प्रीत्यर्थ क्रियमाण कर्म उसकी अन्तःशुद्धिकर भगवत्प्राप्तिके हेतु बन जाते है । इस प्रकार मानव-जन्मकी सफलता निश्चित है।

श्रीभगवान्‌का निरन्तर स्मरण करते हुए स्वकर्तव्य पालनमे दृढ़ रहना चाहिये—**'मामनुस्मर युध्य च ।'** भगवदादेशका पालन उचित कर्तव्य है । सुतरां इससे निष्कामता आ जाती है जो कर्म-बन्धनसे मानवको अलगकर कल्याण प्रदान करती है ।

सुख-शान्तिका परम रहस्य—निष्कामकर्म

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित वैज्ञानिक)

सुखकी लालसामें सुखाभास—प्रत्येक मनुष्यकी यह परम आकाङ्क्षा होती है कि वह सदा सुखी बना रहे । वह अपने विचारसे वही कर्म करता है, जिससे उसे परोक्ष या प्रत्यक्षमे सुख-प्राप्तिकी सम्भावना होती है । धनके सचयमे लोभीको, विषय-भोगमे कामीको और अन्य लोगोंकी अपेक्षा अपनी प्रभुताके दर्शनमें अहकारीको सुखका आभास होता है और इसीको वह सुख समझता है । यह अनुभूति या आभास अत्यन्त अल्पावधिका होता है । यह सुखानुभूति विद्युत्-चमकके समान न जाने कहाँ तुरत विलीन हो जाती है । मनुष्य पुनः उसे पानेकी चेष्टामे तत्पर हो जाता है । इसी मृग-तृष्णा-रूपी सुख-शान्ति-प्राप्तिके प्रयासमे वह अपने जीवनको निःशेप कर डालता है । लेकिन उसे वाञ्छित सुखका लाभ कभी होता ही नहीं । हो भी तो कैसे ? संसार द्वन्द्वोसे निर्मित है । अतः जहाँ सुख दिखायी पडता है वहाँ उसका सहोदर दुःख भी है । दुःखरहित सुख इस संसारमे केवल कल्पनामात्र है, वास्तविकता नहीं । अधिकतर व्यक्तियोंको इस तथ्यका ज्ञान आजीवन होता ही

नहीं है । भावमें अभाव और अभावमें भाव देखना ही तो वास्तविक दृष्टि-दोष है । यही है—योगेश्वरकी योगमायाका प्रभाव । उसी मायाका परिवार संसारमें सर्वत्र है—

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड ॥
(मानस ७ । ७१ क)

सुख कहाँ है ?—जैसा कि हम सभीका अनुभव है, मनुष्य स्पर्शादि इन्द्रियभोगो तथा कामादि मानसिक विकारोंकी क्षणिक पूर्तिको ही सुख समझता है । वह इन सुखके क्षणोंको अगणित कर सदा सुखी बनना चाहता है । परंतु यह उसकी भूल है । सुख विषयोंमे है ही नहीं । उसके स्थायित्वकी बात तो फिर और ही व्यर्थ है ।

आधुनिक संस्कृति भौतिकवादी है । सुखकी अपनी अवधारणाके अनुसार आधुनिक व्यक्ति भौतिक-सम्पन्नता तथा इन्द्रिय-विषयभोगोमें ही सुखको खोज रहा है । अभीतक उसे वह मिला नहीं । शायद, मिलेगा भी नहीं । एक उदाहरण लीजिये । अमरीका सबसे अधिक सम्पन्न देश है । वहाँ प्रायः प्रत्येक भौतिकी सुविधा प्राप्त है । परंतु वह फिर भी अभावका अनुभव कर अशान्त है । कैसी विडम्बना है । उसका विज्ञान एक ओर परमाणुबिजली दे रहा है तो दूसरी ओर उसने परमाणु-बम देकर व्यक्तिको अहर्निश चिन्तित कर दिया है । फिर शान्ति है कहाँ ? सुख तो शान्तिसे ही मिलता है ।

सुख और शान्ति प्रपञ्चमे नहीं है—यह विवेकी तथा आत्मज्ञ संतोका अनुभव है । स्वयं भगवान् शंकर कहते हैं—मै अनुभवसे कहता हूँ कि भगवद्भजन ही सत्य है । जगत् तो स्वप्नवत् असत्य है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना ।
सत हरि भजन जगत सब सपना ॥

जिस जगत्का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है, जो मात्र प्रतीति है, उसमें क्या सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? कदापि नहीं; क्योंकि संसारका सबसे धनवान् व्यक्ति भी चिन्तित पाया जाता है । उसे अनेकानेक भय घेरे रहते हैं । यह जगत् काम, लोभ, मद, मोहादिका ही धाम है । ये ही मायाके महान् अजय सेनापति हैं । ये ही मनुष्यके वास्तविक शत्रु हैं । इन्होंने ही उसकी शान्तिको छीन लिया है । प्रातःस्मरणीय श्रीतुलसीदासजी इसी तथ्यको अपने श्रीरामचरितमानस (५ । ३८)में प्रतिध्वनित करते है—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहिं संत ॥

सत्यके दर्शनमें ही सुख-शान्ति निहित है । जबतक मनुष्य 'सत्यकी प्रतीति' को सत्य समझता रहेगा, तबतक वह दुःखी बना रहेगा । व्यक्तिके चारो ओर फैला हुआ प्रपञ्च उसके मनमे जबरदस्ती घुस जाता है । इन्द्रियाँ तो उसकी सहायक ही हैं; क्योंकि वे स्वभावतः बहिर्मुख हैं । प्रपञ्च उन्हींके सहयोगसे मनतक आसानीसे पहुँच जाता है । मनमे पहुँचते ही वह उसे चित्तवृत्तिरूपी तरङ्गोसे तरंगित कर देता है । फिर व्यक्तिको शान्ति कैसी और शान्तिके अभावमे सुख कहाँ । जीव सहज ही सुखकी खान है । इसका प्रमाण मानस तथा अन्यान्य सद्ग्रन्थोंमे उपलब्ध है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

फिर यह दुःखी क्यो ? जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, इसकी शान्ति तथा सुखको प्रपञ्चने पचड़ेमें डाल दिया है । प्रपञ्चने इसमे मल, मृत्युभय और जड़ता आदि विपरीत गुणोका आरोपण कर दिया है । इनसे छुटकारा पानेके लिये ही वह तड़प रहा है । इसका मानस—(१ । ११६ । ५-६)मे प्रमाण देखिये ।

तब ते जीव भयउ संसारी । छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥

इस झूठी उलझी ग्रन्थिको सुलझानेका परम रहस्य है निष्काम बनना । इस रहस्यको समझना कठिन नहीं है ।

परंतु जीवनमें इसे उतारना अत्यधिक कठिन है । निष्काम बनते ही हम शाहनशाह बन जाते हैं—

> चाह गई चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह ।
> जिनको कछू न चाहिए वे शाहन के शाह ॥

प्रपञ्च इन्द्रियोंको विषयरूपी रिश्वत देकर मनको सदैव परतन्त्रतामें जकड़े रहता है । जीवके वास्तविक शत्रु छः हैं—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर । ये मनरूपी जलाशयमें वृत्तियाँरूपी असंख्य लहरें अनवरत पैदाकर जीवको अशान्त किये रहते हैं । कामादि विकारोंके रहते व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता । देखिये मानस (५ । ४६)का साक्ष्य—

> तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम ।
> जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम ॥

संतोंका अनुभव है कि सुख-शान्ति कामकी प्राप्तिमें नहीं, रामकी प्राप्तिमें है । उद्वेग-रहित मनकी अवस्थाको शान्ति कहते हैं और इसीसे व्यक्तिको सुखानुभूति होती है । सांसारिक प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें, प्रियजनोंके सहवास तथा सामीप्यमें, अप्रिय वस्तु या व्यक्तिके दूर हो जाने आदि घटनाओंमे मन कुछ क्षणोंके लिये वहाँ स्थिर हो जाता है । इसी अचाञ्चल्यसे व्यक्तिको सुख मिल जाता है । किंतु मन अन्य इच्छाओंसे तुरंत उद्वेलित हो उठता है और तत्क्षण कठिनतासे प्राप्त सुख-शान्तिका पुनः लोप हो जाता है । कामनाएँ अनन्त हैं । मन एक कामनाकी पूर्तिके बाद शीघ्र ही दूसरी कामनाकी पूर्ति चाहता है । इन न पूर्ति होनेवाली कामनाओंने ही जीवका सहज सुख छीन लिया है । अतः सुख-शान्तिको पुनः उपलब्ध करनेका एकमात्र उपाय है—कामनाओंका परित्याग; इसीको निष्कामभाव कहा जाता है, पर है यह बहुत कठिन । इसकी साधना कैसे की जाय ?

'मनुष्य कर्म किये बिना रह नहीं सकता । उसे जीवन-निर्वाहके लिये कर्म करने ही पड़ेंगे । अकर्मण्यता तो जडताकी ओर ले जायगी । कर्म ही मनुष्यको बन्धनमें बाँधते हैं । फिर व्यक्ति कैसे बन्धनमुक्त हो सकता है ? यही समस्या जीवके सामने है । संतोंने अनेक उपाय बताये हैं, किंतु इन सबकी जड़ है निष्काम कर्म करना । निष्काम कर्म यथार्थके दर्शनान्तर स्वतः होने लगते हैं । किंतु सभीके लिये सत्यका ज्ञान अत्यन्त कठिन है । निश्छल मनसे प्रभुके चरणोंमें समर्पण भी नहीं होता है । जीव अपनी निशानी भी नहीं खोना चाहता । इन सभी बातोंको ध्यानमें रखकर भगवान् कृष्णने गीता-(२ । ४७)में व्यक्तिको अनासक्त होकर कर्म करनेको कहा है—**'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।'** कर्मफलसे अनासक्त रहकर कर्तव्यकर्म करना ही मानवका अधिकार है । व्यक्तिके हाथमें फल रहता भी नहीं है । अतः फलासक्तिका त्याग कर देना कर्तव्य है ।

निष्काम-कर्मका आचरण तभी सम्भवहै, जब व्यक्तिका दृष्टिकोण परोपकारी हो । निष्कामयोगी अपने लिये नहीं, बल्किदूसरोंके लिये जीना चाहते हैं—**'शिवाय लोकस्य जीवन्ति नात्मार्थम्'** । प्रकृति इसका सर्वोत्तम उदाहरण है । सूर्य भी हमारे लिये ही तपते हैं, वृक्ष पर-हेतु ही फूलते-फलते हैं, सरिताएँ दूसरोंके लिये ही बहती हैं और धरती दूसरोंके लिये ही सब कुछ सहन करती है ।

> तुलसी संत सुअंबु तरु फूलें फलें परहेतु ।
> इत ते वे पाहन हनत उतते वे फल देत ॥
>
> (दोहावली)

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि दूसरोंके लिये जीनेमें सच्ची सुखानुभूति होती है । ये कर्म निष्काम कर्म हैं । सांसारिक व्यापारोंमे पूर्ण निष्कामता नहीं देखी जाती, किंतु यह प्राप्त की जा सकती है । अतः निष्काम बननेके लिये हमे दूसरोंके लिये जीना होगा तथा कर्म और कर्मफलमें भी अनासक्त रहना होगा ।

अनासक्ति तथा परोपकार—अनासक्तिके अभावमें दूसरोंके लिये जीना असम्भव है। आसक्ति जीवकी अशान्तिका प्रमुख कारण है। व्यक्ति आसक्त होता ही क्यों है? विचारनेसे ज्ञात होता है कि व्यक्ति स्वभावसे बहिर्मुख है। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों और मनसे क्रमशः बाह्य तथा आन्तर विषयोंके सम्पर्कमें आता है। यह सम्पर्क व्यक्तिको विषयके प्रति आकर्षित-विकर्षित या उदासीन कर देता है। फलतः वह राग-द्वेषका शिकार हो जाता है और न चाहते हुए भी वस्तुकी राग-द्वेषरूपी अदृष्ट रस्सीसे बँध जाता है। प्रिय वस्तुको सदैव अपना बनाये रखनेके लिये वह अनेक योजनाएँ बनाने लगता है। एकके बाद दूसरी, फिर तीसरी कल्पनाका जन्म होने लगता है। मन इन कामनाओंसे अतिशय आन्दोलित हो उठता है। उसकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। ऐसा ही क्रम अप्रिय वस्तु या व्यक्तिसे उत्पन्न होता है। संक्षेपमें—राग तथा द्वेष दोनों ही अनन्त कामनाओंको जन्म देकर जीवको प्रपञ्च-पचड़ेमें डाल देते हैं। व्यक्तिका सहज सुख कर्पूरकी भाँति कामनाओंके झंझावातके साथ ही उड़ जाता है। काम व्यक्तिके अन्य बलवान् शत्रुओंको भी बुला लेता है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीता-(२। ६२)में इस तारतम्यका बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है। कामना-(में विघ्न पड़ने-)से क्रोध उत्पन्न होता है।' संसारमें रहकर विषयोंसे सम्पर्क न हो, यह सम्भव नहीं। कोई कर्म ही न करे, यह भी असम्भव है। अतः बुद्धि-चातुर्य इसीमें है कि कर्म भी करे, विषयभोग भी करे, फिर भी कर्म-बन्धनमें न पड़े। हम अनासक्त बने रहें। तात्पर्य यह कि हम निष्काम कर्मयोगी बनें। यही मार्ग भगवान् श्रीकृष्णने (गीता २। ४८ में) सुझाया है—

*

'हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर। यह समत्वभाव ही योग कहा जाता है।'

आसक्तिसे छुटकारा पानेका सरलतम उपाय है परोपकार करना। दूसरोंकी सेवा करनेसे कर्म और कर्मफल—दोनोंमें आसक्ति घटने लगती है। हमें प्रत्येक कार्य भगवान्‌का कार्य समझकर करना चाहिये। इसमें फल भी भगवान्‌को ही प्राप्त होगा। अतः कर्मफल उसीको समर्पित है—ऐसा भाव निष्कामकर्म करनेमें बड़ा ही सफल सिद्ध होता है। स्वार्थ ही तो समस्त अशान्तिका कारण है। स्वार्थको समूल नष्ट करनेमें परोपकार ही कारगर सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि संत तुलसीने परहितको श्रेष्ठ धर्म कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

चित्तशुद्धि तथा परमशान्ति

समाजकी सुख-शान्ति उसकी ईकाई व्यक्तिपर और व्यक्तिकी सुख-शान्ति उसके मनपर निर्भर करती है। मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार भरे हैं। ये ही व्यक्तिको शान्त नहीं रहने देते हैं। जबतक ये मनमें निवास करेंगे, तबतक जीव स्वप्नमें भी सुखी नहीं हो सकता—यह हमारे ऋषियोंकी स्पष्ट घोषणा है। इनको मनसे निकालनेका उपाय है—निष्कामकर्म करना। इन कामादि विकारोंका मनमे अभाव होना ही मनकी पवित्रता है, इसीको चित्तशुद्धि भी कहते हैं। पवित्र मन ही स्थिर रह सकता है, पवित्र मन ही सुख और शान्तिका दाता है।

सकामकर्म चित्तमें संस्कारके रूपमें सचित हो जाता है। ये सस्कार ही व्यक्तिको अच्छे या बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त कराते हैं। बाह्य विषयोंके अभावमें भी विचार-शृङ्खलाका समाप्त न होना, अन्यान्य विचारोंकी स्फुरणाका अबाधगतिसे होते रहना आदि इन्हीं

संस्कारोंका कार्य है। स्वप्नकी घटनाओंका सम्बन्ध भी इन्हीं संस्कारोंसे है। अतः जबतक ये संस्कार मनमें प्रभावशाली हैं, तबतक व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता है; और, फिर सुख-शान्ति नहीं मिल सकती है। पराधीनको सुख कहाँ—

'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'

यह आप्तपुरुषोंका वचन है। व्यवहारमें भी ऐसा ही देखनेको मिलता है। संस्कार व्यक्तिको बलपूर्वक उन कर्मोंमें लगा देते हैं जिनको वह करना भी नहीं चाहता है। अतः संस्कारोंसे मुक्ति पाना परमावश्यक है। यह निष्काम कर्मोंसे ही सम्भव है। कामादि विकारोंको यदि परिष्कृत कर दिया जाय, उन्हें धर्म्य बना दिया जाय तो वे शत्रु न रहकर मित्र बन जाते हैं। निष्कामभावसे परोपकार करते रहनेसे मन हल्का तथा पवित्र होने लगता है। उसकी शक्ति विकसित होने लगती है। जब दूसरोंकी सेवामें सुखकी अनुभूति होने लगे, तब समझना चाहिये कि मन पवित्र हो गया है। किसीसे सेवाके बदले कुछ पानेकी आशा न रहे, यही निष्काम-भाव है। वही सच्ची सेवा भी है। अतः चित्त-शुद्धि तथा परम लाभके लिये हमें निष्कामकर्म करना चाहिये। निष्कामकर्म करते-करते मन निष्कपट तथा पूर्ण पवित्र हो जाता है। पवित्र मन ही प्रभुको प्रिय है। भगवान् श्रीरामकी मानस-(५।४३।५)में उक्ति है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

आधुनिक संदर्भमें निष्काम कर्मकी परमावश्यकता

पाश्चात्त्य संस्कृतिसे प्रभावित व्यक्ति निष्काम कर्मको अपने-आपमें विरोधी मानते हैं। उनका तर्क है कि कर्म 'काम'का ही कार्य है। अतः निष्काम कर्म असम्भव है। बिना 'कारण'के कार्यकी कल्पना तर्क-विरोधी है। दूसरे कहते हैं कि फलेच्छा ही कर्मके लिये प्रेरित करती है। अतः बिना फलेच्छाके कर्मका सम्पादन सम्भव नहीं है। कुछ लोगोंका कहना है कि जब कर्म-फल-प्राप्तिसे मतलब ही नहीं है तब कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है? अन्य निष्काम कर्मका अर्थ प्रयोजनरहित कर्म मानते हैं। ये प्रश्न विचारणीय हैं और तर्क-संगत भी हैं। केवल दृष्टिकोणमें भूल है। निष्कामकर्मका भी प्रयोजन होता है, उसमें भी फलेच्छा प्रेरणादायिका होती है, किंतु सकाम कर्मके समान कर्मफलमें आसक्ति नहीं होती और कामना उदात्त होती है; क्योंकि स्वार्थरहित होती है। अतः सकाम तथा निष्काम कर्मोंमें बड़ा ही सूक्ष्म अन्तर है। सकाम कर्मोंमें व्यक्ति स्वयं केन्द्र होता है, जबकि निष्काम कर्मोंकी धुरी विश्व-व्यवस्था होती है। सकाम कर्मका फल कर्ता स्वयं चाहता है, निष्काम कर्मका फल प्रायः दूसरोंकी सेवा या परमात्माके चरणोंमें समर्पित किया जाता है। अतः सकाम तथा निष्काम कर्मोंमें दृष्टि-कोणका महान् अन्तर है। निष्काम कर्मके प्रेरक तत्त्व हैं—लोकसंग्रह, प्रभुप्रीति और स्वकर्तव्य-पालनकी कर्तव्यनिष्ठा। ये अपने आपमें पूर्ण हैं। ये तत्त्व कामनाके क्षेत्रमें परिगणित नहीं होते। अतः इनसे प्रेरित कर्म निष्काम ही कहे जाते हैं।

आज अधिकतम व्यक्ति सकाम कर्मोंमें ही अपना जीवन सार्थक मानते हैं। निष्काम कर्म उनकी दृष्टिमें कर्ताका कर्मके प्रति रुचिका अभाव है। इस गलत दृष्टिकोणके दुष्परिणाम समाजमें सर्वत्र देखे जा सकते हैं। निष्काम कर्म मात्र सिद्धान्त-प्रतिपादनकी वस्तु या केवल संन्यासियोंके लिये नहीं है। इससे जीवनका हर क्षेत्र, हर व्यापार ओतप्रोत होना चाहिये। निष्काम-कर्म विश्व-व्यवस्थाके लिये अत्यन्त उपयोगी है। विश्व-व्यवस्थिति प्रभुका कार्य है। अतः प्रभुकी प्रियता-हेतु भी यह अनुष्ठेय है।

आधुनिक विश्वने जिस भौतिक सम्पन्नताको जुटानेमें जीवन गँवा दिया, वही मुँह बाये उसे खानेको खड़ी है। यह दुर्दशा कर्मफलासक्तिका ही कुफल है। अधिकारी अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करनेमें ही अपनी बुद्धिमत्ता समझता है; व्यापारी ग्राहकको चूस लेनेमें ही अपनी सफलता मानता है, राजनीतिज्ञ मात्र नारोंको ही सुनीति मानने लगे हैं। धार्मिक दम्भ तथा पाखण्डकी आड़में शिकार खेलनेको ही धर्म-प्रवीणता मानने लगे हैं। ऐसी अधम बुद्धिका कारण है निष्काम कर्मका अभाव। हमें शरीर, वाणी और मन प्रभुसे प्राप्त हुए हैं। इनको उन्हींकी सेवामें लगाना चाहिये। यही निष्कामभावकी सच्ची निष्ठा है। यह विश्व प्रभुका विराट् अथवा द्वितीय सगुण रूप है। तभी तो मानसमें महात्मा तुलसीदासने उसे दोनों हाथ जोड़कर प्रेमसे प्रणाम किया है—

सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

प्रभु-प्रदत्त शक्ति तथा उपकरणोंका उपयोग हमें परोपकारार्थ ही करना चाहिये। वैसे ऐसे प्रयासोंके प्रति समाजमें जागरूकता अवश्य है, पर निष्कामकर्ममें निष्ठाभावके कारण उसकी योजनाएँ सफल नहीं हो पातीं हैं। जन-सेवा, दैन्यदूरीकरण, सद्गुण-प्रसार-प्रचारके आकर्षक नारे गुञ्जित हो रहे हैं। किंतु निष्काम कर्म इनमें नहीं दीखता। फिर यह विडम्बना नहीं तो और क्या है?

मुद्रास्फीति, खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य वस्तुओंकी मिलावट, कालाबाजारी, जमाखोरी, जीवनोपयोगी वस्तुओंका कृत्रिम अभाव आदि अनेकानेक समस्याओंसे निपटनेके लिये बाह्य कारणोंपर तो कुठाराघात किया जा रहा है, परंतु दसो दिशाओंमें व्याप्त ये रावणके सिर काटनेसे भी समाप्त होते नहीं दीखते। उसे तो सिर पुनः मिल जायँगे, उसे वरदान देनेवाले अनेक 'शिव' जागरूक हैं। अतः इस अनर्थकारी रावणको मारनेके लिये उसकी अमृतसे पूर्ण नाभिको बेधना होगा। इन अनर्थोंका मूल कारण है व्यक्तिकी फलेच्छापर आसक्ति। वह फल प्राप्त करेगा ही, चाहे उसे कोई भी मार्ग अपनाना पड़े। अतः समाजसे इन जघन्य बुराइयोंका सफाया करनेके लिये निष्काम कर्मके रहस्यको व्यक्ति-व्यक्तिके मनमें बैठाना होगा; तभी समाजका शुद्धिकरण होगा, समाजपर सुख-चैनकी वर्षा होगी। स्मरण रहे—निष्काम कर्ममें निष्ठाके अभावमें कोई भी नीति सफल नहीं हो सकती।

आजकल कुछ ऐसी घटनाएँ घट रही हैं, जिनमें स्वार्थकी पराकाष्ठाका दर्शन होता है। दाम्पत्य-जीवनकी पाश्चात्त्य अवधारणा है कि विवाह एक समझौता है। भारतीय अवधारणा है कि यह दो आत्माओंका सम्मिलन है। कितना अन्तर है इन दृष्टिकोणोंमें। यही कारण है कि भारतने सीता, सावित्री-जैसी महान् पवित्र नारियाँ उत्पन्न की हैं। आधुनिक अवधारणाका मूल सकामभाव है और भारतीयका निष्कामभाव। आजके अधमतम कुकर्मोंकी जड़ है कर्मफलासक्ति। व्यक्तिका दोष नहीं है, दोष है समाजमें फैली या फैलायी जा रही गलत स्वार्थपूर्ण अवधारणाओंका। अनर्थ-मूल है कामना, महत्त्वाकाङ्क्षा और तज्जन्य आसक्ति। इनके त्यागके बिना सुख-शान्तिके दर्शन नहीं हो सकते।

अपनी खोयी हुई सुख-शान्तिको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है निष्काम कर्ममें निष्ठाकी पुनः स्थापना। प्राणिमात्र ही नहीं, जड़-जगत् भी प्रभुका सगुण रूप है। अतः सभीकी सेवा ही हमारा व्रत होना चाहिये। इसीसे निष्काम कर्म करनेकी प्रेरणा मिलेगी।

निष्काम-कर्म-विवेचन

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दूबे, एम्० काम०, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

इस जगत्मे रहनेवाला कोई भी व्यक्ति विना कर्म किये नहीं रह सकता। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सम्बोधित करते हुए गीता (३ । ५)में कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

'कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सम्भव नहीं; क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी कालमे क्षणमात्र भी जागते-सोते, उठते-बैठते-जैसे साधारण कर्मोंके किये विना कैसे रह सकता है? सभी व्यक्ति प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोद्वारा परवश हुए कर्म करते रहते हैं।' इस कर्मक्षेत्रमे सृष्टिके देववृन्द भी कर्म करनेमे निरन्तर सलग्न हैं—यद्यपि वे कर्मयोनि एवं कर्मभूमि-क्षेत्र भारतसे बाहर हैं। इसी प्रकार परमात्मा भी रजोगुणका आश्रय कर ब्रह्माके रूपमें इस सृष्टिकी उत्पत्तिमे, सद्गुणका आश्रयकर विष्णुके रूपमें इसके संरक्षणमे एवं तमोगुणका आश्रयकर रुद्रके रूपमें इसके संहारमे सलग्न हैं। इसीसे संसारमें सदैव जन्मस्थिति और विनाश होते रहते हैं (भाग० ११।४।५)।

शास्त्रोमे कर्म तीन प्रकारके कहे गये हैं—प्रारब्ध, संचित एव क्रियमाण। पूर्वजन्मोमे किये हुए कर्मोको प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। इन्हींके फलस्वरूप मानवके जन्म, सुख-दुःख-भोग, आयु इत्यादि पूर्णरूपसे पूर्वनिश्चित रहते हैं। उदाहरणके लिये एक माताके चार पुत्र हैं; प्रारब्ध कर्मोंकी शक्तिके अनुसार उनमेसे एक महान् त्यागी, दूसरा धनवान्, तीसरा निर्धन और चौथा विद्वान् होता है। साधु, महात्मा, त्यागी, भक्त, ज्ञानी, गृहस्थ चाहे जो भी हो, प्रारब्ध कर्मोंके फल भोगनेसे कोई भी वञ्चित नहीं रह सकता। यह देह प्रारब्ध कर्मोपर आश्रित होता है तथा प्रारब्ध कर्मोंके फलोको भोग करके ही इसे मिटाया जा सकता है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसके (२ । २१८ । २) शब्दोमें—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

प्रारब्ध कर्म ही प्रधान है। 'विगत जन्मोसे सचित कर्म, जिनका भोग अभीतक आरम्भ ही नहीं हुआ है, ऐसे कर्मोंको सचित कर्म कहते हैं। मनुष्यको तत्त्व-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान)की उपलब्धि हो जानेपर उसके सचित कर्मो—पुण्यो एवं सभी पापोंका नाश हो जाता है। ध्यानमें अवस्थित मन कर्ममयी वासनाको धीरे-धीरे त्याग देता है (श्रीमद्भा० ११ । ९ । १२)। इस प्रकार उपासना-ध्यान और ज्ञान-विज्ञानसे सचित कर्म विनष्ट हो जाते हैं और उन्हे विना भोगे ही मिटाया जा सकता है; पर प्रारब्ध कर्म विना भोगे मिटाये नहीं जा सकते।

उपलब्ध देहसे जो कर्म सम्पादित किये जाते हैं, उनको क्रियमाण कर्म कहते हैं। फल प्राप्त करनेकी इच्छासे किये जानेवाले कर्म अगले जन्मकी देहके लिये प्रारब्ध कर्म तथा संचित कर्म होते हैं। इस प्रकार जीव कर्मोंके चक्करमें पड़कर आवागमनके वन्धनसे छुटकारा नहीं पाता है। जन्मके पश्चात् मृत्यु और मृत्युके पश्चात् जन्मका क्रम निरन्तर चलता रहता है। जीव अपनी ही देहसे कृतकर्मोंके अधीन जन्म और मृत्युको प्राप्त होता है। उत्तम कर्म करनेवाला उत्तम योनिको एवं अशुभ कर्म करनेवाला अशुभ योनिको प्राप्त होता है।

क्रियमाण कर्मके भी शास्त्रोंमे चार भेद बतलाये गये हैं—वे क्रमशः इस प्रकार हैं—(क) नित्य, (ख) नैमित्तिक, (ग) काम्य एवं (घ) निषिद्ध। अपने वर्णके अनुसार स्नान, संध्या-पूजा-पाठ इत्यादि कर्म करना नित्यकर्म हैं। विवाहादि उत्सव एवं किसी विघ्न-बाधाओंके शमनहेतु किये जानेवाले कर्म नैमित्तिक कर्म हैं। लोक-परलोकमें सुखार्थ दान देना,

तालाब-कुएँ आदि खोदवाना, वन-बाग, उपवन-वाटिका आदि लगवाना, अतिथि-स्वागत, तप, सत्यका पालन करना इत्यादि भी काम्यकर्मोंके अन्तर्गत आते हैं। ये कर्म प्रायः स्वर्गादिक उत्तम लोकोंकी प्राप्तिमे सहायक सिद्ध होते हैं। वेदो, पुराणो, शास्त्रों और पूज्य संतोद्वारा परिवर्जित एवं त्याज्य कहे गये कर्म निषिद्ध कर्म हैं। उदाहरणार्थ—बेईमानी, धनापहरण इत्यादि । फल-प्राप्तिकी भावनासे रहित, मात्र कर्तव्य बुद्धिसे किये गये कर्मोंको निष्काम कर्म कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें फल-प्राप्तिकी भावनाके त्याग एवं कृष्णार्पणकी भावनापर अत्यन्त अधिक बल दिया है (गीता २। ४७)।

कर्मोंकी शुद्धि-हेतु भक्ति और ज्ञान अपेक्षित होते हैं। भक्तिसे कर्ममे कृष्णार्पणकी भावनाका सृजन होता है एवं ज्ञानके द्वारा वह कर्तव्यके रूपमें प्रतिफलित हो जाता है। अतः फलासक्तिके त्यागके लिये भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति अनिवार्य है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्कामकर्म करनेके लिये उपदेश दिया है। परंतु उसमें भी निर्वाण-पदकी प्राप्तिकी कामनाका अवसान सन्निहित है।'

निष्कर्षतः इस जगत्की कोटि-कोटि कामनाओंके परित्यागसे कर्मयोगीके पावन हृदयकी परिसीमितता समाप्त हो जाती है (जिसमें वह सीमित होते हुए भी असीमितकी ओर अग्रसरित होता है) मूलतः यही निष्काम-कर्म करनेके उपदेशका मर्म है।' निष्काम कर्म बन्धन-मुक्त होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे बन्धन ही कर्मका सबसे बड़ा दुर्गुण है। बन्धनके कारण ही जीव इस जगत्में आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है। निष्काम-कर्म करनेकी प्रारम्भिक अवस्थामें अत्यन्त अधिक परेशानीका अनुभव होता है, परंतु शनैः-शनैः प्रयास करने एवं कृष्णार्पणकी भावनासे कर्म करते रहनेपर निष्कामताकी स्थिति सुदृढ हो जाती है, इसमें संदेह नहीं।

निष्काम-कर्मयोग—एक विहंगम दृष्टि

(लेखक—पं० श्रीकृष्णकिशोरजी मिश्र)

भेदसे अभेद, पृथक्त्वसे एकत्व सर्वदा शक्तिशाली रहा है और रहेगा। निष्कामता, कर्म और योग शब्दोंकी पृथक्-पृथक् जो भी सामर्थ्य हो, तीनोंके सम्यक् सम्मिलनसे—पुनीत त्रिवेणी-सगमसे 'निष्कामकर्मयोग'में एक ऐसी विश्व-विजयिनी अपरिमित शक्ति समुद्भूत होती है, जो क्रोध-लोभ-हिंसा-संतप्त इस मेदिनीपर भी करुणाकी एक अजस्र धारा प्रवाहित कर देती है। इससे मानव दानवतासे मुँह मोड़-कर द्रुतगतिसे देवत्वकी ओर अग्रसर होने लगता है। फलतः कर्म अकर्ममें रूपान्तरित होने लगता है; मलायतन, विकारी और नश्वर शरीर—प्रबुद्ध, निर्मम, निराशी और निष्कलुष—निर्मल होने लगता है और आत्मा शरीरमें रहते हुए भी जीवन्मुक्त विदेह बन जाता है। अधिक क्या, निष्काम कर्म-योगका समर्थ साधक शनैः-शनैः कामना, आसक्ति, फलाशा और कर्तृत्वाभिमानसे शून्य होकर अपने युग-युगके कर्म-संस्कारोंको ज्ञानाग्निद्वारा भस्मसात् करते हुए भोगको भी योगमें परिणत करते हुए, असत्से सत्की ओर पाँव बढ़ाते हुए, समत्वदृष्टि तथा स्थितप्रज्ञताकी सहायतासे शुद्ध सच्चिदानन्दके समक्ष जा उपस्थित होता है। निष्काम कर्मयोगी विश्व-वन्दनीयताकी भी उपेक्षा कर 'परमगति' प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मकी सक्रिय शक्तिकी उपासनामे ब्रह्मभावसे ससिद्ध तादात्म्यभाव स्थापित करनेवाली देवीसे वागाम्भृणी ऋषिके उद्गार—'**अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः।**'··· अथवा '**यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्**'की तरह निष्काम-कर्मयोगी कोई उद्घोषणा नहीं कर सकता; क्योंकि वह तो '**निर्दोषं**

हि समं ब्रह्म' निष्क्रिय ब्रह्मका उपासक होता है, फिर भी वह—**सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥**—की शुभ भावना सदैव सर्वत्र विश्वमें विस्तारित करता रहता है। निष्काम-कर्मयोगकी साधनामें साधकके सब नियत-कर्म 'निष्काम' और 'योग'से सम्पुटित होनेके कारण वस्तुतः दिव्य होते हैं। ऐसा साधक सदैव निष्काम तथा योगपर दृष्टि रखता है, कर्मके कारण और परिणामके प्रति सावधान रहता है। वह कोई ऐसा कर्म नहीं करता जो आत्माके परमात्मासे योगमें बाधक हो, कोई ऐसा कर्म नहीं करता, जो चित्तपर कोई संस्कार निर्मित करता हो। निष्काम-कर्मयोग वह सुभग सुमन सोपान है, जो निष्कामताके आधारपर अवस्थित हो योगके सर्वोच्च शिखर-पर आसीन सत्का सांनिध्य प्राप्त कर लेता है।

निष्कामता कर्मके सब बन्धनोंको निर्मूल करनेमें अत्यधिक सहायता देती है; क्योंकि कामना ही कर्मोंको बन्धनका रूप देती है। काम ही व्यक्तित्वको, अविभाज्यता-को विभक्त करता है, शतधा विभक्त करता है, अनेकत्व-की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। कामका अर्थ है—अपने सुख-भोगकी इच्छा—मैं, मेरे लिये, स्वके लिये पदार्थोंके संयोग-संग्रहकी इच्छा। इस तरह काम मायाका रूप ग्रहण कर लेता है; क्योंकि वस्तुतः **'मैं अरु मोर तोर तैं माया'** है। और माया ही आत्मा और परमात्माके बीच दुर्लङ्घ्य आवरणका काम करती है। वही जीवको भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकाती है। मायाके कारण ही ससारकी स्थिति है। जो एक है, अखण्ड एवं अविभाज्य है, अमर एवं अच्छेद्य है, अदाह्य है एवं अभेद्य है, वही इस मायाके कारण अनेक दिखायी पडने लगता है, अपनेको मर्त्य समझने लगता है, छेद्य, दाह्य, भेद्य समझने लगता है। नित्यानन्द अपनेको मायाके कारण दुःखी समझने लगता है, अतएव इस मायाके पर्देको क्षीण करनेके लिये निष्काम-कर्मयोगका साधक कामनाहीन होनेका प्रयत्न करता है। वह स्व-सुख-भोगकी इच्छाको पर-सुख-भोगकी इच्छामें—दूसरोंको सुख-सुविधाकी इच्छामें प्रवर्तित करनेमें लग जाता है। वह परार्थ कर्म करने लगता है, जो करता है, यज्ञार्थ ही करता है।

यज्ञार्थ कर्म कामधेनु है, इस लोकमे सब इच्छाओंको सहज ही पूर्णकर परलोक भी सम्हालता है। यज्ञार्थ कर्म साधकको अभ्युदय और निःश्रेयस देता है। यज्ञके साथ ही प्रजाकी सृष्टिकर प्रजापतिने स्पष्ट शब्दोंमें निर्देश दिया।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।

इस यज्ञद्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ, यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित कामनाओंका देनेवाला हो। यज्ञका वास्तविक अर्थ हवनकुण्डमें आहुति-प्रदानरूप वेदविहित कर्म-विशेष ही नहीं है, उसका वास्तविक अर्थ है—ऐसा निःस्वार्थ कर्म करना, जिससे सबका कल्याण हो। यही वस्तुतः यज्ञ-कर्म है—**'यज्ञो वै विष्णुः'**। यह यज्ञ साक्षात् विष्णु-स्वरूप है। इसके अनुसार यज्ञार्थकर्म विष्णुके लिये कर्म है, जो सबमें व्याप्त है, घट-घटवासी है—**'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञः'** है। ईश्वरके लिये किये जानेवाले कर्म—भगवदर्थ कर्म बन्धनमे डालनेवाले नहीं होते, यज्ञार्थ कर्म आत्म-विकासक है। अपने सुख-भोगके लिये किया जानेवाला सकाम कर्म अधिक संकुचित कर देता है और परार्थकर्म-यज्ञार्थकर्म विचारको उदात्त कर देता है, विस्तृत कर देता है। चित्त इतना व्यापक हो जाता है कि यज्ञार्थ कर्मका कोई सस्कार ही उसपर नहीं पड़ता। अतएव निष्काम कर्मयोगका आधार मात्र आध्यात्मिक ही नहीं, पूर्णतः वैज्ञानिक भी है।

काम-क्रोध-लोभ-मोह प्रभृति आसुरी वृत्तियों या अधोगामी वृत्तियोंकी कामना ही वह उत्स—उद्गमभूमि है जो पतन

करानेवाली वृत्तियोंको जाग्रत्कर ईश्वरसे दूर रखनेवाली धृत्तियोंको बढ़ाती है। इसलिये दैवी सम्पदाओंके अर्जनके लिये तथा अपनेमें उनको अधिकाधिक स्थान देनेके लिये कामनाका मूलोच्छेद अनिवार्य है; क्योंकि इसके बिना निष्कामता नहीं पनप सकती; पल्लवित-पुष्पित नहीं हो सकती और निष्कामताके बिना कर्मयोग सिद्ध नहीं हो सकता।

'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार'

विज्ञान भी स्वीकार करता है कि संसारमें जड-चेतनका, गुण-दोषका, पदार्थ-ऊर्जाका योगफल सदैव बराबर रहता है। ऊर्जाकी मात्रा जितनी बढ़ती है, उतने ही अनुपातमें पदार्थकी मात्रा घटती है। उसी तरह गुण उसी अनुपातमें बढ़ेगा, जिस अनुपातसे दोष घटेगा। अतएव गुण-वृद्धिके लिये दोष दूर करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जिस अनुपातमें कामना दूर होगी उसी अनुपातमें निष्कामता अपना स्थान ग्रहण करेगी। अतः परार्थ, लोककल्याणार्थ, यज्ञार्थ, ईश्वरार्थकी भावनाद्वारा स्वार्थको, कामनाको, स्व-सुख-भोगेच्छाको शोधित करना है, क्षीणीकृत करना है। कर्मके विषयमें निष्काम कर्मयोगके लिये सर्वाधिक उपादेय सिद्धान्त है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

इन्हीं कारणोंसे साधकको योगका आश्रय लेना चाहिये। 'योगसूत्र'में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**। चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है। चित्तमें जो विचार-सरणी प्रवाहित होती है उसे बंद कर देना, चित्तपर कर्मका संस्कार नहीं पड़ने देना ही योग है। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगकी तीन परिभाषाएँ हैं—

(क) **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—कर्म-फलमें समता ही योग है। यही उस कर्मबन्धनसे मुक्ति कौशल है। कर्मको बन्धनकारक नहीं होने देना ही योग है।

(ख) **'दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'**—दुःखके सयोगका वियोग ही योग है अर्थात् योग वह युक्ति है जिससे दुःखका आना सदा-सर्वदाके लिये समाप्त हो जाय।

(ग) **'समत्वं योग उच्यते'**—समत्वको योग कहा जाता है। वैषम्य ही सृष्टि है और समता ही सृष्टिका अभाव है। साम्यावस्थाका ही नाम ब्रह्म है,—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** ब्रह्म सम है, निर्दोष है, दोषहीन है, उसमें कोई त्रुटि है ही नहीं। जय-पराजयमें, हर्ष-शोकमें, लाभ-हानिमें समान रहना ही योग है, दोषोंसे, त्रुटियोंसे सर्वथा मुक्त होना ही योग है। निष्काम कर्मयोगका साधक सर्वक्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञको एक ही देखता है, जिससे धीरे-धीरे साधक सब प्राणियोंमें, सब पदार्थोंमें अपनेको और अपनेमें सबको देखता है। वह **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भवनासे इतना संतृप्त रहता है कि वह **'आत्मतुष्टः', 'आत्मारामः'** अपनेमें ही संतुष्ट रहनेवाला, किसी वस्तुकी चाह नहीं करनेवाला और अपनेमें ही आराम, विश्राम या शान्तिका अनुभव करनेवाला हो जाता है। वह शान्तिके लिये कहीं दौड़ता नहीं फिरता, परमुखापेक्षी नहीं रहता।

निष्काम कर्मयोगकी साधनामें सफलताके लिये साधकको श्रेय-प्राप्तिकी इच्छाकी प्रबलताके अनुपातमें ही कामनाके साथ-ही-साथ कर्मासक्ति तथा फलाशाका भी त्याग करना पड़ता है; क्योंकि कर्मयोगकी सिद्धिमें ये दोनो बहुत बडे बाधक हैं. योगपथसे भ्रष्ट करनेवाले हैं—**'सङ्गात् संजायते कामः'**। आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है। कामसे क्रोध, क्षोभ, मानसिक चञ्चलता, क्रोधसे लोभ और तब वह शृङ्खला प्रारम्भ होती है, जिसका अन्त बुद्धिनाश या सर्वनाशमें होता है, जबकि योगकी सिद्धिमें अनिवार्य है—स्थिरबुद्धि,

स्थितप्रज्ञता, मानसिक संतुलन, समत्वदृष्टि और समदर्शन। काम-क्रोध-लोभसे, इन परिपन्थियोंसे, नरकके निश्चित द्वारसे बचे रहनेके लिये आवश्यक है कि साधक आसक्ति और कर्म-फलेच्छाका यत्नपूर्वक त्याग करता रहे।

कर्मयोगमे सिद्धिके लिये जिस तरह कामना, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग आवश्यक है, उसी तरह 'कर्ताहम्'की भावनाका, कर्तृत्वाभिमानका, अहकारका सर्वथा त्याग आवश्यक है; क्योंकि 'अहम्' जीवको विश्वके सुविस्तृत परिधिसे पृथक्कर संकीर्णतामें आबद्ध कर देता है, मानो सु (विस्तृत)+ख (आकाश) से उसे दुः (दुर्=दुष्ट, सकीर्ण)+ख (आकाश)में ला देता है। यह अहं इतना सूक्ष्म है कि इसकी तृप्ति सिर्फ कर्तृत्व-भावनासे ही नहीं होती है, अनेकानेक सूक्ष्मभाव, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रससिक्त कर इसे जीवित रखता है, जिनमें अपरोक्ष-से-अपरोक्ष स्तुति भी किसीका मात्र मौन नमन भी एक है। जबतक अहंकारका अस्तित्व है, तबतक कोई-न-कोई शरीर बना ही रहता है, चाहे वह स्थूल शरीर हो, सूक्ष्म शरीर हो या कारण शरीर। और शरीर ही जीवका वास्तविक बन्धन है। अतः बन्धनके रहते मुक्ति कैसे आ सकती है।

इन्द्रिय-मन-बुद्धिपर विजय पाना आसान नहीं है। कर्मके लिये कामना-आसक्ति-फलेच्छाका त्याग भी उतना आसान नहीं। चित्तवृत्तिका निरोध, कर्मका सस्कार चित्तपर नहीं पड़ने देना उतना कठिन नहीं है, जितना दुष्कर है अहंकारका लय; क्योंकि सृष्टिके क्रममें गुण-वैषम्यके कारण प्रकृतिसे महत्तत्त्व और उससे अहंकार उद्भूत होता है। माया अहकाररूपमें ही जीवके जन्म ग्रहण करते ही उससे जा लिपटती है। अतएव अहकारके मिटते ही जीव मायासे मुक्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है, निस्त्रैगुण्यावस्थामे आ जाता है और यही है योगकी चरमसिद्धि। यही है समाधि, यही है 'निर्दोष सम ब्रह्म'के साथ साक्षात्कार, और यही है परमात्मासे जीवात्माका योग।

सब धर्मोंका गन्तव्यस्थल,—सब पथोंका गन्तव्य भी यही है और यही है संसृतिकी समाप्ति। यही है सृष्टिकी प्रलयावस्था या अनेकताका एकत्वमें संकुचन। इसे ही विशुद्ध अद्वैतावस्था कहते हैं। यही है मुक्ति, देह-बुद्धिसे मुक्ति, सब विकारोसे मुक्ति, सब दोषोसे मुक्ति, सब पापोसे मुक्ति, सब शुभाशुभोसे मुक्ति, तू-तू, मैं-मैंसे मुक्ति, सब नाम-रूपोसे मुक्ति, सब क्षुद्रताओंसे मुक्ति, सब सीमितताओसे मुक्ति और जन्म-मरणसे भी मुक्ति।

आज इस विज्ञानके युगमे भी निष्काम कर्मयोग सर्वथा अनुष्ठेय है; क्योकि यह पूर्णतः वैज्ञानिक प्रणाली है। युग-युगसे इसपर सफल-प्रयोग—परीक्षण होते आये हैं। वर्द्धमान महावीर, गौतमबुद्ध, आचार्य शंकर, रामानुज, चैतन्य एवं अन्यान्य धर्मसम्प्रदायप्रवर्तक अनेक ऋषि-महर्षि इसी श्रेणीके हैं। महात्मा गाँधी हों या कोई अन्य महापुरुष संसारमें महान् इसलिये हो सके कि उन्होंने अपना जीवन एक निष्काम कर्मयोगीकी तरह लोक-सेवामें विनियोजित कर दिया। लोक-कल्याणार्थ जीवन धारण करके ही वे जीवनमुक्त हो गये।

अतः हमे जीवनमें शरीर, शक्ति, सम्पत्ति, शिक्षा जो कुछ भी प्रजापतिसे प्राप्त हो सका है उन सबको प्रजाकी सेवामें, प्राणीकी सेवामें, ससारकी सेवामें, प्रजापतिकी सेवामें सहर्ष निःस्वार्थभावसे समर्पित कर इसी जीवनमें पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि कर ले; जिससे महती विनष्टिसे—महान् नाशसे हमारी रक्षा हो सके, हम 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'को हृदयंगम कर निष्काम कर्मयोगका व्रत लेकर सुखपूर्वक सब बन्धनोसे मुक्त हो जायँ, भव-सागरसे तर जायँ, महान् भय—जन्म-मृत्युके भयसे सर्वथा मुक्त हो जायँ, बस, एतदर्थ ही दृढ प्रयत्न-कर्म करें।

निष्काम-कर्मयोग—एक विहंगमावलोकन

(लेखक—डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, 'आनन्द')

कर्म करनेकी वह यौगिक पद्धति, जिसमें कर्म करनेके उपरान्त भी कर्मशील कर्मकी बन्धन-शृङ्खलाको तोडकर मुक्तिके साकेतमें प्रवेश कर जाता है 'निष्काम-कर्मयोग' कहलाता है। चिकीर्षामें अनासक्ति-भाव या रागका अभाव ही 'निष्काम-कर्मयोग'की नींव है। उसके स्वरूपके परिचयके लिये कहना चाहिये कि 'निष्काम-कर्मयोग' अनासक्ति-योगका पर्याय है। 'कर्मकौशल' —**योगः कर्मसु कौशलम्** एवं 'समत्वयोग' **समत्वं योग उच्यते**—से अनुविद्ध कर्तव्यकर्म ही निष्काम-कर्मयोग है। विश्वके समस्त धर्मोंमें यह योग-प्रक्रिया किसी-न-किसी रूपमें अवश्य उपलब्ध होती है। यह योगकी वह समन्वयात्मक पद्धति है जिसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म एवं अकर्म ज्ञान एवं योग, योग एवं भक्ति तथा प्रेम एवं अनासक्तिमें मणि-काञ्चन-योग प्रस्तुत किया गया है। सांख्ययोग एवं कर्मयोग—इन दो निष्ठाओंका वर्णन भगवान् श्रीकृष्णने गीता (५। ७)में किया है। वे दोनोंको ही निःश्रेयस्कर मानते हैं—

'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ'

तथापि गीताकारके मतमें सांख्यमार्गसे श्रेष्ठतर निष्काम कर्मयोगमार्ग ही है। गीताकारकी दृष्टिका वैशिष्ट्य—भारतके प्रायः सभी महान् दार्शनिकोंने (मुख्यतया वेदान्तियोंने) मीमांसकोंके कर्ममार्गका प्रत्याख्यान किया है और उनके स्थानपर ज्ञान या भक्तिको प्रतिष्ठित किया है। किंतु गीताकारने कर्मयोगका ही पुष्कल प्रतिपादन किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि सभी कर्मवाद-विरोधी दार्शनिकोंने 'गीता'का आश्रय लेकर ही अपने मतोंकी पुष्टि की है। उनमें वेदान्तवादी दार्शनिक प्रमुख हैं।

गीताकारने ज्ञानियों एवं भक्तोंकी कर्म-विरोधी दृष्टिका खण्डन तो नहीं किया है, किंतु कर्मवादकी दृष्टिको एक नयी दिशा अवश्य प्रदान की है। इस प्रकार गीताकार कर्मवादी होते हुए भी कर्मवादके विरोधी हैं तथा कर्मवादके विरोधी होते हुए भी कर्मवादके पोषक हैं। मीमांसाके कर्मवादमें कुछ कामनाका पङ्क है, कुछ स्वार्थकी दुर्गन्ध है, कुछ अहंताका मल है और कुछ तृष्णाका भी कालुष्य है, जबकि गीताके कर्मवादमें निःस्वार्थताका परिमल है, अनासक्तिकी निर्मलता है, अहंशून्यताकी मधुरता है एवं कामनाराहित्यकी पवित्रता है। इसीलिये जहाँ मीमांसकोंका कर्मवाद मात्र स्वर्गका प्रदायक है, वहीं गीताका कर्मवाद मोक्षका विधायक है।

क्या निष्काम कर्म सम्भव है ?

'कामना'के कर्मका मूल उत्स होनेके कारण कामना-शून्य कर्मकी सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती; तथापि कामना-शून्य कर्म सम्भाव्य है। इसी सम्भाव्यता एवं तदनुकूल आचरणकी प्रामाणिकताकी नींवपर ही निष्काम कर्मयोगका प्रासाद प्रतिष्ठित है। ईश्वरार्पणबुद्धिसे मोक्ष या भक्तिकी कामनासे सम्पादित कर्म न तो 'कर्म' ही कहलाते हैं और न तो उनके करनेकी कामना 'कामना' ही कहलाती है। कामनाके रहते हुए भी जब उसकी उन्मुखता भगवान्‌के प्रति या मोक्षके प्रति होती है तब वह कामना 'कामना' नहीं रह जाती है। वह सकामता भी निष्कामतामें अन्तर्भूत हो जाती है। सांसारिक आसक्तिसे अनुरञ्जित एवं कलहस्पृहासे अनुरक्त तथा जागतिक तृप्तिकी आकाङ्क्षासे कलुषित कामना ही 'कामना' पदसे व्यवहृत की जाती है।

स्वामी विद्यारण्यने 'कामना'के दो लक्षण बताये हैं—

(१) विध्यात्मक-लक्षणा—शुद्ध चैतन्य एव अहंकारमें अविवेकवशात् तादात्म्यबोध हो जानेके कारण जागतिक पदार्थोंमें स्पृहा होना और (२) निषेधात्मक-लक्षणा—आत्मा एवं अन्तःकरणमें भेद-बोध हो जानेके पश्चात् पदार्थस्पृहा होनेपर भी उस कामनाकी कामना संज्ञा न पडना। पञ्चदशीमें कहा गया है।

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः।
इदं मे स्यादिदं न स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः॥
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥
(पञ्चद० ६। २६१-६२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कामनासे शून्य कर्म एव भगवदर्पित कर्म 'कर्म'की परिधिमें नहीं आते। 'मोक्ष' कूटस्थ आत्मस्वरूप है। आत्मारूपी मोक्ष प्रत्येक जीवको नित्य प्राप्त है। आत्मा मोक्षरूप है, अतः मोक्ष-कामना भी कामना नहीं है। फलतः मोक्ष-कामनासे सम्पादित कर्म भी कर्म नहीं है।

पदार्थोंमें अन्तःकरणकी व्याप्तिरूप वृत्ति 'व्याप्ति' अन्तःकरणकी वृत्तिमें चिदाभासकी स्थिति-रूप 'फल' एवं आभासकी पदार्थोंमें व्याप्तिरूप 'फलव्याप्ति'से उपहित विषयाकारित वृत्ति ही 'कामना'की परिधिमें आती है, किंतु इन व्याप्तियोंके भगवदुन्मुखी होनेपर ये व्याप्तियाँ भी कामनाकी परिधिमें नहीं आतीं।

'शिवस्तोत्रावली'में श्रीमदुत्पलदेवाचार्य कहते हैं—

स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं विषय-
सौख्यमथापि मयार्थितम्।
सततमेव भवद्वपुरीक्षणामृत-
मभीप्समलं मम देहि तत्॥
येन मनागपि भवच्चरणाब्जोद्भूत-
सौरभलवेन विमृष्टा।
तेषु विषमिव भाति समस्तं
भोगजातममरैरपि मृग्यम्॥

'स्वामिन्! क्या आपको स्मरण है कि मैंने कभी भी विषयसुखकी चेष्टा की है या विषयसुख माँगा है? मुझे तो केवल आपके स्वरूपका साक्षात्काररूपी अमृत ही सदैव अत्यन्त प्रिय है; वही मुझे दीजिये। स्वामिन्! जो भक्तजन आपके चरणकमलोंसे निःसृत सौरभके लेशमात्रका स्पर्श प्राप्त करते हैं उन्हें देवोंके लिये भी वाञ्छनीय समस्त भोग-समूह दुर्गन्धपूर्ण प्रतीत होते हैं।'

इन दोनों उदाहरणोंसे यही प्रमाणित होता है कि साधक विषयासक्तिसे कोसों दूर रहकर भी कोई कामना तो कर सकता है किंतु यह कामना कामगत नहीं प्रत्युत कामातीत होती है। यह कामातीत कामना ही निष्काम-कर्मयोग है। इस निष्काम-कर्मयोगमें साधक समस्त कर्मोंमें परमात्माकी ही अभिव्यक्ति करता है—'**सर्व कर्मे तव शक्ति एई जेने सारा करि व सकल कर्मे तोमार प्रचार।**'—इस योगमें साधक अपने अहंको मिटा देता है; क्योंकि '**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**' अर्थात् अहंकार-विमूढ व्यक्ति ही अपनेको कर्ता मानता है, न कि ज्ञानी या योगी। योगी तो 'मैं'को परमात्माको समर्पित कर देनेमें ही उसकी कृतार्थता मानता है—

तोमाय आमार प्रभु करे राखि,
आमार आमि सेई टूकू थाक बाकि।
तोमाय आमि हेरि सकल दिसि,
सकल दिये तोमा, माझे निशि॥
इच्छा आमार सेई टूकू थाक बाकि,
तोमाय आमार प्रभु करे राखि।
तोमाय आमि कोथाओ नाहि ढाकि,
केवल आमार सेई टूकू थाक बाकि॥*

* रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत 'नैवेद्य'मे।

योग और निष्काम कर्मयोग—

चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम ही 'योग' है। योगका लक्ष्य 'उन्मनी' मनोन्मूलन कामनाओंका पूर्ण विध्वंस है। निष्काम कर्मयोगका मूल लक्ष्य कामनाओंका अत्यन्ताभाव नहीं है—प्रध्वंस नहीं है, प्रत्युत कर्मका दिव्यताकी ओर उन्मुखीकरण है। अपनी क्रिया-शक्तिका भगवान्‌को पूर्ण समर्पण है। अपनी चिकीर्षाका भगवदुन्मुखी प्रवाह है। विशुद्ध कर्तव्य बुद्धिका दृढ़ाभ्यास है। कामना-पङ्ककी अपसारणा करते हुए आत्माके निर्मलीकरण करनेकी प्रक्रियाका आत्मीकरण है। कर्म करते हुए भी कर्मसे लिप्यमान न होनेकी पद्धति है। अनासक्ति योगकी साधना है। अनासक्ति ही कर्मयोगकी भित्ति है।

गीताके निष्काम कर्मयोगकी कतिपय शाश्वतिक मान्यताएँ हैं, जो निम्न हैं—१–आत्मा अमर है। २–शरीर अनित्य है। ३–अहंका त्याग आवश्यक है। ४–कर्मको परमात्माको समर्पित करो। ५–परमात्माके प्रति भक्तिभाव रखो—अपनेको भगवदर्पित करो। ६–निष्कामकर्म करते हुए आत्मशुद्धि करो। ७–कर्ममें फलाकाङ्क्षा मत रखो। ८–कर्मसम्पादनके समय एवं अन्य स्थितियोंमें भी जगत्‌में **'पद्मपत्रमिवाम्भसा'** रहो। ९–जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान इत्यादि सभीमें समत्वबुद्धि रखो। १०–कर्ममें अकर्म एवं अकर्ममें कर्म देखो। ११–फल-निराकाङ्क्षी होकर कार्य करो। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें १८ योगोंकी मीमांसा की है। किंतु इन सभी योगोंमें भी 'निकाम कर्मयोग'को महत्तम योग प्रतिपादित किया है।

सांख्ययोग एवं निष्कामकर्मयोग—

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें दो निष्ठाओं—सांख्य एवं योगकी चर्चा की है। उन्होंने इन्हे पृथक् रूपमें निर्दिष्ट करते हुए भी एक माना है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते॥
(गीता ५। १-५)

सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, सूँघता हुआ तथा अन्य ऐन्द्रिय कर्म करता हुआ भी यही समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ; प्रत्युत इन्द्रियाँ इन्द्रियोंमें व्यवहार कर रही हैं—

नैव किंचित् करोमीति ⋯ ⋯श्वसन्॥ (५। ८)
प्रलपन्विसृजन् ⋯ ⋯धारयन्॥ (५। ९)

निष्काम कर्मयोगीकी दृष्टि इससे कथञ्चित् भिन्न है। यदि 'सांख्ययोग'में कर्म-संन्यासपर बल दिया गया है तो 'कर्मयोग'में क्रियाओंके भगवदुन्मुखीकरणपर बल दिया गया है। फलस्पृहाका त्याग एवं अनासक्ति दोनोंकी मूल निष्ठाएँ हैं। सांख्य-दर्शन चित्त-वृत्तियोंके निरोध एवं अनात्मतत्त्वमें आत्मबुद्धिके त्यागका उपदेश देता है तो कर्मयोग निःशेष कर्त्तव्य कर्मोंको भगवदर्पित करके (फलस्पृहासे मुक्त रहकर) अनासक्तिपूर्वक अनुष्ठित करनेका उपदेश देता है। सांख्य-निष्ठा सर्वारम्भपरित्यागसे अधिक सम्बद्ध है तो कर्मयोग निःशेष कर्मानुष्ठानसे। इसीलिये कहा गया है—**'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'**—कर्मत्यागकी अपेक्षा निष्काम कर्म करना श्रेयस्कर है। **'न निरग्निर्न चाक्रियः'**–यज्ञादि कर्मोंके त्यागी एवं क्रियाशून्य व्यक्तिको योगी नहीं कहते, प्रत्युत योगीके लक्षण निम्न हैं—

अनाश्रित्य कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

योगी 'कृत्स्नकर्मकृत्' होता है, किंतु वह 'समत्वभाव' एवं कर्मकौशलसे आपन्न कर्मोंका प्रयोक्ता होता है, न कि निष्कर्मा। उसके लिये उपदेश है—**'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।'**

भक्तियोग एवं निष्काम कर्मयोग—निष्काम भक्ति, रागात्मिका भक्ति, पराभक्ति एवं प्रपत्तिका निष्काम कर्मयोगसे अपृथक् सम्बन्ध है; क्योंकि इस योग-प्रक्रियाका आत्मीकरण किये बिना इन भक्तिप्रक्रियाओंका अस्तित्व भी संशयास्पद हो जायगा। औपनिषदिक ब्रह्म-ज्ञानमार्ग एवं शांकर-ज्ञानमार्ग भी निष्काम कर्मको अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसका कारण है, कर्मका सम्बन्ध शरीरसे है आत्मासे नहीं। कर्मोंको (अविद्यावश) आत्मासे सम्बद्ध मान लिया जाता है। इसी कारण जीवत्वकी उपाधि चलती रहती है। यदि अनासक्तिपूर्वक कर्म किये जायँ तो आत्माके चतुर्दिक् स्थित पाँच कोशोंके—जो आत्माको सभी ओर घेरे हुए हैं और जिनके आवरणोंको न भेद पानेके कारण प्राणी आत्म-दर्शन नहीं कर पाता, उन दुर्भेद्य आवरण-कवचोंका विनाश अपने-आप हो जाय और आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कारकी प्राप्ति हो जाय। यदि सकाम कर्म किये जायँ तो इन्द्रियादिकमें आत्मबुद्धिका उदय हो जानेके कारण न ज्ञानोदय हो और न आत्मसाक्षात्कार ही। इसी कारण ज्ञानयोगी कर्मोंकी निष्कामताका ही समर्थन करते हैं न कि सकामताका। **'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'**की धारणा निष्काम कर्मयोगके भी मूलमें है तथा ज्ञानयोगके भी। अन्तर बहुत थोड़ा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् एवं निष्कामकर्मयोग—बृहदारण्यक श्रुतिमें कामनाको ही संसारका मूल मानकर उसके त्याग करनेका विधान किया गया है। उसमें कहा गया है कि—'पुरुष काममय है। वह जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। वह जिस प्रकारका संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।' 'जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण कामनाओंका नाश हो जाता है, उस समय यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार सर्प-केंचुली बाँबीके ऊपर मृत एवं सर्पद्वारा त्यक्तरूपमें पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर भी पड़ा रहता है; और यह अशरीर प्राण है, ब्रह्म है।' 'प्राणीका मन जिसमें अत्यन्तासक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मपूर्वक प्राप्त करता है। इस लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्त करके उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः इस लोकमें आ जाता है।' 'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

सारांश यह है कि संसरणका मूल कर्म है। कर्मके बन्धत्वका मूल आसक्ति है। अतः यदि आसक्ति-शून्य कर्म किया जाय तो कर्मोंके कारण बन्धन नहीं, प्रत्युत मोक्षकी प्राप्ति होगी।

ईसाई-धर्ममें भी निष्काम कर्मका प्रतिपादन किया गया है। ईसाके समस्त उपदेशोंमें निष्काम कर्मयोगके विभिन्न मूलभूत उपादानोंका आत्मीकरण किया गया है यथा—(१) अहंताका त्याग, (२) निःस्वार्थ बलिदान, (३) परमात्मेच्छामात्रका अनुवर्तन एवं स्वेच्छाका प्रतिषेध, (४) मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजयके साथ ही मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-ऐन्द्रियवासना इत्यादि सभीसे ऊपर उठकर निष्काम सेवा एव कर्तव्य कर्म करना, (५) समस्त कर्मोंका परमात्माके श्रीचरणोंमें समर्पण और (६) परमात्माके प्रति अनन्य भक्ति।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म तथा निष्काम कर्मयोग—

जैन एवं बौद्धधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म हैं, अतः इनमें आसक्तिके त्यागपर अत्यधिक जोर दिया गया है। जैनयोगियोंका मत है कि जिस किसी भी वस्तु या विषयका आसक्तिपूर्वक अनुस्मरण किया जाता है, उसके

कर्मपुद्गल आत्मद्रव्यके साथ उसी प्रकार खिचकर चिपक जाते हैं जिस प्रकार कि तेल लगी वस्तुसे धूलके कण चिपक जाते हैं। यह पुद्गल-संयोग ही 'योग' है। इस आश्रवको बंद करनेके लिये ही जैनयोगियोंने 'संवर' एवं 'निर्जरा' का विधान किया है।

भगवान् तथागतने भवचक्रकी द्वादश शृङ्खलाओंमें 'तृष्णा' (आसक्तिपूर्ण इच्छा) को अत्यधिक महत्त्व दिया है। दुःखोंका कारण 'तृष्णा' है, जो त्रिविधात्मक है— (१) भोगतृष्णा, (२) भवतृष्णा, (३) विभवतृष्णा।

आसक्ति ही जागतिक नश्वर जीवनका मूल है। आसक्तिके कारण ही तृष्णा होती है। आसक्तिकी शून्यता होनेपर तथाकथित 'तृष्णा' तृष्णा नहीं रह जाती। तृष्णा एवं उपादानसे मुक्त प्राणी सांसारिक प्राणी नहीं, प्रत्युत एक योगी माना जाता है। इसीलिये तृष्णा-क्षयका बौद्ध-धर्ममें सर्वाधिक महत्त्व है। तृष्णाका आसक्तिसे अभिन्न सम्बन्ध है। तृष्णाका क्षय हो जानेपर आसक्तिका क्षय स्वयमेव हो जाता है। कर्मयोगमें इसी आसक्तिका त्याग सर्वोपरि आवश्यक विधान है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने एकान्त भक्त अर्जुनको उपदेश देते हुए कहते हैं—कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म-फलमें नहीं*। पर यह उपदेश सर्वसाधारण व्यक्तिके लिये बोधगम्य नहीं है। इस विषयपर गीताके विभिन्न टीकाकार मनीषियोंके साधनालब्ध अनुभूति क्या हैं? हमलोगोंको इसे यहाँ देखना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याख्याता स्वामी श्रीजगदीश्वरानन्दजी लिखते हैं—कर्ममें मानवका अधिकार है, फलमें नहीं।' अतः (वर्णाश्रमादिके अनुसार) कर्म करना ही मानवका कर्तव्य है। पर कर्मफलमें आसक्त किसीको नहीं होना चाहिये। कारण, कर्मफल-की तृष्णा ही कर्मफलप्राप्तिका हेतु होती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सकामकर्म करना कथमपि ठीक नहीं, किंतु कर्म छोड़नेकी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये।

स्वामी श्रीचिद्घनानन्दजी महाराजने आचार्य शंकरके भाष्यकी प्रतिध्वनि करते हुए इसकी व्याख्यामें लिखा है कि 'अर्जुन! कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, फलमें कभी नहीं। कर्म फलके हेतुसे कभी नहीं करना चाहिये। फिर कर्म छोड़नेकी इच्छा भी नहीं होनी चाहिये।' श्रीनीलकान्त गोस्वामीने तो अपनी गीताकी टीकामें लिखा है कि 'प्रायः किसी भी दोमंजिले घरमें ऊपर चढ़ने और नीचे उतरनेके लिये दो अलग-अलग सीढ़ियाँ नहीं रहतीं। ऊपर चढ़नेकी सीढ़ीसे ही लोगोंको नीचे भी उतरना पड़ता है। ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर उठना और अधोमुखी होकर नीचे उतरना। जो कर्म अपने देह एवं स्वजनके लिये पोषकभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ किये जाते हैं, उन्हींसे मानवको परमशान्ति प्राप्त होती है।'

लोकमान्य-बालगङ्गाधर तिलकने गीताकी टीकामें अपना भाव इस प्रकार व्यक्त किया है—'अर्जुन! तुम्हारा केवल कर्म (स्ववर्णानुसार युद्ध) ही करनेका अधिकार है। कर्मफल मिल जायगा अथवा नहीं, यह सोचना तुम्हारा कार्य नहीं है। परंतु कर्मत्याग कभी करना नहीं चाहिये।' इसे कर्मयोगकी चतुःसूत्री भी कहते हैं। तुम्हारा तो 'कर्म करनेका केवल अधिकार है'—इसपर संदेह हो सकता

* गीतामें सांख्य (ज्ञानयोग) निष्ठा और कर्म (योग—) निष्ठा—ये दो मार्ग भगवान्द्वारा विभिन्न अधिकारियोंके लिये उपदिष्ट हैं। अर्जुनको भगवान् सांख्यज्ञाननिष्ठाका अधिकारी न मानकर कर्मानुचरणका आदेश दे रहे हैं। (गीता शां० भा०)

है कि कर्मफल कर्मद्वारा ही प्रेरित रहता है, जैसे पेड़ और उसका फल। जो कर्म करनेका अधिकारी है, वही कर्मफलका भी अधिकारी हो जायगा।

श्लोकके द्वितीय चरणमें कहा गया है कि 'फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है।' अर्थात्—मनमें फलकी आशा कभी नहीं करनी चाहिये। किंतु कर्म और कर्मफल दोनों एक साथ चलते हैं। इसलिये फलकी आशाके साथ कर्मको नहीं छोडनेके लिये भगवान्‌ने उपदेश दिया कि 'कर्मफल छोड़कर कर्तव्यभावनासे कर्म अवश्य करना चाहिये—**'त्यागो न युक्तफलकर्मसु नापि रागः।'** फललाभ अपने वशमें नहीं है। इसलिये और अनेक विषयोंका आनुकूल्य आवश्यक होता है।

'हिंदूधर्म-प्रवेशिका' के रचयिता स्वामी श्रीविष्णु-शिवानन्दगिरि महाराजने लिखा है कि गीताका यह कथन कि 'केवल कर्ममे ही तुम्हारा अधिकार है, फलमें नहीं, भगवान्‌की अमोघ वाणी है। फल-अफल जो हो उसमें कर्तव्यफलासक्तिरहित होकर हमें केवल कर्म करना चाहिये। इस प्रकारके ज्ञानसे कर्तव्य-कर्म करनेसे फिर कर्मफलकी आशा नहीं रहती। फलाकाङ्क्षा छोड़ देनेका यहाँ अर्थ है कि कामनाका मूलोच्छेदन (जड़से काट कर निर्मूल) कर दिया जाय। परमेश्वरकी सृष्टिका विधान विशाल है। शुभ-अशुभ जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्‌की प्रेरणासे, भगवान्‌की लीला हो रही है। वे ही स्वयं कर रहे या करा रहे हैं। मानव तो क्षुद्र जीव है। परमेश्वरकी वह लीला अनुभव करनेकी शक्ति हमारेमें नहीं है। हमलोग तो भगवान्‌के सृष्ट-जीवमात्र है। हम जिस घटनाको अशुभ सोच रहे हैं, उसीमें भगवद्-विधानानुसार एक सत्संकल्प—शुभ कल्पना निहित है। पर हमारी तुच्छ बुद्धिसे ऐसी अवधारणा होना जल्दी सम्भव नहीं हो पाता। जीवको जो कुछ दुःख-यातना भोगनी पड़ती है, उसे परमेश्वरका दान माननेसे ही फलासक्ति (कर्मफल)से निवृत्ति हो सकती है। कर्मयोगका अन्तिम सोपान है—नैष्कर्म्यसिद्धि। कर्मफल-भोग करनेकी आशा न रखनेसे पुनः संसार-चक्रमें निपतित होनेकी सम्भावना नष्ट हो जाती है। सकाम-कर्म ही बन्धन है। वह आसक्तिसे निवृत्त न होनेके कारण ही ससार-बन्धनकी ओर बढता जाता है। नैष्कर्म्य-सिद्धिका उपायके रूपमें गीतामे निर्ममत्व, भगवच्चरणोंमें प्रीति, कर्म-समर्पण और आत्म-समर्पणके साधन बताये गये हैं।

सकाम साधकोंकी दुर्दशाके विषयमें भर्तृहरिने कहा है—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गमवनं प्राप्तं न किंचित् फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने क्षपाः
सम्प्राप्तश्च वराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्॥

(भर्तृहरिकृत वैराग्यशतक)

'फल-तृष्णाके लोभमें अनेक देश घूमने, शव-साधनादि कर्म एवं नीच-से-नीच सेवाकार्य करनेपर भी क्या मिलता है?, तृष्णा और फलेच्छाके कारण हुई ऐसी दुर्दशा किसीकी भी हो सकती है।' वस्तुतः हम सब तो यन्त्र हैं और भगवान् हैं यन्त्री। वे जैसा चाहते हैं हमारा संचालन करते हैं। हमे भी उनकी इच्छानुसार ही संचालित होना चाहिये। ऐसा भाव मनमें दृढतापूर्वक कर लिया जाय तो स्वय भगवान् ही बाँह पकड़कर जीवको मङ्गल-पथपर ले चलेंगे। फलेच्छारहित शरणागतभावसे भावित हो प्रत्येक कर्म करना कल्याणकामी पुरुषका कर्तव्य है। हमें सब फलाफल भगवान्‌के हाथमें सौंप देने चाहिये। यहाँतक कि अपने कल्याण या मुक्तिकी भी चाह न करे, सर्वथा चाहरहित हो जाय—**मा फलेषु कदाचन**। बस, श्रीभगवान्‌के इन वचनोको सदा स्मरण रखते हुए कर्मक्षेत्रमें संचरण करता रहे, इससे निश्चित ही श्रेयकी प्राप्ति होगी।

योगः कर्मसु कौशलम्

(लेखक—डॉ० श्रीभवानीशंकरजी पंचारिया, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मानव-योनिको दुर्लभ बताया गया है। अनेक जन्मोंके शुभ कर्म और परम सौभाग्यकी सिद्धिपर सौभाग्य-शालियोंको ही 'मानव-तन'की प्राप्ति होती है[1]; कारण कि देवयोनि यद्यपि जीवकी ऊर्ध्वगामी स्थिति कही जाती है, किंतु वह भोगयोनि होनेसे पुण्यक्षीणतापर पुनरावृत्तिकी हेतु होती है। मानव-योनिकी श्रेष्ठता इस बातमें निहित है कि मानवयोनिधारी अपने लक्ष्यानुसार कर्म करनेके लिये अधिकृत है; जबकि श्रेष्ठ देवगण तथा नेष्ट पशु-पक्षी, कूकर-सूकर आदिको यह कर्म-स्वातन्त्र्य-स्थिति अप्राप्त है। जिस प्रकार देवयोनिधारी अपने शुभाशुभ कर्मोंका भोग करके पुनः इस मृत्युलोकमें भेजे जाते हैं, उसी तरह निकृष्ट योनियोंको उनके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार भव-कारागारमें परतन्त्रतापूर्वक अपने किये कर्मको भोगना होता है। देवगण मानव-तनकी उत्कृष्ट कामना प्रायः इसलिये किया करते हैं कि वे स्वर्गीय भोग-पदार्थोंसे ऊब जाते हैं। किंतु दुर्योगकी विडम्बना यह है कि जिस भोगको देवगण भी भवरोग समझते हैं, जीव उसीके दुश्चक्रमें फँसकर मकड़ीके जालेके समान इस योनिमें भी भोगोंको महत्त्व देकर अपने जीवनको व्यर्थ ही खो बैठना है और चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमणकी जालें बुन लेता है। इस अवसरको खोकर फिर कभी कालको, कभी कर्मको और कभी ईश्वरको दोषी मानते हैं[2]। लेकिन मनुष्य अपनी ही जड़ता और मूर्खतावश मानव-तनरूपी पारसमणिके[3] बदले सदुपयोग न करनेकी वजहसे भोग-पदार्थोंका वरण करता है, जो सुखस्वरूप भासते हैं, किंतु वे वस्तुतः भवरोगके कारण होते हैं। यदि मानव अपने दुर्लभ तनकी उपादेयता समझे और अपने ही पुरुषार्थका सहारा लेकर चले तो इसी जीवनमें कर्मोंके बन्धनको छोड़कर जीवन्मुक्त हो सकता है। आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्योंको भलीभाँति समझे और निर्धारित लक्ष्योंकी सिद्धिहेतु सदैव तत्परतासे चले।

मानव-लक्ष्य

१—**असतो मा सद्गमय**—हे शुद्ध ब्रह्मस्वरूपी प्राण! तुम मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ।

२—**तमसो मा ज्योतिर्गमय**—हे नित्य ज्योतिष्मान् प्राण! तुम मुझे अज्ञानान्धकारसे उबार कर ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित कर दो।

३—**मृत्योर्माऽमृतं गमय**—हे अमृतस्वरूपी प्राण! मुझे मृत्युसे उबारकर अमृतत्वकी ओर ले चलो।[4]

'अयं लोकः कर्मबन्धनः'—यह समस्त मानव-समुदाय कर्मोंसे बँधा है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि बन्धनके कारण क्या हैं? क्या कर्म अर्थात् क्या क्रियाएँ बाँधती हैं? कौन-सा ऐसा तत्त्व है जो हमें बाँधता है? यदि सही-सही वस्तुका कारण ज्ञात हो जाता है तो हम उससे अपना बचाव कर सकते हैं। यदि पैरमें काँटा गड़ जाता है तो देखकर उसे हम सुईसे निकाल

१—नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥ बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥ (मानस ७। ४३। ४)

२—सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥ (मानस ७। ४३)

३—काँच किरिच बदले ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं॥
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई। इत्यादि। ४—द्रष्टव्य। (बृहदा० १। ३। २८)

डालते हैं और जूते-चप्पल आदिके प्रयोगसे अपनी रक्षा करते हैं। सामान्य कण्टकोसे वचनेकी अनेक युक्तियॉ हमने खोज निकाली है, तो क्या कर्मोके इस बन्धनसे बचनेकी भी कोई युक्ति या उपाय हमारे पूर्वजोंने आविष्कृत किया है ? जहॉ-जहॉं खतरा होता आया है, मानव बराबर उस खतरेके निदानका हल भी खोजता रहा है। कर्मबन्धनके साथ ही कर्म-मुक्तिकी भी युक्ति हमारे पुराण पुरुषोने, शास्त्रोने निर्देशित की है। कर्म करनेकी एक ऐसी ही प्रणाली है जो कर्ताको कर्मोके शुभाशुभ फलोंकी प्राप्तिसे वञ्चित करके उसे कर्मोके वन्धनसे मुक्त कराती है। यहॉ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मानव कर्मोसे बचनेका कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, वह कभी एक क्षणके लिये भी कर्म करनेसे बच नहीं सकता। सभी प्राणी स्वभावतः कर्म करनेके लिये अत्यन्त विवश है। मनुष्य कर्मोके बन्धनसे बचनेके लिये यदि कहे कि वह कर्म ही नहीं करेगा तो बॅधेगा कैसे ? तो उसका यह तर्क कर्मक्षेत्रमें दुर्बलतम तर्क सिद्ध होता है। यदि हम चुपचाप भी बैठे हैं तो भी कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। चुपचाप बैठना भी कर्म ही है। अस्तु।

कर्मके प्रकारोमें कायिक, वाचिक और मानसिक—ऐसे तीन भेद किये गये हैं। पुनः उन्हे हम नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीन तरहसे विभक्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त न करनेयोग्य कर्म जिन्हे हम त्याज्य कर्म, निषिद्ध कर्मकी सज्ञा देते है—ये सभी कर्मके स्वरूप हैं। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि कर्मोका निषेध स्वरूपतः कर्मबन्धनसे बचावकी युक्ति कदापि नहीं कहा जा सकता है। फिर जिज्ञासा होती है कि कर्मोके करते हुए और उसके शुभाशुभ परिणामोसे बचनेका उपाय है क्या ?

कर्म-बन्धनसे मुक्तिकी विभिन्न विधियाँ— कर्तृत्वभावसे रहित होकर कर्म करो; क्योंकि **'अहं करोति इति अहंकारः'**—मैं करनेवाला हूँ, इस प्रकारका कर्तृत्वाभिमान (Egotism) ही मानव-बन्धनका मूल हेतु है। यह बात कह देना अत्यन्त सरल जान पड़ता है कि अपने मनमें कर्ताभाव मत लाओ, पर इसका निर्वाह करना बहुत कठिन होता है। इसका कारण यह है कि हमने अनेक जन्मोंके संस्कारोसे अपनेको शरीर मान लिया है, जब कि प्रत्यक्षतः हम देखते है कि हम शरीर नहीं हैं। हम शरीरसे पृथक् है, इस भावका उदय होनेपर ही शरीरसे होनेवाली क्रियाओसे हम अपनेको अलग मान सकेंगे। किसीने सुन्दर चित्रका निर्माण किया और यदि वह चित्र नुमाइशमें प्रथम आ गया तो चित्रकार-का अहंभाव बढ जाता है। यदि कोई चित्रकार समझदार है तो वह अपनेको इसका कर्ता न मानकर अपने अंदर बैठे साक्षी चैतन्यको, जो सब जगह सर्वत्र समान है, धन्यवाद देकर चुप रहेगा। व्यावहारिक क्षेत्रमें छोटे-से-छोटे और बडे-से-बड़े कार्योतकके लिये हम अपने अच्छे, भले या बुरे कर्मोसे अपनेको इतना लिप्त करते रहते हैं कि कर्तृत्वके कुसंस्कार हमसे नित्यप्रति अधिक-अधिक परिपुष्ट होते रहते हैं। हनुमान्‌जीने लङ्का जला डाली। सभी राक्षसोको अकेले ही छका दिया। किंतु जब उनकी प्रशंसा की गयी तो उन्होंने इसका श्रेय स्वयंको न देकर 'श्रीरघुनाथजीका ही प्रताप है, इसमें मेरी कुछ भी बड़ाई नहीं है'[1]—कहा। साधारणजन यदि किसी उत्कृष्ट कर्मको सम्पादित कर पाता है तो वह अपनेको उसका हेतु मानकर उस कर्मका अपनेपर अरोपण कर बैठता है। इस कर्तृत्वभाव-को ही (गीता १८। १८ मे)कर्म-बन्धनका, कर्म-संग्रहका प्रधान हेतु बताया गया है।

१—कहु कपि रावन पालित लका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥ (मानस ५। ३२। ३)
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ॥ (मानस ५। ३३। ५)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥

स्पष्ट है कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीन कर्मके प्रेरक हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया—ये तीन, कर्म-सग्रह करानेवाले होते हैं। प्रत्येक कर्मको यदि कर्ताभावसे सम्बद्ध किया गया तो उसके तीन प्रकारोंमेंसे कोई भी फल होगा—शुभ कर्मका फल अच्छा, अशुभका बुरा और शुभाशुभका मिश्रित–अच्छा और बुरा मिला हुआ।[1]

यहाँ हम यदि एक युक्तिका सहारा लेकर अपनेको किसी कर्ममे कर्तृत्वभावसे रहित बनानेमें कुशलता प्राप्त कर लें तो निःसंदेह उसके अच्छे-बुरे या दोनो प्रकारके परिणामसे भी अपनेको मुक्त कर सकते हैं। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि क्रियाका त्याग न करके कर्तृत्वाभिमानका निषेध ही कर्मयोगकी विधि है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा— तू मेरी तरह कर्म कर। जिस तरह मैं अपने कर्मोसे अलिप्त हूँ, तू भी वैसे ही अपनेको अलिप्त रख सकता है। हम भी यदि चाहे तो गीता माताका जो इस कर्ममार्गमें हमारी सही पथ-प्रदर्शिका हैं, अनुसरण कर जीवन-मुक्त बन सकते है। यही तो कर्मोको करनेकी वह कुशल युक्ति है, जिससे कर्म भी करे और उसके फलसे भी बचे रहे।

कर्मफलमें आसक्तिका अभाव—कर्म-कुशलताकी एक अन्य विधि है—अनासक्तभावसे कर्मोका निष्पादन करना। सच पूछा जाय तो कर्मोमें आसक्ति ही कर्ताभावकी जागर्तिका हेतु है। अनासक्त योगियोने इस विधिका सहारा लेकर अपने जीवनमें ही कर्म-बन्धनोसे अपनेको उन्मुक्त किया है। हमें नित्य ही देखनेको मिलता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी आसक्तिसे ही प्रेरित हुआ करती है। सामान्यरूपसे मानव वही कार्य करता है, जिसमें उसको कुछ लाभ-प्राप्तिकी गुंजाइश होती है; जैसे कि व्यापारीकी दृष्टि व्यापारमें सर्वप्रथम लाभपर पहुँचती है, वैसे ही मानव-व्यवहारके पीछे लाभके प्रलोभनका प्रमुख हाथ होता है। कर्मोमें आसक्तिकी जजीर ही वह बन्धन है जो मनुष्यको भव-सागरके दुश्चक्रमें डालनेका हेतु होती है। आसक्तिका मायामकर आज सभी मानव प्राणियोको लुब्ध कर रहा है। माता सीता और काञ्चनमृगकी कहानी हमारी ऑख खोल सकती है। जगत्-जननी पृथ्वी-सुता जानकीने पञ्चवटीमें श्रीरामसे उस कनकमृगके दमकते चर्मसे आकृष्ट होकर उसकी इच्छा की, तो परिणाममें उन्हें सोनेकी लंकाकी अशोकवाटिकामें पूरे एक वर्षका बन्दिनीजीवन व्यतीत करना पड़ा। आज सारे राष्ट्रिय जीवनको कलुषित करनेमें यदि किसीका हाथ हैं तो वह आसक्ति-भावका ही है। हमने अपने कर्म करनेकी सनातन-विधिको, निष्काम कर्मको भुला दिया और उसके बदले सकाम कर्मको अङ्गीकृत कर लिया। यह सकाम कर्म ही कर्मबन्धनका सबसे बड़ा कारण बनाया गया है। अनासक्त कर्मका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हमें भक्तिके क्षेत्रमें दैत्यकुलमें देखनेको मिलता है। महात्मा प्रह्लादके बाद एक-से-एक अनासक्त भक्त हुए जो अपने शरीरतकको पृथक् मानते रहे और मेरे-तेरेके चक्करसे सदैव अलिप्त थे। देवराज इन्द्र और वृत्रासुरके संग्राममें यह कहानी है कि दैत्यकुमार वृत्रासुर अनासक्तभावसे दिव्य तपस्यामें संलग्न था। इन्द्रने समझा अब मेरा इन्द्रपद न बच पायेगा; क्योंकि वह उसी स्तरकी तपस्या कर रहा था। अन्तमें उसने उसकी तपस्याको विफल करनेकी अनेक साजिशे की, किंतु देवेन्द्रको उसमें मुँहकी खानी पड़ी। अन्तमें वह प्रत्यक्ष संग्राम करनेको तैयार हो गये। पर दैत्यकुमार वृत्रासुरने कहा–'तुम संग्राममें मुझे जीत नहीं पाओगे। मैं जानता हूँ कि तुम क्या चाहते हो। तुमने तपस्या करके जिस स्वर्गका राजसिंहासन पाया है, वह मेरी दृष्टिमें पारसमणिके बदलेमें काँचका

१–अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ (गीता १८। १२)

※

टुकड़ा है । मै अपने इस देहको तुम्हारी तृप्तिके लिये वैसे ही दे दूँगा; क्योकि प्रभुसे दूरीका यही अब एक-मात्र कारण रह गया है । अतः देवेन्द्र ! तुम शीघ्रता करो । मेरे शरीरमें प्रवेश कर जल्दी ही इस देहका तुम नाश कर दो ।' धन्य है अनासक्तभावके ऐसे उपासक, जिन्होंने स्वर्गीय भोगोंका निरादरकर आत्म-तत्त्वके साक्षात्कार-हेतु अपनी देहका प्रयोग जप-तप, स्वाध्याय और लोकहितार्थमें उत्सर्ग कर दिया ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था—मेरी कर्म करनेकी यही विधि है कि मैं निष्कामभावसे प्रत्येक कर्म करता हूँ । आत्मतत्त्वोपासक हमेशा अनासक्त-भावसे कर्म करता है । शरीरोपासकके लिये ऐसा सम्भव नहीं होता । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे निष्काम कर्मकी विधि गीता-(२ । ४७)में बतायी—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

इसका निष्कृष्ट तात्पर्य है कि जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है, यदि वह चाहे तो अनासक्त-भावसे कर्म करता हुआ अपने लक्ष्यकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है—मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है और वह कर्मको स्वरूपतः त्याग भी नहीं सकता; क्योंकि प्रकृति उसे कर्म करनेको विवश कर देगी। तृतीय जीवको संसृति-बन्धनसे मुक्ति-हेतु अधिकार दिया है कि वह जीवन्मुक्त हो सकता है। यदि वह जीवनका प्रयोग अन्य कार्यमें करेगा, भोगादिमें फँसेगा तो दण्डित किया जायगा। चतुर्थ कर्म करनेका ही अधिकार दिया है । उसके फलका निर्धारण करनेका अधिकार तो अन्यको है । कर्मोंके फलका *निश्चितीकरण* प्रभुके विधानके अनुसार है । इस दृष्टिसे भी मानवको कर्मोंमें आसक्ति नहीं लानी चाहिये । आसक्तिका प्रत्यक्ष फल भी वह यहीं देखता है । मान लीजिये, आपने पुत्रका पालन इस दृष्टिसे किया कि यह पुत्र भी आपकी सेवा करेगा, परंतु पुत्रने आपकी सेवा नही की; अब आपको दुखी होना पडेगा; किंतु यदि अनासक्तभावसे कर्तव्यबुद्ध्या पालन-पोषण किया है—पिताके दायित्वका निर्वहन किया है, कर्मके लिये कर्म किया है, तो दुखी होनेकी कोई बात नहीं होगी । अतः आशा छोड़कर कर्तव्य करना सर्वोत्तम सिद्धान्त है ।

सचमुचमें फलोंकी आसक्ति या संग ही हमे कर्मोंके जालमें फँसाता है । हमें इस भावमें श्रद्धा और विश्वास करते हुए हृदयमें दृढीकरण करना चाहिये कि—**'करी सब गोपालकी होय ।'** सन्त दादूने भी सचेत करते हुए यही कहा है—

दादू तू कर्ता नहीं कर्ता जन है कोय ।
कर्ता है सो करेगा तू जनि कर्ता होय ॥

समस्त कर्म गुण-विभाग और कर्म-विभागके अन्तर्गत सम्पादित होनेका गीतामें उल्लेख है । आत्माका उससे कोई सरोकार नहीं होता है, वह तो नित्य, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप और स्वयं अकर्ता ही है । उससे कर्म कैसे हो सकते हैं ?

कर्मको अकर्ममें बदलना ही महान् पुरुषार्थ है— गीतामें भगवान्ने कर्मोंके बन्धनसे मुक्तिकी दो सनातन विधियाँ बतायी हैं, जिन्हे उन्होने कर्मयोग और कर्मसन्यास अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गकी संज्ञा दी है । दोनो ही विधियोमें स्वरूपतः कर्म किये जाते हैं, किंतु कर्मयोगके अन्तर्गत अपने मन, शरीर और इन्द्रियादिसे होनेवाली क्रियाओका स्वरूपतः पालन करते हुए उन्हे भगवदर्पण कर दिया जाता है और इस प्रकार जो भी नित्यप्रति क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं उन सबको ब्रह्मार्पण किया जाता है । साथ ही चूँकि वे सब कर्म भगवान्को अर्पित किये जाते है, अतः फलकी आकाङ्क्षा भी नहीं रहती है और कर्ताभावसे उत्पन्न अहंसे रक्षा हो जाती है । इसी तरह अन्य विधि कर्म-संन्यास है । इसमें यह भाव दृढ किया जाता

है कि मैं द्रष्टा, साक्षी स्वयं ब्रह्मस्वरूप चैतन्य हूँ और समस्त क्रियाएँ मेरे द्वारा न होकर इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीरसे सम्बद्ध हैं, जिनसे मेरा कोई तात्त्विक लगाव नहीं है। यहाँ कर्ताभावका अपनेमें आरोपण न करते हुए आत्म-तत्त्वका बोध नित्यप्रति जाग्रत् रखा जाता है। इन दोनो विधियोंमें कर्मका पालन भी होता है और उनके बीजस्वरूप संस्कारोंसे रक्षा होती है। जिस तरह बीजको भुन दिया जाय तो उसमें उर्वरा शक्तिका अभाव हो जाता है उसी प्रकार कर्मसंन्यासमें भी ज्ञानाग्निसे कर्मोंके संस्कारोंको विनष्ट कर दिया जाता है।

निष्कर्ष यह कि मानव दो नावोंपर सवार यात्रीके समान है। एक ओर देह है और दूसरी ओर देही। एकसे लोक-सिद्धि है, दूसरेसे परलोक-परमार्थकी सिद्धि। एक हमें अनात्मघाटकी ओर ले जाती है तो दूसरी आत्मघाटकी ओर। कुशल यात्री वही है जो दोनों ही—लौकिक और पारलौकिक—जीवनकी सिद्धि कुशलतापूर्वक कर ले। कर्मकी यही कुशलता या चतुराई है कि वह कर्मको अपने पुरुषार्थद्वारा अकर्ममें बदल दे। कर्मके कुशलतापूर्वक सचालनकी विधिका हमें सत्संग, सत्-शास्त्रो और सद्भावोंकी जागर्तिसे सिद्धि हो सकती है।

कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी विशेषता

(लेखक—श्रीफतहबहादुरजी सक्सेना)

हमारे भारतमें प्राचीनकालसे ही कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग—ये साधनाके दोनो मार्ग चले आ रहे हैं। सृष्टिके आरम्भमें भगवान्‌ने जब ब्रह्माजीको सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी, तब उन्होंने तप करके मरीचि आदि सात मानस-पुत्रोंको उत्पन्न किया जिन्होने सृष्टिको भलीभाँति चलानेके लिये कर्ममय प्रवृत्तिमार्गका अवलम्बन लिया। ब्रह्माजीके सनत्कुमार आदि मानस-पुत्रोने प्रारम्भसे ही निवृत्तिमार्ग अपनाया था, जो कपिलमुनिके प्रचारसे सांख्य या कर्मसंन्यासमार्ग कहलाया। ब्रह्माजीने मरीचि आदि ऋषियोंद्वारा जो प्रवृत्तिमार्ग चलाया था, उसीसे आगे चलकर कर्मयोगका प्रसार हुआ। महाभारत आदि शास्त्र-ग्रन्थोंने कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों मार्गोको मोक्षप्रद तथा स्वतन्त्र बतलाया है। किंतु इनमें अन्तर यह है कि कर्मसंन्यास या सांख्यमतवाले प्रारम्भसे ही संन्यास-आश्रममें जाकर सांसारिक सब कर्मोको त्यागकर एकान्त वनमें जाकर ब्रह्मकी प्राप्तिमें लगे रहनेका उपदेश देते हैं, जबकि कर्मयोगी भगवान्‌की प्राप्तिके साधन करते हुए भी निष्काम-कर्म लोक-संग्रहकी भावनासे करते रहनेका विधान बताते हैं।

वेदोंके अन्तमें ज्ञानकाण्डका भी वर्णन है; किंतु अधिकांश कर्मकाण्ड होनेसे वैदिकधर्मका प्राचीन स्वरूप कर्मकाण्डमय ही था। उपनिषदोंके ज्ञानके प्रचारसे संन्यासियोंके लिये त्रेतायुगमें कर्मत्यागरूपी संन्यास-मार्गका प्रचलन हुआ; किंतु उस समय भी ज्ञानका कर्मसे संयोग करके जनक आदि ज्ञानी पुरुष आजन्म निष्काम-कर्म करते रहे। इसके पश्चात् स्मृतिग्रन्थोंमें आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ-आश्रमके बाद कर्म-त्यागरूपी संन्यासको ग्रहण करनेपर बल दिया गया है। गीतामे जनकके समान ज्ञानयुक्त कर्मयोगीकी भी बुद्धने महत्ता बतलायी है। मनुस्मृति आदि तथा वेदसंहिता और ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें गृहस्थाश्रमको श्रेष्ठ बतलाकर इसीमें निष्कामकर्म करते रहनेसे मोक्ष मिलना बताया है। याज्ञवल्क्यजीने यद्यपि ज्ञानकी महत्ता बतलायी, किंतु जनक महाराजको निष्काम-कर्मोंका त्याग, संन्यास लेनेका उपदेश नहीं दिया। वेदव्यासजीने तो अपने ज्ञानी पुत्र शुकदेवजीको जनकजीके पास शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजा था। बौधायन आदिके धर्मसूत्रोंमें वर्णन है कि मनुष्य, विशेषकर ब्राह्मणपर जन्मसे ही तीन ऋण रहते हैं, जिनको चुकानेके

लिये उसे गृहस्थाश्रममें यज्ञ-याग आदि करना आवश्यक है और उसीके साथ साधनाद्वारा ब्रह्मलोककी भी प्राप्ति हो सकती है। योगवासिष्ठमें महर्षिने श्रीरामजीको गृहस्थाश्रममें राज्य करते हुए ही निष्काम-बुद्धिसे स्वधर्मका पालन करनेको कहा, जिसका वे आजन्म पालन करते रहे। अतः कर्मयोगकी महत्ता प्राचीनकालसे ही चली आयी है। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदोंका सार मानी जाती है; किंतु इसमें सांख्य या कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनोंको मोक्ष-प्राप्तिका साधन बतलाया है। गीताने ज्ञान और कर्मके साथ भक्तिको भी मिलाकर कर्मयोगपर बल दिया है। उपनिषदोंमें अधिकतर कर्मसंन्यासका वर्णन है, किंतु कई उपनिषदें भी केवल ज्ञान या कर्म-त्यागसे ही मोक्षकी प्राप्ति नहीं बतातीं। ईशावास्य उपनिषद् एक प्रधान उपनिषद् है। इसके प्रथम मन्त्रमें कहा है कि यह जगत् परमेश्वरसे ही अधिष्ठित है। दूसरे मन्त्रमें आता है कि अपने जीवनके एक सौ वर्ष निष्काम-कर्म करते हुए व्यतीत करनेकी इच्छा रखो। इसका नवाँ मन्त्र है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥

अर्थात् 'जो मनुष्य केवल अविद्या यानी कर्ममें ही लगे रहते हैं, वे मृत्युके पश्चात् अन्धकारयुक्त लोकोंमें जाते हैं; किंतु जो निरी विद्या यानी ज्ञानमें जीवन व्यतीत करते हैं वे उससे भी अधिक अँधेरे लोकोमे जाते है।' फिर ग्यारहवे मन्त्रमें कहा गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

'जिसने विद्या यानी ज्ञान और अविद्या यानी कर्ममार्ग दोनोको एक साथ जान लिया, वह अविद्यासे मृत्युलोक—संसारको सहजहीमें पारकर विद्यासे अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है।' अतः इसमें ज्ञानयुक्त कर्म यानी कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है। बृहदारण्यकोपनिषद्में जनककी कथा कहकर ज्ञान होनेपर भी निष्कामकर्म करनेकी प्रेरणा दी है। मैत्रेयोपनिषद् एवं कठोपनिषदोंमें भी इसी मार्गका समर्थन किया है। हारीतस्मृति और नृसिंहपुराणमें भी ज्ञान और कर्मके योगसे मोक्षप्राप्त होना बताया है।

वर्तमानयुगमें शंकराचार्यजी ज्ञान अर्थात् संन्यास-मार्गके प्रवर्तक माने जाते हैं। उनका मत है कि ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर कर्म-संन्यास उचित है। अन्य सन्यास-मार्गी भी कहते हैं कि कर्मसे बन्धन होता है। अतः जिसे आत्मज्ञान हो गया, उसे सांसारिक कर्मत्याग करके वन या एकान्तमें रहकर ब्रह्मकी उपासनामें ही लगे रहना चाहिये। शकराचार्यजीने वैदिक ज्ञान-मार्ग, वेद और **'अहं ब्रह्मास्मि'**—अद्वैतका प्रचार किया, किंतु वे भी कर्म-संन्यासी होकर वनमें जाकर ब्रह्म-ज्ञानमें ही न लगे रहे। उन्होंने ज्ञानमार्गके अनेक ग्रन्थ लिखे और मण्डन मिश्र आदि पण्डितो तथा बौद्धोंसे शास्त्रार्थ भी किया। वैदिक-ज्ञानका प्रचार करते हुए भी उन्होने चारों दिशाओमें चार प्रमुख मठोकी स्थापना की और पञ्चदेवोकी पूजा भी बतलायी।

इससे ज्ञात होता है कि आत्म-ज्ञान होनेके पश्चात् भी वे लोक-कल्याणके लिये निष्कामकर्म करनेके विरोधी न थे। फ्रांसके काण्ट आदि धार्मिक पुरुषोका मत है कि मनुष्यके कर्मयोनि होनेसे तत्त्वज्ञ पुरुषोको लोक-कल्याणके कर्म त्यागकर केवल ब्रह्मोपासनामें लगे रहना श्रेष्ठ नहीं है। जर्मनीके निट्शेने तो ऐसे कर्म-संन्यासियोको मूर्ख बताया है।

कर्म-सन्याससे कर्मयोगकी विशेषता बतलानेमें श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका मत स्पष्ट है। जब अर्जुनने अपने गुरुजनो और परिवारके मोहसे उनको युद्धमें न मार करके कर्म-सन्यास लेनेको कहा तो

श्रीकृष्णने गीताके २-३-४ अध्यायोंमें उसे सांख्य (कर्मसंन्यास) तथा कर्मयोग दोनोंके सिद्धान्त विशद रूपसे समझाये। दूसरे अध्यायमें श्लोक ४६में कहा कि ज्ञानीको कर्मकी आवश्यकता नहीं रहती और अन्तमें स्थितप्रज्ञताको श्रेष्ठ बताया। फिर तीसरे अध्यायमें कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। चौथे अध्यायमें द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको अच्छा कहकर यह भी बताया कि ज्ञानसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं (४। ३३—३७)। किंतु अन्तमें ज्ञानयुक्त कर्म करनेको कहकर युद्ध करनेको कहा। इसपर पाँचवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुन श्रीकृष्णसे निवेदन करते हैं कि आप कभी ज्ञान यानी कर्म-संन्यासको और कभी कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाते हैं। इससे मुझे आप अब स्पष्ट बतलाइये कि इन दोनों मार्गोंमें कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। तब श्रीकृष्णभगवान् दूसरे श्लोकमें स्पष्टरूपसे कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

यानी कर्म-संन्यास एवं कर्मयोग दोनोंसे यद्यपि मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है, किंतु इन दोनो मार्गोंमें कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी विशेष योग्यता है। आगे वे कहते हैं कि मोक्ष-प्राप्तिकी दृष्टिसे तो सांख्य (कर्मसंन्यास) तथा कर्मयोग दोनों समान हैं, किंतु कर्मयोगका आचरण किये बिना संन्यास प्राप्त करना कठिन है। इस कारण कर्मयोगके व्यवहारके साथ-साथ साधना करनेसे भगवान्‌को शीघ्र एवं सरलतासे प्राप्त किया जा सकता है।

गीतामें श्रीकृष्णभगवान्‌ने किसी भी साधनाके मार्गका विरोध नहीं किया है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदायके लोग इसे अपना शास्त्र मानते हैं। भगवान् गीतामें कर्मसंन्यासको भी बुरा नहीं बताते, किंतु व्यवहार और लोकसंग्रहकी ही दृष्टिसे कर्मयोगको कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ बतलाते हैं। तीसरे अध्यायमें वे कहते हैं कि सांख्यमार्गी जो मोक्षके लिये सब कर्मोंका संन्यास करनेको कहते हैं, वह ठीक नहीं है। कर्मोंका नितान्त त्याग किसी भी देहधारीके लिये सम्भव नहीं है; प्रकृतिके गुण सदैव किसी-न-किसी कर्ममें लगाये रहते हैं। उठना-बैठना, खाना-पीना, या भिक्षा माँगने आदिके कर्म जो कर्म-संन्यासियोंको भी करने पड़ते हैं, वे भी कर्मकी श्रेणीमें ही आते हैं। किंतु जो कर्मेन्द्रियोंसे अन्य कर्म न करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनको न ज्ञानकी प्राप्ति होती है और न मोक्षकी। अतः जो मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तबुद्धिसे अपने स्वधर्मको कर्तव्य समझ करके फलाशात्यागको जीवन-पर्यन्त अनुष्ठित करता रहता है, वही कर्मयोगी श्रेष्ठ माना जाता है। कर्म-संन्यासी जो यह कहते हैं कि कर्मोंसे बन्धन होता है और उनके त्यागसे ही मोक्ष होता है, वह भी ठीक नहीं है। केवल कर्मोंके त्यागसे ही उन्हे मोक्ष नहीं होता, किंतु साधना-द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेपर ही मोक्ष सम्भव है। फिर मनुष्य कर्म न करे तो शरीर एवं जीवनका निर्वाह भी नहीं हो सकता। इसीसे ब्रह्माजीने सृष्टिकी रचना करके प्रवृत्तिमय यज्ञ-चक्र भी चलाया, जिससे मनुष्य और देवता आपसी सहयोगसे एक दूसरेका कल्याण करते रहें। यज्ञसे बचा हुआ अन्न ही ग्रहण करनेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त होता है। चौथे अध्यायमें श्रीकृष्णने जैमिनि आदि मीमांसकोंके इस कथनका भी निष्कामताका योगकर समर्थन किया है कि जप, यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको भी जो निष्काम बुद्धिसे फलाशा त्यागकर करते हैं, उन्हे उनसे बन्धन नहीं होता और निष्कामतासे अन्तःकरण निर्मल होकर मोक्ष भी मिल जाता है। ऐसे ही निष्काम-कर्मोंके निष्ठागत होनेपर कर्मयोग सम्पन्न होता है, जिसको कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ माना जाता है।

साधकोंकी दृष्टिसे भी कर्म-सन्यासकी अपेक्षा कर्म-योगसे ही भगवान् या मोक्षकी प्राप्ति सरल होती है। उनके लिये मन एव इन्द्रियोको वशमें करके सब कर्मोको त्यागकर निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करना अति कठिन है। पूर्ण ज्ञानी महात्मा ही इन्द्रियोंसे कुछ भी न कर अपनी आत्मशक्तिसे सब कुछ कर सकते हैं; किंतु साधारण साधकोंको इन्द्रियोंसे कुछ न करके मनको एकाग्रकर परमात्माकी उपासनामे लगाना सम्भव नहीं होता। गीताके बारहवे अध्यायके पॉचवें श्लोकमें इस ज्ञानमार्गको अत्यन्त क्लेशकर बताया है। साधकोंके लिये तो अपनी इन्द्रियोंको भगवान्‌की पूजा या भक्तों, निर्धनो तथा रोगियों आदिकी सेवामें लगाकर मनको एकाग्र करना सरल होता है। निषिद्ध-कर्मोंको त्याग निष्कामतासे किसी भी परोपकारके कर्ममें लीन हो जानेसे इन्द्रियाँ और मन अपने-आप वशमें हो जाते हैं और अन्तःकरण शुद्ध होकर कुछ ही समयकी साधनासे ही उन्हे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार कर्मयोग साधन और साध्य दोनो है, जब कि कर्म-संन्यास केवल साध्य ही है।

कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनोमें ज्ञानकी प्रमुखता है, किंतु कर्मसंन्यासीको यदि ज्ञानकी प्राप्ति न हो तो उसकी सब साधना व्यर्थ जाती है; पर कर्मयोगीको परोपकार आदि निष्काम-कर्मोंसे ज्ञान न भी हो तो भी उसके द्वारा दूसरोके कल्याण होनेसे मृत्युके पश्चात् उसे कम-से-कम स्वर्गकी प्राप्ति तो अवश्य ही होती है; क्योंकि दुराचार या निषिद्ध कर्म उससे होते ही नहीं है।

कर्म-संन्यासी कहते है कि गृहस्थ और सांसारिक कर्मोंको त्यागकर एकान्त वनमें जाकर ही निर्गुण साधनासे ब्रह्म या मोक्षकी प्राप्ति होती है। किंतु प्रायः देखा जाता है कि जिसका मन गृहस्थ-जीवनमें एकान्त स्थानकी साधनामें नहीं लगता, उसका मन कर्म त्यागकर वनमें भी नहीं लगता। वनमें भी उन्हे धन या परिवारकी चिन्ता लगी रहती है और वहाँ भी कुटिया व लंगोटी आदिमें ही आसक्ति होने व अन्य संन्यासियोंकी उन्नतिमें द्वेष होनेसे उनको आत्मज्ञान नहीं हो पाता। जैसे-तैसे यदि वनके एकान्तमें मनको एकाग्र भी कर लिया तो उन्हें यह ज्ञात ही नहीं हो पाता कि उनके मनके काम, क्रोध आदि विकार दूर हुए या नहीं। जब वे भिक्षाको कभी बस्तीमें आते हैं तो तनिकसे उद्वेगसे वे काम या क्रोध आदिके शिकार हो जाते हैं।

पुराणोंमें एक कर्म-संन्यासी ब्राह्मणकी कथा है। कुछ ज्ञान प्राप्त होनेपर जब वह भिक्षाके लिये निकला तो प्रथम बस्तीके निकट एक वृक्षके नीचे बैठ गया। किसी पक्षीने वहाँ उसपर बीट कर दिया तो उसने क्रोधसे उसकी ओर देखा, जिससे वह पक्षी भस्म हो गया। अपनी इस सिद्धिके अभिमानसे वशीभूत हो जब वह किसी पतिव्रता स्त्रीके घर भिक्षा मॉगने गया और पतिकी सेवामें लगी होनेके कारण उसे भिक्षा देनेमें कुछ देर हो गयी तो उस स्त्रीपर भी वह क्रुद्ध हो उठा। इसपर उस पतिव्रताने नम्रतासे कह दिया कि आपका क्रोध एक पक्षीपर लागू हो जानेकी भॉति निष्काम सेवा करनेवाली एक पतिव्रता स्त्रीपर नहीं चल सकता। आपको यदि निष्काम कर्मयोगकी अधिक महत्ता जाननी हो तो दूसरी बस्तीमें एक व्याधके पास जाइये जो मांस बेचता है। पतिव्रता स्त्रीके घर-बैठे ही अपने द्वारा पक्षीके भस्म हो जानेकी बात जान लेनेपर ब्राह्मण-को बडा आश्चर्य हुआ और वह इसी जिज्ञासासे दूसरी बस्तीमें व्याधके पास गया। व्याधने उस ब्राह्मणको देखते ही कहा कि आपको क्या उस पतिव्रता स्त्रीने भेजा है। आप तनिक समय ठहरिये। मै अपने ग्राहकोको निबटाकर घर चलकर भिक्षा दूँगा और आप-की जिज्ञासाका भी समाधान करनेका प्रयत्न करूँगा। तब ब्राह्मण आश्चर्यसे मौन हो थोड़ी देरमें उस व्याधके साथ उसके घर गया। वहाँ माता-पिताकी सेवा करनेके पश्चात् व्याधने उस कर्म-संन्यासीको उसके योग्य भिक्षा

देकर कहा कि हम अपढ़लोग तो अपने माता-पिताकी केवल कर्तव्य-भावनासे सेवा करते हैं और स्वधर्मका निष्कामतासे पालनकर सबके साथ ममताका व्यवहार करते हैं। इसीसे भगवान् हमको सब कुछ प्रदान कर देते हैं। यह जानकर वह ब्राह्मण कर्मयोगकी महत्ता समझकर अपनी कुटियामें साधनाके लिये चला गया। अतः मनके छिपे हुए विकारोंको दूर करनेके लिये कर्मयोग कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ है; क्योंकि गृहस्थी व संसारमें रहकर स्वधर्मका पालन करनेसे मनकी दशाका साधकको शीघ्र पता चल जाता है; जिससे वह अपने सब विकारोंको धीरे-धीरे दूरकर अपने मनको निर्मल बना सकता है। निर्मल मन ही शीघ्र एकाग्र हो मोक्ष या भगवान्‌की प्राप्ति कराता है; जैसा कि 'मानस'के भगवान् श्रीरामने कहा है—'निर्मल मन जन सो मोहिं पावा।'

श्रीकृष्णभगवान्‌ने गीताके अठारहवे अध्यायमें जो संन्यास और त्यागके विषयमें अर्जुनको समझाया है, वहाँ भी संन्यासको ज्ञानीलोगोंद्वारा सब या काम्य-कर्मोंको छोड़ देना और त्यागको कर्मयोग (यानी फलाशात्यागरूपी निष्काम बुद्धिसे आजीवन लोक-कल्याणके कर्म करते रहना) बताया है। संन्यासीके तो विवेक व वैराग्यमें राग-द्वेष व आसक्ति आदि दोष दूर हो जाते हैं और उनको लोक-कल्याणकी चिन्ता ही नहीं रहती; क्योंकि वे संसारको मिथ्या समझते हैं। किंतु कर्मयोगीमें प्रारम्भमें ज्ञानवैराग्य तो उतना होता नहीं, वह तो निष्काम सेवा करते-करते यह समझने लगता है कि भगवान्‌ने जो मुझे यह धन, सम्पत्ति, योग्यता आदि दिये हैं, वे दूसरोंको कल्याण करनेके लिये दिये हैं। यह शरीर भी मुझे प्राणिमात्रकी सेवाके लिये मिला है। ऐसी परमात्म-भावना होनेसे और संतोंकी सेवासे कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक आ जानेसे उसके सब कर्म भक्ति-ज्ञानयुक्त अपने-आप होने लगते हैं। उसके किसी काममें स्वार्थकी भावना तो होती ही नहीं। वह अपने शरीर एवं भोग्य पदार्थोंको भी अपना नहीं मानता और अपने सब कर्मोंको सेवा-भावनासे ही करते रहनेसे उससे राग-द्वेष-आसक्ति व फलाशा और कर्तव्य अभिमानका स्वयं सुतराम् त्याग हो जाता है, जिनके लिये कर्म-संन्यासीको कठिन साधना करनी पड़ती है। कर्मयोगीमें स्वार्थ न होनेसे वह निषिद्ध कर्म तो करता ही नहीं। वह अपने सब कर्म शास्त्रोंके धर्मानुसार करता है, जिससे उसमें वैराग्य-भावना स्वतः आ जाती है; जैसा संत तुलसीदासजी मानस (३।१५) में कहते हैं—'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना'। वह समदृष्टिसे अपनी सब सुख-सम्पत्तिका त्यागकर लोक-कल्याणके कार्य फलाशारहित होकर किया करता है। अतः गीता-(१२।१२) के अनुसार कर्मयोगीको कर्मफलके त्यागसे शीघ्र ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। निष्कामतासे उसका मन एवं इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं, जिससे राग-द्वेष-रहित कर्तव्य-पालन एवं फलासक्तिके त्यागसे उसे गीता-(२।६४)के अनुसार आनन्द भी मिलता है। इस प्रकार कर्मयोगीके सब दुःख दूर होकर मनके अपार सुख एवं शान्तिसे उसे स्वतः ही जीवन्मुक्त अवस्थाका अनुभव सरलतासे हो जाता है (गीता २।६५)।

कर्मयोगी सब प्राणियोंमें भगवान्‌की ही भावना रखता है और जीवन्मुक्त अवस्थामें भी वह जनककी भाँति संसारमें रहकर भी निष्कामतासे लोकसंग्रहके लिये सब कर्म करता रहता है जिससे जन-साधारण उसके दिव्य आचरणोंका अनुकरण करके उसके समान बननेका प्रयत्न करते रहते हैं; जबकि कर्मसंन्यासियोंसे संसारी मनुष्योंको अपने आचरण सुधारनेका न अवसर मिलता है और न प्रेरणा ही। प्राचीनकालकी भाँति आजकल वनोंमें तो इतने कन्दमूल, फल आदि मिलते नहीं, जिनसे संन्यासी अपनी क्षुधाको भी शान्त कर सकें। उनको

अपने जीवन-निर्वाहके लिये गृहस्थलोगोंपर ही निर्भर रहना होता है। अतः गृहस्थोंके इस आभारसे उऋण होनेके लिये कर्म-संन्यासियोंको उनके हित एवं कल्याणके लिये कुछ कर्म करना आवश्यक है; वरना वे शास्त्रानुसार अकर्तव्यके भागी होते हैं। अतः संन्यास-आश्रममें भी ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् गीताके अनुसार महात्माओंको काम्य कर्मोंको त्याग लोक-कल्याणके निष्कामकर्ममें लगना योग्य माना जाता है। अतः भगवान् श्रीकृष्णने गीताके पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें कर्म-संन्याससे कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है।

निष्काम कर्म-साधन-पद्धतिकी महिमा

(लेखक—पं० श्रीनारायणदासजी पहाड़ा)

कुछ पानेके लिये सिर देनेकी बात तो सभी जानते हैं। वीरोंके इतिहासोंमें इसकी कमी नहीं है। पर निष्काम सेवाभावसे विद्यादानार्थ सिर देनेकी बात सबको आश्चर्यजनक प्रतीत होगी। पर है यह एक तथ्य। नीतिकार श्रीवादिवेद कहते हैं—

शीर्ष्णोऽपि कर्तनं सह्यं विद्यां दातुं प्रबुद्धिभिः।
दध्यङ् मधुप्रदानार्थं तत्याज शिरसो द्वयम्॥
(नीतिमञ्जरी ४३)

'अर्थात् प्रबुद्ध पुरुषको अपनी विद्या सिखलानेके लिये, सत्पात्र शिष्यमें उसका आधान करनेके लिये यदि सिर भी कटाना पड़े तो हँसते-हँसते सह लेना चाहिये। आथर्वण दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमार-जैसे सत्पात्रको मधुविद्याका दान करनेके लिये एक बार सिर कटाकर घोड़ेका सिर लगाये, पुनः भी कटाये और अपने पूर्व सिरको जुड़ाये।।'

धर्मारण्यक्षेत्रमें साभ्रमती (साबरमती) नदीके तटपर एकान्त भवनमें दध्यङ् ऋषि-(दधीचि मुनि-) का गुरुकुल प्रतिष्ठित था। वहाँ देशके कोने-कोनेसे कितने ही साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी जिज्ञासु 'मधुविद्या' सीखनेके लिये आया करते थे। अभीतक कितने ही अधिकारी दध्यङ् ऋषिसे यह विद्या सीखकर भवसागरसे पार हो गये और आज भी कितने ही सत्पात्र उनसे यह विद्या पा रहे थे। वहाँका वातावरण इतना प्रशान्त, निर्मल और आप्यायक था कि पृथ्वीके दूसरे किसी छोरपर खोजनेपर भी बहुत कठिनाईसे ही मिल सकता था। प्रकृति भी मानो आश्रमकी सेवाके लिये सदैव हाथ जोड़े खड़ी रहती थी। जिस समय जिस ऋतुकी विशेष वस्तु अपेक्षित हो, असमयमें वह वहाँ सुलभ कर देती थी। तीनों ओर वनराजियोंसे घिरे उस आश्रममें तरह-तरहके वृक्ष सुमधुर फलों एवं सुवासित पुष्पोंसे लदे दिखायी पड़ते। एक ओर निर्मल-सलिला साभ्रमती अपना कल-कल निनाद करती बहती थी। आश्रममें चारों ओर गाय और शेर साथ-साथ पानी पीते और ऋषिके समभावकी साक्षी दिया करते थे। आश्रममें एक ओर ऋषिका निवास और उसीके सटी उनकी अग्निशाला थी तो दूसरी ओर गुरुकुलके शिक्षार्थियोंके सात्त्विक आवास। आश्रमके बीच बहुत बड़ी पर्णशालामें ऋषि अपने शिष्योंको मधुविद्याका उपदेश देते।

एक दिन इन्द्रने उनसे आकर कहा—मैं देवराज इन्द्र हूँ। ज्ञात हुआ है कि आप मधुविद्याका उपदेश करते हैं, जिससे प्राणी सर्वदुःख-निर्मुक्त हो जाता है। स्वर्गमें कहीं भी वह सुलभ न होनेसे जगतीपर मुझे आपके पास आना पड़ा। आप मुझे वह विद्या सिखा दें।

ऋषि अध्ययनार्थ उपस्थित शिष्योंसे यह कहकर कि आज अतिथिके आगमनसे अनध्याय है—**'शिष्टागमनेऽनध्यायः,'** अतः आपलोग अन्य कार्य करें, और

वे देवराजको साथ ले उन्हे उपदेशार्थ अग्निशालामें ले आये। उपदेश ग्रहणकर चलते समय इन्द्रने इसे किसी अनधिकारीको न देनेकी प्रार्थना कर विदा ली।

एक दिन ऋषि दध्यङ् विचारमुद्रामें बैठे थे कि लोकोत्तर सौन्दर्यशाली दो युवक उनके निकट आये और भक्तिभावसे प्रणाम कर बैठ गये, ऋषिने उनका परिचय पूछा! आगन्तुकोंने कहा—ऋषे! हम अश्विनी-कुमार हैं। अवतक हमलोग कभी असत्य नहीं बोले और न किसी तरहकी पीड़ा किसीको दी है, हिंसा करना तो दूर रहा, जहाँतक बना प्राणिमात्रकी सेवा, उपकार करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी। हमें चिकित्साशास्त्र आता है। स्वर्गसे लेकर मर्त्यलोकतक जो भी पीड़ित स्मरण करते हैं, हम तत्काल पहुँच जाते हैं और सेवा-चिकित्साद्वारा उन्हें स्वस्थ बना देते हैं। अश्वियोंने आगे कहा—ब्रह्मन्! हमारी यह मानव-सुलभ सर्वसाधारणकी सेवा-प्रवृत्ति देख देवराज देवजाति होनेपर भी हमें हेय दृष्टिसे देखते और अभीतक यज्ञमें भाग नहीं देते हैं। आपको पता ही होगा कि कुछ दिन पूर्व हमलोगोने च्यवन ऋषिको वृद्धसे नवयुवक बना दिया तो ऋषिने कृतज्ञतावश हमें **'सोमपायी'** बनाया। तब देवराजको भी विवशतः उसे मानना पड़ा। पर ऋषे! इतना सब होते हुए भी आत्मविद्याका ज्ञान न होनेसे हमें अपने देवत्वमें भारी न्यूनताका अनुभव हो रहा है। पता चला कि आप 'मधुविद्या'के आचार्य हैं। हम विनीत शिष्य आपकी शरण आये हैं, हमें यह ज्ञान प्राप्त कराकर कृतार्थ करें। ऋषिको यह निश्चय हो गया कि आजतक मेरी इस विद्याको ग्रहण करनेवाला इनसे बढकर कोई पात्र नहीं मिला। यह देख उन्हे प्रसन्नता हुई। वे जानते थे कि सत्पात्रमें आहित विद्या सुक्षेत्रमें बोये गये बीजोकी तरह शत-सहस्रगुणित होकर फलती है।

इसपर ऋषिने सखेद अश्विनीकुमारोंके समक्ष अपनी विवशता व्यक्त की। कुमारोंने कहा—'ऋषे! इस घटनाका हमें भी पता है। पर हम वैद्य हैं। आपका सिर काटकर अलग रख देंगे और उसके स्थानपर अश्वका सिर लगा देंगे। आप उसी अश्व-सिरसे हमें मधुविद्याका उपदेश दें। यदि इन्द्रने क्रोधवश उसे काट दिया तो हम पुनः आपका वास्तविक सिर जोड़ देंगे।'

फिर अश्विनीकुमार एक अश्वका सिर लेकर पहुँचे। कुछ ही क्षणोंमें ऋषिके धड़पर अश्वका सिर शोभित होने लगा। दर्शक यह देख अवाक् रह गये। लोगोंने अश्वमुखसे कुमारोंके लिये आशीर्वादके शब्द सुने। कुमारोने अपनी शल्यक्रियासे उसका ऐसा संयोजन कर दिया कि लगता ही न था कि सिर जोड़ा गया है।

त्वष्टाके एकान्त गृहमें ऋषि अश्वि शिष्योंको मधुविद्याका रहस्य समझाने लगे—'स्थूलसे सूक्ष्म समस्त जागतिक पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारक-भावसे एक दूसरेमें अनुस्यूत हैं। पृथ्वी प्राणिमात्रके लिये मधु है तो प्राणि-मात्र पृथ्वीके लिये। पृथ्वीमें तेजोमय, अमृतमय पुरुष है और दोनों समस्त पदार्थोंके उपकारक हैं। अतएव ये मधु हैं समस्त पदार्थोंके लिये और पदार्थ मधु हैं इनके लिये। जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, विद्युत्, मेघ सबके लिये ही नियम लागू हैं। धर्म और सत्य भी इसी प्रकार जगत्के परस्पर उपकारक होनेसे परस्परके लिये मधु हैं। धर्म और समग्र वर्णोंके बीच परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव परस्पर मधुत्व है तो सत्य और सूर्य-चन्द्रादि समस्त भूमण्डल एवं तदन्तर्गत प्राणिमात्रके बीच भी पारस्परिक मधुत्व है।

ऋषि दध्यङ्की स्वानुभूति-विद्या अश्विनीकुमारोंके विशुद्ध अन्तःकरणमें सर्वाशतः प्रतिफलित हो उठी और वे कृत-कृत्य हो गये। पर ज्यों ही अश्विनीकुमारोको मधुविद्याका उपदेश हुआ त्यों ही ऊपरसे इन्द्रका छोड़ा वज्र आया

और लोगोंके देखते-देखते ऋषिके उस अश्व-सिरको धडसे अलग कर दिया। अज्ञात प्रदेशमें उछलकर वह अन्तर्धान हो गया। उन्होंने देखा, गुरुने सिर कटाकर शिष्यको विद्या दी, यह सब एक क्षणमें हो गया। सर्वत्र हाहाकार मच गया।

कुमारोंने सबको शान्त करते हुए कहा—शान्त रहो, सब ठीक हो जायगा। पुन: यवनिका-पतन हुआ और पाँच क्षणमें ही पटपरिवर्तन हो गया। लोगोंने देखा कि कुमारोंकी शल्य-चिकित्साकी कुशलतासे पुन: ऋषिका वास्तविक सिर उनके धड़से पूर्ववत् प्राकृतिक रूपमें जुट गया। दोनो कुमार गुरुदेवके पावन चरणकमलोंपर नतमस्तक थे।

लोगोका आश्चर्य तो तब और बढ गया, जब इसके कुछ ही क्षणो बाद देवराज इन्द्र ऋषि दध्यङ्के चरणोपर लोट रहे थे। वे हाथ जोड़कर कहने लगे—गुरुदेव! देवराजके अनन्त अपराध क्षमा करे। दुर्लभतम मधुविद्या देकर उसे ठीकसे सँभालनेकी सलाह देते हुए गुरुपर आपका यह क्षुद्र शिष्य क्रुद्ध हो उठा और उसने अपना क्रोध अपने वज्रसे आपका वध करके ही शान्त किया। ऐसे पापीके लिये गुरुदेवकी अद्भुत शिष्य-सुलभ कृपा देख गड़ा जा रहा हूँ। गुरुदेव! मुझे क्षमा कर दे। मेरे वज्रद्वारा कटा आपका वह अश्व-सिर शरणावत पर्वतके सरोवरमें गिर पड़ा है। वह जलसे ऊपर उठकर प्राणिमात्रको विविध वरदान देगा और युगपर्यन्त उसी जलमें पड़ा रहेगा।

ऋषि दध्यङ्ने कहा—देवराज! रोष मुझे न तब था और न अब ही है। क्या अपने पुत्र कल्पशिष्यपर कभी गुरु विनाशकारी क्रोध कर सकता है? क्रान्तदर्शी ऋषिने कहा—आपद्वारा काटा गया मेरा वह अश्व-सिर आगे वृत्रवधके समय आपके काम आयेगा और विश्व-मङ्गलका साधक बनेगा। देवेन्द्र और अश्विनीकुमार प्रणाम कर चले गये और साध्वी ऋषि-पत्नी ऋषिका हाथ पकड़कर मध्याह्न-कृत्यके लिये आश्रमकी ओर मुड़ी।

एतदर्थ निष्कामकर्म कर ऋषि दध्यङ् ससारमें अपनी कीर्तिका सूर्य उदित कर गये, जो युग-युगतक सदैव देदीप्यमान होता रहेगा।

कर्मयोगके आलोकमें कर्मतत्त्व

जीव कर्मोंके बन्धनमें बँधा हुआ है। वास्तवमें जीवकी क्रमोन्नतिके मार्गमें सहायक उसके अपने ही कर्म हैं। कर्मके तीन भेद हैं—(१) सञ्चित, (२) क्रियमाण और (३) प्रारब्ध। जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके समूहको सञ्चितकर्म कहा जाता है। जो कर्म वर्तमानमें किये जाते हैं, उनका नाम क्रियमाण-कर्म है। जीवके जन्मान्तरमें कृत (सञ्चित) कर्मोंमेंसे जितना भोग इस जन्मके लिये छँटकर आरम्भ हो जाता है—वह प्रारब्ध है। (फलोन्मुख सञ्चितकर्म ही प्रारब्धकर्म कहा जाता है।) प्रारब्धका भोग जीवको भुगतना ही पड़ता है—*'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।'* किंतु सञ्चितकर्म चाहे कितने ही बड़े पर्वतके समान हों, ज्ञान प्राप्त होनेपर ज्ञानाग्निमें दग्ध हो जाते हैं—*'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन'* प्रारब्धकर्म वर्तमान शरीरके रहनेतक रहते हैं। रहा क्रियमाण-कर्म तो इस सम्बन्धमें शास्त्रका आदेश यही है कि स्वार्थबुद्धिसे कोई कर्म नहीं करना चाहिये। यही निष्काम कर्मकी जड़ होकर कर्मयोगकी दिशामें मोड़ देता है। विश्व-कल्याण त्याग, परोपकारसे प्रारम्भ होकर अहंकारके विलीनीकरणमें कर्त्तव्य बन जाता है—जहाँ कर्मयोगका दिव्य प्रकाश फैल जाता है। 'निःश्रेयस' तो कर्मयोगीके धर्म्य कर्त्तव्यका अयाचित, अमित परिणाम है—कामनामूलक फल नहीं।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि

(लेखक—पं० श्रीमहावीरप्रसादजी त्रिपाठी)

कर्म शब्दके उस भावको, जिसे गीताकारने ग्रहण किया है, समझ लेनेपर कर्मयोगकी निष्कामता स्वतः सिद्ध हो जा सकती है। **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** कहकर श्रीभगवान्‌ने कर्मको वेदोंद्वारा निर्दिष्ट अथवा उत्पन्न बतलाया है।* भले-बुरे कर्मोंसे ही व्यक्तिका परिचय मिलता है। आशय यह है कि कर्मके बिना लोकमें हमारा होना-न-होना बराबर है। संत तुलसीदासने इसी भावको अपनी सरल और बोधगम्य शैलीमें कह दिया है—'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा'। गीताकारने भी इसे जीवनके लिये अनिवार्य घोषित करते कहा है—**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म'** अर्थात्—मनुष्य प्रत्येक अवस्थामे कर्म करनेके लिये विवश है। इसीलिये गीतामें अर्जुन नारायण श्रीकृष्णसे यह सीधा प्रश्न करते हैं **'किं कर्म ?'** (८।१)। भगवान् श्रीकृष्ण भी उतना ही सीधा और संक्षिप्त उत्तर देते हैं—**'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'** (८ । ३)—प्राणियोंके भावको उत्पन्न करनेवाले शास्त्र-विहित यज्ञ-दान, हवनादि कृत्य कर्म हैं। गीताने जिस विसर्गशक्तिको कर्मकी संज्ञा दी है उसकी महिमा हमारे ऋषियोंके उद्गारोंसे भी व्यक्त होती है। मीमांसक परमात्माको 'कर्म' शब्दसे ही सम्बोधित करते हैं। सत कवि श्रीभर्तृहरि भी 'कर्म'का सार्वभौमत्व स्वीकारते हुए **'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।'** (नीतिशतक ९२) कहकर उसकी स्तुति करते हैं।

मानव-जीवनमें कर्मकी इतनी महत्ता और मनुष्यसे कर्मका इतना अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी गीता (१८ । १४) मनुष्यको कर्मका कर्ता माननेके लिये तैयार नहीं है। उसका स्पष्ट कथन है कि **'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।'** और उस प्रकृति-द्वारा कर्मके साधनरूप उपयोगमें लाये हुए उसकी सिद्धि-हेतु पाँच सूक्ष्म कारणोंको मान्यता देती है—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

कर्मके पीछे कर्ताका कर्तृत्व पञ्चमांशसे अधिक नहीं है। वह भी अन्य चार कारणोंपर निर्भर है और गीताकार अन्तिम अध्याय (१८ । १६)तक इसी भावकी पुष्टि करते हैं—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

स्पष्ट है कि अकृत-मनुष्य कृतबुद्धि होने या दुर्मति होनेके कारण ही अपनेको कर्ता मान बैठता है और कर्मको अपने व्यक्तिगत जीवनसे सम्बद्ध मानता हुआ उसे संकुचित अर्थोंमें ग्रहण करता है। यह अवश्य है कि व्यक्ति कर्मोंको अपनी प्रकृतिके अनुसार करता है, अतः प्रत्येक व्यक्तिके कर्मोंमें बाह्य भिन्नता दीखती है, किंतु गीतामें प्रतिपादित कर्मका लक्ष्य एक ही होनेके कारण कर्म एक ही है, जिसकी प्रतीति विविधरूपोंमे होती है। कर्मका साफल्य लक्ष्यकी प्राप्तिमें है, उसीको गीतामें सिद्धि कहा है। उस लक्ष्यकी प्राप्तिका उपाय है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिसके द्वारा प्राणियोंकी प्रवृत्ति (उत्पत्ति) है और जिसके द्वारा यह समस्त प्रसृत (फैला) है। उसकी पूजा अपने कर्मके द्वारा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।' उसके पूजाका तत्त्व भी व्यास महाराजने श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमे भगवान् कपिलके शब्दोमे निम्न प्रकारसे कहा है—

* गीताके सभी टीकाकारोंके अनुसार इस ३ । १५ श्लोकमें प्रथम 'ब्रह्म' पदका अर्थ 'वेद' है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः॥

'जो व्यक्ति भगवान्‌के समस्त चराचरमें व्याप्त स्वरूपको छोड़कर उसकी पूजा करता है, वह उसका मूढ़भाव ही है, जिससे वह भस्ममें ही आहुति देता है। महात्मा तुलसीदासजी भी इसी भावको अपनी सरल सुबोध शैलीमें इस प्रकार कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
(रा० च० ४।३)

कर्मके इस विशुद्ध स्वरूपको समझनेके लिये हमें गीतोक्त 'यज्ञ' शब्दसे भी परिचय प्राप्त करना अनिवार्य-रूपसे आवश्यक होगा; क्योंकि विसर्ग-संज्ञक यह कर्म यज्ञके साथ ही सृष्ट होता है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(गीता ३।१०)

इस श्लोकसे यह भाव स्पष्ट है कि यज्ञ और प्रजा दोनोंको परस्परावलम्बी बनाया गया है। गीतोक्त यज्ञ केवल कोई कर्मकाण्ड या विशिष्ट क्रियामात्र न होकर प्रत्येक कर्मकी भूमिकामें एक प्रकारकी पूजा या सेवाका भाव ही है। यज्ञ शब्द **'यज्'** धातुसे सिद्ध होता है, जिसका मुख्य अर्थ विश्वात्मा ईश्वरके नामपर समर्पणरूप आहुति देकर **'इदं न मम'** उच्चारण करते हुए निष्कामता एवं अनासक्तिके भावको सुरक्षित रखा जाता है और इसीसे सृष्टिका विकासक्रम चालू रहता है। गीताके तृतीय अध्याय श्लोक १४-१५में इस सृष्टि-विकास-क्रमका वर्णन इस प्रकार है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

इस यज्ञ-चक्रमें कर्म और यज्ञके साथ-साथ सृष्टि और परमेष्ठिका भी जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है, वह इतना नैसर्गिक है कि उसका अनुवर्तन सभीके लिये अनिवार्य है। जो इसमें योगदान नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
(गीता ३।१६)

'इस यज्ञ-चक्रका अनुवर्तन न करनेवाला मनुष्य पापी और केवल इन्द्रिय-सुखोंमें फँसा हुआ है, अतः वह व्यर्थ जीता है।' गीतामें 'कर्म' तथा 'यज्ञ' शब्द दोनों ही अत्यन्त व्यापक अर्थोंमें प्रयुक्त हैं। उनका तात्पर्य एक-दूसरेके अभावमें नहीं समझा जा सकता। एक ओर तो विसर्ग कर्मकी संज्ञा देकर सृष्टिसे उसका अभेद स्थापित किया है और दूसरी ओर प्रत्येक कर्मकी पृष्ठभूमिमें भावरूपसे यज्ञको प्रतिष्ठित करके उसके सही स्वरूपका निर्देश किया है। इस सृष्टि, कर्म और यज्ञ—इन तीनोंके ही पारस्परिक सम्बन्धोंको एक दृष्टिसे देखते हुए जब हम कर्मके स्वरूपको देखते हैं तो यही निष्कर्ष सामने आता है कि यज्ञ हमारे जीवनके साथ ही सृष्ट होनेके कारण हमारे जीवनका एक अङ्गभूत तत्त्व है, जिसका कि हमारे द्वारा किये गये प्रत्येक कर्ममें भावरूपसे प्रतिष्ठित रहना ही हमारे जीवनकी स्वाभाविक गति है। यह यज्ञ यज्ञभावसे भावित कर्म ही भूतमात्रकी जीवन-तन्त्रीसे हमारे जीवनकी समस्वरसता बनाये रखनेका माध्यम है, अन्यथा प्रकृतिका संतुलन नष्ट होता है। पञ्चमहायज्ञ इसी भावकी व्यक्त क्रियाएँ हैं। सृष्टिमें हम सभीके एक-दूसरेसे सम्बद्ध होनेके कारण प्रत्येकका एक दूसरेके प्रति उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्वको अपने शास्त्रोंने ऋण कहा है। इसी ऋणसे उऋण होनेके लिये प्रजापतिने मनुष्यको यज्ञरूपी धर्म दिया है, जो प्रत्येक कर्मके साथ अभिन्नभाव-रूपसे जुड़ा होना चाहिये। जो व्यक्ति इस यज्ञ-धर्मकी अपेक्षा करता है, उसे गीताने अयज्ञ

कहा है अर्थात् वह समाजसे द्रोह करता है। ऐसे व्यक्तिके लिये यह लोक भी नहीं है फिर परलोकके विषयमें तो सोचना ही व्यर्थ है—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम!

गीताके अनुसार इसके अतिरिक्त कर्मका और कोई स्वरूप नहीं है। हाँ, उसके भेद अवश्य हैं, जिनका वर्णन अनेक स्थलोंपर हुआ है और वह भी 'कर्म' शब्दके सही स्वरूपको ही समझनेके लिये किया गया है। उदाहरणार्थ; मुख्यरूपसे इसके नियतकर्म और काम्यकर्म दो भेद कर उन्हें सूक्ष्मतासे समझानेके लिये और भी कतिपय विशेषणोंका प्रयोग किया है। यही भाव निष्काम कर्मयोगके रूपमें उभर कर आता है। इसीमें समता फलती-फलती है। यही 'योग'का परिणाम और मोक्षका द्वार है।

निष्कामताकी साधनामें तीन बातें

तीन बातोंका ध्यान रखकर कर्तव्यकर्म करो—(१) ईश्वरका स्मरण, (२) दूसरोंका सम्मान और (३) अपने दोषोंको देखना।

तीन बातें सदा सोचो—(१) भगवान्‌का प्रेम कैसे प्राप्त हो? (२) दुखियोंका दुःख कैसे दूर हो? और (३) हृदय पापशून्य कैसे हो?

तीन बातपर सदा अमल करो—(१) सत्य, (२) अहिंसा और (३) भगवान्‌का नाम-जप।

तीनपर सदा दया करो—(१) अबला एवं दीन-दुखियोंपर, (२) पागलपर और (३) राह भूले हुएपर।

तीनको सदा वशमें रखो—(१) मन, (२) उपस्थ इन्द्रिय और (३) जीभ।

तीनके वशमें सदा रहो—(१) भगवान्‌के, (२) धर्मके और (३) शुद्ध स्वकुलाचारके।

तीनसे सदा मुक्त रहो—(१) अहंकारसे, (२) ममतासे और (३) आसक्तिसे।

तीनसे सदा सच्चे रहो—(१) धनसे, (२) काछसे और (३) वचनसे।

तीनपर ममता करो—(१) ईश्वरपर, (२) सदाचारपर और (३) गरीबोंपर।

तीनसे सदा डरते रहो—(१) अभिमानसे, (२) दम्भसे और (३) लोभसे।

तीनके सामने सदा नम्र रहो—(१) गुरु, (२) माता और (३) पिता।

तीनसे सदा प्रेम करो—(१) ईश्वर, (२) धर्म और (३) देश।

तीनको सदा हृदयमें रखो—(१) दया, (२) क्षमा और (३) विनय।

तीनका सदा सेवन करो—(१) संत, (२) सत्-शास्त्र और (३) पवित्र भूमि (तीर्थ आदि)।

तीनका भरण-पोषण करो—(१) माता-पिता, (२) स्त्री-बच्चों और (३) दीन-दुखियोंका।

तीन व्रतोंका पालन करो—(१) परस्त्री-संसर्गेच्छाका त्याग, (२) परधनकी आकांक्षाका त्याग और (३) असहायोंकी सेवा।

तीनकी आवश्यकताओंपर विशेष ध्यान दो—(१) मूक प्राणीकी, (२) संसारत्यागी सन्यासीकी और (३) कुछ भी न माँगनेवाले अतिथिकी।

तीन कामोंमें खूब जल्दी करो—(१) भजनमें, (२) दानमें और (३) शास्त्रके अभ्यासमे।

तीनका सम्मान करो—(१) वृद्धका, (२) ब्राह्मणका और (३) निर्धनका। (क्रमशः)

'है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता'

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम कान्त सुरतरु-फल लोकें॥
उसको बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे, अमरपुरका सुख सारा॥
कैसे? किस साधनके किये? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा, सिद्धि पा सका है वही॥

उषा-रागको लसित कर्म अनुराग बनाता।
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर है दिखलाता॥
रजनी-रञ्जन कर्म-कान्त बन है छवि पाता।
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है बरसाता॥
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी माधुरी।
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी सुन्दरी॥

परम पविहृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे विलसे विटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ भरे प्रसून विकच बनतीं कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

कैसे मिलते रत्न उदधि-मन्थन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता-मध्य जीवनी-धारा बहती।
कैसे वाञ्छित-सिद्धि साधना-करमें रहती॥
कैसे हो वारिद-वृन्द वर वारि बरस पाते कहीं।
जो कर्म न होता तो रसा सरसा हो पाती नहीं॥

गृहका त्याग न त्याग कर्मका है कहलाता।
बुरे भावका त्याग त्याग है माना जाता॥
किसी कालमें कर्मत्याग तब होगा कैसे।
बने रहेंगे जब दृगादि जैसे-के-तैसे॥
तबतक थीं बातें त्यागकी जबतक मल धोती नहीं।
भव-कर्मरता सब इन्द्रियाँ कर्मरहित होती नहीं॥

कर्महीनता मरण, कर्म-कौशल है जीवन।
सौरभरहित सुमन समान है कर्महीन जन॥
तिमिर-भरित अपुनीत इन्द्रियोंका वर रवि है।
कर्म परम पापाणभूत मानसका पवि है॥
है कर्म-त्यागकी रगोंमें परिपूरित निर्जीवता।
है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता॥

—स्व० हरिऔधजी

अनासक्त कर्मयोगी—भीष्म पितामह

द्वापरयुगके अन्तमे तीन महापुरुष—जगद्गुरु श्रीकृष्ण, विशालबुद्धि व्यास और शौर्यशाली भीष्मपितामह आदर्श कर्मयोगी हुए। इनके लोक-सम्रहके कार्य धर्म्य और अनुकरणीय थे। इनमे अपने धर्मके प्रति अनन्यनिष्ठा और दृढ़ताके प्रतीक पितामह भीष्म तो क्षत्रियोके समस्त स्वाभाविक गुणोके मानो मूर्तिमान् अवतार ही थे। उन्होंने पिताके हेतु सदाके लिये कामिनी-काञ्चनका त्याग कर दिया था। कामनाके त्यागका यह उदात्त उदाहरण उनकी निष्कामनाका ज्वलन्त उदाहरण है। क्षात्रधर्म—शूरताके तो वे सीमान्त थे। जिस समय काशिराजकी कन्या अम्बाके लिये शस्त्र-गुरु परशुरामजीने युद्धकी धमकी देकर अम्बाको स्वीकार करनेके लिये भीष्मसे आग्रह किया था, उस समय निष्काम भीष्मने बड़ी नम्रतापूर्वक गुरुका पूर्ण सम्मान करते हुए भी अपनी स्वाभाविक शूरता (क्षात्रधर्म) और तेजस्विताका परिचय दिया—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
(महाभा०, उद्योगपर्व १७८। ३४)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मै कभी क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।' उनके लिये कामनाका कोई मूल्य नहीं था। बहुत समझानेपर भी जब परशुरामजी नहीं माने और धमकी-पर-धमकी देने लगे, तब भीष्मको क्षात्रधर्मके नाते लगातार तेईस दिनोतक भयानक युद्ध करना पड़ा। परशुरामजी भीष्मको परास्त नहीं कर सके। ऋषियो और देवताओने आकर दोनोको समझाया, परंतु **'युद्धे चाप्यपलायनम्'**—इस क्षात्र धर्मके अनुसार भीष्मने शस्त्रोका परित्याग नहीं किया और यह उद्घोषित किया कि—

नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात्।
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः॥
(महाभा०, उद्योगपर्व १८५)

'लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी प्रकारसे भी मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।' धर्मकी निष्काम निष्ठाका यह निदर्शन है। अन्तमें परशुरामजीको हार माननी पड़ी। यह है भीष्मका क्षात्रधर्म तथा अद्वितीय शौर्यकर्म! शौर्यशाली स्वधर्मसे विकम्पित नहीं होते।

भीष्म ज्ञानी कर्मयोगी थे। उन्होने धर्मराजके राजसूय-यज्ञमे परम निर्भयता और धीरतासे कर्मयोगके उपदेष्टा श्रीकृष्णकी अग्रपूजाका समर्थन किया। महाभारत-युद्धमे भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञाकर सारथ्यमे प्रवृत्त हुए थे। अपनी भक्तवत्सलताके कारण वे अपने सखा—भक्त अर्जुनके रथ हॉकनेका काम कर रहे थे। बीचमे एक दिन भीष्मने ही यह प्रण कर लिया कि आज मैं श्रीकृष्णको शस्त्र-ग्रहण करवा कर दम लूँगा। भीष्मकी उक्त प्रतिज्ञाका मार्मिक चित्र सूरदासजी-द्वारा वर्णित पदमे देखिये—

आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगाजननीको, शांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यन्दन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी, क्षत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रनभूमि विजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

भीष्मने यही किया; भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमे रथका टूटा चक्का लेकर भीष्मकी ओर ऐसे दौडे, जैसे गरजता हुआ वनराज सिंह उत्तम गजराजकी ओर दौड़ता है। भगवान्का पीताम्बर कंधेसे गिर पड़ा, पृथ्वी कॉपने लगी, सर्वत्र हाहाकार मच गया। सेना पुकार उठी

शौर्य-कर्मसे भक्तकी विजय

महात्मा भीष्मकी प्रतिज्ञा-सिद्धि

'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये!' किंतु उस समय भीष्मको जो असीम आनन्द हुआ, उसका वर्णन कर सकना सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌की भक्तवत्सलतापर मुग्ध हुए भीष्म उनका स्वागत करते हुए बोले—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते।
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे॥
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममाऽनघ।
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः॥
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे।
प्रहारस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चाऽनघ॥

'पुण्डरीकाक्ष! आइये, आइये! देवदेव! आपको मेरा प्रणाम है! हे पुरुषोत्तम! इस महायुद्धमें आप मेरा वध करें! हे परमात्मन्! हे कृष्ण! हे गोविन्द! आपके हाथसे मरनेपर मेरा अवश्य ही कल्याण होगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे पापरहित! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार करें, मैं आपका दास हूँ।'

यहाँ शूरताके साथ शालीनता और धर्मके साथ कर्त्तव्य-परायणताका समन्वय देखते ही बनता है।

× × ×

दस दिनोंतक महाभारतका भयंकर युद्ध करनेके बाद एक दिन अर्जुनके सामने शिखण्डीके रहनेसे अपने शौर्य-धर्मके अनुसार उसपर बाण न चलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके कारण अर्जुनके बाणोंसे विद्ध होकर अन्तमें भीष्म शरशय्यापर गिर पड़े। भीष्म वीरोचित शय्यापर सोये थे। उनके सारे शरीरमे बाण बिंधे थे। फिर भी वे अनासक्ति-मूलक धर्म्यानुभूतिमें मग्न थे। वे जानते थे—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

अर्थात्—'सूर्यमण्डलको पारकर दो प्रकारके पुरुष परमपद प्राप्त करते हैं—(१) योगयुक्त संन्यासी (कर्म-योगी) और (२) जो रणमें अभिमुख वीरगति प्राप्त करते हैं।'

वे जीवनकी धर्म्यसिद्धि—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** के आनन्दमे मग्न थे, धीरवीर तो थे ही। शर-शय्यापर लेटे हुए भीष्मजीका सिर नीचे लटक रहा था। उन्होंने जब तकिया माँगा तब लोग दौड़कर नरम-नरम तकिये ले आये। इसपर भीष्मने अर्जुनसे कहा—'वत्स! मेरा सिर नीचे लटक रहा है, मेरे लिये अनुरूप तकियेकी व्यवस्था करो।' अर्जुनने वीरवर पितामहकी आज्ञा मानकर उनके मनोऽनुकूल तीन बाण मस्तकके नीचे तकियेके स्थानपर मार दिये; सिर बाणोंपर टिक गया, उनका अभीष्ट—क्षत्रियोचित तकिया मिल गया। भीष्मने प्रसन्न होकर कहा—

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवापहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा॥
एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन मे॥
(महाभा० भीष्मप० १२० । ४८–४९)

'अर्जुन! तुमने मेरी रणशय्याके अनुरूप तकिया देकर मुझे प्रसन्न कर लिया। यदि तुम मेरा आशय न समझकर दूसरी तकिया (उपबर्हण) देते तो मैं रुष्ट होकर तुम्हें शाप दे देता। क्षत्रियोंको रणाङ्गणमें प्राण-त्याग करनेके लिये इस प्रकारकी शय्यापर ही सोना चाहिये।' यह था शौर्यकर्मी भीष्मका अनासक्ति-मूलक क्षात्र-धर्मका आदर्श और उनके धर्माचरणका अनुपमेय उदाहरण। धन्य हैं उनकी वीरता, धीरता, निर्भयता, दृढ़-संकल्पता एवं कर्तव्यके प्रति समर्पित निष्काम-आस्था!

योगवासिष्ठमें कर्मबन्धनसे छुटकारा

(लेखक—श्रीरघुराजजी बुंदेला)

सृष्टिका यह एक अटल नियम है कि जीवको अपने शुभाशुभ कर्मोंका अच्छा या बुरा फल अवश्य भोगना पड़ता है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' इसके लिये जीवको एक जन्मसे दूसरे जन्ममें और एक परिस्थितिसे दूसरी परिस्थितिमें भी जाना पड़ता है। जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, पर कर्मोंका फल भोगनेमें वह परतन्त्र-सा ही है। यदि ऐसा है तो फिर कर्मोंके बन्धनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो? वर्तमानकालमें हम अपने पूर्व कर्मोंका फल भोग रहे हैं और वर्तमानकालके कर्मोंका फल भविष्यमें भोगना पड़ेगा। ऐसा कोई समय नहीं है, जब हम कर्म न करते हों। इसलिये ऐसा समय कैसे हो सकता है, जबकि हम अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवन धारण न करेंगे? योगवासिष्ठके अनुसार हम कर्म-नियमके रहते हुए भी कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

योगवासिष्ठका मत है—कर्मका वास्तविक स्वरूप मानसिक है। जगत्में जिस क्रियाको कर्म कहा जाता है, उसका असली रूप मनका वासनात्मक स्पन्दन है। मनका स्पन्दन ही कर्मका प्रेरक है। बाहरसे दिखायी देनेवाली कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाको कर्म नहीं कहते। अज्ञानीको अपने सब कर्मोंका फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मोंका सार वासना है। वासनाके क्षीण हो जानेसे ज्ञानीको अपनी किसी क्रियाका फल नहीं भोगना पड़ता। वासनाके अभावसे सब क्रियाएँ फल-रहित हो जाती हैं। वासनासे अनेक प्रकारके संकल्पोंका उदय होता है और संकल्पयुक्त होनेसे ही बन्धन होता है। इसलिये संकल्पका त्याग करो। सम, शुद्ध और विकार-रहित बुद्धिसे जो कुछ भी किया जाता है, वह कभी दोष नहीं लाता। असक्त मनवाला शुभ या अशुभ क्रियाओंको नित्यप्रति करता हुआ या त्यागता हुआ भी कभी संसारमें नहीं पड़ता। और, जिस अज्ञानीने मनसे त्याग नहीं किया, वह शुभ या अशुभ क्रियाओंको न करता हुआ भी मनसे संसार-समुद्रमें निरन्तर डूबता ही रहता है। मनका इस प्रकारका निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करनेयोग्य है और उसको प्राप्त करनेकी वासना, और फिर चेष्टाएँ—तीनों कर्तृत्व कहलाते हैं। कार्यका कर्ता होनेके कारण ही जीव उसका फल भोगनेवाला होता है; यह सिद्धान्त है। अज्ञानी जीव चाहे कर्म करे या न करे, तो भी वह कर्ता है, और वासना-रहित होनेसे ज्ञानी जीव अकर्ता है—चाहे वह कर्म करे या न करे। एक अकर्ता भी कर्ता बन गया है कामनाके कारण, दूसरा कर्ता भी अकर्ता है—कामना-रहित होनेके कारण। यह कामना ही मनका रूप धारण करती है। यही सब कर्मोंका, सब भावोंका, सब लोकोंका और सब गतियोंका बीज है। कामनाके त्याग देनेसे सब कर्मोंका त्याग हो जाता है, सब दुःख क्षीण हो जाते हैं और सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं। विवेकद्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका नाश करना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब ज्ञान-द्वारा यह निश्चय दृढ़ हो जाय कि कर्म कुछ हैं ही नहीं। बिना वासनाके किसी दृश्यकी ओर प्रवृत्तिके और उपस्थितिके तथा किसी कल्पनाके शान्त होकर स्थित रहनेका नाम कर्मत्याग है। जो ज्ञान-द्वारा कर्मत्यागमें स्थित हो गया है और वासना-रहित जीवन्मुक्त है, वह सब बन्धनोंसे परे ही है। यही कर्मबन्धनसे छुटकाराका क्रम है।

श्रीमद्देवीभागवतमें निष्काम-कर्म

(लेखिका—सुश्री मञ्जुश्री)

'देवीभागवत' एक देवी-भक्तिपरक पुराण है। उसमें देवीके अनेक स्वरूपों, आराधना, ध्यान पूजा एवं भक्ति और तदनुरूप आचारोंका निरूपण हुआ है। कर्म-विवेचना उसमें प्रमुख नहीं है। निष्कामकर्मकी पृथक्से साङ्गोपाङ्ग-विवेचना देवीभागवतमें नहीं मिलती। किंतु इसके समस्त प्रसङ्गोंको देखनेसे हमें निष्कामकर्मके महत्त्व तथा कर्म-फलसे मुक्ति पानेकी विधिका ज्ञान हो जाता है। इसके अनुसार नित्य-नैमित्तिक-कर्म निष्काम-कर्मके ही रूपान्तर हैं। देवीभागवतमें अनेक स्थलोंपर नित्य एवं नैमित्तिक कर्मके उल्लेख हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन ईश्वरकी आराधना करता है, उसमें सकामता रह नहीं जाती। 'देवीभागवत' देवीकी आराधना नित्य-नैमित्तिक-कर्मका ही एक प्रमुख अङ्ग है[1]। जो ब्राह्मण जीवनभर त्रिकाल-संध्या करता है, उसमें सूर्यके समान तेजस्विता होती है[2]। अपने कर्ममें तत्पर शक्ति, सूर्य और गणपतिके उपासकोंके पुण्य-प्रभावके कारण यम-दूत उनके सम्मुख नहीं जाते[3]। 'देवीभागवत'में कहा गया है कि भगवती राधाका स्मरण करता हुआ जो व्यक्ति उनके स्तोत्रका तीनों समयमें पाठ करता है, उसके लिये संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। शरीरका अन्त होनेपर वह गोलोकस्थ रासमण्डलमें नित्य निवास करता है। यह परम रहस्य है, जो पात्रको ही बताना चाहिये[4]।

गायत्रीमन्त्रकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाले इस श्लोकका ईश्वर-प्रेममें विनियोग इसे निष्कामकर्म ही सिद्ध करता है; यथा—इस प्रकार चौबीस अक्षरोंवाले गायत्रीमन्त्रका नित्यप्रति जप करनेवाला ब्राह्मण विप्रोंमें श्रेष्ठ होता है, संध्याके सम्पूर्ण फलोंको पाकर अत्यन्त सुखी अर्थात् कैवल्यानन्दमय होता है[5]। देवीभागवतके इस श्लोकमें कर्मके निष्कामभावपर स्पष्टतः बल दिया गया है। यद्यपि कर्मोंके फल होते हैं, तथापि साधकका ध्यान कर्तव्यकी ओर होनेसे ईश्वर-परक ये नित्य-नैमित्तिक कर्म निष्काम हो जाते हैं। प्रमाणके लिये निम्नाङ्कित श्लोक देखिये—

नित्यं त्रिषवणस्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम्।
नित्यपूजा नित्यदानमानन्दस्तुतिकीर्तनम्॥
नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः।
जपनिष्ठस्य धर्मा ये द्वादशैते सुसिद्धिदाः॥
नित्यं सूर्यमुपस्थाय तस्य चाभिमुखो जपेत्॥
देवता प्रतिमादौ वा वह्नौ वाऽभ्यर्च्य तन्मुखः।
स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः।
निष्कामो देवतायां च सर्वकर्मनिवेदकः॥

'नित्य त्रिकाल-स्नान, क्षुद्र कर्मोंका त्याग, पूजन, दान, श्रद्धा एवं रोमाञ्चपूर्वक स्तुतिकीर्तन, नैमित्तिक पूजा और गुरु तथा देवतामें विश्वास—ये बारह धर्म जपनिष्ठ पुरुषको सिद्धि प्रदान करते हैं। नित्यप्रति सूर्यके सामने खड़ा होकर जप करे। स्नान, पूजन, जप, ध्यान, होम, तर्पण आदिमें तत्पर रहता हुआ निष्कामभावसे निवेदन करे। नित्य-नैमित्तिक कर्ममें विधिके अनुसार आचरण करनेवाला भुक्ति-मुक्तिरूप फलका भागी होता है[6]। 'देवीभागवत'में सदाचारकर्म और ज्ञानका परस्पर सम्बन्ध भी दर्शाया गया है, जिससे कर्ममें निष्कामभाव प्रतिपादित होता है।

१—देवीभागवत—(सं० श्रीरामशर्मा), भाग २—स्कंध ११ अध्याय २ श्लोक ५६-५७। २—वही, अध्याय १६ श्लोक ५८। ३—वही, अध्याय १८ श्लोक २३। ४—वही, अध्याय २० श्लोक ५१-५२। ५—वही, पृ० ३६६। ६—वही, अध्याय २१ श्लोक २५—२८। ७—वही, अध्याय १४ श्लोक ९—११।

देवी भागवतके अनुसार आचार प्रथम धर्म है, यह श्रुति-स्मृतिका कथन है। इसलिये द्विजको नित्य आचारयुक्त रहना चाहिये। आचारसे आयु, सन्तान तथा अक्षय अन्न प्राप्त होता है और पाप नष्ट हो जाते हैं। मनुष्योंका कल्याणकारी एवं परमधर्म आचार ही है। इसीसे इस लोकमें सुखी होकर मनुष्य परलोकमें भी सुख प्राप्त करता है[1]। आचारसे श्रेष्ठत्व और सत्कर्मकी प्राप्ति होती है। उस सत्कर्मको मनुने ज्ञानवर्धक कहा है। सभी धर्मोंसे श्रेष्ठ होनेसे आचार ही परम तप है—यही ज्ञान कहा गया है तथा यही सर्वसिद्धि करनेवाला है[2]। यदि आचार-हीन व्यक्तिने वेदोंके षडङ्गोंका अध्ययन भी कर लिया हो तो भी वह पवित्र नहीं होता। पंख निकलनेपर पक्षिद्वारा घोसला त्यागनेके समान आचारहीनको अधीत छंद त्याग देते हैं[3]।

इस प्रकार देवीभागवतके अनुसार निष्काम और सकाम दोनों ही भाव-प्रधान कर्म हैं, परंतु आचारयुक्त, ज्ञानयुक्त, नित्य-नैमित्तिक निष्कामकर्मको ही महत्ता प्रदान की गयी है।

कर्म-फल-भोग—देवीभागवतमें देवीके शब्दोंमें कर्म-फल-भोगके विवरणपूर्वक श्रेष्ठ कर्मकी अनिवार्यता बतायी गयी है। देवी हिमालयको ज्ञानोपदेश देते समय योगके आठों प्रकारोंका वर्णन करती हैं। इनमें पहले योग-'यम'के दस भेदोंके सभी भावोंमें सरलता-निष्कामता लक्षित होती है तथा दूसरे योग—'नियम'के दसों भेद यथा—तप, संतोष, आस्तिकभाव, दान, देवताओंका पूजन, शास्त्रसिद्धान्तका श्रवण, बुरे कामोंमें लज्जा, सद्बुद्धि, जप और हवन आदि सभी श्रेष्ठ निष्कामकर्मके ही तो उदाहरण हैं। कर्मफल-भोगका वर्णन भी अनेक स्थलोंपर है; जैसे कि परब्रह्म-स्वरूपिणी माया जीवोंके पूर्वसंचित कर्मोंके अनुसार ही उनका प्रेरण करती रहती हैं[4]। प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करना चाहिये; क्योंकि अपने द्वारा किये गये पाप-पुण्यका फल सभी प्राणियोंको भोगना होता है[5] तथा जो प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल मिलता है; क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मोंका फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है[6]। साथ ही यह भी कहा गया है कि—अन्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्य-द्वारा जो पुण्यकार्य किया जाता है, वह न तो इस लोकमें कीर्ति दे सकता है और न परलोकमें ही उससे कुछ फल मिल सकता है[7]।

कर्मफल-भोगसे मुक्तिकी विधि—देवीभागवतमें कर्मफल-भोगसे मुक्तिके अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें शरीर-शुद्धि प्रथम है; यथा—भूतशुद्धि करके ही कर्ममें प्रयुक्त हो तथा लक्ष्यसहित पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायाम करे[8]। व्रतोंसे सप्तधातुओंकी शुद्धि होती है। एक-एक धातु सात दिनोंमें निःसंदेह पवित्र हो जाती है। इस प्रकारके व्रतोंद्वारा पवित्र होकर नित्यप्रति शुभ कर्म करे[9]।

'देवीभागवत'में कर्म-विपर्यय और कर्म-नाशके विषयमें भी उल्लेख है। कर्म-विपर्ययका अर्थ है शास्त्र-विहित कर्मोंके विपरीत कर्म। उन्हें हम 'निषिद्ध' कर्म भी कहते हैं। कर्म-नाशका अर्थ है कर्म-फलका नाश और कर्म-फलका नाश तभी होता है जब कर्म निष्कामभावसे किया गया हो। अतः कर्मनाशके कथनसे निष्काम कर्मकी ही महिमा प्रतिपादित की गयी है। देवीभागवतमें कहा गया है कि अब हे सावित्रि! तुम परब्रह्म, अच्युत

१—देवीभागवत, श्रीरामशर्मा भाग १ अध्याय—१ श्लोक १३-१४। २—वही, १ श्लोक १५-१६। ३—वही, श्लोक ११
४—वही, भाग १ पृष्ठ। ५—वही, पृष्ठ ४७०, श्लोक ११। ६—वही, पृष्ठ ५०४, श्लोक ५७।
७—देवीभागवत-अङ्क, कल्याण ३, १२, ८। ८—देवीभागवत, सं० श्रीरामशर्मा, भाग—२ पृ० ३८५, श्लोक ५८।
९—वही पृष्ठ ४०९, श्लोक ५६-५७।

एवं निर्गुण भगवान् श्रीकृष्णका भजन करो; क्योंकि उनकी उपासनासे संसारके कर्मोंके मूल नष्ट होते हैं[1]। एक अन्य स्थानपर कहा गया है—देखो, दुर्गतिको प्राप्त हुए तुम्हारे पिता अपने कर्म-विपर्ययसे मुक्त होकर दिव्य देहधारी हो गये हैं[2]।

देवीकी आराधनासे सम्बद्ध उनके स्वरूप-परिचय तथा उनके प्रति निवेदित श्रद्धावाक्योंके माध्यमसे भी देवी-भागवतमें अनेक ऐसे स्थलोंपर निष्काम कर्मभाव स्वाभाविक रूपसे प्रकाशित हुआ है। देवी संसारकी समस्त प्रार्थनाओंको स्वीकार करनेवाली कामधेनु हैं[3]। पराशक्ति देवीको मनीषिजन साकार-निराकार-भेदसे दो स्वरूपोंमें पाते हैं। संसारमें आसक्त साधक-जन देवीके सगुणभावको और निर्मल ज्ञानी, विवेकी एवं विरागी जन देवीके निर्गुणभावको अपनाकर आराधना करते हैं—

सगुणा निर्गुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

विरागीसे आशय निष्कामभाववाले व्यक्तिका ही है। देवी चारों फल प्रदान करनेवाली हैं। उनकी एक स्तुतिमें निरूपित किया गया है कि देवीकी परम कृपा मोक्ष-दानमें ही प्रकट होती है। देवीकी स्तुति कोई नहीं कर सकता, हम उन्हें केवल प्रणाम कर सकते हैं—इस कथनसे यह स्पष्ट है कि देवीकी सम्यग्भक्ति केवल निष्कामभावसे ही हो सकती है। निष्कामकर्म ही देवीको प्रसन्न करता है; यथा—भक्तोंपर कृपा करने-वाली देवेश्वरि! आपकी जय हो। अखिल देवताओंसे सुपूजित होनेवाली देवि! आपकी जय हो। शरणा-गतोंपर अनुग्रह करनेवाली देवेश्वरि! आपको बारंबार नमस्कार है। दुःख दूर करनेवाली एवं दुष्ट दैत्योंकी संहारिणी भगवती दुर्गे! आपकी जय हो। भक्तिसे प्रसन्न होकर दर्शन देनेवाली जगदम्बिके! आपको प्रणाम है। महामाये! आपके चरण-कमल संसाररूपी समुद्रको पार करनेके लिये नौका हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करनेवाली देवेश्वरि! आप प्रसन्न हो जायँ। देवि! ऐसा कौन है? जो आपकी स्तुति कर सके। मैं केवल आपको प्रणाम कर रहा हूँ[4]।

कहीं-कहीं काम्यकर्मकी झाँकी भी मिलती है। कहा है—जिस-जिस ऋषिने जिस-जिस कामनासे देवताकी स्तुति की उस-उसकी वही-वही अभिलाषा पूर्ण हो गयी। किंतु अधिकांश स्थलोंपर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूपसे निष्काम कर्म-भाव मुख्य है। वस्तुतः मोक्षकी कामना प्रकारान्तरसे निष्कामता ही है। कहा गया है कि मोक्षकी कामनासे (मनुष्य) श्रौत और स्मार्त आदि कर्म करते हैं। विद्वानोंसे सीखकर आचारके पालनपूर्वक अग्निसहित जप करें[6]; क्योंकि जप मुमुक्षुओंको मोक्ष देनेवाला और अभिलाषियोंकी सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला है[7]। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि भगवतीकी आराधनासे धनकी कामनावालेको धन और धर्मकी अभिलाषावालेको धर्मकी प्राप्ति होती है[8]। देवीके स्वरूप-विचारमें भी राग-रहित निष्कामता द्योतित होती है; यथा—देवियोंके जो संक्षिप्त, मधुर, राग-रहित चरित्र (कर्म) हैं वे प्राणीको पवित्र करनेमें समर्थ हैं[9]। देवताओंका विधि-विधानसे पूजन स्वयंको भी देवभावमें स्थित करके ही किया जा सकता है, और जब देवभावकी स्थिति हो गयी, तो क्या कोई कामना रह सकती है? इसीलिये कहा गया है कि—वेदज्ञानियोंके कथनानुसार

१–देवीभागवत–पृष्ठ २६४, श्लोक ६३। २–वही–पृष्ठ ५००, श्लोक १५-१६। ३–श्रीस्तुति-अनुवादक, श्रीराघवाचार्यजी महाराज, श्लोक २४। ४–देवीभागवत-अङ्क, कल्याण ३। ४४, ४६, ४८। ५–वही–पृष्ठ ३९४ श्लोक १२८। ६–वही–पृष्ठ ४६७ श्लोक १६१। ७–वही–पृष्ठ १२४ श्लोक ५८। ८–वही–पृष्ठ १५७ श्लोक ६। ९–वही–पृष्ठ ४३४ श्लोक २९।

देवभावमें स्थित होकर ही देवताका पूजन करना चाहिये। इसलिये देवतासे अपना अभेद स्थापित करनेके लिये वक्ष्यमाण देवताओंका न्यास अपने अङ्गोंमें करे[1]।

इसके साथ ही देवी तथा अन्य देवताओंके कथन-द्वारा भी स्थान-स्थानपर कर्मका निष्कामभाव प्रकट हुआ है। श्रेष्ठपुरुष वही है, जो सदाचारका पालन करता हो, निर्मल, ज्ञानी एवं विवेकी हो। श्रेष्ठ पुरुषकी रक्षा देवी करती हैं। देवीका कथन है—श्रेष्ठपुरुषोंकी रक्षा करना, वेदोंको सुरक्षित रखना और जो दुष्ट हैं उन्हें मारना—ये मेरे कार्य हैं, जो अनेक अवतार लेकर मेरे द्वारा किये जाते हैं। प्रत्येक युगमें मैं ही उन-उन अवतारोंको धारण करती हूँ। इसी प्रकार भगवान् विष्णुका कथन है—मेरी पवित्र सेवामें नित्य नियुक्त रहनेके कारण चार प्रकारकी सालोक्यादि मुक्ति, ब्रह्मपद अथवा अमरत्व कुछ भी पानेकी अभिलाषा वह नहीं करता। ब्रह्मा, इन्द्र एवं मनुकी उपाधि तथा स्वर्गके राज्यका सुख—ये सभी परम दुर्लभ हैं; किंतु मेरा भक्त स्वप्नमें भी इनकी इच्छा नहीं करता।

न वाञ्छन्ति सुदं मुक्तिं सालोक्यादिचतुष्टयम्।
ब्रह्मत्वममरत्वं वा तद्वाञ्छा मम सेवने॥
इन्द्रत्वं च मनुत्वं च ब्रह्मत्वं च सुदुर्लभम्।
स्वर्गराज्यादिभोगं च स्वप्नेऽपि च न वाञ्छति[2]।

'देवीभागवत'के प्रत्येक फल-श्रुतिके अन्तमें स्पष्ट कहा गया है कि सच्चे भक्त कभी भी कोई कामना नहीं रखते। वे देवीकी या विष्णु आदि देवोंकी भक्ति सदा ही निष्काम भावसे करते हैं। वे फलकी कामनासे इतने रहित और विमुक्त रहते हैं कि मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते। वे केवल अपने इष्टके पदारविन्दोंकी प्रणतिपूर्वक सेवा करते रहनेमें ही मग्न रहते हैं। यह निष्कामकर्मका सुन्दरतम स्वरूप और सर्वोच्च लक्ष्य है।

पाशुपत-शैवागममें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीसोमनाथजी शर्मा घिमिरे, व्यास, साहित्याचार्य)

जीवात्मा 'क्षेत्रज्ञ'का नाम ही पशु है। पशु उसे कहते हैं, जो पाशोंद्वारा बँधा हो। जीव पाशबद्ध है, इसीसे उसको पशु कहते हैं। वस्तुतः शैवतन्त्रके—**'आत्मनो विभुनित्यता'** इस वचनानुसार जीव भी नित्य एवं व्यापक है। जीव परिच्छिन्न सीमित शक्तियुक्त है, तथापि सांख्यके पुरुषकी तरह वह अकर्ता नहीं है। पाशोंसे मुक्त होकर शिवत्वको प्राप्त कर वह निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। पाशुपत* एवं शैवागममें पशु तीन प्रकारके बतलाये गये हैं— १—विज्ञानाकल, २—प्रलयाकल और ३—सकल (सर्वद० शैवदर्शन पृ० ३२५)। यह पशु परमात्माके स्वरूपको पहचानकर जप-ध्यान तथा संन्यासद्वारा अथवा भोगद्वारा कर्मोंका क्षय कर डालता है। कर्मोंके क्षय हो जानेके कारण जिसको शरीर और इन्द्रिय आदिका कोई बन्धन नहीं रहता, उसमें केवल मल-रूपी पाश रह जाता है, उसे विज्ञानाकल कहते हैं। पशुके मल भी तीन प्रकारके होते हैं—१—आणवमल, २—कर्म-मल तथा ३—मायिकमल। विज्ञानाकलमें केवल आणवमल रहता है। वह विज्ञानद्वारा अकल (कलारहित) हो जाता है। अकलका अर्थ है—कलादि भोगवासनाओंसे शून्य। इसलिये उसकी विज्ञानाकल संज्ञा है। इससे जीवात्माके देह-इन्द्रिय आदि प्रलयाकलमें लीन हो जाते हैं। उसमें मायिक मल तो नहीं रहता, परंतु

१—देवीभागवत अङ्क कल्याण ५। १५। २२-२३। २—वही ९। ७। ५१-५२।

* नेपालमें 'पशुपतिनाथ'का मन्दिर भारतमें काश्मीरसे कामरूपपर्यन्त किसी समय पाशुपतमतके विशेष प्रचलित रहनेका सूचक है। शिव एवं कूर्मादि पुराणोंके अनुसार कारावन (कारवण), राजपूताना एवं गुजरातमें भी पाशुपत मत व्याप्त था। (सर्वदर्शनसं० चौखं० पृ० २९८, ९७५ इत्यादि)।

'आणव' और 'कर्मज' ये दो मलरूपी पाश रहते हैं। वह प्रलयकालमें सकल (कलारहित) होनेके कारण प्रलयाकल कहलाता है । जिस जीवात्मामें आणव, मायिक, कर्मज तीनों मल रहते हैं, वह कला आदि भोग-बन्धनोंसे युक्त होनेके कारण 'सकल' कहा गया है।

करने न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ, नित्य-निर्गुण, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वथा स्वतन्त्र परम सर्वज्ञ, परम ऐश्वर्यस्वरूप, नित्यमुक्त, नित्य निर्मल, निरतिशय ज्ञानशक्ति क्रियाशक्तिसम्पन्न, सबपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् महेश्वर शिव ही सभी प्राणधारियोंके पति या पशुपति हैं। जैसा पशुके चरवाहे उच्च टीलेपर बैठकर पशु चराते हैं, वैसे ही पशुपति भगवान् भवानी-नाथ शिव भी उक्त जीवसमुदायको संसारमें विचरण करवाते हैं । इन महेश्वरके पाँच कृत्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह । मुक्त जीव ही शिवभावको प्राप्त हो जाते हैं। परंतु ये जीव स्वतन्त्र नहीं हैं, ये भी अपने पति परमेश्वरके अधीन ही रहते हैं।

उपासनाके लिये जहाँ परमेश्वर शिवके साकार रूपका वर्णन है, वहाँ भी उसका तात्पर्य प्राकृत शरीरसे नहीं है। वह निर्मल तथा कर्मादिबन्धनोंसे नित्यमुक्त होनेके कारण शक्तिरूप एवं चिन्मय हैं । उपनिषदोंमें शिवका मन्त्रमय स्वरूपका वर्णन है । 'शैवदर्शन'में यह बात स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है—

'मलाद्यसम्भवाच्छाक्तं वपुर्युक्तं तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः।'

शैवागमके अनुसार पदार्थ तीन हैं—पशु, पाश तथा पति। विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या—ये उस आगमके चार पाद हैं—'त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रम्'''।' पाशुपततन्त्रानुसार गुरुसे नियमपूर्वक मन्त्रोपदेश लेनेको 'दीक्षा' कहते हैं । यह दीक्षा-मन्त्र, मन्त्रेश्वर और विद्येश्वर आदि ज्ञानके बिना नहीं हो सकती। इसी ज्ञानसे पशु, पाश तथा पतिका ठीक-ठीक निर्णय होता है । अतः परम पुरुषार्थकी हेतुभूता इस दीक्षामें उक्त उपकारक ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले प्रथमपादका नाम 'विद्यापाद' है। भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके अनुसार दीक्षा भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। इस अनेक प्रकारकी साङ्गोपाङ्ग दीक्षाओंके विधि-विधानका परिचय करानेवाले द्वितीय पादको पाशुपतागमका 'क्रियापाद' कहा जाता है। परंतु यम-नियम-आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगके बिना यहाँ भी अभीष्ट प्राप्ति नहीं होती । अतः क्रियापादके पश्चात् योग नामके तीसरे पादकी आवश्यकता समझकर उसका भी प्रतिपादन किया गया है।

योगकी सिद्धि भी तभी होती है, जब शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान और निषिद्ध कर्मका परित्याग हो। अतः पाशुपत-शास्त्रोंमें इन कर्मोंके प्रतिपादक 'चर्या' नामक चतुर्थ पादका वर्णन है । सारांश यह कि कामनारहित शास्त्रीय कर्म करनेयोग्य सशक्त शरीरसे फलेच्छारहित कर्म करना चाहिये ।भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
(गीता २ । ४७)

संक्षेपमें साधकके मनमें कभी कोई कामनाका उदय न हो, वह निरन्तर निष्काम-साधनासे ज्ञानद्वारा प्रवृत्त रहे, इसी भावनाको पाशुपतमतमें निष्काम-कर्मयोग कहा गया है ।

गीता और महामहेश्वर श्रीगोरक्षनाथका निष्कामकर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, विद्यावाचस्पति)

भारतीय धर्म-साधनाके इतिहासमें मोक्षकी प्राप्तिके चार मार्ग बताये गये हैं। ये मार्ग हैं—कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग। ज्ञानियों, भक्तों एवं योगियोंने कर्ममार्गकी आलोचना करते हुए उसे केवल स्वर्गका साधनमात्र माना, मोक्षका नहीं। 'मीमांसादर्शन' वेद-विहित कर्मों (यज्ञादि-विधानों)को ही मोक्षका अन्यतम साधन मानता है, न कि ज्ञान, भक्ति या योगको। इस प्रकार प्राचीन वैदकोंके दो मत उभरकर सामने आते हैं।

यदि दार्शनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो वेदान्तियों एवं सांख्यानुयायियोंकी कर्मविरोधी दृष्टि समीचीन है; क्योंकि कर्मोंके फल एक सीमा-रेखामें आबद्ध हैं, अतः उनका भोग समाप्त होनेपर प्राणीका पुनः संसरण होना निश्चित है। इसके अतिरिक्त कर्मोंके फलोंका भोग भोगने-हेतु भी उनका संसरण आवश्यक मानना पड़ता है। कर्म द्विविधात्मक है—पुण्यकर्म और पाप। इनमेंसे दोनों बिना भोग भोगाये हुए समाप्त नहीं हो सकते। यदि भोग रहेगा, तो बन्धन भी रहेगा। यदि बन्धन रहेगा तो उसे मोक्ष-प्राप्तिका साधन कैसे माना जा सकता है?[1] मीमांसकोंके कर्मयोगका शंकराचार्यने अपने पूरे ब्रह्म-सूत्र-भाष्यमें सर्वत्र मण्डन किया है; क्यों कि उसके बिना शुद्ध ब्रह्म-जिज्ञासा सम्भव नहीं।

गीताका कर्मयोग—भगवान् श्रीकृष्णने कर्मके तीन रूप बताये—कर्म, अकर्म और विकर्म। उन्होंने कर्म एवं अकर्ममें समन्वय स्थापित करते हुए एक तीसरे मार्ग 'निष्कामकर्मयोग' का प्रवर्तन किया—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

इस योगमें निम्न दृष्टि है—कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखे (गीता ४ । १८)। भगवान् श्रीकृष्ण कर्मवादका खण्डन नहीं करते, प्रत्युत उसका रूपान्तरण करते हैं। वे स्वल्प कर्म करनेवालोंको नहीं, प्रत्युत 'कृत्स्नकर्मकृत्'को महत्तर मानते हैं। उनका मार्ग कर्म छोड़नेका मार्ग नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण कर्म करनेका मार्ग है; क्योंकि समस्त कर्मोंका सम्पादक ही योगी होता है—'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।' कर्मयोगी तपस्वी, ज्ञानी एवं कर्मवादी तीनोंसे श्रेष्ठ है। गीता (६ । ४६) का साक्ष्य है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

भगवान् श्रीकृष्णने मोक्षके साधनके रूपमें कर्मको आधारशिला मानकर जिन दो साधन-मार्गोंका प्रतिपादन किया, वे निम्न हैं—

प्रथम कर्मसंन्यास (सांख्यमार्ग ज्ञानयोग) और द्वितीय निष्कामकर्मयोग (गीता ३ । ३)। भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही श्रेयस्कर बताते हुए भी कर्मयोगको गीता-(५ । १)में श्रेष्ठतर उद्घोषित करते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

कर्म-संन्यास एवं निष्काम-कर्मयोगकी एकता

भगवान् श्रीकृष्ण सांख्यमार्ग एवं निष्काम कर्ममार्ग-दोनोंको अपृथक् मानते हैं—

१-कर्मवादियोका कहना है कि यज्ञार्थकर्म बन्धन-कारक नहीं होते; यज्ञार्थसे पृथक् यह लोक कर्म-बन्धनवाला है—'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'।

(१) 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।'[1]
(२) 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।'[2]

दोनों मार्गोंका फलागम अभिन्न है

(१)'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।'
(२) 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥'

क्योंकि सांख्यमार्ग एवं कर्मयोग सूक्ष्मदृष्ट्या एक ही हैं—

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥'[3]

निष्काम-कर्मयोगके बिना संन्यासयोग दुष्प्राप्य है—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।'[4]

सांख्ययोग–तत्त्ववित् (सांख्ययोगी) देखता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोंको खोलता एवं मीचता हुआ भी ऐसा समझता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों-(विषयों-) में व्यवहार कर रही हैं, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ—

'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।'
'पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥'
'प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।'
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥'[5]

निष्काम-कर्मयोग—समस्त कर्मोंको परमात्माको समर्पित करके आसक्तिशून्य होकर करना या फलाकाङ्क्षासे रहित रहकर कर्तव्यकर्म करना ही निष्काम-कर्मयोग है—

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।'[6]
'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥'

'अकर्म' कर्मयोग नहीं है—**कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।** (गीता ३ । ८); **न निरग्निर्न चाक्रियः** (गीता ६ । १) । **मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**[7]— प्रत्युत आसक्तिशून्य होकर एवं सिद्धि-असिद्धिमें समत्वबुद्धि रखकर किया जानेवाला कर्म ही निष्काम-कर्म है । कर्मोंके प्रति समत्वभावकी यह दृष्टि ही 'योग' अर्थात् कर्मयोग है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥[8]

कर्मफल—सिद्धि-असिद्धिमें समता ही योग है—**'समत्व योग उच्यते'**। यह कौशल अन्य कुछ नहीं, प्रत्युत अनासक्तिपूर्ण समभावसे कर्मसम्पादनकी कला है । संसारासक्तिके कारण ही कर्मासक्ति होती है, अतः दुःखरूप संसारके साथ संयोग या आसक्तिका अभाव ही कर्मयोग है—

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।'[9]

'कर्मकौशल'में कर्त्ताकी फलमें आसक्ति न होकर अपने कर्मोंका परमात्मामें समर्पण होता है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।'[10]
'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।'[11]

संन्यासी एवं योगी प्रायः अभिन्न हैं । दोनोंमें कोई भेद नहीं है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

इस योग-विधानमें सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजय सभीमें समत्वबुद्धि रखकर कर्म करना पड़ता है । इसी निष्काम-कर्मयोगसे स्थितप्रज्ञता, स्थित-प्रज्ञताकी अवस्था, प्रतिष्ठिताप्रज्ञा एवं **'पद्मपत्रमिवाम्भसा'** वाले अनासक्ति-योगकी प्राप्ति होती है । कर्मशून्यता सम्भव ही नहीं है—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३ ।५)। कर्मका आरम्भ न तो 'नैष्कर्म्य है और न निष्काम-कर्मयोग ही है और न

१—गीता ५ । ४, ६ । २; २—गीता ५ । ४, ५ । ५; ३—गीता ५ । ५; ४—गीता ५ । ६; ५–गीता ५ । ८, ९; ६–गीता ५ । १०; ७–गीता २ । ४७; ८–गीता २ । ४८; ९–गीता ६ । २३; १०–गीता ३ । ३०; ११–गीता ४ । २४ ।

मोक्षप्राप्तिका साधन ही है (३ । ४) । कर्मेन्द्रियोंका संयमन करके मनसे इन्द्रियार्थोंका स्मरण करना भी कर्मयोग नहीं है । मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तिपूर्वक कर्मेन्द्रियोंसे कर्मोंका आचरण करना ही कर्मयोग है । कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठतर है । कर्म बन्धक अवश्य है, किंतु यदि यह परमात्मबुद्धिके अतिरिक्त शरीरबुद्धिसे न किया जाय तो यही कर्म मोक्षका साधन भी है—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'[1]

अनासक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म कर्म न करनेके तुल्य ही है; क्योंकि जिस प्रकार कर्माभावमें भोग या बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार निष्काम-कर्ममें भी बन्धन नहीं होता । निष्काम-कर्म शारीर-कर्म मात्र होता है, अतः ऐसे कर्मोंके करनेसे प्राणी कर्मफलसे लिप्त नहीं होता—जैसे स्वाभाविक क्रियाओंसे नहीं होता । भगवान्‌श्रीकृष्णने गीता-(३ । ३०)में अर्जुनको निम्न आदेश देकर सम्पूर्ण कर्मयोगका पूर्णस्वरूप विवृत कर दिया है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

गोरक्षनाथ और निष्काम-कर्मयोग—

भगवान् गोरक्षनाथजी कर्ममार्गका खण्डन करते हुए भी कर्मयोगके समर्थक हैं; इसीलिये वे कहते हैं—

हँसिबि खेलिबा रहि बा रंग । काम क्रोध न करिबा संग ।
हँसिबा खेलिबा गाइबा गीत । दिढ करि राषि आपना चीत ॥
हसिबा खेलिबा धारिबा ध्यान ।
अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान ॥

हसै खेलै करै मन भंग ।
ते निहचल सदा नाथ के संग ॥ ५ ॥
अहनिसि मन लै उनमन रहै, गमकी छाँड़ि अगमकी कहै ।[2]
छाड़ै आसा रहै निरास । कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास ॥
यह मन्नु के जै उनमत रहै । तौ तीनि लोक की बार्ता कहै ॥
उनमनि रहिबा भेदन कहिबा । पीयबा नीझर पाणीं ॥
लंका छाड़ि पलंका जाइबा तब गुरुमुख लेबा बाणीं ॥
ऐसा गोरख सति ते सुरिबा । उनमनि मन मैं बास ॥

गोरक्षनाथजीकी दृष्टि निष्कामताकी ओर उतनी नहीं है, जितनी कि मनोन्मनीकी ओर है । उनका योग निष्काम-कर्मयोगको प्रथम सोपान मानता है और उन्मनीयोगको अन्तिम । मनकी क्रीड़ा दोनों योगी (भगवान् श्रीकृष्ण एवं भगवान् गोरक्षनाथ) बंद करना चाहते हैं; किंतु दोनोंमेंसे एक मनके अस्तित्वके उन्मूलनको लक्ष्यगत न रखकर मनके बीज कामना-(फलासक्ति—'वासना')को नष्ट कर देना चाहता है और दूसरा मनके अस्तित्वका उन्मूलन कर देना चाहता है । एकमें भगवदर्पण-बुद्धि अथवा निष्काम-कर्मकी दृष्टि है तो दूसरेमें कामनासहित पूरे मनके निःशेष ध्वंसकी दृष्टि है । आशाको दोनों त्याज्य मानते हैं—

'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।'
वैरागी होय करै आसा नाथ कहै तीन्यौं आसा पासा ।

कबीरदास भी ऐसा ही कुछ कहते हैं—

'आसाका ईंधन करूँ मनसा करूँ भभूत ।'

× × ×

कबिरा जोगी जगत गुरु तजै जगत की आस ।
जो जग की आसा करै जगत गुरु वह दास ॥
आसन मारे का भया मुई न मनकी आस ।
ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास ॥

आशा, तृष्णा, कामना, आसक्ति, फलाकाङ्क्षा एक ही भावकी विभिन्न आख्याएँ हैं । इन सबका मूल है मन; अतः कबीर भी मनोमारणके पक्षपाती हैं—

मन को मारूँ पटकि के टूक टूक होइ जाय ।
मन मनसा को मार करि नन्हा करिके पास ।
मन मनसा को मारि दै घट ही माहीं घेर । (—कबीर)

गोरक्षनाथजी भी इसीका समर्थन करते हैं—

'मन मारै मन मरै मन तारै मन तिरै ।'
मारिबा रे नरा मन द्रोही । जाकै बप बरण नाही मास लोही ॥
मन मारिबा रे गहि गुरु ग्यान बाण,
मारिये पंच भू मृगला जे चरै बुधि बाड़ी

१-गीता ३ । ९; २-(क) ३ । ३० । २ । १ । ७ (ख) ३ । ८ (ग) गोरखबानी (पृ० ३) (घ) गो० बा० ।

वस्तुतः 'निष्काम-कर्मयोग'में मनोमारणका लक्ष्य नहीं है, प्रत्युत मनको भगवदर्पित करनेका लक्ष्य है—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।'
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६ । २५-२६)

योगिराज श्रीकृष्णका मत है कि अभ्यास एवं वैराग्यद्वारा मनको वशीकृत करके निष्काम-कर्म करते हुए निःशेष कर्मोंको भगवदर्पित कर देना चाहिये । वे गीता-(५ । १०)में कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

इस भगवदर्पित कर्म-विधानसे कर्मयोगी कर्मपङ्कसे उसी प्रकार अस्पृष्ट रहता है, जैसे जलसे पद्मपत्र । **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** ही इस योगका मूलसूत्र है ।

गोरक्षनाथ मनकी संकल्प-शून्यताको मोक्षप्राप्तिका साधन मानते हैं, जब कि गीताकार मनके भगवदर्पित संकल्पको । जहाँ मन निश्चल हो वहाँ मनोन्मनी होती है—

अमनस्कस्य सुतरां यतः सा चोन्मनी दशा ॥
मनो वै निश्चलं यत्र तदुक्तं चोन्मनी दशा ॥
(त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड ३५ । ११९-२०)

श्रीकृष्णके कर्मयोगमें मनका निरोध उसका विनाश करनेके लिये नहीं, प्रत्युत उसके प्रवाहको ईश्वरोन्मुख करनेके लिये तथा उसके संकल्पोंको भगवदर्पित करनेके लिये किया जाता है । इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्णका—कर्मयोग और योगीश्वर गोरक्षनाथकी उन्मनी-दशा मूलतः मोक्ष-साधिका हो जाती है ।

संत ज्ञानेश्वर-प्रतिपादित—निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीकेशव रघुनाथ कान्हेरे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विशारद)

भारतके पूज्य आचार्यों, संत-महात्माओं, मनीषियोंने अपने-अपने अनुभूतिके आधारपर 'निष्काम-कर्मयोग'के सन्दर्भमें विचार व्यक्त किये हैं । परंतु संत ज्ञानेश्वर महाराजने 'ज्ञानेश्वरी'के माध्यमसे निष्काम-कर्मयोगका जो विवेचन किया है, वह अपने-आपमें अनूठा है, स्वयंसिद्ध है । सामान्यतः लोग ऐसा समझते हैं कि किसी भी प्रकारके कर्मका त्याग करना निष्काम-कर्मयोग होता है । ऐसी विचारधाराएँ व्यक्त करनेवालोंके समक्ष संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'मृत्तिकेचा वीटु । घेउनि काय करील घटु ।
केउता तातु पटु । सांडील तो ॥
तेवींचि वह्नित्व आंगी । आणि उबे उबगणे आगी ।
तो दीपु प्रमेलागी । द्वेषु करील काई ॥
हिंगु त्रासिला धाणी । तरी कैचे सुगंधत्व आणी ।
द्रवपण सांडूनि पाणी । केवी राहेल ॥
तैसा शरीराचेनि आभासे । नांदतु जंव असे ।
तंव कर्म त्यागावे पिसे । काइसे तरी ॥'
(ज्ञाने० अ० १८ । २१९–२२२)

संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—'मिट्टीका तिरस्कार मटका कैसे कर सकता है ? वस्त्र सूतका त्याग किस प्रकार कर सकेगा ? अग्निमें आग मूलतः विद्यमान है तो वह उष्णताका त्याग कैसे कर सकता है ? हींग अपनी उग्र गंध छोड़कर फूलों-जैसी मधुर सुगंध कैसे प्राप्त कर सकता है ? क्या जल अपनी द्रवता त्याग सकता है ?' जब यह सब असम्भव है तो कर्म न करना भी असम्भव है; क्योंकि शरीरका उपादान कारण कर्म ही है । कर्मके अभावमें हम जीवित ही नहीं रह सकते; क्योंकि—

जें श्वासोच्छ्वासवरी । होत निजेलियाही वरी ।
कांहीं न करणेंचि परी । होती जयाची ॥
(ज्ञाने० अ० १८ । २२५)

कर्म न करना नैष्कर्म्य नहीं है, कर्तृत्वमद और फलास्वादका परित्याग कर कर्म करना निष्कामकर्म कहलाता है। परंतु कुछ लोग कर्म न करते हुए योगी 'निष्कामकर्मयोगी' कहलानेकी लालसा रखते हैं, ईश्वर-साक्षात्कारका अधिकार मानते हैं। ऐसे महानुभावोंके सामने ज्ञानेश्वर महाराज प्रश्न रखते हैं—

सांगे पैलतीरा जावे। ऐसे व्यसन कां जेय पावे।
तेथ नावेते सजावे। वेड केवीं॥
ना तरी तृप्ति इच्छिजे। तरी कैसेनि पाकु न कीजे।
कीं सिद्धुही न सेविजे। केवी सांगे॥

(ज्ञाने० अ० ३ । ४७-४८)

नदीके उस पार जानेकी इच्छा है, कैसे जाय यह समस्या है; ऐसे समय नाव होनेपर भी उसका त्याग करना कैसे सम्भव है? उसी प्रकार भोजनसे प्राप्त होनेवाली संतुष्टिकी, तृप्तिकी अनिवार्य इच्छा है; परंतु पाक-सिद्धि करना नहीं चाहता अथवा खाना तैयार होनेपर भी उसे खाना नहीं चाहता—कर्म ही करना नहीं चाहता। ऐसे समय उस मनुष्यको क्या कहा जाय? अतएव—

'म्हणोनि जे जे उचितका आणि अवसरें करूनि प्राप्त। ते कर्म हेतु रहित। आचर तूं॥'

(ज्ञाने० अ० ३ । ७८)

अतः जो-जो करणीय और प्रसङ्गानुसार प्राप्त हुआ विहित कर्म है वह फलाशा छोड़कर करना ही श्रेयस्कर है। संत ज्ञानेश्वर महाराजका आशय है कि कर्म बाधक नहीं हैं। कर्ममें 'मैं'की भावना, कर्तृत्वमद व फलकी आशा (फलास्वाद), अर्थात् 'मैं' कर्मकर्ता हूँ ऐसी अहंता और कर्मसे उत्पन्न होनेवाला फल मुझे ही प्राप्त हो, ऐसी फलाशा ही बाधक है। इसीसे जीव बन्धनमे पडता है। इसलिये—

'यया कर्मातें सांडिती परी। एकीचि अवधारीं।
जे करितां न जाइजे हारी। फलाशेचिये॥'

(ज्ञाने० अ० १८ । २२७)

इस जगत्में विहितकर्मोंको छोड़नेका एकमात्र उपाय है कि विहित कर्म करनेपर भी फलाशाके बन्धनसे मुक्त रहो। फलाशा छोड़कर जो कर्म करता है वस्तुतः वही निष्कामकर्मयोगी कहलाता है। और, वही कर्म 'निष्कामकर्म' कहलानेयोग्य होता है। अतः—

म्हणोनि प्रवृत्ति आणि निवृत्ती। इयें वोझीं ने घे मती।
अखंड चित्तवृत्ती। आठवी मातें॥
आणि जे जे कर्म निपजे। ते थोडें बहुत न म्हणि जे।
निवांतचि अर्पिजे। माझ्या ठायीं॥

(ज्ञाने० अ० १२ । १२२-१२३)

'किसी भी कर्मकी प्रवृत्ति या निवृत्तिका बोझ अपनी बुद्धिपर न लेते हुए अपनी चित्तवृत्तिसे परमेश्वरका ही स्मरण करना चाहिये। और, जो-जो कर्म करे, उसे कम या अधिक न कहते हुए शान्तचित्तसे ईश्वरार्पण करना चाहिये। जो मनुष्य इस भावनासे कर्म करता है, उसे ही 'त्यागी' कहा जाता है।' संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'कर्मफल ईश्वरीं अर्पे। तत्प्रसादें बोधु उद्दीपे॥

कर्मका फल ईश्वरार्पण हो जानेके कारण स्वभावतः उसके प्रसादसे आत्मज्ञान प्रकट होता है—

वेतोचि त्यागी त्रिजगती। जेणें फलत्यागें निष्कृती। ने ले कर्म॥' (ज्ञाने० अ० १८ । २३२)

जिससे कर्मके फलका त्याग करके उसे नैष्कर्म्य-स्थितितक पहुँचा दिया, वही इस त्रैलोक्यमें (सच्चा) 'त्यागी' है और इसी अनुसंधानसे शरीरका त्याग करनेके उपरान्त सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होता है। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'ऐसिया मद्भावना। तनुत्यागीं अर्जुना॥
तू सायुज्य सदना। माझिया ऐसी॥'

(ज्ञाने० अ० १२ । १२४)

पूर्णकाम श्रीरामकी निष्काम शङ्कर (श्रीरामेश्वर)की पूजा

रामचरितमानसमें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—श्रीओंकारजी त्रिपाठी, शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

लक्ष्मणजीके अनेक प्रश्नोंका संक्षिप्त और अन्तिम उत्तर देते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—जो मन, वचन और कर्मसे निष्कामकर्मयोगी बनकर मेरा भजन करते हैं, उनके हृदयकमलमें मैं सदा निवास करता हूँ—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥

(मानस ३ । १६)

मानस एक समन्वय ग्रन्थ है । उसके रचनाकालमें वैष्णव तथा शैवोंमें कटुता थी । भक्त शिरोमणि तुलसीदासजीने भगवान् शंकरको भी भगवान् श्रीरामके समकक्ष ही आदर दिया । उन्होंने 'मानस'को उन्हींका प्रसाद माना—

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी । रामचरितमानस कवि तुलसी ॥

(मानस १ । ३५)

उन्हीं भगवान् शंकरकी अर्धाङ्गिनी भवानीने विज्ञानी मुनिवरों-(सप्त-ऋषियों-)को इस प्रकार उत्तर दिया—

सुनि बोली मुसुकाइ भवानी । उचित कहेहु मुनिवर बिग्यानी॥
तुम्हरे जान कामु अब जारा । अब लगि संभु रहे सविकारा ॥
हमरे जान सदा सिव जोगी । अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥

(मानस १ । ८९ । १–३)

गोस्वामीजीने भगवान् शंकरको भवानीके शब्दोंमें निष्काम और अभोगी बताया है । पार्वतीके शब्दोंमें भगवान् शिव निष्काम-कर्मयोगी हैं तथा चिदानन्द सुखधामस्वरूप हैं—

चिदानंद सुख धाम सिव बिगत मोह मद काम ।

ऐसे निष्काम भगवान्की जो उपासना करता है, उसके लिये मानसके प्रतिपाद्य प्रभु श्रीरामका कथन है—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि । भगति मोरि तेहि संकर देइहि ॥

(मानस ६ । २)

निष्कामभावसे कपट छोड़कर जो भगवान् शंकरकी सेवा करेंगे, उन्हें श्रीमहादेवजी मेरी भक्ति देंगे; क्योंकि—

'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ।'

हमारी कामनाएँ चतुर्वर्गके रूपमें ख्यातिलब्ध हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इन कामनाओंके त्यागनेपर भक्तिकी प्राप्ति होती है, जिसे 'मानस'के सर्वाधिक प्रभावी पात्र भरतजीने तीर्थराज त्रिवेणीजीसे प्रयागमें स्वधर्म त्यागकर याचनाकी है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ॥

(मानस २ । २०४)

रामपदमें रति ही मानसका मुख्य प्राप्य तत्त्व है । गीता (२ । ७१) कहती है—

'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निस्पृहः ।'

आचार्य शंकर निस्पृहकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

'शरीरधारणमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य स निस्पृहः'

(गीता-शाकरभाष्य)

अर्थात् शरीर-धारणमात्रमें भी जिसकी लालसा नहीं है वह निस्पृह कहा जाता है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

(गीता २ । ७२)

यह सर्वोच्च स्थिति है स्थितप्रज्ञकी । यह एक ऐसी वृत्ति है, जिसके बाह्य-दर्शन नहीं हो सकते । यह पूर्ण विकसित योगीकी स्थिति है । इसमें वह अपने शरीरको चिति-शक्तिके हाथोंमें सौंप देता है (—पाण्डुरङ्गशास्त्री) । तभी तो मानसकी सर्वाधिक वैचारिक निष्काम-सम्पत्तिकी कामना संतप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने सुन्दरकाण्डकी वन्दनाके श्लोकोंमें प्रदर्शित की है—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥

अपनेको हृदयसे निष्काम बनानेकी अभ्यर्थना व्यक्त की है । वे कहते हैं—'घट-घट-व्यापी अन्तर्यामी भगवन् !

मैं सत्य कहता हूँ; मेरे हृदयमें कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलनायक! मुझे पूर्ण भक्ति दीजिये, मेरे चित्तको कामादि दोषोंसे रहित कीजिये।'

'भक्ति एक कृति (कर्म) है। जो 'भज सेवायां' धातुसे वाच्य है। इसलिये वह कर्मयोगमें आ जाती है। भक्ति जबतक अपरिपक्व अवस्थामें होती है तबतक कर्मनिष्ठामें और परिपक्व होनेपर ज्ञान निष्ठामें समाहित हो जाती है।' (-पाण्डुरंग शास्त्री)। तथा च—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
(रा०च०मा० ७। ११४)

भक्त भगवान्‌से विभक्त (अलग) नहीं होता, जैसा कि 'मानस'के विलक्षण भक्त सुतीक्ष्णने निष्काम होकर प्रभुसे माँग की है—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥
(रा०च०मा० ३। ११)

इस विलक्षण भक्तने कहा कि मुझे तो 'समुझि न परइ झूठ का साँचा'। फिर भी भगवान् श्रीरामसे निष्काम हृदयस्थ होनेकी माँग की, जिससे वह भगवान्‌से विभक्त (अलग) न हो सके। यही नहीं, भगवान् रामने चित्रकूट-निवासके पहले आदिकवि-(वाल्मीकि-)से निवास-के लिये प्रश्न किया। इस प्रश्नका ऋषिराजने इस प्रकार उत्तर दिया—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥
(रा०च०मा० २। १३१)

'भगवन्! आप उसके हृदयमें निवास करें, जो निष्काम-कर्मयोगी तथा आपके सहज स्नेही हों। भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखपद्मसे विनिःसृत किया है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'
(गीता १८। ६१)

इसे अन्यत्र भी देखें—

ईशनशील नारायणः सर्वप्राणिनां हृद्देशे शुक्लान्तरात्मभावो विशुद्धान्तःकरण इति।'(शां० भा०)

'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋग्वेद ६।९।१), 'तिष्ठति स्थितिं लभते।' (उसीका शांकरभाष्य) अर्थात् सबका शासन-करनेवाला हृदय-देशमें स्थित नारायण है और जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध हो उसका नाम अर्जुन है। वही निष्काम-कर्मयोगी है। भक्तराज विभीषणने भगवान् श्रीरामकी शरणागति प्राप्त कर कितने मार्मिक वचन कहे हैं—

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥
(रा०च०मा० ५। ४६)

कामनाएँ शोकधाम हैं, अतः जबतक जीव निष्काम-भावसे रामको नहीं भजता, तबतक उसकी कुशल नहीं, उसे स्वप्नमें भी विश्राम नहीं मिलता। मानसके प्रधान वक्ता काकभुशुण्डिजीने भी निष्कामभावके लिये संतोष तथा भगवन्नामको आवश्यक बतायी है—

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

तथा—

राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
(७। ८९। १)

बिना संतोषके कामनाओंका नाश नहीं होता, उनके नाशके बिना स्वप्नमें भी सुखोपलब्धि नहीं होती। जिस प्रकार स्थलके बिना पादप-(वृक्ष-)की उत्पत्ति असम्भव है, उसी प्रकार रामभजनके बिना कामनाओंका मिटना असम्भव है। यह एक प्रश्न है, जिसका सटीक उत्तर गोस्वामीजीके नामसे प्रसिद्ध इस निम्नलिखित दोहेमें है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकत, रबि रजनी एक ठाम॥

जहाँ राम होंगे, वहाँ कामनाएँ न होंगी। जहाँ कामनाएँ होंगी, वहाँ राम न होंगे—ठीक उसी प्रकारसे, जिस प्रकारसे सूर्य तथा रात्रि एक स्थानपर नहीं रह सकते। इस दृष्टिसे मानस भी निष्काम-कर्मयोगका ही अनुमोदक है।

सनातनधर्ममें कर्मयोग*

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, बी० एल०, साहित्याचार्य, एडवोकेट)

कर्मयोग समझनेके पहले ज्ञाता और कर्ता, ज्ञान और कारण एवं ज्ञेय और कर्मको समझ लेना आवश्यक है। ज्ञाता वह है—जो जानता है, कर्त्ता—वह जो करनेवाला है। जीवात्मा और परमात्माके एकत्वका सम्यक् ज्ञान हो जानेपर, जिस आत्मज्ञको संसारसे विरक्ति हो जाती है, वही वास्तविक ज्ञाता या ज्ञानी है। आत्मा इन्द्रियातीत है, न उसे वाणीसे कोई कह सकता है, न मनसे कोई मनन ही कर सकता है। श्रुति स्वयं कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

(तैत्तिरीयोप० २। ४। ९)

आत्मज्ञके सम्बन्धमें मन अर्थात्—ज्ञानेन्द्रियाँ वाणी अर्थात्—कर्मेन्द्रियाँ भी उसे प्राप्त न करके लौट जाती हैं तथा जो ज्ञाता-ज्ञानी आत्मज्ञ होकर भी आसक्ति-रहित फलत्यागपूर्वक यावज्जीवन जनशिक्षणार्थ धर्मानुसार सत्कर्म करना जारी रखते हैं, उन्हें सात्त्विक कर्त्ता या कर्मयोगी कहते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(गीता १८। २६)

आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर धैर्य और उत्साहके द्वारा कार्यके सफल या विफल होनेपर हर्ष-शोकादि विकारोंसे मुक्त, समभाववाला सात्त्विक कर्त्ता ही 'कर्मयोगी' कहा जाता है। ज्ञानकी व्युत्पत्ति है—**'ज्ञायते ज्ञेयपदार्थः—आत्मा येन, तज्ज्ञानम्'** जिससे ज्ञेय आत्माका विवेक हो जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। भगवद्गीताका 'सात्त्विक ज्ञान' भी यही है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(गीता १८। २०)

'जिस ज्ञानसे पृथक्-पृथक् दृश्यमान सब भूतोंमें एक अविनाशी आत्मभावको अविभक्त अर्थात् समभावसे स्थित देखा जाता है, उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान समझें।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(गीता १८। ३०)

'प्रवृत्तिमार्ग—कर्मयोग, निवृत्तिमार्ग—ज्ञानयोग, कार्य-कर्तव्यकर्म, अकर्म—अकर्तव्यकर्म, भय और अभय, बन्ध तथा मोक्षको जो बुद्धि समझती है, वह सात्त्विक बुद्धि है। गीता १३। १२के अनुसार आत्मा सद्-असत्से परे है, इसे जानकर मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है—**'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'** सात्त्विक कर्मकी व्याख्यामें भगवान् श्रीकृष्ण (गीता १८। २३में) कहते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

'जो कर्म शास्त्रोंमें नियत किया हुआ है तथा जो कर्तृत्वाभिमानसे रहित फलको न चाहनेवाले रागद्वेष-विरहित सात्त्विक कर्ताके द्वारा किया जाता है, उस कर्मको सात्त्विक कर्म कहते हैं। इसी कर्मको करनेके लिये गीताका उपदेश है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समभाव होकर योगमें स्थित हो विहित कर्मोंको करो। योगका अर्थ है—समत्व अर्थात् सफल या निष्फल अवस्थाओंमें समभावसे रहना। इसी अर्थको आगे २। ५९में गीताकारने और स्पष्ट किया है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** अर्थात् समत्वरूपी योग ही कार्य करनेमें कुशलता या चतुराई है।

* सोऽहं विद्यामन्दिर, छपरामें गीताजयन्तीके अवसरपर 'ओऽहम् बाबा'के प्रवचनका सारांश।

गीताका कर्मयोग ही शुद्ध वैदिक निगमागम पुराणादि-शास्त्र-प्रति-पादित अनादिकालसे प्रचलित भागवत धर्म है—सनातन-शाश्वत प्रवृत्तिमार्ग है। इस योगका तत्त्वज्ञान सर्वप्रथम विवस्वान् लोकनाथ सूर्यदेवको हुआ। यही आदिदेव मनुके जनक हैं—आदमके रूप हैं। ये ही मनु आदम हैं—जिन्होंने मानवको, आदमीको उत्पन्न किया और उन्हें विवेक-ख्याति दी—उन्हे ज्ञान-विज्ञानसे परिपूर्ण कर सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाया। यजुर्वेद अध्याय चालीस, मन्त्र दो के अनुसार—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**' इस असार संसारमें यावज्जीवन नियतकर्मोंको करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। शास्त्रोंमें नियत कर्म दो प्रकारके हैं—सामान्य और विशेष।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६२। ९२)

ये सत्कर्म ही दश धर्मके नामसे लक्षित हुए हैं। मनुने विशेष कर्म वर्णके आधारपर निर्दिष्ट किया है। भजन—भगवान्को मानना और पूजना, अध्ययन—शास्त्र पढ़ना और दान देना—ये तीन कर्म द्विजमात्र—ब्राह्मण, क्षत्रिय (शासक) और वैश्य—कृषक, व्यापारी या उद्योगी—तीनोंके लिये नियत कर्म एक समान हैं। इसके अतिरिक्त तीनोंके जीविकोपार्जनके तीन विशेष कर्म हैं—ब्राह्मण अपनी जीविका अध्यापन, प्रवचन, भजन और कभी दान लेकर भी चलाये। क्षत्रिय—शासक वर्गके लिये प्रजारक्षण और शासनका कार्य विहित है। वैश्यकी जीविकाके लिये खेती, उद्योग, व्यापार, व्याज और पशुपालनके काम गिनाये हैं और शूद्रकी जीविकाके लिये सेवाका विधान किया गया है। वस्तुतः भगवान्ने गुण-कर्म-विभागपूर्वक वर्णोंकी व्यवस्था सृष्टिके आरम्भमें स्वयं की है, उन्होंने स्वयं ही इस—व्यवस्थाके संदर्भमें कहा है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी व्यवस्था गुण और कर्मोंके भेदसे मैंने की है। इन वर्णोंके कर्म गीता (१८। ४१—४४)में निर्दिष्ट हैं।

अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, तपस्या, धर्मार्थ कष्टसहन, पवित्रता, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान अर्थात् वेद-शास्त्रोंका ज्ञान और विज्ञान—ईश्वर विषयक ज्ञान तथा आस्तिक बुद्धिका होना—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके भी पृथक्-पृथक् स्वाभाविक धर्म-कर्म बताये गये हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय व्यवस्थामें वर्णकी ही प्रधानता है। विश्वमें ये चार ही वर्ण हैं, इन चारों वर्णोंके अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण नहीं है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥
(मनु० १०। ४)

इसी प्रकार दूसरे धर्मशास्त्रोंमें भी चारों वर्णोंके ही कर्म पृथक्-पृथक् नियत किये गये हैं, अन्योंके नहीं। अतः मानवमात्रको चातुर्वर्ण्यमे ही समाविष्ट होना है। गीतामें कर्मयोगकी व्याख्या करते हुए भगवान्ने यही कहा है कि ज्ञानी हो या अज्ञानी, पण्डित हो या मूर्ख, ब्राह्मण हो या शूद्र—सभीको, मानवमात्रको जीवनभर निष्काम होकर और रागद्वेषसे रहित होकर शास्त्र-विरुद्ध कर्मोंका परित्याग करते हुए रहनेसे ही उसके जीवनका लक्ष्य पूर्ण होता है। यही सनातन धर्मका 'कर्मयोग' है।
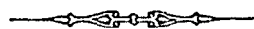
जैनसाधना-पद्धतिमें निष्काम-कर्मयोग

(१)

(लेखक—पं०श्रीचन्दनलालजी जैन, शास्त्री, साहित्यरत्न)

यह ससार जड़ एवं चेतन दो पदार्थोंद्वारा वना है। जीव, जिसे आत्मा भी कहते हैं, ज्ञान एवं दर्शनमय तत्त्व है। अजीव (जड़) तत्त्वोमें 'पुद्गल' एक-मूर्तिक तत्त्व है। दिखायी देनेवाले सभी पदार्थ 'पुद्गल' कहे जाते हैं। इन्हीं पुद्गलोंमें कुछ पुद्गल ऐसे होते हैं, जिन्हें 'कार्मण पुद्गल' कहते हैं। यह जीव योग-शक्तिके द्वारा उन कार्मण-पुद्गलोंको आकर्षित करता है। ये कार्मण-पुद्गल इस लोकमें सर्वत्र भरे हुए हैं। सांसारिक प्राणिद्वारा किये गये प्रत्येक मानसिक, कायिक एवं वाचिक क्रिया-कलापोंकी प्रतिक्रिया होती है और उस प्रतिक्रियाके परिणामस्वरूप वे पुद्गल-कार्मण इस आत्माके साथ मिल जाते हैं और शुद्ध आत्माको विकृत कर देते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि परिणामोके कारण अशुभ (दुःखदायी) कर्मोंका बन्ध होता है एवं ईश्वर-भक्ति, पूजा-पाठ, साधु-सेवा, दान, परोपकार आदि सत्कृत्योके करनेसे शुभ (सुखदायी) कर्मोंका वन्ध होता है। इसी वातको आचार्य उमास्वामीने अपने मोक्षशास्त्रमें इस प्रकार कहा है—

'कायवाङ्मनस्कर्म योगः, स आश्रवः, शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' । (तत्त्वार्थसूत्र ६ । १—३)

'मन, वचन एवं शरीरकी क्रियाको योग कहते हैं, वही कर्मोके आनेका कारण 'आश्रव' कहा जाता है। शुभ-कार्योंसे शुभ कर्म एवं अशुभ कार्योंसे अशुभ कर्म आते हैं। इस प्रकार—'जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा' या 'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करहिं सो तस फल चाखा' के सिद्धान्तानुसार यह प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। इसमें कोई रियायत सम्भव नहीं।

कर्मोंके भेद

प्राणियोंकी मानसिक, वाचिक तथा कायिक क्रियाएँ अनेक प्रकारकी होती हैं; उसी प्रकार कर्म भी अनेक प्रकारके होते हैं। परंतु मोटे तौरपर कर्मोंके स्वभावके अनुसार उन्हें आठ भागोमें विभक्त किया गया है—

१—ज्ञानावरण, २—दर्शनावरण, ३—वेदनीय, ४—मोहनीय, ५—आयु, ६—नाम, ७—गोत्र, और ८—अन्तराय।

जैनमतके अनुसार जो कर्म जीवके ज्ञान-गुणको प्रकट नहीं होने देते, उन्हे 'ज्ञानावरण कर्म' कहते हैं। जीवके दर्शन-गुणका निरोध करनेवाले कर्मको 'दर्शनावरण' कहते हैं। जीवको सुख तथा दुःखका अनुभव करानेवाले कर्मको 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। जीवको मोहितकर अपने स्वभावसे भ्रष्ट करनेवाला कर्म 'मोहनीय' है। जीवनको नारकीय, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवके शरीरमें रोक रखनेवाला 'आयु-कर्म' है। जीवके शरीर और उसके अङ्ग, उपाङ्ग वनानेवाला 'नामकर्म' कहलाता है। जिस कर्मके उदयसे जीवको उच्च कुल तथा नीच कुल प्राप्त होता है, उसे 'गोत्र-कर्म' कहते हैं। किसी भी कार्यमें विघ्न डालनेवाले कर्मको 'अन्तराय' कर्म कहते हैं।

कर्मोंका क्षय

कर्मफलके विषयमें इतना ध्येय है कि किये हुए कर्मका फल तो अवश्य भोगना पड़ता है, परंतु प्राणी अपने पुरुषार्थ-के द्वारा अशुभ कर्मोंको शुभमें परिवर्तित कर सकता है। वह कर्मोंकी शक्ति तथा वेगको न्यूनाधिक कर सकता है। जिस प्रकार किसी व्यक्तिको भंगका नशा चढ़ गया हो तो उसको खटाई खिलानेसे उसका नशा उतर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य सद्विचार, शुभाचरण, व्रतोपवास एवं तपस्याके द्वारा अपने अशुभफलदायी कर्मोंको शुभफलदायी बना सकता है। इतना ही नहीं, कर्मोंको नष्ट भी किया जा सकता है। यों तो हरसमय कर्म अपना फल देकर अलग होते रहते हैं, परंतु साथ-ही-साथ नये कर्म भी बँधते रहते हैं।

पर जब ज्ञानी आत्मा अपनी दृष्टिको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर अन्तरंगकी ओर ले जाता है, तब उसके द्वारा कर्मोंका होना रुक जाता है और बन्धनप्रद कर्मोंकी संख्या घटती जाती है। अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि रागयुक्त कर्मोंसे ही बन्धन होते हैं, तत्त्व-दृष्टिसे नहीं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

इस प्रकार जब आत्माकी दृष्टि बाहरी क्रिया-कलापोंसे हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है, तब राग-द्वेष, क्रोध-मोह, लोभ, ममता आदि दुर्भाव स्वयं दूर हो जाते हैं और पुराने कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है तथा ज्यों-ज्यों आत्माके सम्पर्कसे कर्म क्षीण होते जाते हैं, त्यों-त्यों आत्माके स्वगुण विकसित होते जाते हैं और एक समय ऐसा आता है कि वह आत्मा जन्म-मरण आदिसे छूट जाता है और विकाररहित आत्माका शुद्ध परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। ऐसा कर्मरहित आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है।

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिसे यह कर्म-सिद्धान्त बढ़िया सिद्धान्त है कि जो प्रत्येक प्राणीको दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त करनेसे रोकता है और सदाचार, परोपकार, शान्ति और सह-अस्तित्वकी ओर प्रेरित करता है। यह 'जियो और जीने दो'का उत्तम मार्ग दिखाता है। संसारी आत्मा कर्मबन्धके कारण परतन्त्र (पराधीन) हो जाता है और संसारमें भटकता रहता है, परंतु सद्विचार-धर्माचरण, तपस्या आदिके द्वारा कर्मोंके चंगुलसे मुक्त हो जाता है। यही जैन-साधना-पद्धतिमें कर्मयोगका सामान्य सिद्धान्त है।

(२)

(लेखक—मुनि श्रीसुमेरमलजी)

प्रायः सभी अन्य आगमोंके समान जैन आगमोंमें भी निष्कामकर्मपर बल दिया गया है। भारतीय धर्मदर्शन आकाङ्क्षामात्रको अज्ञानका परिणाम मानता है। ज्ञानीका अर्थ ही है—आकाङ्क्षारहित। अध्यात्मजगत्में क्रियाका स्थान है, ज्ञानका भी स्थान है, किंतु अभिलाषाका स्थान कहीं नहीं है। अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति भले साधक बन गया हो, घर-बार छोड़कर अरण्यवासी भी हो गया हो, पर अध्यात्मजगत्में वह प्रवेश नहीं पा सकता। अभिलाषा-युक्त धार्मिक क्रिया करनेसे विशेष आत्मिक उज्ज्वलता नहीं होती। वह केवल पुण्यके बन्धनोंमें ही उलझता जाता है। ('पुण्य-बन्धन' भी 'बन्धन' है।')

काजल बनानेवाले दीपकसे आठ अङ्गुल ऊपर माटी आदिका ढक्कन रखते हैं। ढक्कनपर गीला कपड़ा रख देते हैं, गीले कपड़ेसे ढक्कनमें सीलन आ जाती है। सीलनके कारण लौसे काजल खूब निकलने लगता है। लौ वहाँ है, किंतु ऊपर सीलनवाला ढक्कन होनेसे काजल ज्यादा पैदा होने लग जाता है। प्रकाश देनेवाली लौ भी ज्यादा काजल देने लग जाती है। यही प्रक्रिया अभिलाषायुक्त धर्मक्रिया करनेमें होती है। आत्मोज्ज्वलता करनेवाली धर्मकी साधनापर अगर आकाङ्क्षाका सीलनवाला ढक्कन लग गया तो पुण्यका काजल ही अधिक पैदा होगा, आत्मोज्ज्वलताकी बात गौण हो जायगी।

जैन-साधना-पद्धतिमें भौतिक अभिलाषायुक्त जप-तप-संयम आदि क्रियाओंको अकाम निर्जराका साधन माना है। अकाम निर्जराका अर्थ है—आत्मशुद्धिके अतिरिक्त किसी भी भौतिक अभिलाषापूर्तिके लिये की जानेवाली धर्म-क्रिया। उससे यत्किंचित् उज्ज्वलताका आभास होता है। इसलिये उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। जैन-साधना-पद्धतिमें इसका निषेध किया गया है। 'दशवैकालिक' जैन-सूत्रमें कहा है कि इस लोककी भौतिक अभिसिद्धिके लिये

तप नहीं करना चाहिये, यश-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये तप नहीं करना चाहिये, मात्र आत्मोज्ज्वलताके उद्देश्यसे ही तप करना चाहिये। तपस्याकी भाँति आचार-धर्मादिका अनुष्ठान भी मात्र आत्मोज्ज्वलताकी दृष्टिसे ही करनेका विधान है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्यसे आचार-पालन करनेका भी निषेध है। साधनाके साथ वासनाका मेल ही नहीं बैठता, अभिलाषा ही वासना है। इसे रखकर साधना करना स्वयं बन्धन है। जैन-दर्शनमें तो पुण्यकी वाञ्छा करना भी निषिद्ध है। पुण्य स्वयं भौतिक है, उससे मिलनेवाली उपलब्धियाँ भी सब भौतिक हैं। आचार्य भिक्षुने कहा है—'जिसने पुण्यकी वाञ्छा (अभिलाषा) की, उसने कामभोगोंकी अभिलाषा कर ली'[1] कामभोगोंकी अभिलाषा स्वयं पाप है, हेय है, आत्मोज्ज्वलतामें बाधक है।

जैन-शास्त्रोंमें यह भी बतलाया गया है कि कर्म—पुरुषार्थ करते समय कोई फलाशंसा नहीं रहनी चाहिये; और, पुरुषार्थ करनेके बाद भी उस पुरुषार्थके फल-स्वरूप किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा नहीं रहनी चाहिये। पुरुषार्थ करनेके बाद उसके फलस्वरूप किसी पद, धन अथवा भोगसामग्रीकी अभिलाषा करनेको 'नियाणा' कहते हैं। नियाणा करनेवालेको 'विराधक' माना गया है। जिस वस्तुका नियाणा करे वह वस्तु जिस किसी भवमें मिले उस भवमें भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती; अर्थात् जबतक नियाणेका अंश रहेगा, तबतक मुक्ति नहीं मिलेगी। यह फलाशंसा ही मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक है।

भगवान् महावीर एक बार राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक और महारानी चेलणा देवी उनके दर्शनार्थ आयीं। उन दोनोंके रूपको देखकर अनेक साधु-साध्वियोंने अगले जन्ममें ऐसे पति तथा पत्नी मिलनेका नियाणा (कामना) कर लिया। भगवान् महावीरने अपने प्रवचनमें नियाणेका दुष्परिणाम बतलाया—भौतिक फलाशंसाको संसार-परिभ्रमणका कारण समझाया। भगवान्के प्रवचनसे प्रभावित होकर सभी श्रमणोंने पूर्वकृत नियाणाको समाप्त किया; भगवान्के पासमें आलोयणा की। प्रायश्चित्त किया।

'भगवती-सूत्र'मे एक प्रसङ्ग आता है—'तामली तापसने साठ हजार वर्ष बेले (दो दिनका उपवास)की पारणा की; पारणेमें केवल मुट्ठीभर चावल, उन्हें भी इक्कीस बार धोकर काममे लेना था। उन्होंने घोर तप किया था। जब शरीर बिल्कुल कृश हो गया, चमड़ी हड्डियोंसे चिपक गयी, चलते समय पैरोंके जोड़ कड़-कड़ करने लगे, तब आपने पाव जीवनका अनशन कर लिया। उस समय पाताललोकनिवासी देव अपनी राजधानी बलिचञ्चामें इन्द्रके चले जानेसे (वहाँसे दूसरे स्थानपर जन्म लेनेसे) बेचैन हो उठे; कोई नया इन्द्र बन सके, ऐसे किसी तपस्वी साधु संन्यासीकी वे खोजमें निकले। मनुष्यलोकमें घूमते-घूमते वे तामली तापसके पास पहुँचे। उनके तीव्र तपोबलको देखकर वे प्रसन्न हो गये; क्योंकि अपने यहाँ इन्द्र बन सके, इससे भी अधिक पुण्य उपार्जित किये हुए उन महापुरुषको वहाँ देखा।'

देवताओंने अपनी राजधानी बलिचंचामें इन्द्र बननेका नियाणा करनेकी विनयपूर्वक प्रार्थना की; पूरी बलिचंचा राजधानीका दृश्य उनके सामने उपस्थित किया। जैनशास्त्रोंमें चौसठ इन्द्र माने गये हैं। उनमें बलिचंचा राजधानीका इन्द्र एक होता है। वह भवनपति देवोंका इन्द्र होता है। भवनपति देव ही वहाँ प्रार्थना करने पहुँचे थे। बहुत अनुनय-विनय किया, बहुत आकर्षक वातावरण बनाया, किंतु तामली तापस स्वयं निष्काम-कर्मी थे, बिना किसी कामनाके उग्र तपस्या कर चुके थे। उन्होंने देवोंकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। इन्द्रत्वकी कामना भी उनके मनमें नहीं थी। देवता निराश

[1]—'पुण्यतणा वांछा किया, तिण वाछा काम ने भोग।' आ० भिक्षु०।

हुए, तपस्वीके प्रति कुछ रुष्ट भी हुए। वे असंतुष्ट देवगण तपस्वीको खरी-खोटी सुनाकर चले गये; किंतु तामली तापसने धैर्य नहीं खोया और न देवत्व तथा इन्द्रत्वकी अभिलाषा की। इसी निष्काम-साधनासे वे एक मनुष्यजन्मके बाद मोक्षके अधिकारी बन गये।

इस प्रकार जैन आगमोंने निष्काम-कर्मको ही महत्त्व दिया है। निष्काम-साधनाको ही मोक्षका साधन माना है। भव-संततिको समाप्त करनेके लिये कामनाकी जंजीर तोड़ना जरूरी है। इसे तोड़कर ही परम श्रेयको पाया जा सकता है। यह निष्कामतामूलक कर्मयोग है।

निष्काम-कर्म ही क्यों?

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

गीताके सिद्धान्त उपनिषदोंपर आधृत हैं। इसीलिये गीतामृतको उपनिषद्रूपी गायका दूध कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो……………………।
……………………दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसीलिये इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें '**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु**' आदि कहा गया है। गीताके 'निष्काम-कर्म'के सिद्धान्तका मूलभूत सूत्र ईशोपनिषद्के इस दूसरे मन्त्रमें स्पष्ट दिखायी देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'कर्म करता हुआ ही इस संसारमें सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे। मनुष्य फलमें लिप्त न हो तो बन्धन भी न हो। इसके अतिरिक्त तेरे लिये कोई मार्ग नहीं है।'

तीन प्रकारके मार्ग

गीतामे निष्कामभावकी पुष्टि कई युक्तियों और नामोसे सबल शब्दोंमें की गयी है। निष्कामकर्मीको ही 'कर्मयोगी', 'योगी', 'स्थितप्रज्ञ', 'सम', 'समदर्शी', 'आत्मोपमदर्शी' इत्यादि विशेषणोसे कहा गया है। गीताके इस सिद्धान्तकी पुष्टि महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी मिलती है। श्रीआनन्दगिरिने कठोपनिषद् (१। २। १९) पर शांकरभाष्यकी अपनी टीकामें निम्नश्लोकको उद्धृत किया है—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥

'विवेकशील पुरुष सब प्रकारके कर्म करता हुआ भी श्रीकृष्ण और जनकके समान अकर्ता, अलिप्त और सर्वदा मुक्त रहता है।' महाभारतके शान्तिपर्वमें जनक-सुलभाका संवाद आता है। इसमें राजा जनक सुलभासे कहते हैं—

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः॥
प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना॥
(३२० । ३८–४०)

'मोक्षकी विद्या जाननेवाले मोक्ष-प्राप्तिके लिये तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतलाते हैं। प्रथम ज्ञान प्राप्तकर सब कर्मोंका त्याग कर देना; इसको मोक्ष-शास्त्रज्ञ 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। दूसरे सूक्ष्मदर्शी कर्मनिष्ठाको ही मार्ग बतलाते हैं, परंतु केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों निष्ठाओंको छोड़कर एक तीसरी निष्ठा भी है। वह है—ज्ञानसे कर्ममें आसक्तिका क्षयकर कर्म करनेकी निष्ठा। मुझे इसे महात्मा पञ्चशिखने बतलाया है।' अध्यात्मरामायण (२। ४। ४२)में भगवान् श्रीराम भी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यसे।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥

सारांश— कर्ममय इस संसारके प्रवाहमें पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकारके कर्तव्यकर्म करके भी अलिप्त रहता है, यदि उसमें अहंकार न हो। गीतामें इसे ही—**'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'** कहा है।

ब्रह्मसत्ता और प्रकृति सत्ता

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'निष्काम-कर्म'के लिये जो युक्तियाँ दी हैं, वे बहुत सीधी, सरल और स्पष्ट हैं। उन्हे समझनेके लिये तर्कशास्त्रके गम्भीर-सिद्धान्तोंकी आवश्यकता नहीं। गीता कहती है—इस महान् ब्रह्माण्डका एकमात्र आधार ब्रह्म है और वही परम सत्य है। संसार निरन्तर परिवर्तनशील एवं क्षणभङ्गुर है। वह देश, काल, पात्रके अनुसार विभिन्न व्यक्तियोंपर विभिन्न प्रभाव पैदा करता है। इसलिये यथार्थ सत्ता और अन्तिम सत्ता शरीरकी नहीं, आत्माकी है; जड़ प्रकृतिकी नहीं, चेतन ब्रह्मकी है।

मनोनिग्रहके लिये निष्काम बुद्धि

गीताके शब्दोमें ऐसे सामान्य व्यक्तिको शुद्धचित्तके साथ निष्कामबुद्धि-प्रेरक यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, एकान्तचिन्तन इत्यादि गृहस्थाश्रमके कर्म (अन्य सांसारिक-व्यवहारोंको गौण समझते हुए) करने चाहिये। इसी युक्ति-शृङ्खलाको आगे ले जाते हुए गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "यदि तुम यह कहते हो कि 'मेरा मन वशमें तो है और चित्तशुद्धि भी प्राप्त हो चुकी है और कर्म करनेसे उसके बिगड़नेका डर भी नहीं है, पर अब व्यर्थ कर्म करके हम शरीरको कष्ट क्यों दें ? हम दूसरोंके लिये व्यर्थके झमेलोंमें क्यों पड़ें ?' तो तुम्हारी कर्म-त्यागकी यह भावना राजस है; क्योंकि कायक्लेशका यह भय क्षुद्र-बुद्धिसे किया गया है। इस प्रकारकी राजस-बुद्धिके व्यक्तिको कर्म-त्यागका फल नहीं मिलता (गीता १८। ७-८)। किंतु निर्दिष्ट साधनोंसे गीता क्रमशः साधकको उस केन्द्रबिन्दुपर लाकर खड़ा कर देती है, जहाँ 'कर्मत्याग' की अपेक्षा कर्म-फलत्यागके श्रेयस्कर मार्गका अवलम्बन करके मोक्षको प्राप्त करनेका बोध हो जाता है।"

साध्य, साधन-सिद्धि और साधक

परंतु फलत्यागका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य परिणाम-के सम्बन्धमें प्रमाद करे। साध्य, साधन और सिद्धि—ये तीनों विचार साधकके लिये आवश्यक हैं। इस त्रिकोणको दृष्टिमें रखते हुए जो फलकी इच्छाके बिना विहित-कर्ममे संलग्न रहता है, वही निष्कामकर्मी है। फलत्यागका यह अभिप्राय भी नहीं कि साधक अपने कर्मका फल भोगता ही रहे। ईश्वरीय नियमके अनुसार प्रत्येक प्राणीको अपने कर्मका फल तो भोगना ही पड़ता है। इसमें किसी प्रकारकी रियायत व सिफारिश नहीं चल सकती। गीताके निर्देशके अनुसार फलत्यागी निष्काम-कर्मयोगी प्रसन्न और निर्द्वन्द्व होकर कृतकर्मोंका फल भोगता है। निष्काम-कर्ममें उसका उत्साह कभी कम नहीं होता। गीताका निम्न श्लोक इस सिद्धान्तको कितने सुन्दर ढंगसे पुष्टि करता है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
(१८। २६)

'सात्त्विक कर्ता कौन है ? वही, जो सब प्रकारके सङ्गोंसे मुक्त, अहंकार-रहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सफलता-असफलतामें समबुद्धि रखनेवाला है।' इस प्रकारके फल-त्यागी पुरुषको हजारगुना फल स्वयं भगवान्‌की ओरसे मिलता है। पर कब, जब इसमें उसकी उचित श्रद्धा हो। इसीमें मानवकी परीक्षा होती है। यह वह मार्ग है, जिससे मानव-जीवन सरल बन जाता है। सरलतामें ही वास्तविक शान्ति निहित है। (इसी शान्तिकी प्राप्तिके लिये मानव-जीवन है। यह अन्य जीवनोमे सुलभ नहीं है और इसका साधन है—कर्मयोग। इसलिये कर्मयोगकी साधना करनी चाहिये।)

अनासक्ति और निष्कामकर्म

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, साहित्यरत्न)

भौतिक भोग-लिप्साओंकी मृग-मरीचिकासे उद्भ्रान्त मानव-मन जब विविध कर्मोंके क्रिया-कलापोंमें संलग्न होता है, तब वह उन कर्मोंके फलोंकी मोहासक्तिसे आक्रान्त हो जाता है और अपने जीवनके चरम लक्ष्य—चिन्तन-आनन्दके शाश्वत रस-मूल श्रीहरिके पाद-पद्मोंसे बहुत दूर-दूरतर जा भटकता है। यदि जीव नियत कर्तव्य-कर्मोंतक ही अपनेको परिसीमित रखकर, उनके फलोंके प्रति अनासक्तभाव रखे—निष्कामकर्मकी सतत साधना करे तो वह उस परमानन्द-लक्षण मोक्षको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान्‌की ही दिव्य वाणी (गीता ४। २०)के अनुसार कर्मफलकी आसक्तिका त्यागकर कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी मनुष्य मानो कुछ नहीं करता और इसीलिये वह नित्य संतुष्ट रहता है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

अनासक्ति मनुष्यकी साधनाकी उच्चकोटिकी कसौटी है और निष्कामता या कर्मफलकी इच्छाका न होना उसका साधन है। कर्मफलसे अनाश्रित, अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्मका निष्पादन सामान्य साधना नहीं; जो संन्यासी या योगी समस्त सांसारिक मोह-ममताके निरसनपूर्वक समग्र लौकिक, पारलौकिक काम्य-कर्मोंका परित्याग कर अहर्निश ब्रह्म-चिन्तनमें लीन रहते हैं, परमतत्त्वमें एकात्मभाव अनुभव करते हैं, उन्हींकी कोटिमें ऐसे अनासक्त कर्मनिष्ठ आते हैं। वे कर्तव्य कर्मका त्याग कर या निष्क्रिय बैठकर त्यागका स्वाँग नहीं धारण करते। श्रीगीता (६। १) का यही विधान है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

'जैसे किसी सरोवरमें जल रहते हुए भी कमलपत्र जलराशिके स्तरसे ऊपर उठे हुए उसके प्रभावसे मुक्त—अछूते, निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही ब्रह्मचिन्तनमें निर्बाध अनुष्ठित, अनासक्त कर्मयोगी, संन्यासी या योगियोंकी तरह सभी कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके, जीवनचर्या बनानेवाले मनुष्य अपने कर्मजनित किसी भी इष्ट-अनिष्ट या पुण्य-पाप अर्थात् कर्मफलके प्रभावसे निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे कर्मरत मनुष्योंकी अपनी कोई ममता नहीं, लगाव नहीं, फिर कैसा कर्म-बन्धन, पाप-पुण्यरूप फलजनित विकारोंमें संलिप्तता, कैसी फलाकाङ्क्षा। गीतामें इसी आशयका विवेचन है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५। १०)

श्रीभगवान्‌ने इस प्रकारके भगवत्परक कर्मनिष्ठ, भगवत्परायण अनासक्त भावी साधक या मनुष्यको ही अपना उत्कृष्ट कोटिका भक्त माना है। ऐसा व्यक्ति भगवत्सम्बन्धसे सर्वात्मभाव रखता है, सर्वसमर्पित रहता है। सभी उसके अपने हैं, उसका अपना हिताहित सभीका हिताहित है, अतः वह किसीके प्रति परभाव या द्वेष-बुद्धि नहीं रखता। प्राणिमात्रमें आत्मीयभाव होनेसे वह सभीके प्रति निर्वैर, निर्द्वेष है और ऐसा भक्त निरापद, निर्बाध श्रीहरिको प्राप्त करता है, भगवद्वाणीमें ही इस प्रकार उल्लिखित है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

इस प्रकारके भक्तोंकी चित्तवृत्तिमें 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों भावोंका संनिवेश है, फलकी कामनासे कृतकर्मोंका त्याग ही 'संन्यास' है और सभी कर्मोंके फलोंमें निरपेक्षभाव ही 'त्याग' है। यह विवेकी तत्त्व-चिन्तकोंका कथन है। कर्म और फल दोनोंमें ही अनासक्ति रखनेसे यह कोटि सिद्ध होती है। यही तत्त्व श्रीभगवान्‌ने यहाँ इन शब्दोंमें निरूपित किया है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
(गीता १८ । २)

उपरि विवेचित त्याग ही वास्तविक त्याग है, सात्त्विक त्याग है । इसमें नियत कर्तव्यकर्म, मानवोचित धर्म या मनुष्यकी कल्याणकारी गतिविधिका निषेध नहीं है—केवल आसक्ति और फलकी कामनाके त्यागका विधान है; जीवनके चरम लक्ष्यसे विमुख कराने, श्रीहरिके पाद-पद्मोंसे दूर भटकानेमें आसक्ति और कामना ही कारण है; अतः वह निषिद्ध मानी गयी है । श्रीहरिने अर्जुनको यही प्रेरणा दी है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
(गीता १८ । ९)

वस्तुतः देहधारी मनुष्यसे सम्पूर्ण रीतिसे कर्मका त्याग सम्भव भी नहीं है, वह एक क्षण भी कर्मके बिना नहीं रह सकता । यदि आत्मसंयम और संतुलित आत्मविजयसे वह जीवनमें व्यवहार करता रहे तो फलासक्तिसे अपनेको मुक्त रख सकता है और इस कर्मफलको करके ही वह सच्चा त्यागी बन सकता है । श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंमें यह स्पष्टतः निर्दिष्ट है—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
(गीता १८ । ११)

किंतु इस स्थितिके लिये मनुष्यको स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है । स्थितप्रज्ञताका लक्षण यह है कि वह सर्वत्र आसक्तिरहित हो और शुभाशुभ जो भी प्राप्त हो, उसमें न तो वह हर्ष करे, न खेद—सर्वत्र सर्वदा एकरस, एकरूप बना रहे । ऐसा मनुष्य ही स्थिरबुद्धि कहा गया है । गीता २ । ५६से ७२ तकमें इसका वर्णन है । मुख्य वचन है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २ । ५७)

ऐसे स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी कर्मफलका त्याग कर, जिसे मोक्षरूप कहा गया है, नैष्ठिक शान्तिकी उपलब्धि करता है और योगरहित सकामपुरुष कामना करनेसे फलमें आसक्त होनेसे मुक्त नहीं होते प्रत्युत और कर्मबन्धनमे निबद्ध होते हैं । श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(गीता ५ । १२)

कर्मयोगी और योगरहितमें यही तारतम्य है, प्रस्तुत श्लोकसे भी यही ध्वनित होता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

इस प्रकार लोक-वेदमें जो नियत कर्तव्यकी व्यवस्था की गयी है—राग-द्वेष एवं आसक्तिसे रहित होकर, बिना फलकी इच्छाके, मनुष्यके लिये जिन कर्तव्य-कर्मोंका विधान किया गया है, वे ही सात्त्विक कर्म हैं । श्रीहरिने श्रीमद्भगवद्गीतामें पुनः-पुनः इन पङ्क्तियोंमें उद्घोषित किया है—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥
(गीता १८ । २३)

सार-यह है कि अनासक्ति और निष्काम-कर्मका विधान सूत्ररूपमें भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रति अपने उत्तमोत्तम सुनिश्चित मतके रूपमें किया है । इसे हम अधिग्रहण करें और मनन-चिन्तनपूर्वक उसे जीवनमें क्रियान्वित करें तो भगवान्‌की प्रसन्नताको प्राप्त करेंगे ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
(गीता १८ । ६)

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा निर्दिष्ट निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—श्रीरामशरण के० वी० पत्रकार)

जन्म-जन्मान्तरके अज्ञान तथा नित्यानित्यविवेकके अभावमें वासना युक्त व्यवहारके कारण गुण-दोषोंका वास्तविक बोध नहीं होता। किंतु मोक्षके लिये परमसाधनरूप श्रवण-मनन आदिका दृढ़तापूर्वक अवलम्बन आवश्यक है। अतः दृष्टिकोण परिवर्तनके लिये अनासक्तभावसे यज्ञादिमें मनको लगाना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें भिक्षुने गाया है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
(११ । २३ । १७)

'धनके अर्जनमें कई तरहके संताप होते हैं। उसके उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें संताप, कहीं डूब न जाये—फिर इस चिंतामें उसे सदा जलना पड़ता है। नाश हो जाये तो जलना, खर्च हो जाये तो जलना, छोड़कर मरनेमें जलन, तात्पर्य यह कि आदिसे अन्ततक अर्थ-कामसे केवल संताप ही रहता है।' इसलिये सांसारिक विषय हेय कहे जाते हैं। यही दशा पुत्र-प्राप्ति, मान-बड़ाई आदिकी है। जीवोंमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक संताप बना रहता है। ऐसा कोई सुख नहीं, जो संताप देनेवाला न हो; किंतु निष्कामकर्म-योगीके लिये संसार कभी किसी भी रूपमें संतापदायक नहीं होता। अतः अनासक्तभावसे सत्कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे आसक्तिको त्यागकर इस प्रकार कर्म करते रहनेके लिये इसी तत्त्वको लक्ष्य कर कहा है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५ । ११-१२)

'कर्मयोगी ममत्व-बुद्धिसे रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्तियुक्त होकर बँधता है। कठोपनिषद्में निष्कामभावकी महिमा ऐसी ही बतायी गयी है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(२ । ३ । १४)

मनुष्यका हृदय नित्य-निरन्तर विभिन्न प्रकारकी इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंसे भरा रहता है। इसी कारण न तो कभी वह यह विचार ही करता है कि परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्य-विषयोंकी आसक्तिके कारण वह परमात्माको पानेकी अभिलाषा ही करता है। ये सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह सदासे मरणधर्मा प्राणी अमर हो जाता है और यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही—वह परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है। निष्काम-कर्मयोग करनेकी प्रेरणा देते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो अपने सब कर्म मुझे समर्पित करते हैं, मुझमें परायण हैं और एक निष्ठासे मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं—जिनका चित्त इस प्रकार मुझमें ओत-प्रोत है, उनका जीवन और मृत्युमय संसार-सागरमें (गोते लगाने)से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूँ।

हम देखते हैं कि संसारमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका आदिके सम्बन्धमे एक-दूसरेके प्रति इतना तो अर्पित होता ही है कि वह दिनभर उनके लिये धन्धा करता है, उनके दु:ख-सुखके लिये रातभर जाग भी लेता है, अपना धन, समय और शक्ति भी लगाता है, मानो वह उन्हींका होकर रह गया है; उनके व्यवहारसे ऐसा लगता है कि उसका सारा जीवन ही सम्भवतः पत्नी और बच्चो इत्यादिके लिये है। इसी तरह पत्नी सारा दिन अपने पतिके लिये तथा बच्चोके लिये कार्य-व्यवहार, देख-भाल तथा प्रबन्ध-व्यवस्था करनेमे लगी रहती है। बच्चे भी अपने माता-पिताकीही शरणमें होकर रहते और उनकी छत्रच्छायामें पलते और चलते हैं। इसी प्रकार निष्कामकर्मयोगी परमात्मासे सम्बन्ध जुटाकर परमात्माके प्रति समर्पित होकर रहता है। सभी कर्म करते समय स्वयंको परमात्माकेही कार्यमें निमित्त माना और अपने तन, मन, धनको परमात्माका ही माननेसे मनुष्यका मोह और आसक्ति मिटती है और वे उसे मायाके कार्यमें नहीं लगाते; प्रत्युत वह गृहस्थ होते हुए भी कमल-दलके समान न्यारा और उनका प्यारा होकर रहता है। यही वह योग है, जिससे मनुष्यको त्रिदेही अथवा अव्यक्त अवस्था प्राप्त होती है और उसकी सब चिन्ताएँ मिट जाती हैं तथा उसका चित्त गद्गद हो जाता है।

मन, वचन तथा कर्मको ईश्वरीय सम्बन्धके अनुकूल बनाना ही निष्काम-कर्मयोग है। अपनी सारी दिनचर्यामें उसका मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्म एकमात्र सम्बन्धी परमपिता परमात्माको भी अपने शारीरिक पिता-के ही धर्म, कुल, सामाजिक और आर्थिक स्थितिके अनुसार वरतना ही यौगिक जीवन है। बुद्धिमान् व्यक्ति कभी भी ईश्वरके गुणों तथा कर्मोंके विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। गीताका निष्काम कर्मयोग यही सिखाता है।

प्रपत्तिमें कर्म-निरूपण (निष्कामता)

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

प्राणि-मात्रद्वारा अनादिकालसे ही कर्म निष्पादित होते आये हैं, जिन्हे संचितकर्म कहते हैं। इनके एकभावसे इस पञ्चभूतरूपी शरीरका निर्माण होता है, जिसे 'अभ्युपगत' कर्मकी संज्ञा दी जाती है। दूसरे भागको वह मरणान्तर तत्काल शरीर-निर्माणकी भावी दृष्टि या पुनः शरीरके निर्माणकी भावनासे सुरक्षित रखता है, जिसे 'अनभ्यु-पगत' कर्म कहा जाता है। वर्तमान उपलब्ध शरीरसे जो कर्म बनते हैं, उन्हे भी भगवान् संचितकर्मोंके कोपमें समाहित कर देते हैं। अहंकारपूर्वक किये हुए पुण्योके फलस्वरूप इस जीवको स्वर्गकी प्राप्ति सम्भव है, किंतु उन पुण्योंके फलभोग-समाप्तिपर पुनः जीवको जन्ममरणके व्यूहमें खड़ा होना पड़ता है। इस हेतु अन्तःकरणसे उद्भूत निष्कामकर्महेतु सचेष्ट रहनेमें ही जीवका कल्याण है। शाश्वतशान्ति-हेतु फलकी कामनासे आयोजितकर्म श्लाघ्य नहीं है, अपितु वह एकदिन गहन विषादका कारण भी वन बैठता है। अतः अनासक्तभावसे नियतकर्मका सम्पादन ही जीवका लक्ष्य होना चाहिये। इसीलिये कहा है—

> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
> (गीता १८। ४७)

'दूसरोंके अच्छी तरह आचरण किये हुए धर्मसे स्वधर्मपालनको श्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मानव पापको प्राप्त नहीं होता।' सत्कर्मद्वारा अनेक जन्मोंमें अर्जित महान् पापोंसे बद्धजीव उन्मुक्त

हो जाता है। ज्ञात अथवा अज्ञातरूपसे यदि महान् पाप हो जाते हैं तो उनका फल भोगनेके लिये उसे घोर नरकमें भेजा जाता है तथा यदा-कदा इन्हीं कर्मोंके भोगहेतु पाप-योनियोंमें जन्म भी दिया जाता है। कहाँतक कहा जाय, कभी-कभी लता, वृक्ष, कुश, कण्टक आदिमें भी जन्म लेना पड़ता है। सामान्य रीतिसे पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी तुलनामें मानव-शरीर सुलभ होता है। कर्मरूपी तुलापर यदि पाप करनेपर पुण्यका पलड़ा ऊपर और पापोंका पलड़ा नीचे हुआ तो जगत्में स्त्रीका शरीर वहन करना पड़ता है। फलस्वरूप स्त्रीशरीरमें पुरुषोंकी अपेक्षा परतन्त्रता एवं गर्भ-वहन आदिके असह्य कष्ट उसे झेलने पड़ते हैं। जीवनभर कठिन भूमिका अदा करनी पड़ती है।

विभिन्न जन्मोंके संचित छोटे-बड़े पुण्य एवं अगणित पाप हो जाते हैं। जब भगवत्कृपाके फलस्वरूप उसके पाप-पुण्योंका उपभोग हो जाता है और किंचित् प्रायश्चित्त करना अवशेष नहीं रहता तब वह शुद्धस्वरूप होकर मोक्ष-पदका अधिकारी बनता है, जैसा कि शास्त्रों तथा सद्ग्रन्थोंमें इसकी महिमा बतलायी गयी है; यथा—

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)

श्रेष्ठ विद्वान् पाप-पुण्योंके समुदायको नष्ट कर शुद्ध हो अनन्तब्रह्मकी परम समताको प्राप्त होता है। बद्धजीवसे असंख्य पाप-पुण्य होते हैं; तुलसीदासजीने कहा है—

जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके।
तौ क्यों कटत सुकृत नखते मो पै बिपुल बृन्द अघ बनके॥
(विनयपत्रिका ९६)

इन्हींसे जीव भव-चक्रमें भ्रमण किया करता है। अर्जित एवं क्रियमाण पापोंका शोधन उन सबके लिये वैसे ही असम्भव है, जैसे मात्र नखसे घनघोर अरण्यस्थलीको काटकर गिरा देनेका प्रयास। जहाँ कहीं भी आसक्तिकी भावनाका जागरण हुआ, अर्जित पुण्य आदि भी उसीके पराक्षेपसे तिरोहित हो उठते हैं। इस संसृतिचक्रसे बचनेका एकमात्र सरल उपाय सद्गुरुके सत्संयोगसे परमपिता परमात्माकी शरणागति प्राप्त करना ही है। इसके आलोकसे मानसहृदय पवित्र हो जाता है और उसी क्षणसे भय-पापोंका विमोचन प्रारम्भ हो जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंने इस सम्बन्धमें निर्णय भी दिया है; यथा—

प्रारब्धेतरपूर्वपापमखिलं पापादिकं चोत्तरम्।
न्यासेन क्षणयन्ननभ्युपगतः प्रारब्धखण्डं च नः॥
(वैष्ण० मता०)

अभ्युपगत प्रारब्धके अतिरिक्त इसके पूर्वके सम्पूर्ण संचित शरणागतिमात्रसे तत्काल ही नष्ट हो जाते हैं एवं जन्मसे मरणोपरि अज्ञात (प्रच्छन्न) रूपसे सम्पादित पाप भी क्षमा कर दिये जाते हैं। परमात्मा तत्काल ही उसके निदान-हेतु सत्संकल्प होकर स्व-स्वरूपमें लीन करने-हेतु आरूढ हो जाता है। निष्काम-परायणतासे जीव ब्रह्ममें लीन हो सकते हैं, जैसा कि श्रीकृष्णभगवान्ने उपदेश भी किया है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ निष्कामकर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन, अविनाशी परमपदको ही प्राप्त होता है।' निष्काम उपासनासे संचित पापोंका विलयन—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(रा० च० मा० ५।४३)

अपरञ्च—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डकोपनिषद् २।२।८)

विश्वकर्ता सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर समस्त कर्म भी क्षीण हो जाते हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे

कासकीरूई—'**तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रेतं प्रदूयेतैव हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥**' (छान्दोग्योपनिषद् ५ । २४ । ३)

जिस प्रकार सींककी रूईका अग्रभाग अग्निके संयोगसे तत्काल जल जाता है वैसे ही विद्वान् विधापूर्वक प्राणाग्नि-होत्रका अनुष्ठान करता है और उसके सारे पाप सद्यः नष्ट हो जाते हैं ।

शरणागतके पापकृत्योंका शमन

शरणापन्न होते ही अनजानसे उद्भूत चूकका भी शमन हो जाता है । कहा भी गया है—

यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न लिप्यते ।

(छान्दोग्योपनिषद् ४ । १४ । ३)

सरोवरमें कमलपत्र एवं जल साथ-साथ (संयोगसे) रहते हैं; किंतु इन दोनोंका कोई लेप-सम्बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्ववेत्तामें पापकर्मका संसर्ग ही नहीं होता । तात्पर्य यह कि ज्ञानके प्रकाशसे वह पापकर्मोंसे शरणागतिके कारण उन्मुक्त हो जाता है, यह मार्ग केवल अभ्युदयदायक होता है । किंतु सचेत न रहनेपर यदा-कदा अनवधानताके कारण पाप-कर्मोंकी प्रकृति हठात् बन जाती है तो प्रभु कर्म-निष्ठ ज्ञानीको उस प्रकृतिसे बचनेहेतु विवेक भी देते रहते हैं । फलतः उसे निर्लिप्ततासे शुद्ध कर देते हैं ।

रहति न प्रभु चित चूक किए की ।
करत सुरति सय वार हिए की ॥
(रामच० मानस, वाल०)

और भी—

साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि ।
अपनेहु देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ ॥
(दोहा० ४७)

यद्यपि विकर्णने सभाके समक्ष चार प्रकारके व्यसन जो राजाओंके लिए सापेक्ष्य है, उन मृगया (शिकार), मद्यपान, जुआ एवं स्त्रियोंके प्रति आत्यन्तिक आसक्तिकी ओर संकेत किया है और ऐसी स्थितिमें आसक्तिके संयोगसे धर्म छोड़कर बर्तना सम्भव है, पर इस प्रकार ऐसे जीवोंके द्वारा आवेशवशात् सम्पन्न दुष्कर्म प्रामाणिक दृष्टान्त नहीं माने जाते । तथापि परमात्माप्राप्तिके प्रत्याशी साधकको चाहिये कि परमार्थहेतु कर्तव्य कर्मका आचरण करे और उसके बाद अवशिष्ट अंशसे शरीरका निर्वाह करे । इस कर्तव्य कर्मको यज्ञके निमित्त ही करे, मात्र सुख, शरीर-परिपुष्टि अथवा रक्षामात्रके लिये नहीं । स्वयंके लिये कुछ भी न करनेवाला कृतकृत्य हो सब पापोंसे उन्मुक्त हो जाता है—

'**मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः**' (गीता ३ । १३)

यह प्रयोग बहुवचनान्त है, अतः समस्त पापोंसे निवृत्ति हो जाती है, उसके समस्त (संचित प्रारब्ध और क्रियमाण) कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं और जीव ब्रह्माकार हो जाता है । शरणागति कर्म-ज्ञानकी उत्तम कृति है । इसीके आचरणसे जीव भगवान्‌को उपेय (प्राप्तव्य) मानकर महान् विश्वासपूर्वक शरण ग्रहण करता है । यद्यपि यह मार्ग अत्यन्त गुह्यतर है, फिर भी भगवान्‌की ओरसे प्राप्तव्य बताया गया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ॥
(गीता १८ । ६२-६३)

अनभ्युपगत पाप-कर्मोंका नाश

अनभ्युपगत पाप पुनः शरीरको देनेके कारण बनते है; किन्तु शरणागत होकर आधारी शरीर, मन, चित्त, बुद्धिसे स्वात्म-समर्पणमात्रसे जीव जन्ममरणसे उन्मुक्त हो जाता है; यथा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि रामायण)

अभ्युगत प्रारब्ध-कर्म-योग

कृतकर्म भोग किये बिना करोड़ों कल्पोंमें भी क्षीण नहीं होता है। जिस प्रकार धनुपकी प्रत्यञ्चासे छोड़ा हुआ बाण अपना वेग पूर्ण करके ही गिरता है, वैसे ही भगवद्दत्त यह प्रारब्ध भोग पूरा होकर ही समाप्त होता है—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

तथापि भगवद्भक्ति भगवान्की प्रीति प्रदान कर पापका निवारण अवश्य करती है। यह भक्तको ऐसा दृढ़ विवेक प्रदान कर देती है, जिससे दुःखतर परिस्थितिमें भी दुःख नहीं जान पड़ते। फलस्वरूप देहपात होते ही प्रारब्ध भोगका समूल विनाश हो जाता है और जीव साक्षात् मुक्त हो जाता है—

आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरम्।
यावन्नविमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥

(छान्दो० ६। १४। २)

प्रारब्धभोग अनिवार्य है। अतः अपनी शेषत्व निष्ठाका यथाशक्ति निर्वाह करते हुए और अनासक्ति बुद्धिसे इसका भोग करना चाहिये। भयंकर विपत्तियोंका सामना करते हुए कर्तव्य-निष्ठा-निर्वाहमें दृढ़ रहना चाहिए। किञ्चित् क्षुब्ध होनेपर सदैव महापुरुषोंके उद्दाम चरित्रोंका स्मरण करते हुए ही कर्ममें दत्तचित्त रहना चाहिये। कभी भी आपत्तियों एवं दुःखोंसे ऊबकर किसीपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये। सहन-शीलता एवं सत्कर्मोंके अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण प्रचुर हैं; किन्तु विस्तारके भयसे कुछ मूलभूत आंशिक संकेत ही करना समीचीन प्रतीत हो रहा है। महर्षि वसिष्ठको एक ही साथ शत पुत्रोंके देहावसानका वियोग सहन करना पड़ा। इसी प्रकार वसुदेव एवं देवकी महारानीके यहाँ साक्षात् कृष्णावतार हुआ, फिर भी पूर्व कर्मोंके प्रायश्चित्तरूप छः पुत्रों एवं कुटुम्बियोंके वियोगका कष्ट उन्हें भी सहन करना ही पड़ा था। इसी प्रकार पुण्यश्लोक नल एवं दमयन्तीकी कथा भी प्रायः सर्वविदित ही है।

प्रपन्न जीवोंको भी परमात्मा दुःखानिशम्यसे निकालकर उन्हें क्षमा कर देते हैं। परमात्माके भाव-गाम्भीर्यकी व्यवस्था तो वे स्वयं जानते हैं, किन्तु स्थूल बुद्धिमें ऐसा आता है कि यदि अनभ्युपगत प्रारब्धका तत्काल समूल नाश कर दिया जाय तो शरणागतकी तत्क्षण मृत्यु हो सकती है। भगवान् कुटुम्ब-पालक हैं, अतः शरणागतके अभावमें उसके कुटुम्बरक्षणका प्रश्न उठ खड़ा होता है। यह कर्मनिष्ठा शनैः-शनैः सुदृढ़ होकर प्रपत्तिके रूपमें नियामक बनकर भगवत्-प्राप्तिकी व्यवस्था करती है। सत् शरणागतिका स्वरूप अत्यन्त व्यापक है; अतः शोक और मोहसे उन्मुक्त होकर क्षणभङ्गुर विश्वमें विचरण करते हुए मन, वाणी एवं शरीरसे जायमान सत्कर्मोंमें ही अपने-आपको लगाना चाहिये तथा प्रत्येक आचरण सत्यके आधारपर करना चाहिये—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

ऐसे निष्कामकर्मयोगियोंका अन्तःकरण, शरीर एवं उनकी इन्द्रियाँ सत्यसे पूर्ण हो जाती हैं। ऐसे नर-रत्नोंका जीवन धन्य है। वे सत्य आचरण एवं सुकर्मके प्रति दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं तथा सबके प्रति—**'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'**की भावनासे पूर्ण सदैव परिपूर्ण रहते हैं।

कर्म, विकर्म, अकर्म और कर्मयोग

(लेखक—पं० श्री श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी)

गीताके चतुर्थ अध्यायके १६, १७वें श्लोकोंमें भगवान् कृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए कहा है कि कर्म, विकर्म और अकर्मके तत्त्वोंको जानना चाहिये। इनके सम्यग् ज्ञान और कर्मानुष्ठानसे मानव सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होता है। किंतु इनका स्वरूप तथा अनुष्ठान-प्रकार अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। जैसे अग्निष्टोम आदि वैध कर्मोंमें—हिंसा आदि दोषपूर्ण और निषिद्ध कर्मोंमें हिंसक जन्तुओंके वधसे जायमान प्रजाओंका दुःखशमनरूप शुभ कर्म भी रहता है, वैसे ही अकर्ममे भी वाचिक और मानसिक शुभाशुभ कर्म भी अपरिहार्य रूपसे रहते हैं। ऐसी संकीर्णताके कारण कर्मादिके विषयमें विद्वज्जनोंको भी संदिग्ध और भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक है। इसलिये कर्मादिको भलीभाँति समझकर व्यवहार करना ही श्रेयस्कर है, न कि गड्डलिका-प्रवाह (भेड़ियाधँसान)की तरह इनमें प्रवृत्ति अपेक्षित है। कर्म ज्ञात होनेपर ही यथाशास्त्र व्यवहार किया जा सकता है; अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त शास्त्र और उसके प्रवर्तक आचार्य अनेक हैं जिन्होने देश, काल, युग, अधिकारी, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदिके भेदानुसार कर्मका संकोच-विकोच किया है, जिससे कर्मविधियाँ अनन्त हो गयी हैं; इसलिये करणीय तत्त्वको जानना अत्यन्त कठिन होता हुआ भी आवश्यक है।

इस कठिनाईको दूर करने तथा कर्म आदिके वास्तविक रूपको प्रकट करनेके लिये भगवान् कृष्णने स्वयं अनुपद (आगे ही) अठारहवें श्लोकमें सारभूत तत्त्वको दर्शाया है, जिसे आगे विवृत किया जायगा। इसके पूर्व कर्म आदिका सामान्य परिचय आवश्यक है। यद्यपि व्याकरण-शास्त्रमें कर्मकी परिभाषा—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पाणि० १।४।४९) अर्थात् कर्ता क्रियाके द्वारा जिसे प्राप्त करनेकी अतिशय इच्छा करता है, उस कारकको कर्म कहते हैं—ऐसी की गयी है; न्यायशास्त्रमें उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमनको कर्म कहा गया है; लोकमें—'क्रियते इति कर्म'से देहेन्द्रियादि व्यापारमात्रको कर्म कहते हैं—चाहे वह विहित हो या निषिद्ध, प्रशस्त हो या गर्हित, सामाजिक हो या वैयक्तिक सभी कर्मकी परिधिके अन्तर्गत आते हैं; तथापि यहाँ ये कर्म विवक्षित नही हैं; अपितु विहित क्रिया ही 'कर्म' पदसे ग्राह्य है। तात्पर्य यह कि जिनका विधान शास्त्रोंमें अधिकारी व्यक्तियोके लिये किया गया है, यहाँ वे कर्म ही विवेच्य है, क्रिया मात्र नही।

गीता एक 'आकर' या 'प्रस्थान'-ग्रन्थ है, जिसपर विभिन्न दार्शनिकाचार्यों, सम्प्रदायविदों और विद्वानोके अनेक भाष्य और टीकाएँ हैं, जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सुविचारित है। अतः उनमें परस्पर भेद होना अनिवार्य है। इसलिये यावत् उपलब्ध व्याख्याकारोंके मतानुसार यहाँ कर्म आदिका स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

कर्म—आचार्य शंकर, आनन्दगिरि, नीलकण्ठ, मधुसूदन सरस्वती, धनपति, श्रीधरस्वामी, शंकरानन्द सरस्वती, रामकण्ठ तथा आचार्य भास्करने शास्त्रविहित अर्थात् श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित वर्ण तथा आश्रमद्वारा अनुष्ठेय प्रसिद्ध कर्मको ही कर्म माना है। इसके अतिरिक्त नीलकण्ठके अनुसार दीक्षित[1] अथवा भगवन्निष्ठ[2] व्यक्तिद्वारा नियन समयपर पञ्चयज्ञोको न करना भी उनके लिये कर्म है तथा यज्ञीय हिंसा[3] एवं दान-फलक

१–दीक्षैवं मोचयत्यूर्ध्वं परं धाम नयत्यपि। (शै० प० १४९ पृ०)

२–सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (गी० १८।६६)

३–अग्नीषोमीयं पशुमालभेत। (इन मन्त्रोंके अन्य अर्थ भी हैं—सम्पा०)

अनृत आदि भी कर्मके अन्तर्गत आते हैं। आचार्य रामानुज तथा वेदान्तदेशिकके अनुसार यहाँ कर्म पदसे मुमुक्षु व्यक्तियोंद्वारा अनुष्ठेय मोक्ष साधनभूत कर्मको ही ग्रहण किया गया है। इनके मतानुसार सर्वसाधारणके लिये विहित कर्मोंकी यहाँ उपादेयता नहीं है; क्योंकि ये लोग इसे मुमुक्षु-कर्मका ही विषय मानते हैं। आचार्य भास्करने भी मुमुक्षुओंके लिये ही इसे ज्ञातव्य कहा है। ज्ञानेश्वरने कहा है कि जिससे विश्वाकार प्रकट होता है, वह कर्म कहलाता है। उन्होंने अपनी इस परिभाषाका समन्वय अग्रिम श्लोककी टीकामें बड़े सुन्दर ढंगसे किया है, जो वहीं द्रष्टव्य है। अभिनवगुप्तने यद्यपि अग्रिम श्लोकमें पठित कर्म शब्दसे आत्मीय कर्म माना है, किंतु पूर्व श्लोकमें उनका अभिप्राय शुभ कर्मसे ही है। तिलकके अनुसार निःसङ्ग बुद्धिसे किये गये प्रशस्त सात्त्विक कर्मको ही कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त राजस कर्म भी कर्मके अन्तर्गत आ सकते हैं। यद्यपि गीता वेदान्तकी प्रस्थानत्रयीका[2] एक अन्यतम ग्रन्थ है और मुमुक्षुजन वेदान्तदर्शनके वास्तविक अधिकारी हैं; क्योंकि मुमुक्षुत्व वेदान्तके अनुबन्धचतुष्टयका[3] एक अङ्ग है, अतः गीताको मुमुक्षु-धर्म और कर्म स्वीकार करना कोई अनुचित या असामयिक बात नहीं है; तथापि गीताके मुख्य श्रोतापर ध्यान देनेसे और **'गेयं गीता-नामसहस्रम्'** उक्तिके स्मरणसे तथा गीताके सत्रहवें और अठारहवें अध्यायोंमें कथित विषयोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि गीता सर्वोपादेय है। इस दृष्टिसे प्रस्तुत स्थलपर गृहीत कर्मसे काम्य और निषिद्धसे अतिरिक्त विहित सभी कर्म अभिप्रेत होंगे।

विकर्म—विकर्म शब्दमें 'वि' उपसर्गका विविध और विरुद्ध दोनों अर्थ सम्भव हैं, जिसके अनुसार विकर्मका विविध कर्म और विरुद्ध कर्म (निषिद्ध कर्म) दोनों अर्थ यहाँ माने जा सकते हैं; किंतु आचार्य शङ्कर और नीलकण्ठने यहाँ विकर्म शब्दसे विरुद्ध कर्मका ही ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त नीलकण्ठने विकर्मके अन्तर्गत निम्नलिखित कर्मोंका भी अन्तर्भाव किया है—१—दाम्भिकद्वारा किये हुए यज्ञादिकर्म[4]। २—समर्थ व्यक्तिद्वारा आर्तरक्षाकी उपेक्षा। ३—राजाके द्वारा चोरोंको छोड़ देना और ४—हिंसाफलक सत्य।

आचार्य भास्करने शास्त्र-बाह्य पाखण्डियोंद्वारा आचरित कर्मको विकर्म कहा है और इसके अतिरिक्त धातुवाद, शिल्प आदि कर्मको भी विकर्म माना है। आचार्य रामानुज तथा वेदान्तदेशिकके मतानुसार कर्मवैविध्य ही विकर्म है। ये लोग विकर्म पदसे नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म तथा इनके साधन द्रव्योंका अर्जन, रक्षण, उपाय, प्रवृत्ति आदि कर्मोंका ग्रहण करते हैं। ज्ञानेश्वरने भी वर्णाश्रमोचित विशेष विहित कर्मको विकर्म कहा है। तिलकके अनुसार मोह और अज्ञानवश किये गये तामस कर्मको विकर्म कहते हैं और मोहवश छोड़े गये कर्म भी विकर्म हैं।

विकर्म शब्दसे विरुद्ध कर्म अर्थ ग्रहण करनेपर यह शङ्का हो सकती है कि यह सर्वथा निन्दित और हेय है तो इसमें प्रवृत्त होना दोषपूर्ण है; अतः इसके रहस्यकी जिज्ञासा होनी व्यर्थ है। यह विचार उचित नहीं है; क्योंकि किसी अवसरपर निषिद्ध कर्म ही

१—हिंसाफलके सत्यादौ दानफलकेऽनृतादौ च विकर्मत्वकर्मत्वे बोध्ये। (नीलकण्ठ, गी० ४। १८)

२—उपनिषदें, ब्रह्मसूत्र और गीता—ये तीन 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं।

३—सम्बन्ध, प्रयोजन, अधिकारी और अभिधेय—ये अनुबन्धचतुष्टय कहलाते हैं।

४—चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि। मानाग्निहोत्रमुतमानं मौनं मानेनाधीतमुतमानं यज्ञः॥ (नी० कं०में उद्धृत ४। १८)

५—अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी। गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥ (मनुस्मृति)

बहुजन-हितकारी तथा देशहितकारी हो जाता है, जो उचित और करणीय बन जाता है; अतः यह भी ज्ञेय है। काल, देश, दशाके अनुसार यह कर्मकोटिमे आ सकता है।

अकर्म—इस समस्तपदमें न का निवेश है जिसका व्याकरणशास्त्रमें सादृश्य, अभाव, भेद, न्यूनता, अप्राशस्त्य और विरोध—ऐसे छः अर्थ स्वीकृत हैं। किंतु समान्य-रूपसे इसका 'निषेध अर्थ' लोकप्रसिद्ध है। इस तरह कर्मका निषेध (कर्मशून्यता) अकर्म शब्दका वाच्यार्थ हुआ अर्थात् विहित तथा निषिद्ध दोनों प्रकारके कर्मोंको न कर केवल निष्क्रिय—निर्व्यापार चुपचाप बैठ रहना अकर्म है। ऐसा आचार्य शंकर, नीलकण्ठ, मधुसूदन सरस्वती, श्रीधरस्वामी, अभिनव गुप्त, शंकरानन्द सरस्वती, रामकण्ठने अपनी-अपनी टीकाओंमें माना है।

संसारमें उत्पन्न सभी प्राणी जबतक जीवित रहते हैं, तबतक उन्हें सर्वदा प्रवृत्ति या निवृत्ति-रूप कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ता है—कोई क्षणभर भी निष्क्रिय नहीं रह सकता—**'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'**। यदि केवल प्रवृत्तिको कर्म माना जाय और निवृत्तिको कर्माभाव तो यह उचित नहीं है; क्योंकि दोनों ही कर्ताके व्यापाराधीन हैं। अतः चुपचाप बैठना भी एक प्रकारका कर्म है। इतना ही नहीं, श्वास लेना भी एक प्रकारका कर्म ही है। इस प्रकारसे जीवनमे कर्मकी शून्यता असम्भव होनेपर 'मै इस समय सब प्रकारके व्यापारोंसे रहित होकर सुखपूर्वक हूँ—'ऐसा अभिमान करना भी मिथ्या है; क्योकि सत, रज, तम—त्रिगुणात्मिका मायासे निर्मित देह और इन्द्रियाँ सर्वदा जाग्रत्-अवस्थामें व्यापारशील रहती हैं, कभी निर्व्यापार नहीं रहतीं। इसके अतिरिक्त 'मैं उदासीन हूँ' इत्यादि अभिमान भी कर्म है। ऐसी अवस्थामे उक्त आचार्योंने अकर्म शब्दका जो अर्थ कर्माभाव या तृष्णाभाव किया है, इसका तात्पर्य लोको-पयोगी प्रत्यक्ष कायिक और ऐन्द्रियिक चेष्टाओंसे ही समझना चाहिये; मानस और प्राण-व्यापारसे नहीं।

आचार्य अभिनवगुप्तने अन्तिम श्लोकमें अकर्म शब्दसे यद्यपि परकीय कर्म लिया है, किंतु प्रकृत स्थलपर अकर्मसे तृष्णा भावको ही माना है। इसके अतिरिक्त आचार्य नीलकण्ठने अकर्मके क्षेत्रके अन्तर्गत निम्ननिर्दिष्ट कर्मोंको भी स्वीकार किया है।

१—श्रद्धाविहीन पुरुषोंद्वारा की हुई यज्ञादि क्रियाएँ[1]। २—उदासीनता। ३—याज्ञिक हिंसासे अतिरिक्त हिंसा। ४—संन्यासियोंद्वारा चोरोंको छोड़ देना।

आचार्य रामानुज तथा वेदान्तदेशिकके मतमें प्रकरणानुसार 'कर्मसे भिन्न आत्माके यथार्थ ज्ञान'को अकर्म कहते हैं। कुछ लोगोंका मत है कि कुछ कर्म स्वरूपतः बन्धनके हेतु हैं, अतः जो कर्म सांसारिक जन्म-मरण आदि बन्धनोको देता है, वही कर्म है; परमेश्वरार्पित नित्य कर्म अथवा परमेश्वरके निमित्त किया हुआ फलाभिसंधि-रहित कर्म बन्धनका हेतु नहीं है; ऐसा कर्म ही यहाँ अकर्म पदका वाच्य है। किन्हीं लोगोका यह भी मत है कि यहाँ अकर्म शब्दसे दृश्य जगत्में सत् और चैतन्यरूपसे सर्वत्र अनुस्यूत, सर्वाधार, अवेद्य, स्वप्रकाश, चैतन्यका ही ग्रहण है, अन्य किसीका नहीं।

आचार्य भास्करके मतमें अकर्म निषिद्ध—लशुन-भक्षण आदि है तथा मुमुक्षुओंके लिये काम्यकर्म भी अकर्म है। इसी प्रकार तिलकके अनुसार सांसारिक बन्धनको न देनेवाले निष्काम-बुद्धिसे किये हुए प्रशस्त सात्त्विक कर्मको अकर्म

१—वही १७। २८।

कहते हैं। ज्ञानेश्वर निषिद्ध कर्मको अकर्म कहते हैं। उपर्युक्त कर्म, विकर्म, अकर्मके पारमार्थिक ज्ञेय रहस्यको स्वयं भगवान् कृष्ण गीता-(४। १८)में इस प्रकार बता रहे हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

'जो व्यक्ति कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्मको देखता है वह मानवोंमें बुद्धिमान्, योगयुक्त और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।'

भगवान् श्रीकृष्णने इसके पूर्वके श्लोकमें कर्म, विकर्म और अकर्म—तीनोंके तत्त्वोंको ज्ञेय बताकर इस श्लोकके द्वारा उनके तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है। किंतु यहाँ केवल कर्म और अकर्म—दोका ही ग्रहण किया, विकर्मका नाम नहीं लिया और न तो इस अध्यायके अन्य श्लोकोंमें तथा अन्य अध्यायोंमें ही उसका उल्लेख किया। इससे प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने कर्मकी परिधिमें ही विकर्मका अन्तर्भाव कर विवेचनीय कर्म और अकर्म दोका ही तात्त्विक विवेचन किया। वक्ताका विकर्म शब्दसे क्या अभिप्राय रहा होगा—यह तो कहना कठिन है, किंतु उसका शाब्दिक अर्थ विरुद्धकर्म (निषिद्ध कर्म) अथवा विविध कर्म दोनों ही हो सकते हैं, जो सामान्यरूपसे कर्मकी कक्षामें ही आयेंगे; अन्यत्र समावेश दुष्कर है। इसके अतिरिक्त यदि विकर्मका केवल निषिद्ध कर्म अर्थ लिया जाय और उसपर विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष अवश्य निकलेगा कि निषिद्ध कर्म सर्वथा निन्दित और समाजगर्हित है। वह प्राणिमात्रके लिये प्रवृत्तियोग्य नहीं है और न तो व्यावहारिक दृष्टिसे कभी उपादेय ही है। फिर उसकी पारमार्थिक चर्चा अनुपयुक्त एवं असंगत है, यह भी विकर्मको न व्याख्येय माननेमें कारण हो सकता है।

यद्यपि इस प्रसङ्गमें सभी टीकाकारोंने कोई स्पष्ट समन्वय नहीं किया है, किंतु कुछ व्याख्याकारोंने कर्म-पदसे कर्म और विकर्म दोनोंका ग्रहण किया है और कुछ लोगोंने कर्म, विकर्म और अकर्म तीनोंको कर्म मानकर उक्त श्लोककी व्याख्या की है और इस श्लोकमें आये हुए अकर्म शब्दका स्पन्दनशून्य कूटस्थ वस्तु अर्थ स्वीकारकर श्लोकार्थका सामञ्जस्य किया है। (अगले अङ्कमें समाप्य)

'फलसों न लाग करैं बारिज बने रहैं'

कारन हैं बन्धनके, भूरि भव-फंदनके,
कर्म औ' अकर्म सबै द्वंदन सने रहैं।
कर्ममें विकर्म होत, कर्म हैं अकर्मनमें,
गहन प्रसंग संग घूमत घने रहैं॥
कौसल-कुसल लोग करिकै निष्काम जोग,
सिद्धि औ' असिद्धि भोग समता गने रहैं।
काम नाहिं त्याग करैं कामनाहिं त्याग करैं,
फलसों न लाग करैं बारिज बने रहैं॥

निष्कामता, कर्म और योग एक विवेचन

(लेखक—श्रीसीतारामजी नीखरा, एम्० ए०, (हिन्दी-संस्कृत-दर्शन)

जब हम कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते तो कर्मकी अनिवार्य आवश्यकता स्पष्ट है। लेकिन विवेक-रहित कर्मसे कभी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। विवेककी उपलब्धि चित्त-शुद्धिके बिना सम्भव ही नहीं। चित्तकी शुद्धिके लिये विधिवत् और नियत कर्मानुष्ठानकी महती आवश्यकता है। श्रीधरस्वामीने कहा है—**'न च चित्तशुद्धिर्विना कृतात् संन्यासात् एव ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं-समधिगच्छति—प्राप्नोति'**। चित्तकी शुद्धिके निमित्त कर्मानुष्ठानकी विधि वेद, उपनिषद् और दर्शन आदि शास्त्रोंने विस्तारपूर्वक बतलायी है, परंतु गीताने चित्तशुद्धिके लिये कर्मानुष्ठानकी जो विधि बतलायी, वह अन्य शास्त्रोंकी अपेक्षा भिन्न है। इसलिये लोकमान्य तिलकने गीताको 'कर्मयोगप्रधान' ग्रन्थ मानते हुए अपने ग्रन्थ **'गीतारहस्य'**की आधार-शिला **'अथातो कर्म जिज्ञासा'** पर रखी है और उन्होंने विश्वके समस्त निष्ठावान् 'निष्काम-कर्मयोगियों'में श्रीकृष्णका परमोच्च स्थान निर्धारित किया है। उनके अनुसार गीता 'कर्मयोग'का श्रेष्ठतम ग्रन्थ है और उसका मर्म अर्जुनकी तरह अन्य व्यक्तियोंको भी—जो कर्म-विरत हो रहे हैं, कर्मपथपर लाकर खड़ा कर देना है।

कर्म क्या है?—संस्कृतकी **'डुकृञ्-करणे'** धातुसे 'कर्म'शब्द निष्पन्न है। इसका अर्थ है—करना, व्यापार, हलचल आदि। मनुष्य जो कुछ करता है अर्थात् उसकी जो भी क्रियाएँ हैं—खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना—यहाँतक कि मरना-जीनातक सब कर्म ही है (गीता ५।८-९); चाहे वह कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो। विचार, भाव और परिस्थितिके अनुसार वे सब कर्म ही कर्तव्य या विहितकर्म हो जाते हैं (गीता ४।१६)।

कर्मके विभिन्न अर्थ—गीताके अध्याय ३ श्लोक ५में तथा पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें जो अर्थ गृहीत है, वह सामान्यकर्मका ही वाचक है, किन्तु गीताकी रचनाके समयतक इस कर्म शब्दका विशेष अर्थ 'यज्ञ' हो गया था, जो ब्राह्मण-ग्रन्थोंके प्रभावसे गीतामें आया। गीताके अध्याय ३ श्लोक १४-१५ में तथा १८वें अध्यायके श्लोक ३में आये कर्म शब्दका यज्ञ अर्थ ही गृहीत है। कर्म शब्दका एक अर्थ 'कर्तव्य' भी है, जो गीताके रचनाकालमें रूढ़ि और परम्पराके अनुसार समाजके अलग-अलग वर्गोंके साथ जुड़ गया था जिसे वर्णाश्रमधर्म अथवा सामाजिक कर्तव्य कहा जाता है। कर्म शब्दका यह कर्तव्य अर्थ गीताके अध्याय ४।१५ एवं १८।४१ में द्रष्टव्य है। इसीप्रकार कर्म शब्द ईश्वर-पूजा आदिमें भी गृहीत है। गीताके ही अध्याय १२ के १०वें श्लोकमें कर्म शब्दका एक अर्थ (तात्पर्य) ईश्वरकी पूजा, प्रार्थना और भजन आदिसे भी लिया गया है। गीताके 'कर्मयोग'से हमारा तात्पर्य यहाँ कर्म शब्दके कर्तव्य अर्थसे ही है। इसे हम आजकलकी भाषामें सामाजिक कर्तव्य या नागरिक कर्तव्य कहते हैं। साथ ही गीताका उद्देश्य फलाशा त्याग या निष्कामता पर्यवसित होता है, यह भी सदा ध्येय है।

कर्मके प्रकार या स्वरूप—गीताके अध्याय २। श्लोक ५० के अनुसार **'तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्'** के अनुसार समत्वबुद्धिवाले योगके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यही योग (समत्व) कर्मोंमें चतुरता यानी कर्म-बन्धनसे छूटनेका उपाय है। इस श्लोकमें महत्त्वपूर्ण शब्द 'कर्म' है। कर्मके विभिन्न अर्थोंके समन्वयसे समस्त कर्मोंके दो वर्ग बनते हैं—

प्रथम यज्ञार्थ श्रीभगवान् या धर्मके लिये निष्काम-भावसे किये जानेवाले कर्म, जो स्वतन्त्र-रीतिसे फल नहीं देते, अतएव वे अबन्धक हैं; और

द्वितीय पुरुषार्थकर्म, जो पुरुषके लिये लाभकारी हैं, अत बन्धक हैं। इन्हीं बन्धक कर्मोंसे मनुष्यको मोक्ष या मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

समस्त श्रुति-ग्रन्थ यज्ञ-याग आदि कर्मोंके ही प्रतिष्ठापक है। उपनिषदोंमें भी ये यज्ञकर्म ग्राह्य माने गये हैं; तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञानसे कम ठहरायी गयी है, क्योंकि यज्ञ-याग आदि कर्मोंसे स्वर्ग भले ही प्राप्त हो जाय, परन्तु मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। गीता अध्याय ३। ९ मे भी कहा है—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः॥'

'यज्ञार्थ किये गये कर्म बन्धक नहीं, शेष सब कर्म बन्धक हैं। इन यज्ञ-याग आदि वैदिक श्रौत-कर्मोंके अतिरिक्त और भी चातुर्वर्ण्यके भेदानुसार दूसरे आवश्यक कर्म मनु, याज्ञवल्क्य आदि धर्म-ग्रन्थोंमें विस्तारसे प्रतिपादित हैं। इन वर्णाश्रमधर्मोंका प्रतिपादन पहले-पहल स्मृति-ग्रन्थोंमे किये जानेके कारण इन्हें स्मार्तकर्म या स्मार्त-यज्ञ भी कहते है। इन श्रौत और स्मार्तकर्मोंके अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म हैं; जैसे—व्रत, उपवास आदि। इस प्रकारके धार्मिक कर्मोंका विस्तृत प्रतिपादन पहले-पहल पुराणोंमें किये जानेसे इन्हे पौराणिक कर्म भी कहते है। स्वरूपकी दृष्टिसे इन कर्मोंके मुख्यतया तीन भेद और किये गये हैं'—

यथा—१—नित्य, २—नैमित्तिक और ३—काम्य।

नित्य कर्म—स्नान, सन्ध्या आदि जो प्रतिदिन किये जानेवाले कर्म है; इनके करनेसे कुछ विशेष फल या अर्थ-सिद्धि नहीं होती; परतु न करनेसे दोष अवश्य लगता है। **नैमित्तिक कर्म**—पूर्वसे किसी कारणके आ जानेपर उसके निवारणार्थ जो कर्म किये जाते है, वे नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं; यथा—अनिष्ट ग्रहोंकी शान्ति, प्रायश्चित्त आदि जिसके निमित्त हम शान्ति या प्रायश्चित्तकर्म करते हैं। **काम्यकर्म**—किसी विशेष इच्छाको रखकर उसकी सफलताके लिये शास्त्रानुसार जब कोई कर्म किया जाता है, तब वह काम्यकर्म कहलाता है; जैसे—वर्षा होनेके लिये या पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे किये गये कर्म (पुत्रेष्टि यज्ञ) आदि।

निषिद्ध कर्म—ये चौथे प्रकारके कर्म हैं। शास्त्रों, समाज और शासन आदिने इन्हे त्याज्य कहा और माना है; फिर भी कुछ बड़े आदमी एवं उनकी देखा-देखी छोटे आदमी भी चोरी-छिपे उन्हे करते रहते है—जैसे मदिरापान, जुआ खेलना, आखेट, अगम्यागमनादि। समर्थकोंकी भाषामें इन्हे आमोद-प्रमोदका साधन कहा जाता है।

हमारे जीवनमे अधिकतर यह प्रश्न आ उपस्थित होता है कि अमुक कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक। इस निर्णयसे पूर्व हमे सोचना पडेगा कि वह कर्म यज्ञार्थ है या पुरुषार्थ; नित्य है या नैमित्तिक, काम्य है या निषिद्ध। दार्शनिकपरिचर्चाकी दृष्टिसे इन कर्मोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१—संचित, २—प्रारब्ध और ३—क्रियमाण।

संचित कर्म—किसी मनुष्यद्वारा इस क्षणतक किये गये जो कर्म है—चाहे वे इस जन्ममे किये गये हों या वे किसी पूर्वजन्ममे—सब संचित कर्ममे परिगणित एवं सम्मिलित हैं। दर्शनमे इन्हींको अदृष्ट या अपूर्व कहा जाता है। संचित कर्मों अथवा उनके परिणामोंको एक साथ भोगना प्राय सम्भव नही होता, क्योंकि ये कर्म भले और बुरे दोनो प्रकारके फलवाले होते है, अत बहुधा एक-एक करके इन्हे भोगना होता है।

संचित कर्मोंसे छुटकारा कैसे? गीतामें संचित कर्मोंसे छुटकारा पाने-हेतु कहा गया है कि **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'**—ज्ञानरूपी अग्निसे सब संचित कर्म भस्म हो जाते है। वेदान्तानुसार योगी योग-सामर्थ्यसे सब शरीरोंका निर्माण कर संचित कर्मोंको भोग लेता है।

*

प्रारब्ध कर्म—समस्त भूतपूर्व संचित-कर्मोंके संग्रह-का एक अंग ही प्रारब्ध है। संचितके जितने भागके फल (कार्यों) का भोगना आरम्भ हो गया हो, उतना ही प्रारब्ध है। इसीको आरब्ध भी कहते हैं। प्रारब्धकर्मोंके भोगने-हेतु यह शरीर प्राप्त हुआ है।

क्रियमाण कर्म—जो वर्तमानके इस क्षणमें किया जा रहा है या सकामभावसे अभी किया जा रहा है वा जिसका परिणाम आगे संचितके रूपमें भोगना है। यही सकाम-भावसे किये हुए कर्म भाग्य, दैव आदि नामसे भी जाने जाते हैं। इन्हीं कर्मोंको यदि योग-युक्ति या निष्कामभावसे किया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूटकर मोक्षका अधिकारी समझा जाता है।

अभीतक हमने कर्म शब्दके अर्थों और उसके स्वरूपों-को विभिन्न परिप्रेक्ष्योंमें देखा; अब योग शब्दको भी देखिये। **'युज्'** धातुमे करण और भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'योग' शब्दकी निष्पत्ति होती है। युज्का अर्थ है—जोड़ना या अपनेको लगाना। अमरकोशमें योग शब्दके अनेक पर्याय हैं; जैसे—संहनन, उपाय, ध्यान, संगति और युक्ति।[1] इनका प्रयोग भी भिन्न ही है; यथा कवच पहन हथियारोसे संनद्ध हो युद्धके लिये उद्यत हो जाना 'संहननयोग', आयुर्वेदमे रोगको दूर करनेके योगको उपाय कहते हैं; मनको एकाग्र करके समाधिमे बैठ जाना ही ध्यानयोग है। दो वस्तुओंके मिलन या संगमको योग (सगति) कहते है; युक्तिका अर्थ होता है उपाय या तर्क। गीताका योग, एक विशेष प्रकारकी युक्ति, कुशलताका मूचक है, जिसमे सिद्धि-असिद्धिमें समताका होना वैशिष्ट्य है। द्रष्टव्य—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** और **'समत्वं योग उच्यते'**।

इसी विशिष्ट अर्थमें कहा जा सकता है कि योग शरीर और चित्तकी वह क्रिया या अभ्यास है, जिसके करनेसे किसी कार्यमें कोई विशेष कौशल यानी सिद्धि-असिद्धिमे समता प्राप्त होती है। महर्षि पतञ्जलिके अनुसार **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** यानी चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है। दर्शनके क्षेत्रमें चित्तवृत्तियोका निरोध करके चित्तको वृत्ति-शून्य करना और उसके निरोधके लिये जो भी उपाय किये जायँ वे सब योग ही हैं। इस प्रकार योगका मुख्य अर्थ साधित कार्यमें सफलता प्राप्त करना और कार्य-पूर्तिके लिये समस्त साधन-प्रणालीको अपनाना है। भगवान् कृष्णके अनुसार गीतामें योगकी परिभाषा **समत्वं योग उच्यते** कही गयी है; अर्थात्—कर्मफलोंमें समता प्राप्त कर लेना ही योग है। **यह समता निरन्तर अभ्यास और वैराग्यसे ही संभव है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'**

अभ्यास—चित्तको स्थिर और अविचल करनेवाले प्रयत्न हैं तथा **वैराग्य**—पारलौकिक और ऐहिक भोगोंसे वियुक्त हो जाना है। गीताके बार-बार योग शब्दका तात्पर्य समत्वबुद्धि अर्थात् मानसिक संतुलनमें पर्यवसित रख गया है। यह मानसिक सतुलन किसी भी कार्यकी सिद्धि या सफलताके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मन बडा ही चञ्चल है, उसके निग्रहके लिये ही योगशास्त्रका जन्म हुआ है। इस योगसाधनाके आठ अङ्ग (सीढियाँ) निम्नवत् है—

(१) **यम**—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका सम्मिलित नाम है।

(२) **नियम**—पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानमें एकाग्रचित्त रहना है।

१-'योगः संहननोपायध्यानसगतियुक्तिषु।' अमरकोष—नानार्थ वर्ग २२, 'योगोऽपूर्वार्थसमाप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु। वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसंहननेष्वपि। कार्मणेऽपि च, इति मेदिनी।

(३) आसन—चौरासी प्रकारके हैं, परंतु जिस आसनमें सुखपूर्वक अधिक देरतक बैठा जा सके, वही श्रेष्ठ है।

(४) प्राणायाम—श्वास-प्रश्वासगतिकी विशिष्ट विधि, इसपर हठयोग एवं राजयोग ग्रन्थोंमें विस्तृत विवेचन है।

(५) प्रत्याहार—इन्द्रियोंको अपने बाह्य-विषयोंसे खींचकर मनके वशमें करना;

(६) धारणा—चित्तको अभीष्ट विषयपर जमाना;

(७) ध्यान—किसी विषयका सम्पूर्ण यथार्थ चित्र सामने आना या उजागर होना;

(८) समाधि—यह भी ध्यान न रहे कि वह वस्तुके ध्यानमें मग्न है या पूर्ण अथवा शून्य समाधि है; अथवा सविकल्प समाधि होती है।

इन आठों सीढ़ियोंको पार करता हुआ साधक किसी कार्यमें केवल सफलता ही नहीं प्राप्त करता, प्रत्युत आठों सिद्धियों और नवों निधियोंको प्राप्त कर लेता है चाहे वह कार्य किसी भी क्षेत्रमें कैसा भी हो। इन सिद्धियों और निधियोंके प्राप्त हो जानेपर साधकको चाहिये कि वह इनका उपयोग नाम और यश कमानेके लिये कदापि न करे—जैसा कि आधुनिक कुछ लोग करते सुने जाते हैं। यह वास्तविक सिद्धिका बाधक हो जाता है।

इसप्रकार कर्म और योग दोनों शब्दोंके विभिन्न अर्थोंके विभिन्न रूप हैं। इन दोनों शब्दोंके समाससे 'कर्मयोग' शब्द बना है, जिसका सामान्य व्यावहारिक अर्थ है—सामाजिक कर्तव्योंके पालनमें निष्ठा।

निष्कामता अब क्या है, इसपर विचार करें। महर्षि पतञ्जलिका योग हमें यह भी बतलाता है कि जबतक हमारा चित्त एकाग्र रहता है, तबतक समस्त चितवृत्तियाँ अपने-अपने कार्योंमें तल्लीन रहती हैं। इस एकाग्रतासे हमारी आत्माकी बहिर्मुखी वृत्ति संयत होती है। उसमें कार्यक्षमता तथा सामर्थ्य आती है और हम किसी भी कार्यमें सफलता या सिद्धिके अधिकारी बन जाते हैं। उसीसे जीवको सिद्धि, मोक्ष या सफलता प्राप्त होती है।

किंतु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस प्रकार यदि हम व्यावहारिक या भौतिकदृष्टिसे सम्पन्न भी हो गये तथा **'कर्मसु कौशलम्'** भी अर्जित कर लिया तो क्या हमें अपने अन्तिम लक्ष्य 'आत्मिक शान्ति' या मोक्षकी प्राप्ति हो सकेगी ? उपाय क्या है ?

आत्माके अन्तिम स्वरूपको पहचानने तथा पानेके लिये हमारा परम कर्तव्य हो जाता है कि हम अपनी चित्त-वृत्तियोंपर लगाम लगायें, उन्हें भीतरकी ओर प्रवृत्त करें तथा उन्हें निष्काम-कर्मकी ओर प्रेरित करें; क्योंकि इच्छापूर्वक किये हुए सभी कार्योंकी एक विशेषता यह होती है कि वे किसी-न-किसी फल-प्राप्तिकी कामनासे किये जाते हैं। जान-बूझकर जब हम कोई काम करते हैं, तब किसी-न-किसी वस्तुको पा लेना ही हमारा लक्ष्य होता है, तब कर्मके प्रति निष्ठा न होकर कर्मफलमें निष्ठा होती है; उस समय हमें कर्मयोगके लिये कर्मको साधनके रूपमें नहीं, बल्कि स्वयं साध्यके रूपमें देखना होता है। और भी, जब हम इच्छा या स्वार्थके वश होकर कोई कार्य करते हैं, तब सम्भव है, जो उचित हो उसकी उपेक्षा कर बैठें और इस प्रकार एक उचित कार्यका चुनाव करनेमें हम असफल हो जायँ; यह भी संभव है कि उस कार्य-फलके प्रति हमारी उत्सुकता किंवा लोभ-संभरण हमें सन्मार्गसे भ्रष्ट कर दे! ऐसे समय मानसिकरूपसे संतुलित या स्थितप्रज्ञ होनेपर हमें फलासक्ति नहीं व्याप सकेगी; तभी गीताका यह उपदेश **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** हमें निष्कामी बना सकेगा।

इस प्रकार फलासक्ति-रहित होकर निरन्तर नित्य तृप्त हो एक व्यवस्थित समाजके सदस्यकी हैसियतसे अपने व्यक्तिगत लाभोंसे परे रहकर पूर्ण निर्धारित कर्तव्योंमें लगे रहना और उन्हें करते रहना ही पूर्ण 'निष्काम-कर्मयोग' या मोक्ष-साधन है।

कर्मयोगकी साधना-पद्धति

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

कर्मबन्धनसे मुक्त होकर शुद्ध-चैतन्यस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करना प्राणिमात्रको वास्तविक अभिप्रेत है। शास्त्रोंमें इसकी प्राप्तिके लिये दो प्रकारकी निष्ठाओंका निर्देश हुआ है। सांख्यनिष्ठाके अनुसार सांख्ययोगी ज्ञानाश्रयण तथा कर्मयोगी कर्मका आश्रयण करते हैं। कर्मोंका त्याग करनेवाला संन्यासमार्ग सांख्यमार्ग ही है। भगवद्गीताके अनुसार कर्म-संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है (५। १—६)। सांख्यनिष्ठा एवं योगनिष्ठामे तात्त्विकदृष्टिसे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों एक ही लक्ष्यपर पहुँचते हैं, किंतु कर्मयोगद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति अतिशीघ्र होती है। निष्काम-कर्मयोगद्वारा मृत्यु-संसारसागरसे उद्धार, सभी यौगिक सिद्धियोंकी उपलब्धि, शाश्वतपदमें नित्यस्थिति सम्भव है। प्रकृति, देहेन्द्रिय, प्राण-मन, बुद्धि-संघातसे नित्य अविनाशी आत्माको पृथक्कर आत्मवान् हो द्रष्टा बनकर साक्षिभावमें स्थित होना, अज्ञान एवं जडताका त्यागकर विवेक एवं ज्ञानयुक्त हो शुद्ध चेतनामें निवास करना, आसुरी भावका परित्यागकर दैवी सम्पत्तिका अर्जन करना निष्काम-साधनाके मुख्य अङ्ग हैं। इसी प्रकार अकार्य एवं विकर्मका त्यागकर शास्त्र-विहित सात्त्विक कर्म करना, इन्द्रियजय, वासना, कर्मफलकी तृष्णा एवं अहंकारका त्याग, तितिक्षा, निर्द्वन्द्वता एवं समत्वभावमें स्थिति, भगवान्को ही अपना एकमात्र अवलम्ब, गति, प्रभु, शरण, भर्ता मानकर उन्हींसे अनन्यप्रेम करना, उन्हींकी भक्ति करना, उन्हींको अपना सर्वस्व सौंप देना तथा उन्हींकी प्रीति तथा सेवाके लिये अपने सभी कर्मोंको करना, अपने कर्मोंको उन्हींकी शक्तिके द्वारा किया जाता हुआ अनुभव करना, अपनी इच्छा एवं संकल्पशक्तिको भगवदिच्छा एवं संकल्पमें निमज्जित करना आदि भक्तिभाव भी इसमें बड़े सहायक हैं। इसके लिये अपने शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धिको शुद्ध, निर्दोष एवं पूर्ण बनाकर अपनेको भगवान्का यन्त्र या निमित्त बना लेना, कर्म करते हुए भी सदैव भगवान्की स्मृति एवं भावगत उपस्थितिकी अनुभूति करते हुए अपनेको सदा ही भगवान्से युक्त समझना परमावश्यक है। इन साधनोंका दीर्घकालतक निरन्तर अभ्यास करनेपर ब्रह्मकर्म या समाधिकी अवस्था प्राप्त होती है।

ब्रह्मकी बहुभवन-कामना एवं उनके संकल्पात्मक तपने इस जगत्को प्रकट किया। आपाततः जड़ एवं जङ्गमके रूपमें द्विधा विभक्त होकर दिखायी देनेवाली सृष्टि एकमात्र ब्रह्मचेतनाके प्रसार एवं असंख्य रूपोंमें उसकी अभिव्यक्तिके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। एक शाश्वत, अनन्त शुद्ध, शान्त ब्रह्म ही परम सत्य है। श्रुतियोंमें सृष्टिको 'पुरुषमेधका परिणाम' बताया गया है। सृष्टि ब्रह्मकी लीलाका क्षेत्र है। ब्रह्मकी यह लीला जड़ एवं चैतन्यके संयोगके रूपमें जीव एवं प्रकृतिके असंख्य गुण, कार्य, स्वभाव, शक्ति एवं रूपकी अभिव्यक्तिके रूपमें बराबर ही प्रकट होती रहती है। सृष्टिकी सभी प्रवृत्तियाँ ब्रह्मसे ही प्रसृत हुई हैं एवं उसीमें पर्यवसित होती हैं, अतः जीवकी, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धिकी जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-अवस्थाकी सभी चेष्टाएँ सर्वाङ्ग-समर्पणकी भावनाद्वारा पुनः अपने मूल ब्रह्मके ही पास पहुँचती हैं।

निष्काम-कर्मयोगकी साधनाका मुख्य अङ्ग कर्म है तथा इसकी साधना-पद्धतिके निम्नलिखित साधनाङ्ग हैं—निष्काम-कर्मयोगका साधक न तो अकर्मण्यता और आलस्यसे पूर्ण कर्महीन (निकम्मापन, अकर्म)

१—गीता ५। ६ पर आचार्यशंकरके भाष्य एवं नारदपरिव्राज० २। ७६के अनुसार यहाँ ब्रह्मका अर्थ संन्यास है।

अवस्थाको पसंद करता है और न वह अशोभन, साधुजननिन्दित 'अकार्य'को ही करता है। धर्मके तथ्यका साक्षात्कार करनेवाले ऋषियोंद्वारा रचित शास्त्रोंमें प्रतिपादित आचार-विचारकी मर्यादा एवं कर्म-विधिको अपने सुविधानुसार आचरणके लिये अस्त-व्यस्त करके उसे 'विकर्म' बना देना भी ठीक नहीं। निष्काम कर्मयोगी प्रवृत्तिमार्गका अनुसरण करके देवत्वको प्राप्त होता है एवं ज्ञानपूर्वक निष्काम-कर्मका आचरण करके मोक्ष प्राप्त करता है।[1]

अपने जीवनको दैवी बनाने या दिव्य तत्त्वको जीवनमें रूपान्तरित करनेका सङ्कल्प और प्रयत्न करने एवं कर्मके दार्शनिक सिद्धान्तका अध्ययन कर अपने कर्म एवं आचरणको शास्त्रमर्यादित कर लेनेके बाद पर्याप्तकालतक वैदिक प्रवृत्तिकर्मोंका अनुष्ठान कर लेनेके अनन्तर तपस्या, दम एवं शम, स्वाध्याय तथा यज्ञ, जप और उपासना, लोकहितकारक कर्म एवं सर्वभूतमैत्रीका पर्याप्त अभ्यास होनेपर साधक निवृत्ति-कर्मरूप कर्मयोगका अनुष्ठान आरम्भ करता है। इसके प्रारम्भिक चरणमें वह इन्द्रियविजय, कामना-त्याग, कर्मसङ्ग एवं कर्मफलकी स्पृहाका त्याग करता है। यह सृष्टि कर्मबन्धनवाली है। मनुष्यकृत शुभाशुभ कर्मका प्रभाव जिस प्राणी, प्राणिसमूह, समाज, राष्ट्र, स्थान, वाता-वरण, मनुष्येतर प्राणी एवं लोकपर पड़ता है, वह उन सबसे बँध जाता है। मनुष्यकृत कर्मोंके जो संस्कार चित्तपर पड़ते हैं, उनसे भविष्यकी अन्य कर्मशृङ्खलाओंकी सृष्टि होती है। जिस प्रकारके भावोंसे युक्त होकर वह शरीर, मन या वाणीसे मृदु, मध्यम या तीव्र कर्म करता है, उसी अङ्गसे उन्हीं भावनाओंवाले मृदु, मध्यम या तीव्र सुख-दुःख फलभोग करता है।[2] वर्तमान जीवनके कर्म भविष्य-जन्मके हेतु बन जाते हैं। इस कर्म-शृङ्खलाको तोड़ना आवश्यक है। 'कर्म' तो स्वयं जड है, वह सुख-दुःखरूपी फल-प्राप्तिका कारण नहीं बन सकता, परंतु मनुष्यके मनमें रहनेवाली किसी विशिष्ट अनुष्ठीयमान कर्मके पूर्ण होनेपर उससे प्राप्त होनेवाली फलकी कामना सुख-दुःखका हेतु बनती है। अतः साधकका कर्तव्य है कि वह कर्मफलकी तृष्णाका परित्याग कर दे। तब उसके कर्मोंके संस्कार भुने हुए या जले हुए धान्य-बीजके दानोंकी भाँति फलाङ्कुरणमें समर्थ न होंगे। कर्मफलकी तृष्णा छोड़ देनेपर साधक अविचलित एवं शान्त रहकर कुशलतापूर्वक निर्दोष कर्मका सम्पादन करता है। बाह्य-विषयोंके सम्पर्कसे उपलब्ध सुख-तृष्णाकी तरंगें चित्तको बार-बार विक्षिप्त और क्षुब्ध, उत्तेजित और अशान्त करती हैं। कर्मफलकी स्पृहा छोड़ देनेसे चित्त-विक्षेपके जनक आन्तरिक एवं बाह्य कारणोंके अभावमें स्वयमेव सुस्थिर एवं शान्त हो जाता है। कर्मफलका त्याग कर देनेपर समर्पणकी साधना भी सहज ही सध जाती है। अब साधकका कोई अपना व्यक्तिगत उद्देश्य न होनेसे वह भगवान्‌के लिये कर्म करने लगता है।[3] अतः साधकका योग-पथपर आरोहण कर्मफलका त्याग करके निष्काम-कार्य कर्म करनेसे आरम्भ होता है।[4] सामान्य जनके कर्म शुक्ल (पुण्य), कृष्ण (पाप) या शुक्ल-कृष्ण (पाप-पुण्य मिश्रित) होते हैं, परंतु ध्यान-योगीके कर्म इन तीनों कोटियोंसे भिन्न अशुक्लाकृष्णकोटिका होता है; क्योंकि

१-मनु० १२ । ८०-९०

२-(क) शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम् । कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥

(ख) यादृशेन तु भावेन यद्यत् कर्म निषेव्यते । तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ (मनु० १२ । ३, ८१)

३-'मत्कर्मकृन्मत्परमः' (गीता ११ । ५५)

४-अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (गीता ६ । १, ४)

यह निष्काम होनेके कारण किसी प्रकारके फलका जनक नहीं होता।[1] कर्मफलका त्याग कर देनेपर योगी जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर शाश्वत शान्ति एवं मुक्तिको प्राप्त करता है।[2]

निष्काम कर्मयोगके लिये केवल कर्मफल ही नहीं, अपितु कर्मके प्रति आसक्तिका त्याग भी आवश्यक है।[3] कर्मयोगमें महत्त्व किसी विशिष्ट कर्मके सम्पादनका नहीं है, अपितु किस भावनासे किया जाता है—इसका महत्त्व है। किसी विशेष कर्मसे लगाव हमारी तृष्णा, आसक्ति एवं अहंको प्रकट करता है। जीवनको आश्रम, योग्यतादि विभिन्न परिस्थितियोंमें जो भी छोटा या बडा कार्य करनेको मिले उसे भगवत्कार्य समझकर पूर्ण प्रसन्नताके साथ भगवान्‌के चरणमें समर्पित करनेके लिये करना चाहिये। भगवच्चित्त हो भगवान्‌का सतत स्मरण करते हुए कर्म-सम्पादनके लिये[4] यह आवश्यक है कि साधकका मन अचञ्चल एवं बुद्धि एकाग्र हो। बुद्धि यदि एकाग्र न हो तो उसमें ज्ञान स्थिररूपसे टिक न सकेगा। परंतु इन्द्रियोंका विषयोंके प्रति तीव्र आकर्षण मन और बुद्धिको भी अपने साथ बलपूर्वक खींचकर ले जाता है। इन्द्रियोंका जबतक अपने-अपने विषयोंमें आकर्षण बना हुआ है, जबतक चित्तमें प्रबल तृष्णाका निवास भी बना हुआ है तबतक कर्मफलके त्यागका अभ्यास भी दृढ नहीं हो सकता, अतः विवेक, वैराग्य, अनासक्ति एवं प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको नियन्त्रित करके ही कर्मयोगकी साधना प्रारम्भ करनेपर सफलता मिलती है।[5] जब इन्द्रियाँ आत्माके वशमें रहकर राग एवं द्वेषसे रहित होकर निरपेक्षभावसे अपने-अपने विषयोंका अनुगमन करती है, तब चित्त प्रसन्न एवं निर्मल हो जाता है। निर्मलचित्त व्यक्तिकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। प्रत्येक परिस्थितिमें बुद्धिका शान्त, सम एवं स्थिर रहना ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषका लक्षण है।

मनुष्यको कर्मके लिये प्रेरित करनेवाली उसकी कामनाएँ होती हैं। कामनाएँ ही मोहित करके अज्ञानके आवरणसे आत्माके शुद्ध स्वरूपको आच्छादित करती हैं। कामना न हो तो कर्म भी नहीं हो सकता। कामना ही अहंका बीज है। काम्य फलोंकी कामनाएँ उत्पन्न करके अहंकार हमपर अधिकार जमाये रखता है। निष्कामकर्म कर सकनेमें समर्थ होनेके लिये कामना और अहंकारकी गाँठोंको ढीला करना होगा। कामनासे मुक्ति पानेमें समय लगता है, इसके लिये दीर्घकालतक प्रयत्न करना पड़ता है। भोग एवं निग्रह दोनों ही कामनासे छुटकारा पानेके सुरक्षित उपाय नहीं है। भोगद्वारा कामनाओंकी पुष्टि होती है एवं कामनाएँ और अधिक प्रबल होती हैं। निग्रहके द्वारा बलात् दबा दिये जानेपर वे उत्तेजित अवस्थामें छिपी रहती हैं, पर उनका कभी अकस्मात् विस्फोट हो सकता है। ऋषि विश्वामित्रके जीवनमें यौन-कामनाका एवं दुर्वासाके जीवनमें प्राय होनेवाला क्रोधका विस्फोट निग्रहकी असफलताके उदाहरण हैं। विवेक, अनासक्ति एवं समताकी सहायतासे ही कामनाको अपनी प्रकृतिकी सत्तासे निकाल दे सकना सम्भव है। सर्वकामनाओंसे निःस्पृह होना योगयुक्त पुरुषका लक्षण है[6]। कामना-त्यागके लिये निम्नलिखित विधियोंको अपनाया जा सकता है।

कुशल नाविक समुद्रमें दक्षतापूर्वक नौकासंचालनके साथ-साथ समुद्रमें उठनेवाले तूफानों एवं आकाशमें

१–कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ (योगसूत्र ४।७)

२–भगवद्गीता २।५१, ५।१२। ३–वही २।४७-४८, ६४। ४–'मच्चित्तः सततं भव' तथा गीता १८।५७

५–(१) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (गीता ३।७)
(२) गीता ६।४, २।६१, ६७-६८

६–निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ (वही ६।१८)

उठनेवाली आँधी तथा झंझाके पूर्वलक्षणोंको भी पहचानता है एवं उनके आगमनके पूर्व ही अपनी नौकाकी सुरक्षाकी व्यवस्था कर लेता है । आँधी-तूफानके अकस्मात् आक्रमणमें भी वह नौका-संचालनकी कुशल-कलाके द्वारा नौकाको समुद्रमें डूबनेसे बचा लेता है । इसी प्रकार योगका कुशल साधक उठनेवाली कामनाकी आँधीके पूर्ववेगोंको पहचान लेता है तथा आत्म-सत्ताकी चट्टानपर अविचलरूपसे स्थित रहकर कामनाके प्रवेगोंके अनुसार कार्य करनेसे इन्कार कर देता है । काम, क्रोध, लोभके प्रवेग अत्यन्त प्रबल होते हैं । इनको झेलना अत्यन्त कठिन है; परंतु जो योगी इनके आक्रमणको क्षुब्धचित्त हुए बिना सह लेता है, वही सचमुच अपनी आत्मचेतनासे युक्त एवं सुखी होता है ।[1] काम, क्रोध आदिसे रहित यति ही सच्चे अर्थोंमें जितेन्द्रिय एवं आत्मज्ञ होते हैं । वे सदा ही मुक्त होते हैं[2] । सामान्य जीवनमें काम, क्रोध लोभ ही कर्मके प्रेरक हेतु होते हैं[3] । परंतु ये तीनों आसुरी प्रवृत्तिके गुण हैं, नरकके प्रत्यक्ष द्वार हैं, अतः निष्काम कर्मानुष्ठानमें समर्थ होनेके लिये इनसे मुक्त रहना आवश्यक है ।[4] (क्रमशः)

कर्मण्येवाधिकारस्ते

(लेखक—डॉ० श्रीरामनरेशजी मिश्र 'हंस', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यमहोपाध्याय, व्या०काव्य-तीर्थ)

आपाततः देखनेसे प्रतीत होता है कि अपने यहाँके आर्षग्रन्थ हमें सकामकर्मके लिये आदेश देते हैं । वेदोंमें—**'स्वर्गकामो यजेत्'** आदि आदेश ऐसे ही हैं । भिन्न-भिन्न देवताओंसे भिन्न-भिन्न फल-प्राप्तिके लिये भी शास्त्रोंमें विधान है—'सूर्यसे आरोग्य, अग्निसे धन, शिवसे ज्ञान, विष्णुसे मोक्ष, शक्तिसे अनन्त सौभाग्य पानेकी इच्छा रखनी चाहिये और कर्मफलके लिये उपासनापरक साधन करने चाहिये'—

'आरोग्यं भास्करादिच्छेद्धनमिच्छेत् हुताशनात् ।
ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत् मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ।
शक्तेरनन्तसौभाग्यम्' इत्यादि । (आनन्दरामायण)

'नासदीयसूक्त'में कामको मनका प्रथम रेत या सार कहा गया है—

'कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।'

मनके धर्म-अनुरागका रङ्ग लाल कहा गया है । इसीलिये तन्त्र-ग्रन्थोंमें कामेश्वरशिवकी मूर्ति भी उसी वर्णकी मानी गयी है । तन्त्रानुसार भगवान् कामेश्वर पञ्चप्रेतयुक्त पर्यङ्कपर शक्तिके साथ विराजमान रहते हैं । शिवके ही मनोमय रूपको कामेश्वर कहते हैं । कामेश्वरका भाव कामविजय एवं निष्कामतासे ही है । इधर जब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन-सरीखे दार्शनिक योद्धासे कहते हैं कि 'कर्ममें ही तेरा अधिकार है—फलोंमें नहीं; तू कर्मफल हेतुत्व और अकर्मण्यता दोनोंसे अलग रह तब,' इसपर विशेषरूपसे विचारना पड़ता है । वैसे तो लोग मन, वाणी और कायसे किये गये पाप-पुण्योंके भगवदर्पणकी बातें भी कह देते हैं—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतिस्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

पर अहंता या कर्तृता यहाँ भी सर्वांशमें मिटती नहीं दीखती—भक्तिप्रिय भगवान्के लिये समर्पणशीलता और कर्तृत्वका अहं दोनोंकी खिचड़ी पकती है और इसीलिये

१–शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ (गीता ५ । २३)
२–वही ५ । २६, २८ । ३–योगसूत्र २ । ३४ । ४–गीता १६ । २१-२२ ।

भगवान्‌की यह बात ठीक-ठीक गले नहीं उतरती । एक मार्क्सवादीको तो यह मानसिक गुलामीकी ही भावना फैलानेवाली प्रतीत होगी कि काम तो हम करें, पर फल हमे कोई अपनी इच्छासे दे। कामपर हमारा अधिकार और फलपर किसी अन्यका ! शोषणकी मानसिकताका अजीब सबूत ! आस्तिक और नास्तिक दोनोंकी भटकी वैचारिकता और खटकेमें डाल देनेवाला आचार निष्काम-कर्मयोगकी समझ पैदा करनेमें बाधा उपस्थित करता है ।

प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानोंने अपने-अपने ढंगसे इस विषयपर विचार किया है। वाद-विशेषसे प्रतिबद्ध होनेके कारण इनमें मतैक्य नहीं है। किंतु गीता उपनिषद्-कामधेनुका दूध है । इसे अर्जुन-जैसे बछड़ेके सहयोगसे सुधी भोक्ताओंके लिये नन्द-नन्दन गोपाल श्रीकृष्ण-ने दूहा था। यह ऐसा विशुद्ध अध्यात्मामृत है, जो अमर भले कर दे; परंतु एक बूँदसे अधिक पच नहीं सकता। फिर अमृत सर्वसुलभ भी नहीं है, दुष्प्राप्य ही नहीं, दुर्लभ भी है। व्यवहार या कर्म जल है। वह यदि पाप या वासनासे युक्त है तो वह अपेय जल है और यदि पुण्य मङ्गल-भावसे युक्त है तो वह शुद्धजल या गङ्गाजल है। सामान्य जीवनकी रक्षा और आनन्द-की वृद्धि न तो अमृतसे हो सकती है और न केवल जलसे ही। भोग्य पदार्थोंमें दूध ही समग्र पोषणकी क्षमतावाला होता है। गीताने वेदकी अनेक विद्याओंको आत्मसात् किया है और मानवको पूर्णतामें प्रतिष्ठित करनेके लिये जीवनकी सीधी लकीरें खींच दी हैं। एक प्रसिद्ध साहित्यिकके मतसे जीवनकी सीधी रेखा खींचना बड़ा मुश्किलका काम है। गणित या चित्रकलाके लिये ही सीधी लकीर खींच पाना कठिन है। सीधी लकीरोंके द्वारा समग्रतः सनातन जीवन-मूल्योंका अमिट रेखाङ्कन तो और भी अचरजका काम है, जो गीतामे हुआ है। ऋग्वेद-(१ । १६४ । ३९)में निर्दिष्ट शब्दविद्यामात्रका ही उल्लेख गीतामें नहीं हुआ है, बल्कि शब्दात्मकवेदके साथ तत्त्वज्ञानमय वेदका भी। अर्थज्ञ और शब्दज्ञका साफ-साफ अन्तर भी बतला दिया गया है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'** अन्यान्य विद्याओंका भी इसमें संकेत है। मुण्डक आदि उपनिषदोंमे भी सकामकर्मकी आलोचनाकी गयी है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥
(२ । ७)

भगवान् श्रीकृष्णने फलासक्तिका त्याग कर्मयोगकी साधना आदिका संदेश देकर 'निष्कामता' या 'समत्व'का उपदेश दिया। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गीता १२ । १२)

मनोविज्ञानके अनुसार मनकी पाँच अवस्थाएँ हैं—सामान्य मन, विशिष्ट मन, आलोकित मन, चैतन्यमन और अति-मन हैं, जो क्रमशः अधिमन (परमचेतन)में आरोहण-प्रक्रियासे प्रतिष्ठित होती हैं। शरीरके तीन केन्द्र हैं—बुद्धिकेन्द्र (मस्तिष्क), भावकेन्द्र (हृदय) और प्राणकेन्द्र (नाभिस्थान)। अधिमनमें प्रतिष्ठाके लिये इन तीनोंका समानरूपसे विकसित होना एक अनिवार्य शर्त है। आजके चिन्तक भी कर्मयोगका सूत्र बतलाते हैं। ये क्रमशः ज्ञान, कर्म और भक्तिके प्रतीक है। श्रीकृष्ण भी इन तीनोमें निष्कामताकी शर्त लगाकर सबोंमें समत्व-समन्वय-संतुलन स्थापितकर जीवनको समग्रतः पूर्णतामें प्रतिष्ठित करनेका संदेश देते हैं। सामान्यतः बिना उद्देश्य या कामनाके तो एक कण भी सक्रिय नहीं दीखता। कामनाके अभावमें तो कर्मकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। किंतु श्रीकृष्ण हैं, जो अर्जुनको

कामनारहित कर्मके लिये प्रेरित कर रहे हैं। यही प्रेयस्‌से श्रेयस्‌का पथ है। यही गीताकी मान्यता है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि नाव नदीकी धारामें चलती है, पर उसके जलको अंदर नहीं आने देती। जलके अंदर आते ही नाव डूब जायगी। इसी तरह संसारमें रहकर भी मनुष्य निष्कामकर्मके द्वारा सांसारिकतासे परे रह सकता है। निष्कामकर्म एक अद्भुत आनन्दकी वस्तु है। इसके आगे स्वर्गादिक सुख भी निःसार है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

भर्तृहरिने भी **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'** आदिके द्वारा यही संकेत किया था। फलाकाङ्क्षा अन्तर-मल है। इसकी ओषधि गोस्वामी तुलसीदासजी इस प्रकार बतलाते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यन्तर मल कबहुँ न जाई॥

गीतामें भी एक भिन्न प्रक्रियाद्वारा आत्माकी निर्लेपता और बुद्धि आदिके गुणोंका विवेचन हुआ है। सांख्यदर्शनके अनुसार जगत् प्रकृतिका परिणाम है। परिणाम-वैविध्य प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है, जिसका प्रतिबिम्ब आत्मापर पड़ता है। प्रकृतिका पृथग्भाव न समझना ही बन्धनका और पृथग्भावका विवेक ही मुक्तिका कारण है। इस प्रकार प्रकृति ही बन्धन-मुक्ति—दोनोंका कारण है। निरपेक्षता (अनासक्ति) मुक्त करती है तो सापेक्षता बन्धनमें डालती है।

योगदर्शनमें तीन प्रमाण और प्रकृतिके गुणोंके प्रभावसे अन्तःकरणका चञ्चल होना, चित्तवृत्तियोंके निरोधद्वारा मल-विक्षेपोंका निरास करना आदि अष्टाङ्ग प्रक्रियाएँ वर्णित हैं। इनमें भी कर्म अनिवार्य है और फलासक्ति या कर्मासक्तिका सर्वथा परित्याग भी।

'वेदान्त-दर्शनमें' सांख्योक्त प्रतिबिम्बरूपात्मक सुख-दुःखका पुरुषरूप आत्मामें निवेश, पुरुषसे भिन्न स्वतन्त्र प्रकृतिको जगत्‌का उत्पादक मानना और पुरुषोंकी अनन्तताको नकारा गया है। यहाँ सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिका प्रपञ्च है, पर उसकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं, बल्कि आत्माकी सत्तासे ही वह 'सत्' कहलाती है। आत्मसत्ताका आभास प्रकृति है। अवरोहण-क्रमसे ब्रह्म, महत्तत्त्व, प्रकृति, अहंतत्त्व, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, भूततत्त्व और आरोहण क्रमसे इसका उल्टा समझना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मकी अद्वैतता ही सिद्ध होती है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'** वेदान्तानुसार ब्रह्मका कर्म-विवर्त ही यह सारा कुछ है और ब्रह्म सर्वथा निर्लिप्त है। पर उसमें कर्तृत्व नकारा गया है।

विशिष्टाद्वैतमें चित्-अचित् और चिदचिद्विशिष्ट नामसे जीव, प्रकृति और ब्रह्मका विवेचन है। जीव और प्रकृति दोनों ही ब्रह्मके शरीर हैं। इनकी सूक्ष्म अवस्था प्रलय है और स्थूल अवस्था जगत्-प्रपञ्च। ब्रह्मकी दो अवस्थाएँ हैं—सूक्ष्म और स्थूल। यही निराकार-साकार या निर्गुण-सगुण है—**'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा'**। यही रहस्य है। जीव अणुरूप है और ब्रह्मसे पृथक् रहता है। ज्ञान और कर्मका समुच्चय ही मुक्तिका कारण बनता है। इसमें भक्ति ही प्रधान है और भक्तिमें केवल प्रपन्नता या अनन्या भक्ति (केवला भक्ति) सर्वोत्तम है। फलासक्तिके त्यागपूर्वक कर्म अर्थात् निष्कामकर्म ही केवल प्रपन्नतामें प्रधान है। द्वैतवादमें ईश्वरसे जीव और जगत् भिन्न हैं। ईश्वर जगत्‌का निमित्त कारण है। प्रकृतिसे प्रपञ्च बनाकर भी वह खुद प्रपञ्चरूपसे परिणत नहीं होता, अतः वह उपादानकारण भी नहीं है। जीवकी दो अवस्थाएँ हैं—बन्धन और मोक्ष। बन्धनका कारण कर्मासक्ति और कर्मफलासक्ति है तो मोक्षका कारण अनासक्तिपूर्वक ज्ञान-कर्मसमुच्चय है। यहाँ भी कर्मकी अनिवार्यता और आसक्तिके त्यागकी आवश्यकता सुस्पष्ट है।

शुद्धाद्वैतमें ब्रह्म ही जगत्‌का मूल है। अद्वैतके समान यहाँ जगत् मिथ्या या कल्पना नहीं है। परब्रह्म

अपनी पूर्ण स्वतन्त्र इच्छासे अपने भीतरसे ही जगत्को प्रकट और अपने भीतर विलीन करता रहता है। माया और प्रकृति परब्रह्मकी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं तो अणुरूप जीव भी। सभी ब्रह्मसे ही प्रकट होते हैं। मुक्तिका कारण भगवदनुग्रह है जो भक्तिसे सिद्ध होता है। भक्ति दो प्रकारकी है—साधनरूपा और फलरूपा। मर्यादा, प्रवाह और पुष्टि-(अनन्यता-)से ये पुष्ट होती हैं। फलरूपा भक्ति भी विशुद्ध प्रेमरूपा या पूर्ण समर्पणरूपा है। कहीं भी कर्मका त्याग और फलासक्तिकी गुंजाइश नहीं। 'द्वैताद्वैतवाद'मे सृष्टिके पूर्व ब्रह्म एक ही रहता है, पर सृष्टिके बाद द्वैत हो जाता है। उससे परस्पर भिन्न अनेक पदार्थ (पाञ्चभौतिक) उत्पन्न होते है—विनष्ट होनेके लिये। ब्रह्मका विनाश कभी नहीं होता। मुक्तिके लिये ज्ञान-कर्म-समुच्चय और भक्तिके कायल ये भी है।

'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन'मे परशिव ही मूल है। ये नामरूपातीत है। अपनी शक्तियो और कलाओके द्वारा सृष्टि-प्रपञ्च करते है। योग-(तन्त्र-) द्वारा जीव शिव बनकर परशिव या सदाशिवमे अन्तर्भूत हो जाता है। कर्म, भक्ति, ज्ञान और योगका समुचित उपयोग मुक्तिके लिये अपेक्षित है, पर 'प्रसाद'का महत्त्व सर्वोपरि है। वैष्णवेतर दर्शनोमे भी कर्मकी अनिवार्यता और फलासक्तिका त्याग अत्यावश्यक एवं विस्पष्ट है।

आधुनिक विज्ञानने भी कर्मकी अनिवार्यता सिद्ध की है। न्यूटनके गति-सिद्धान्त एव आकर्षण-सिद्धान्त भास्कराचार्यके 'सिद्धान्त-शिरोमणि'के समान है। दोनो ही कर्मकी निरन्तरताके समर्थक है। आइन्स्टीनके सापेक्षवादमे सापेक्ष-प्रक्रियाके माध्यम तत्त्वोका जिक्र है; पर माध्यमोके नियामकके रूपमे किसी अज्ञात सत्ताका उल्लेख है। डॉ० नार्लिकरने इस अज्ञात सत्ताको ईश्वरवत् बताकर इसकी निरपेक्षताका इशारा किया है तो भौतिकीके विद्वान् डॉ० कोयस्लरने जडवादका प्रामाणिक खण्डनकर विश्वब्रह्माण्डकी तमाम वस्तुओको चेतन सिद्ध किया है। सार्वभौम चेतनवादके बाद विज्ञानका अगला कदम महाचेतनकी खोज और प्रामाणिकताका ही होगा। सापेक्षवादसे चेतनवादतक सारे सिद्धान्तोसे यदि कर्मकी सहजता प्रमाणित होती है तो फलकी स्वय सिद्धता भी और तब आसक्ति व्यर्थ हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गीतोक्त निष्कामकर्म या फलासक्तिका त्याग एक सार्वभौम और सनातन नियम है। इसीलिये नैयायिकोने सर्वनियन्ता होनेके कारण ईश्वरको ही फलदाता माना है—**'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मसिद्धेः'** (न्यायसूत्र)। पुष्पदन्तने भी शिवमहिम्नःस्तोत्रमें ईश्वरको ही कर्म-फलदाता माना है—

**क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः॥**

'याज्ञिकोके यज्ञकर्म पर्यवसित होनेपर भी कर्म- फलदानके लिये आप सदा जागरूक रहते है। फिर आपकी आराधनासे ही कर्मध्वंस एवं मोक्ष सम्पन्न होता है। आपकी इसी जागरूकताको देखकर ही लोग अबतक वेदोमे श्रद्धा सजोये हुए प्रवृत्ति-निवृत्ति कर्मानुष्ठानोमे बद्धपरिकर है।'

इस प्रकार हम देखते है कि ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही कर्म अनुष्ठेय है। इससे मानवताको विकासकी महामङ्गलकारी सही और व्यावहारिक जीवन-दीक्षा मिलती है, जिसपर चलनेसे सम्पूर्ण सनातन मानव-मूल्य अपनी समग्रतामे प्रतिष्ठित होते है।

कर्म-कुशलता

(लेखक—श्रीदीनानाथजी गुप्त, बी० ए०, एल्० एल्० बी०)

मनुष्य चाहे कहीं किसी भी समय और कैसी भी अवस्थामें हो, कर्म उसका पिण्ड नहीं छोड़ता। वह उसकी छायाके समान पीछे लगा रहता है। दिन-रात कर्म-रत मानव अपने कर्मोंके परिणामस्वरूप नये-नये संस्कारोंका निर्माण करता रहता है। साथ-ही-साथ वह पूर्व-जन्मके संस्कारोंका भोग भी भोगता रहता है। जहाँ वह एक तरफ पूर्वजन्मके संस्कारोंका भोगद्वारा क्षय करता रहता है, वहीं दूसरी ओर वह नये-नये कर्मोंसे नये-नये संस्कारोंका संचय भी करता रहता है। इस प्रकार प्रारब्धक्षय व नये भाग्य-निर्माणका चक्र चला करता है। सभी प्राणियोंके शरीरोंकी सृष्टि और संहार इसी कर्मरूपी चक्रपर अवलम्बित हैं। सभी प्राणी इस अक्षय चक्रपर आरूढ़ हो भ्रमित हो रहे हैं। क्या यह आश्चर्य नहीं कि सभी जीव इसीमें परमसुख मानते हैं और इसी अद्भुत चक्रसे चिपटे रहना चाहते हैं। कर्मकी इस गहनताको बड़ी सुन्दरतासे महाभारतमें इस प्रकार निरूपित किया गया है—

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथाकृतम्॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म छायेवानुविधीयते॥
स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समंतात् परिकर्षति॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम्॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥
(महाभारत, शा० प० १८। ८–९, ११–१२, १६)

योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं कर्मकी गतिको गहन बतलाते हुए कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
(गीता ४। १७)

जिस प्रकार मक्खी लोभवश शहद (मधु) पर टूट पड़ती है और उसके आस्वादनके साथ-साथ वह उसमें अधिकाधिक लिपटती जाती और अन्ततः अन्तको प्राप्त होती है उसी प्रकार मानव भी इस कर्म-जंजालमें अधिकाधिक फँसता हुआ अवसान प्राप्त करता है। ऐसी दुरवस्थासे बचनेका उपाय क्या है?

मानव-जीवनका लक्ष्य 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ', न होकर परमानन्दप्राप्ति या ईश्वरप्राप्ति है। सृष्टि-चक्रसे छुटकारा पाने तथा लक्ष्य-प्राप्तिके लिये जगत्में आदिकालसे दो मार्ग प्रसिद्ध हैं—प्रवृत्ति या कर्माचरण या कर्मयोग तथा निवृत्ति या कर्मत्याग या सांख्ययोगका मार्ग। परमेश्वर श्रीकृष्णने इन दोनो मार्गोंकी निष्ठाओंका वर्णन गीतामें किया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(३। ३)

संसारमें अधिकतर मनुष्य प्रवृत्तिमार्गपर चलते हैं जो स्वाभाविक ही हैं, परंतु इस मार्गको किस तरह सफलता-पूर्वक तय करना चाहिये, इससे अधिकतरलोग अनभिज्ञ हैं। ऐसे लोग अज्ञानताके कारण बीच मार्गमें ही लड़खड़ा जाते हैं। कई श्रेष्ठ-पुरुषोंने इस मार्गका अवलम्बनकरके अपने मानव-जीवनको सफल बनाया है। प्राचीनकालमें महाराजा जनक तथा आधुनिक युगमें भी अनेक निष्कामी कर्मयोगियोंकी गणना उन कर्मयोगियोंमें होती है, जिन्होने कर्ममें प्रवृत्त होकर परमानन्द प्राप्त किया है। धर्म, कर्म या त्रिवर्ग इहलौकिक धर्म या कर्तव्यकर्म

तथा नीतिके लिये प्रयुक्त होता है और मोक्ष पारलौकिक धर्म या मुक्तिके लिये।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३।३५)

इस श्लोकमें 'धर्म' शब्द इहलौकिक चातुर्वर्ण्योंके धर्मके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। 'धर्म' शब्द **'धृ'** धातुसे निकला है, जिसका अर्थ है—धारण करना। जो प्रजाको धारण करता है, वही धर्म है। धर्म मानव-समाजको धारण करनेवाली आकर्षणशक्ति है, जिसके नष्ट होनेपर मानव-समाजकी वही दुर्दशा हो सकती है, जैसे आकाशमें सूर्यकी आकर्षण-शक्तिके अभावमें अन्य ग्रहोंकी होगी। समाजकी ऐसी शोचनीय अवस्था होनेकी सम्भावनाको दूर करनेके लिये धर्मके आधारपर ही सभी कर्मोंको करनेका विधान है। यदि अर्थ या द्रव्य-सम्पादन करना है तो धर्मके मार्गसे अथवा समाजकी स्थितिके अनुकूलरीतिसे या समाजकी स्थितिको न बिगाड़ते हुए। यदि कामादि वासना तृप्त करना हो या अन्य इच्छाओंकी पूर्ति करना हो तो वह भी धर्मके मार्गसे ही कार्य है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें धर्म शब्दकी व्याख्या **'चोदना लक्षणो धर्मः'**—इस प्रकार की गयी है। 'चोदना'का अर्थ होता है—प्रेरणा। ऋषि-मुनियोंद्वारा समय-समयपर पुनः-पुनः मर्यादाएँ स्थापित की गयी हैं और सर्वहितमें उनके पालनकी प्रेरणा दी गयी है। ये मर्यादाएँ धर्म कहलाने लगीं। कहते हैं—कभी विवाह-व्यवस्था विच्छिन्न हो गयी थी, श्वेतकेतुने इसकी पुनः स्थापना की। शुक्राचार्यने सुरापानको निषिद्ध ठहराया। मनुष्य, पशु, एवं अन्य प्राणियोंमें कुछ प्रवृत्तियाँ समान हैं; जैसे—शरीर-निर्वाहके लिये आहार-भक्षण, रात्रिमें निद्रा लेना अन्य जीवों या प्राकृतिक प्रकोपोंसे दुःख एवं मृत्युका भय तथा संतान-उत्पत्ति आदि। ये प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। इनके लिये किसीको सिखानेकी आवश्यकता नहीं है। मानवधर्म इन प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण एवं मर्यादा लगाता है। इस प्रकार धर्म मनुष्यको पशुतासे ऊपर उठा देता है और उसे अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठता प्रदान करता है। यही मनुष्य और पशुमें अन्तर या भेद है। जिसमें यह धर्म नहीं, वह पशुके ही समान है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

संक्षेपमें कर्तव्यकर्म या नीति अथवा आचरण, समाजहित एवं स्वेच्छाचारपर नियन्त्रणका समावेश मर्यादाओंद्वारा धर्मके अन्तर्गत होता है। जिस प्रकार किसी रोगादिके लक्षणोंसे ही उस रोगकी पहचान होती है, उसी प्रकार धर्मके लक्षणोंसे ही धर्मका बोध होता है। वे ये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति (धैर्य), क्षमा (अपराध करनेपर भी बदलेकी भावनाका अभाव), दम (मनका दमन), अस्तेय (चोरी न करना), शौचाचार (आन्तरिक तथा बाह्यशुद्धि), इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंका नियन्त्रण), धी (उत्तम बुद्धि), विद्या (अध्यात्मकथा), सत्य तथा अक्रोध (क्रोधका न होना) धर्मके ये दस लक्षण जहाँ दृष्टिगोचर हों, वहीं धर्म प्रतिष्ठित है। धर्मशास्त्रोंमें कर्मोंका विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषणसे गहन कर्मको समझनेमें सहायता मिलती है। प्राचीन वैदिक धर्मानुसार यज्ञ ही प्रमुख कर्म था। इस यज्ञको किस प्रकार करना चाहिये, इसका विस्तारसे वर्णन वैदिक ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है। ऐसे कर्मोंको श्रौतकर्मकी संज्ञा दी गयी है। मनुस्मृति एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थोंमें चारों वर्णोंके कर्मोंकी विवेचना की गयी है; जैसे—ब्राह्मणोंका अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रियोंका युद्ध, वैश्योंका कृषि, वाणिज्य, पशुपालन तथा शूद्रोंका सबकी

सेवा करना आदि। इन्हें स्मार्तकर्म कहते हैं। उपर्युक्त कर्मोंके अतिरिक्त धार्मिक कर्म—जैसे व्रत, उपवास-करना आदिका प्रतिपादन पुराणोंमें किया गया है। उन्हें पौराणिक कर्म कहा जा सकता है।

कर्म श्रौत, स्मार्त एवं पौराणिक नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा निषिद्ध हो अथवा राजसी एवं तामसी हों, सभी समय आनेपर अपना फल देते हैं; क्योंकि जैसे कर्म अनिवार्य हैं वैसे उनके फल भी अनिवार्य है। यह भी निश्चित ही है कि अच्छे कर्मका अच्छा फल और बुरे कर्मका बुरा फल होता है। कर्म करनेके पश्चात् मनुष्यकी स्वाभाविक इच्छा उसका फल प्राप्त करनेकी होती है। यदि मनुष्य किसी चीजकी कामना करता है तो वह उसकी प्राप्ति-निमित्त कर्ममें प्रवृत्त होता है और उसको हासिल करनेका भरसक प्रयत्न करता है।

किंतु एक कामनाकी पूर्ति होनेपर अनेक दूसरी कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि उसकी पूर्ति न हो तो भी मनुष्य उसके वशीभूत रहता है। मानवकी कामनाएँ इतनी बलवती होती हैं कि उनकी पूर्ति न होनेपर भी वह उनका त्याग नहीं कर पाता, वरन् पूरा जीवन उनके पीछे समाप्त कर देता है और अन्तमें वह अन्तःकरणमें कामनाओंका अंबार लिये इस लोकसे विदा ले लेता है! इस प्रकार वह कर्म-बन्धनमें पड़ा बारंबार जन्मता और मरता है।

यदि किसी मनुष्य या पशुको रस्सी आदिसे बाँधकर उसकी स्वतन्त्रता समाप्त कर उसे अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करनेके लिये बाध्य कर दिया जाय तो वह मनुष्य या पशु बन्धनमें है, ऐसा कहा जाता है। सरकसमें जंगली जानवर—जैसे शेर, बाघ आदिको पिंजड़ोंमें रखा जाता है और उनके प्रशिक्षकद्वारा उनसे सिखाये गये खेलोंका प्रदर्शन जनताके सामने कराया जाता है। ऐसे प्रदर्शन बन्धन और भयके घेरेमें किये जाते हैं। जो स्वतन्त्रता उन्हें जंगलोंमें रहती है, वह सरकसमें समाप्त हो जाती है। वहाँ वे अपनी मर्जीसे क्रियाएँ किया करते थे; परंतु सरकसमें उन्हें प्रशिक्षककी इच्छाके अनुसार करना पड़ता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि कौन बन्धनमें है और कौन किसके द्वारा बन्धन लगाता है? जगत्के सभी व्यवहार प्रकृतिके गुणोंसे चल रहे हैं। प्रकृतिके फलोंमें आसक्त मनुष्य उनकी प्राप्तिके निमित्त कर्ममें प्रवृत्त होता है। अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये वह उचित या अनुचित कर्म करता रहता है। फलासक्तिसे कर्म करता हुआ वह कर्मके शिकंजेमें जकड़ता जाता है। इस प्रकार त्रिगुणमयी प्रकृति जीवात्माको तीनों गुणोंके द्वारा बन्धनमें डालती है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(गीता १४।५)

जगत्के धारण-पोषण-हेतु सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेवने यज्ञ-चक्रकी स्थापना की। इसलिये जगत्का कल्याण भी यज्ञमें ही निहित है। इस सृष्टिमें उत्पन्न मानवके द्वारा इस यज्ञ-चक्रका परिपालन आवश्यक है, ताकि सृष्टिचक्र नियमित चलता रहे—जगत्के जीवोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती रहे तथा सभी प्राणी सुखी रहें। यज्ञसहित प्रजाकी उत्पत्ति करके ब्रह्माजीने कहा कि—इस यज्ञद्वारा मनुष्य वृद्धिको प्राप्त होते हैं और वह देवताओंको तृप्त करता है। इससे देवता उनकी इच्छित कामनाओंको देनेवाले होते हैं। इस यज्ञद्वारा मनुष्य देवताओंकी उन्नति करे और देवता लोग मनुष्योंकी उन्नति करें। इस प्रकार अपने-अपने कर्तव्यका पालनकर उन्नति करते हुए परमकल्याणको प्राप्त होंगे। यज्ञसे संतुष्ट देवतालोग मनुष्योंको इच्छित भोग प्रदान करेंगे। जो मनुष्य उनके दिये भोगोंको उनको न देकर स्वतः उपभोग करता है, वह चोरी करता है और इस प्रकार वह ईश्वरकी यज्ञचक्र चलानेकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके दोषका भागी बनता है।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
(गीता ३ । १२)

यदि उपर्युक्त यज्ञ न किया जाय या यज्ञके निमित्त कर्म नहीं किये जायँ तो ऐसे कर्म इस लोकमे मनुष्योको बन्धनमें डालते है—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।'
(गीता ३ । ९)

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यज्ञमे श्रौत, स्मार्त व चारो वर्णोके कर्मोंका समावेश होता है । यदि यज्ञ न करे—अहङ्कारवश मानव मनमाने भोग भोगता है तो वह इस प्रकार पाप-भक्षण ही करता है—

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।'
(गीता ३ । १३)

ऐसा कर्म उसकी कर्मासक्ति एवं फलासक्तिको और अधिक दृढ करता है जो बन्धनकारक है ।

ऐसा आचरण करनेसे उसमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता, अज्ञान आदि दुर्गुणोंकी वृद्धि होती है । ये दुर्गुण आसुरी सम्पदा कहलाते हैं, जो बन्धनकारक हैं—

'दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।'
(गीता १६ । ५)

अतः जो मनुष्य यज्ञचक्रका अनुसरण नहीं करता, उस पापआयु पुरुषका जीवन व्यर्थ जाता है । वह कर्मबन्धनसे जकड़ा हुआ जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है । वह न इहलोकमे सुखी रहता है और न परलोकमे ।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(गीता ३ । १६)

यज्ञ मनुष्यकी क्रियाओ-(कर्म-)के द्वारा सम्पन्न होता है । कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृतिद्वारा निर्मित मनुष्यसे किया जाता है तथा यह प्रकृति अक्षरब्रह्मसे प्रकट हुई है । इस चक्रके अनुसार परमेश्वर यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित हैं ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
(गीता ३ । १४-१५)

इस यज्ञचक्रका जो मनुष्य अनुसरण करते हैं और यज्ञका अवशिष्ट (बचा हुआ भाग) ग्रहण करते हैं, वे सर्वपापोसे मुक्त हो जाते हैं—

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।'
(गीता ३ । १३)

यदि यज्ञ स्वर्ग-प्राप्तिकी कामना या अन्य किसी कामनासे किये जाते हैं तो पुण्यके प्रभावसे ऐसे सकामी मनुष्य स्वर्गादि लोकोको प्राप्त करते हैं । परतु पुण्योंका क्षय होनेपर उनका पुनर्जन्म निश्चित है । इस प्रकार यज्ञ करनेसे जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा नहीं मिलता । यदि मनुष्य अपने कर्तव्यकर्म (स्वाभाविककर्म) काम्यबुद्धिसे सम्पन्न करता है तो वह तदनुसार फल प्राप्त करता है । उसका भी आवागमनसे पिण्ड नहीं छूटता । साधारणतः यज्ञका अर्थ किसी देवताके निमित्त अग्निमें तिल, चावल आदिका हवन करना माना जाता है । चातुर्वर्ण्योंके कर्म स्वधर्मानुसार काम्यबुद्धिसे करना भी यज्ञ माना जाता है । परंतु ये अर्थ संकुचित हैं । अग्निमें आहुति डालते समय अन्तमे **'इदं न मम'** 'यह मेरा नहीं है', इन शब्दोका उच्चारण किया जाता है जो स्वार्थत्यागका द्योतक है; यह जो स्वार्थ-त्यागरूपी निर्ममत्वका तत्त्व है, वही यज्ञका प्रधान भाग है ।

जगतमे सयमीपुरुष, द्रव्यरूप, तपोरूप, योगरूप स्वाध्याय या नित्य स्वकर्मानुष्ठानरूप व ज्ञानरूपयज्ञ करते हैं । इन यज्ञोंका वर्णन गीताके अध्याय ४के २४से ३३तकके श्लोकोमें किया गया है । द्रव्यमययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमययज्ञ श्रेष्ठ है; क्योकि सर्वप्रकारके सर्वकर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें होता है । कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें होता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान होनेके बाद सर्वकर्मोंका त्याग किया जाता है । वस्तुतः उसका तात्पर्य यह है कि सर्वकर्मोंको लोकसंग्रहार्थ कर्तव्य

समझकर किया जाय। अतः तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् भी कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञको ममत्व-बुद्धि त्यागकर ज्ञानपूर्वक किया जाय। इस प्रकार यज्ञ करनेसे मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते हैं।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
(गीता ४। ४१)

कर्मकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन्धनकारक है। यदि ऊपर लिखे अनुसार यज्ञ या कर्म किये जायँ तो कर्म-बन्धन क्यों नहीं लगता, इसे समझनेकी आवश्यकता है। जहाँ देहधारीसे कर्मका त्याग सम्भव नहीं है, वहाँ कर्मफल व उसकी आशाका त्याग हो सकता है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥
(गीता १८। ११)

एक ओर कर्म करना अनिवार्य है तो दूसरी तरफ कर्मबन्धनसे जो कर्मकी छायाके समान है, इससे बचनेकी आवश्यकता है, ताकि मनुष्य अपना कल्याण साध सके। इन परिस्थितियोंमे यदि मनसे कर्मफलकी आशाका त्याग कर दिया जाय, तो त्यागी मनमें नये कर्म संस्कारोंका सञ्चय नहीं होने देगा। यद्यपि वह भी पूर्वजन्मके कर्मोंका फल भोगता है, परंतु वह फलाशाका त्यागकर नये प्रारब्धका निर्माण रोक देता है। इस प्रक्रियामें एक तरफ वह अपने भाग्यका फलभोग कर उसका क्षय करता है, वहीं दूसरी तरफ वर्तमानमें फलाशाके त्यागसे वह नये कर्मसंस्कारोंका सञ्चय नहीं करता है। नये कर्मसंस्कारोंके न बननेसे अगले जन्मका प्रारब्ध ही नहीं बन पाता, जो नये जन्मका कारण है। इस रीतिसे कर्मका आचरण करनेपर वह मनुष्य एक ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है, जहाँ न उसके प्रारब्धका भोग ही शेष रहता है और न नये प्रारब्धका अस्तित्व ही रहता है। उस स्थितिमें उसका कर्मबन्धन नष्ट हो जाता है। कर्मफलत्यागी सर्वत्र आसक्तिरहित हो एवं कर्मफलाशा त्यागकर मनको वशमें करके निष्काम-बुद्धिसे व्यवहार करता हुआ परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
(गीता १८। ४९)

अतः ममत्वबुद्धिका त्याग कर यानी निष्कामबुद्धिसे ब्रह्मार्पणपूर्वक जीवनमें सर्वव्यवहार करना एक महान् यज्ञ है जिसके द्वारा देवताओंके देवता परमेश्वरका भजन होता है, जिससे कर्मबन्धन नहीं लगता। यह योग ही कर्म करनेमे चतुराई या वह युक्ति है जिससे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसे ही गीतामें कर्मकुशलता या योग कहा है।

निष्कामतामें गृह ही तपोवन है

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥
एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य।
अध्यात्मयोगे गतमानसस्य मोक्षो ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। ३१७, ३२०)

'जो सदा शुभ कर्ममें ही प्रवृत्त होता है, उस वीतराग पुरुषके लिये घर ही तपोवन है। जो एकान्तमे रहकर दृढतापूर्वक नियमोंका पालन करता, इन्द्रियोंकी आसक्तिको दूर हटाता, अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनमे मन लगाता और सर्वदा अहिंसा-व्रतका पालन करता है, उसका मोक्ष निश्चित है।'

निष्काम-कर्मयोग—एक दृष्टि

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रकुमारजी शर्मा)

'निष्काम-कर्मयोग' यौगिक-साधन-शृङ्खलाकी एक देदीप्यमान श्रेष्ठ आध्यात्मिक कड़ी है। गीतामें क्रमशः अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे कर्मके फलके त्यागको श्रेष्ठ कहा गया है। इससे सत्वर शान्ति मिलती है और भगवत्सांनिध्य एव मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आसन-प्राणायामादिके द्वारा एकाग्रतापूर्वक भगवत्प्राप्ति राजयोगकी साधना है। अन्य मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, भक्तियोगादि भी श्रेयस्कर साधन है।

दक्षादि धर्मशास्त्रोंमें जीव और आत्माके संयोगको भी योग कहा जाता है। युज् धातुसे उत्पन्न योग शब्दके अनेक अर्थ हैं। **'युजिर् योगे'**, **'युज् समाधौ'** 'युज् संयमे' आदि। योगकी परिभाषा करते हुए महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रमें—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**। कहकर चित्तवृत्तियोंके निरोधकी क्रियाको ही मुख्य योगकी संज्ञा दी है। ये चित्तवृत्तियाँ निद्रा, प्रमाण विपर्यय आदि बहुतेरी हैं। कर्मयोग या क्रियायोगके लिये उनका दूसरा सूत्र है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
(२ । १)

गीताके उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णने समत्व-बुद्धिको ही योग कहा है—**'समत्वं योग उच्यते'**। सभी प्राणियोंमें समबुद्धि-भाव रखता हुआ मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धिका विचार न करते हुए कर्म करना ही 'समत्वबुद्धि' है—

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

श्रीकृष्णने कर्मफलकी चाह न करके योग्य कर्मके कर्ताको ही योगी कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च ....॥
(गीता ६ । १)

सहसा सर्वथा कर्मत्यागसे निष्क्रियता आती है। इससे सहसा मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। कर्मकी महत्ता और अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा है कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्म न करनेसे तो शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा सिद्धिकी तो बात ही क्या ?

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गीता ३ । ४)

अन्य महापुरुषोंने भी कहा है कि कर्म ही देवताओंके प्रति सच्ची पूजा है, इसीलिये कर्मको देवताओंकी पूजाके अनुरूप समझकर करो। यथा—

तथा कर्माणि कुर्याम यथा देवमुपास्महे।
कर्मैव परमा पूजा दैहिकी दैवतं प्रति॥

'श्रीमाँ'ने इसी सत्यको उद्बोधित करते हुए कहा है—Indeed the work is the best mode of prayer to the Devine. 'कर्मानुष्ठान भगवान्‌की सर्वोपरि उपासना है।

भूलोक कर्मस्थल है और आसक्तिरहित कार्य मोक्षका मार्ग है। इसीलिये यह उद्घोषणा की गयी है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** एवं

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
(कठोप० ३ । १४)

मुख्यतः कर्म दो प्रकारके होते हैं—सकाम और निष्काम। सकाम कर्मका अर्थ होता है—कामनासहित किये गये कर्म या प्रतिफल-हेतु किये गये कर्म। प्रतिफलके रूपमे स्पष्ट, अस्पष्ट सभी इच्छाएँ कर्मकी सकामताको सिद्ध करेंगी। सार्वजनिक हितके कार्य यदि प्रतिष्ठा-प्राप्तिकी कामनाके वशीभूत होकर किये जाते हैं तो वे भी सकाम कर्म कहलाते हैं। परंतु लोकोत्तर इच्छाएँ—जैसे मोक्षप्राप्ति, ईश्वरप्राप्ति आदि इच्छासे किये गये कर्म सकाम कर्म नहीं होते।

कर्तृत्वके अहंभावसे विरक्त रहकर किये गये कर्म भी सकाम नहीं होते। उनसे शान्ति प्राप्त होती है, पर सकाम कर्मोंके अनुष्ठानसे शान्ति नहीं मिल सकती। सकाम कर्मसे कामनाएँ निवृत्त होनेके बजाय उल्टे उसी प्रकार बढ़ती जाती हैं, जिस प्रकार घृताहुति देनेसे अग्नि। इसीलिये कहा गया है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

योगिराज श्रीकृष्णने गीता-(२।४९)मे सकाम कर्मकी चर्चा करते हुए कहा है कि समत्वबुद्धियोगसे सकाम कर्म तुच्छ है। सकाम कर्मके कर्त्ता अत्यन्त दीन होते हैं; क्योंकि ये कर्म निरर्थक अशान्तिप्रद और जन्मबन्धनमे फँसाये रखते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

फलकी इच्छाका त्यागकर यज्ञादि कर्म करके भी प्राणी जन्मबन्धनसे मुक्त होकर मोक्षकी परम शान्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है; क्योंकि यज्ञसे अतिरिक्त कर्मोंसे लोक कर्म-बन्धनमें पड़ता है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
(गीता २।५१, ३।९)

कर्मयोगके लिये निष्कामता अनिवार्य और मुख्य है; क्योंकि सकाम कर्मोंके अनुष्ठानसे कर्म-सम्पादनकी योग्यता प्राप्त हो सकती है। निष्काम योगका अनुष्ठाता स्वार्थ-बुद्धिसे सिद्धियोंकी अभीप्सा न करे, नहीं तो दुर्गति होगी; जैसी कठिनतर तपस्याके बलपर उच्चस्तरीय सिद्धियोंके प्राप्त करनेके पश्चात् भी दैत्यों और राक्षसोंकी हुई थी। एकमात्र सात्त्विक भावसे समदर्शी भगवन्मना होकर तपस्या, सद्व्यवहार, त्याग और धर्मका आचरण आजन्म करता रहे।

स्वामी विवेकानन्दके अनुसार कार्य करना तो बहुत अच्छा है; परंतु कार्य विचारोंसे ही बनता है, इसीलिये अपने मस्तिष्कको उच्च विचारों और उच्चतम आदर्शोंसे भर लो। उन्हें रात-दिन अपने सामने रखो, उन्हींमेंसे महान् कार्योंका जन्म होगा। इस स्थलपर स्पष्ट है कि कर्मयोगके लिये विचारकी आवश्यकता है। इससे भी ज्ञानयोगसे कर्मयोगका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। योगिराज श्रीकृष्णने राजयोगको कर्मयोगसे सम्बन्धित करते हुए कर्मयोगके लिये इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना भी आवश्यक बताया है। वे कहते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता ३।७)

सबको कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है। अच्छे-बुरे कर्म तो मानव अपने मन और बुद्धिपर नियन्त्रणके अनुसार करता है; किंतु मनपर जीवात्माके नियन्त्रण-हेतु योगाभ्यास, शिक्षा और अभ्यासकी आवश्यकता है। स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है—हठयोग और कर्मयोगका सम्बन्ध। श्रीमाँने कार्यके प्रभावी होनेके लिये उसके प्रतिपादनमे शान्ति और सौम्यताको प्रमुखता दी है। उन्होंने कहा है—

'Do not worry about the work, the more you will work calmly, the more it will be effective.'

अब कर्मयोगकी परिभाषा और महत्त्वपर तनिक दृष्टि-पातकर इस लेखको समाप्त किया जाय। श्रीमद्भगवद्गीता-मे योगिराजने कर्मयोगकी महत्ता दर्शाते हुए कहा है—'निष्काम कर्मयोगमे आरम्भका नाश नहीं है और प्रतिरूप-फलका दोष नहीं है। इसीलिये निष्कामयोगका थोड़ा साधन भी मोक्ष प्रदान करनेवाला होता है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २।४०)

❋

निष्काम कर्मयोगके बिना कर्त्तापनका त्याग हो नहीं सकता, जिससे जन्म-बन्धनसे छुटकारा मिलता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ५। ६)

कर्मयोगमें कर्मसे उत्पन्न फलके त्यागके फलस्वरूप मानव जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर अमृतमय परमपदको प्राप्त करता है। योगिराजने तो यहाँतक कहा है कि मुझमें श्रद्धा-भक्ति रखता हुआ निष्कामकर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको करता हुआ भी मेरी कृपासे मोक्षको प्राप्त करता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८। ५६)

भगवान् बुद्धने भी कहा था—जो भी प्राणी सम्यक् कर्म करेगा, वह मोक्षको प्राप्त होगा।
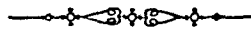
निष्काम कर्मयोग—एक संक्षिप्त परिचय

(लेखक—श्रीकृष्णचन्द्रजी मिश्र, बी० ए० (आनर्स), बी० एल्०, डिप्-इन-एड्०)

'आत्मनात्मानमुद्धरेत्'के दृष्टान्तसे परिलक्षित निष्काम कर्मयोग मानो त्रिषय-व्यालका महामन्त्र और गहन स्वार्थान्धकारके लिये ध्वान्तारि (सूर्य) है। इससे भक्तियोग सिद्ध होकर ज्ञानयोग भी परिपक्व होता है। निष्काम कर्मयोगकी परिणति है—परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति। कर्मकी गति अत्यन्त गहन एवं दुर्बोध है—**'गहना कर्मणो गतिः'** (गीता ४। १७)। इस लोकमें कर्म ही प्रधान है और यह सारा विश्व कर्मका ही परिणाम है। भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म-मरणका हेतु, व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके सुख-दुःख एवं उत्थान-पतनका, शान्ति-समृद्धि, दुःख-दैन्य एवं ज्ञान-अज्ञानका, हर्ष-शोकका कारण भी यह कर्म ही है। कर्मके कारण ही कोई लता-द्रुम, कोई कीट-पतग, कोई पशु-पक्षी, कोई राज्यपाल, कोई रोगी, कोई वैद्य, कोई दाता और कोई भिखारी, कोई अपराधी और कोई न्यायाधीश बना है।

कर्मकी इस प्रधानतापर मीमांसकोंने विस्तारसे विवेचना किया है। कर्मके अनेक भेद-प्रभेद हैं। कुछ कर्म नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ विहित तथा कुछ प्रतिषिद्ध हैं। कुछ कर्म किसीके लिये स्वधर्म और कुछ परधर्म हैं। जीव कर्मोंसे ही बन्धनमें पड़ जाता है, उसे कर्मका शुभाशुभ फल इस जीवनमें या जन्मान्तरमें भोगना ही पड़ता है, **'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।'** (महाभारत, शान्तिपर्व २४१। ७)। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतꣳ समाः'**। (ईशोपनिषद् २) अर्थात् कर्म करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करे; क्योंकि कर्मके बिना आत्मोद्धारका कोई उपाय भी नहीं है। जनकप्रभृति ज्ञानी भी कर्मद्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'
(गीता ३। २०)

कर्मफलासक्तिमें कोई न फँसे, इसलिये आवश्यक है कि कर्म सम्यक् रीतिसे किये जायँ। इसलिये गीतामें शङ्ख-निर्घोष है—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (गीता २। ४८)—योगमें स्थित होकर, योग-मार्गको अपनाकर कर्म करो। योगस्थ होकर कर्म करते समय व्यक्ति एवं फलमें पक्षपात नहीं किया जाना चाहिये। इसी प्रकार जय और पराजयको, दुःख और सुखको भी एक-सा समझना चाहिये। इस तरह कर्म करते-करते भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है। पुनः धीरे-धीरे स्थितप्रज्ञताकी ओर प्रगति होती जाती है। चित्त अधिकाधिक पवित्र होता जाता है, मन निर्मल होता जाता है, राग-द्वेषका लोप होता जाता है। महर्षि-पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है। चित्तकी प्रमाण, विपर्यय आदि सभी वृत्तियों और संस्कारोंका

लय हो जाना ही निरोध है। वृत्तिका अर्थ है कार्यके कारण। कर्मोंसे मनुष्यके चित्तमें संस्कार बनता है। उससे पुनः अन्य कार्य करनेकी कामना उत्पन्न होती है, एक संस्कार अन्य नये कार्यका कारण बनता है। अतएव चित्तवृत्तिके निरोधके फलस्वरूप संस्कारोंका लय हो जानेपर राग-द्वेष मिटते-मिटते मिट जाते हैं, चित्त-शुद्धि आने लगती है। वास्तवमें कर्म करनेकी सर्वोत्तम युक्ति यही है कि कर्मोंसे चित्तशुद्धि हो।

योगशास्त्रानुसार योगका अर्थ वह उपाय या कर्म करनेकी वह विधि है, जिससे आत्मा परमात्मासे जुड़ जाय, दोनोंका योग हो जाय। यम-नियम-आसन-प्राणायामसे लेकर समाधितककी सब क्रियाओं और अवस्थाओंको अष्टाङ्गयोग कहा जाता है। समाधिसिद्ध होनेपर साधक ब्रह्मपर मन केन्द्रित करनेमें सफल हो जाता है। कर्मयोगका साधक कर्मद्वारा ही ब्रह्मपर मन केन्द्रित करनेमें धीरे-धीरे सफल होता है, वह जगत्‌को ब्रह्ममय देखने लगता है। उसके सब कार्य, सब कर्म मानो ब्रह्मके लिये ही होते हैं; **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः…** ।

योगस्थ होकर, सम्यक् युक्तिसे कर्म करनेपर कर्म ईश्वरार्थ-जैसा होने लगता है और राग-द्वेष या संस्कार अथवा चित्तवृत्तिके निरोधके कारण क्रम-क्रमसे समत्व दृष्टि विकसित होती जाती है। इससे धीरे-धीरे मन निःसङ्ग होता है, चित्त पवित्र होता है, स्थिरप्रज्ञता दृढ़ होती है और ज्ञान उद्भासित होता है। देह और आत्माकी भिन्नता भी स्पष्ट हो उठती है और जीवमें शिवके दर्शन होने लगते हैं। दूसरोंके कल्याणके लिये कर्म करते-करते देह-बुद्धिका लोप हो जाता है। ऐसा होते ही उसके सब कर्म ईश्वरके लिये होने लगते हैं। प्रवृत्तिमार्गीय दृष्टि भी इसी दिशाकी ओर संकेत कर कर्मयोगका प्रतिपादन करती है।

'कर्मयोगस्तु कामिनाम्' (श्रीमद्भागवत ११।२०।६७)

अर्थात्—कामनाओंसे युक्त मनुष्योंके लिये, प्रवृत्ति-मार्गियोंके लिये कर्मयोग है; क्योंकि कर्मयोग कर्म करनेकी ऐसी ही युक्तिको, कर्म करनेके ऐसे ही विशेष नियमको, विधानको कहा जाता है, जिससे कर्म बन्धनकारक न होकर आत्मविकासक होता है और **'शनैः-शनैः'** अपने स्वार्थसे, शरीरसे दूर हटाते हुए आत्मोत्थानकी ओर, तत्त्व-ज्ञानकी ओर, ब्रह्मोपलब्धिकी ओर उन्मुख करता है और अन्तमें ईश्वरके साथ योग करता है। कर्मयोग कामनावाले मनुष्योंके लिये है, ज्ञानियोंके लिये नहीं; उनके लिये तो ज्ञानयोगका विधान है। भावनाप्रधान मनुष्योंके लिये भी वह नहीं है; उनके लिये भक्तियोग है। इस प्रकार संसार-में अधिकतर मनुष्य कर्मयोगके ही अधिकारी हैं।

कर्मयोगमें **'यज्ञार्थात् कर्मणः'** (गीता ३।९)—की दृष्टि ही प्रधान है;—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४।२३)। यों तो यज्ञसे हवन क्रियात्मक कर्म विशेष समझा जाता है, लेकिन यहाँ यज्ञसे तात्पर्य है—शास्त्रविधिसे की जानेवाली सम्पूर्ण विहित क्रियाओंसे। नियत कर्म अर्थात् वे सारे कर्म जो जीवनमें सरपर आ पड़े हैं, चाहे वे वर्णोक्त कर्म हों या आश्रमोक्त कर्म, व्यापार चाहे नौकरी या अन्य शास्त्रोक्त या समाज-परिवारद्वारा निर्धारित कर्म हों। यज्ञ शब्दके व्यवहारसे यही इङ्गित किया गया है कि जिस पवित्रता, जिस श्रद्धा, जैसी कल्याणकारी भावनासे, जिस सावधानीसे ईश्वर-प्रीत्यर्थ या देव-प्रीत्यर्थ कर्म किया जाता है, उसी पवित्रता, श्रद्धा, भावना, सावधानी या जागरूकतासे परार्थ कर्म किया जाना चाहिये। कर्तव्यकर्मोंसे अपना कुछ भी स्वार्थ न रखकर परमात्माकी पूजाकी दृष्टिसे उन्हें करना यज्ञ है।

कर्मयोगका साधक देना-ही-देना जानता है, लेनेकी ओर उसे झुकना नहीं है। उसे स्वार्थसे सदैव मुक्त रहना है। कर्मयोगी तभीतक अपनी इन्द्रियोंको बाहर विचरण करने देता है, जबतक किसी खतरेकी आहट या आशङ्का उसे प्रतीत नहीं होती। आहट मिलते ही कूर्मकी तरह वह इन्द्रियोंको समेटकर अन्तर्मुखी बन जाता है। कर्मयोगका साधक स्वयं इन्द्रियोंका गुलाम न होकर इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है। वह इन्द्रियोंपर सदैव नियन्त्रण रखता है।

कर्मयोगीको जितेन्द्रिय तथा मनोजयी होना चाहिये; क्योंकि जो वश्यात्मा नहीं है, उसका मन इन्द्रियोंपर पर्याप्त अङ्कुश नहीं रख सकता है। यतचित्तेन्द्रियताके बिना स्वसुख-त्याग कर परार्थ या परमार्थ कार्य समुचित रीतिसे, संतोषप्रद ढंगसे नहीं हो सकता। द्वितीयतः **'मन एव हि संसारः'** और **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**—मन ही ससार है, अपने मनमें जिसके विषयमें जैसी धारणा बना लेते हैं, वैसा ही उसके प्रति हमारा व्यवहार होता है; क्योंकि मनके दर्पणसे ही हम संसारको देखते हैं। अतएव मन ही हमारे बन्धन और मोक्षका कारण है। निर्मल मन ही शुद्ध होता है। उस निराकार, निर्विकारका अंश है और मलीन मन ही सुख-दुःख भोगनेवाला जीवात्मा है। शुद्ध-बुद्ध आत्मा, जब शरीर और मनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान आ जाता और यही बन्धन है, जिसमें हम स्वयं आ फँसते हैं। कर्म करते हुए भी हम कर्म-बन्धनमें नहीं पड़े, इसके लिये आत्माको शरीरसे भिन्न समझना—वास्तविक आत्मबोध होना आवश्यक है, अर्थात् मनको अपने वशमें रखना है, निर्मल रखना है, कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानसे दूर रखना है।

कर्मयोगके पथपर चलनेवालेको **'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'**के सिद्धान्तको सतत स्मरण रखना है। इसलिये उसे अपना समय, अपनी शक्ति या जो कुछ भी उसे प्राप्त है, उन्हें परोपकारमें ही लगाना है। कर्मयोगीकी 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' ही नहीं, उसे तो इस विधिसे कर्म करना है, जिससे **'सर्वे सुखिनः सन्तु'**-की सद्भावना साकार हो सके।

यहाँ निष्काम शब्दका अभिप्राय भी जान लेना उचित ही होगा। काम शब्दका अर्थ है इच्छा, चाह, कामना। सकामका अर्थ है कामनासहित, इच्छायुक्त, चाहके साथ। सकाम कर्मसे तात्पर्य है ऐसा कर्म, जो मनुष्य अपने इन्द्रियसुखके लिये करता है। ऐसा कर्म बन्धन-कारक होता है; क्योंकि ऐसे कर्मोंके साथ आसक्ति जुड़ी रहती है और इनमें लगी रहती है फलाशा या फलाकाङ्क्षा भी। ऐसे कर्मोंमें दूसरोंके हितका चिन्तन नहीं रहता है। अतएव सकाम कर्म कर्मयोगकी परिधिके अन्तर्गत नहीं आता। कर्मयोगका सम्बन्ध ऐसे कर्मोंसे है जो समस्त बुद्धिसे, यतचित्तेन्द्रिय ही फलाकाङ्क्षा तथा किसी स्वार्थपूर्ण कामनासे रहित होकर दूसरोंके कल्याणके लिये किया जाता है। ऐसे कर्मोंको कामनाहीन निष्काम होना चाहिये। परार्थ कर्म या ईश्वरार्थ कर्म, विश्वको परमेश्वरका विराट्‌रूप मानकर उसकी प्रसन्नताके लिये होते हैं। ऐसे **'परस्मै निवेदितम्'** कर्मको निष्कामकर्म समझा जाता है; क्योकि ऐसे कर्ममें लगी बुद्धि व्यवसायात्मिका एक ही रहती है, बहुशाखावाली अनेकानेक नहीं।

परंतु निष्काम कर्मयोग सिद्ध होनेपर उसकी प्राप्ति होती है, जिसके बाद और किसी प्राप्तिकी चाह रह ही नहीं जाती, कोई कामना शेष नहीं रह जाती है। इससे ब्रह्मोपलब्धि किंवा मोक्षप्राप्ति हो जाती है। कहा भी गया है—

'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।'

(गीता ३।१९)

'आसक्तिहीन हो कर्मयोगका आचरण करनेसे मनुष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है।' ऐसे आत्मवान् निष्काम कर्मयोगीको कर्मबन्धन नहीं होता है। क्योंकि—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

(गीता ४।२०)

'निष्काम कर्मयोगी सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मामें तृप्त कर्मोंके फल और कर्तृत्वाभिमानको त्यागकर कर्ममे अच्छी तरह वर्तता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता है।' अतः वह कर्म करके भी नहीं बँधता है **'कृत्वापि न निबध्यते'**।

निष्काम-कर्मयोग—एक अध्ययन

(लेखक—डॉ० श्रीविद्याधरजी धसाना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल०, पी-एच्० डी०)

वैशेषिक-दर्शन-(१ । १ । ७)के अनुसार उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन अर्थात् ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकोड़ना, फैलाना और चलना—कर्मके पाँच प्रकार माने गये हैं । वैसे सामान्यतया प्राणी किसी क्षण भी दैहिक, मानसिक कर्मसे सर्वथा शून्य नहीं रहता—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
(गीता ३ । ५)

आचार्य शंकर **'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'** (बृहदा० उ० १ । ६ । १) इस श्रुतिका भाष्य करते हुए लिखते हैं—नाम-रूप और कर्म अनात्मा अर्थात् मायामय या मिथ्या है । निष्कर्ष यह कि कर्म प्रकृतिका ही आन्तरिक अङ्ग है । वस्तुतः इस जगत्की विषमता कर्मपर ही निर्भर है । इसलिये बीज और अङ्कुरकी तरह कर्म और इस जगत्के अवयवोंमें कारण-कार्य सम्बन्ध है । पुण्यकर्मसे जीव श्रेष्ठ योनियोमे जन्म ग्रहण करता है और पापकर्मोंसे कुत्सित योनियोंमे—

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ।'
(बृह० उ० ३ । २ । १३)

महर्षि व्यासने इस सृष्टिसे पूर्व कर्मके अभावकी शङ्काका निराकरण करते हुए संसारको अनादि माना है—

'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।'
(ब्रह्मसू० २ । १ । ३५)

'यदि कहा जाय कि 'सृष्टिसे पूर्व कर्म न था—तो यह ठीक नहीं; क्योंकि संसार अनादि है । यतः बीज और अङ्कुरकी कर्मसे ही सृष्टि होती है, अतः कर्म भी अनादि है ।' इस प्रकार जीवात्मा प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मोंसे मुक्तिपर्यन्त निबद्ध रहता है । कर्मके मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

प्रारब्ध-कर्म

पूर्वजन्ममें कृत भोगोन्मुख कर्म ही प्रारब्ध कहलाता है । इस जन्ममें जीवात्मा पूर्वजन्मके अर्जित कर्मोंके परिणाममें ही जन्म, आयु और अन्य भोगोंको प्राप्त करता है । महर्षि पतञ्जलिने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।'
(योगदर्शन २ । १३)

सभी जन अपने-अपने प्रारब्धके अनुकूल ही भोगा-भोग प्राप्त करते हैं । दो सहोदर भाई भी अलग-अलग पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही फलाफल भोगते हैं । प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय भोगसे ही होता है । बड़े-से-बड़े संन्यासी ज्ञानसे भी तथा पवित्र-से-पवित्र वैष्णव परिपक्व भक्तिसे भी प्रारब्ध-कर्मोंको बिना भोगे छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकते । कर्मका यह सिद्धान्त प्रायः सर्वत्र लागू होता है—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'**

शंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमे इसकी पुष्टि इस प्रकार की है—'पूर्वजन्ममें संचित किये गये एवं इस जन्मके भी ज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्वतक संचित किये गये कर्म और जिनका फल प्रवृत्त नहीं हुआ है, ऐसे पूर्व सुकृत और दुष्कृत ज्ञानकी प्राप्तिसे क्षीण हो जाते हैं । परंतु आरब्धकर्म जिनका आधा फल उपभुक्त हो गया है, जिन पुण्य और पापोंसे इस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका अधिष्ठानभूत यह जन्म निर्मित हुआ है, वे क्षीण नहीं होते ।'[1] अतः सभी ज्ञानी

१—अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग् ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते, न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्म ज्ञानायतनं जन्म निर्मितम् ।
(ब्रह्मसू० ४ । १ । १५ का शांकरभाष्य)

और भक्त भी देहके पतन-पर्यन्त कर्मका फल भोगते ही हैं। श्रुति कहती है कि आचार्यके उपदेशपर चलनेवाला पुरुष ही सत्को जानता है और मोक्षकी प्राप्तिमें उसके लिये तबतक ही विलम्ब रहता है, जबतक उसका देह-पात नहीं होता—

'तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।' (छान्दोग्योपनिषद् ६। १४। २)

संचित-कर्म

अनेक जन्मोंसे जीवात्माद्वारा किये गये एकत्र कर्म-समूह जिनका फल नहीं भोगा गया, संचितकर्म कहलाते हैं। किंतु वे प्रारब्धकर्मोंकी भाँति बलिष्ठ नहीं होते। उपभोगके बिना भी ज्ञानसे उनका क्षय हो जाता है। श्रुति-(मुण्डको० ८२। २। ८)का कथन यह है कि आत्माके साक्षात्कार होनेपर सभी संचित कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं—

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'

क्रियमाण कर्म

वर्तमान शरीरद्वारा जो कर्म होते हैं, वे क्रियमाण-कर्म कहलाते हैं। वे ही भावी जन्मोंके लिये कारण अथवा प्रारब्ध बन जाते हैं। पञ्चदशी-(१। ३०)के अनुसार जिस प्रकार नदीमें जलप्रवाह एक कीटको एक आवर्तसे दूसरेमें ढकेलता है, उसी प्रकार कर्म जीवात्माको एक जन्मसे दूसरेमें ढकेलते रहते हैं—

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥

किंतु जब क्रियमाणकर्ममें फलकी आसक्ति नहीं रहती, तब वही निष्कामकर्मयोग कहलाता है। जिस प्रकार भुने हुए बीजोमें प्ररोहणकी शक्ति नहीं रह जाती, उसी प्रकार फलाशाके बिना किये कर्मोंमें जीवात्माको दूसरे जन्ममें आकृष्ट करनेकी शक्ति नहीं रहती। फलकी भावनासे किये कर्मोंके परिणाममें जीवात्मा स्वर्ग, नरक तथा पुनर्जन्मको प्राप्त होता है। किंतु जिस फलाशासे कृतकर्म जीवात्माके लिये पुनर्जन्मादिके कारण होते हैं; उसको फलासंगसे रहित होकर ही करनेका विधान है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार हो, फलमें नहीं।' अर्थात्—तू कर्मके फलकी भावना न बना और अकर्म (कर्म न करने)में भी तेरी रुचि न हो। परंतु आशा जीवनकी चिरसङ्गिनी है। इसलिये फलकी आशासे ही कृषक खेतोंमें काम करते हैं, मजदूर दिनभर परिश्रम करते हैं; छात्र भी अच्छे अङ्क प्राप्त करनेके लिये कठिन परिश्रम करते हैं। यहाँतक कि बड़े-बडे तपस्वी भी मोक्ष-प्राप्तिके लिये ही घोर तपस्या करते हैं; अतः प्रायः सभी कर्म फलसे प्रेरित होते हैं; फिर भी फलाशाके त्यागसे ही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है; इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण कर्मकी सफलता और असफलतामें सम रहनेका निर्देश देते हुए 'योग'का लक्षण बतलाते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

निष्कामकर्मयोग

वस्तुतः जब क्रियमाण कर्म ही भक्तिसे सिक्त और ज्ञानसे परिष्कृत हो जाता है, तब उसमें फलाशा नहीं रहने पाती। भक्तिसे प्रत्येक कर्ममें ईश्वरार्पणकी भावना उद्बुद्ध होती है और ज्ञानसे कर्तव्यका भाव जागरूक होता है। अतः जिस क्रियमाण कर्ममें अहंभाव नहीं रह जाता, वही निष्कामकर्मयोगका रूप धारण कर लेता है। दार्श और पौर्णमास याग[1] कर्मकाण्डके अन्तर्गत ही हैं। कर्मयोगके अन्तर्गत भी कर्मयोगमें यज्ञ-दानादि विशेषतया कर्तव्यकी भावनासे किये जानेपर गृहीत हो जाते हैं।

१—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्।

ज्ञान और कर्म परस्परापेक्षी

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम्[1] ॥'

भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि विरक्त संन्यासियोंके लिये ज्ञानयोग तथा अनुरक्त गृहस्थजनोंके लिये कर्मयोग सुखावह होता है, पर ज्ञान और कर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उनका सम्बन्ध नौका और मल्लाहकी भाँति है। ज्ञानसे कर्मकी शुद्धि होती है और शुभ कर्मोंसे ज्ञानकी वृद्धि। ज्ञानके बिना कर्म अन्धा है तो इधर कर्मके बिना ज्ञान भी पङ्गु है। इसीलिये महान् ज्ञानी भी कर्मके बिना नहीं टिक सकता। यूनान देशके महापण्डित सुकरातने कहा था कि जीवनमें व्यावहारिक ज्ञान तथा सत्यका प्रयोग अवश्य करना चाहिये[2]। वस्तुतः ज्ञानसे ही कर्मका विष नष्ट होता है। अतः ज्ञान और कर्मके परस्पर सम्मिश्रणसे ही कर्मयोगका स्वरूप खड़ा होता है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण गीता (५ । ५)में कहते हैं—

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।'

निष्काम-कर्मयोगमें भक्तिका आश्लेप

इन्द्रियोंका अधिष्ठाता मन है और उनसे बलवान भी है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनः (गीता ३ । ४२)।

वह कौवेकी आँखकी तरह दोनों पक्षोंमें कार्य करता है। शरीर और इन्द्रियोंसे कृत-कार्य मनके सहयोगसे ही सिद्ध हो सकते हैं। मनके साहाय्यके बिना ही पागलके किये कर्म विशेष ध्येय नहीं होते। प्रसुप्त बालक दूध पीकर जागनेपर भी उसके आस्वादनका स्मरण नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि कर्म मनके सहयोगसे ही सिद्ध होता है। इसीलिये मनुने कहा है—**मनःपूतं समाचरेत्** (६ । ४६)

मनके स्वरूपको बृहदारण्यककी (१।५।३) श्रुतिने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ।'

मनकी ही एक दशा श्रद्धा उत्कट होकर भक्ति कहलाती है। अलौकिक प्रेम और प्रगाढ़ विश्वास उसी श्रद्धाके रूप हैं, उसी श्रद्धासे मनुष्य संयमी बनकर ज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है—**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्** (गीता ४ । ३९)। भक्तिमें परिणत श्रद्धासे वैराग्य, उससे ज्ञान और उससे भी ब्रह्मका साक्षात्कार होता है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३२ । २३)

जब अन्तःकरण उत्कट श्रद्धा या भक्तिसे शुद्ध हो जाता है तब उसीकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होती हैं और आत्माका आवरण भी हटता जाता है। वही अन्तःकरण संशयके अवसरपर भी पथ-प्रदर्शन करता है। इसी तथ्यको कविकुलचूड़ामणि कालिदासने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल (१ । २०)में इस प्रकार कहा है—

'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

इस प्रकार यह निष्पन्न होता है कि जब इन्द्रियोंसे आचरित-कर्म भक्तिसे परिपूत और ज्ञानसे संस्कृत हो जाता है तब वही गीताका निष्काम-कर्मयोग बन जाता है; क्योंकि ईश्वरार्पणकी भावनासे न उसमें फलाशा रह सकती है और न उसमें अहंकार ही टिक पाता है। भगवान् श्रीकृष्णने उस कर्मयोगीको संन्यासी भी कहा है, जो कर्मफलकी आशा किये बिना कर्तव्य कर्म करता है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
(गीता ६ । १)

श्रुतिका भी कथन है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।

१–श्रीमद्भागवत ११ । २० । ७, २–पाश्चात्त्य आचार-विचारका आलोचनात्मक अध्ययन—पृष्ठ ८९

सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छासे प्राणी कर्म करता रहे।

मीमांसकोंका अभिमत और उसका निराकरण

मीमांसाके अनुसार कर्म चार प्रकारके हैं—१. नित्य, २. नैमित्तिक, ३. काम्य और ४. निषिद्ध। उनके लिये सुरेश्वराचार्यने मोक्षकी प्रक्रिया इस प्रकार निश्चित की कि नित्य और नैमित्तिक दो ही प्रकारके कर्म करने चाहिये, काम्य और निषिद्ध नहीं। स्वर्गकी प्राप्तिके लिये जो यज्ञ आदि किये जाते हैं, उन्हें ही काम्य-कर्म कहा जाता है। जिन कर्मोंके परिणाममें नरक जाना पड़ता है, वे चोरी और हिंसा आदि कर्म ही निषिद्ध माने गये हैं। संध्योपासन आदि कर्म नित्य तथा जनेऊ' विवाह, शुद्धि आदिके लिये किये गये कर्म नैमित्तिक हैं। निष्कामकर्मयोगीकी इन्द्रियाँ जब विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, तब न उसका उनसे राग होता है, न द्वेष ही। राग और द्वेष ही उसकी साधनाके महावैरी हैं। इसे ही गीता (३। ३४)में कहा गया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

अतः भावदेहके आश्रयके बिना कर्मकी फलाशाको नहीं छोड़ा जा सकता और न राग तथा द्वेषसे उपर उठा जा सकता है।

निष्काम-कर्मयोगका साध्य

यद्यपि गीताशास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्णने बार-बार यही कहा कि किसीकी भी कर्मके फलमें आसक्ति न हो—'**मा कर्मफलहेतुर्भूः**' (गीता २। ४७), किंतु भगवान्ने कहीं भी यह नहीं कहा कि निष्काम-कर्मयोगका कोई फल नहीं होता। वास्तवमें निष्काम-कर्मयोगके भी विभिन्न फल गीतामें प्रतिपादित हैं; पर वे सभी ब्रह्मदर्शनके लिये हैं, लौकिक स्वार्थके लिये नहीं। यथा १—**स्थितधीर्मुनिरुच्यते** (गीता २। ५६), २—**सर्वत्र समदर्शनः** (गीता ६। २९), ३—**आत्मौपम्येन सर्वत्र** (गीता ६। ३८), ४—**सर्वभूतहिते रताः** (गीता ५। २५), और ५—**ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति** (गीता ५। २४) इत्यादिसे निर्दिष्ट फल वैसे ही हैं।

निष्काम-कर्मयोगी सर्वप्रथम स्थिरबुद्धि प्राप्त करता है, तब उसकी इस विश्वमें सबके लिये समदृष्टि हो जाती है, वह समस्त प्राणियोंमें अपनी ही भाँति सुख और दुःखका अनुभव करता है। वह प्राणिमात्रके हिताचरणमें जुट जाता है और अन्तमें स्वयं ही ब्रह्मसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्यमें लिखा है कि कर्मोंसे चित्तकी शुद्धि होती है, तब ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे आत्मा मुक्त होता है—

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमागतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥

(ब्रह्मसू० ३। ४। २६ भाष्य धृत श्लक)

अतएव निष्काम कर्मयोगमें हमने भक्तिसे प्रेरित कर्मके तथा ज्ञानके समुच्चयको अभीष्ट माना है और उसका साध्य निर्माण अथवा मोक्षको निश्चित किया है। विष्णु पुराणके अनुसार कर्म प्रकृतिका विशिष्ट अङ्ग है और मोक्षके समय वह प्रकृतिके साथ ही ब्रह्ममें लीन होता है—

व्यक्ते च प्रकृतौ लीने प्रकृत्यां पुरुषे तथा।

मनकी कारणता

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

मनसे ही बन्धन और मनसे ही मनुष्योंको मोक्ष मिला करता है। विषयासक्त मन बन्धवा देता है। निर्विषय मन मुक्ति दिला देता है।

—श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि

दैनिक जीवनमें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीरमेशचन्द्रजी जिन्दल, बी० एस्-सी०, एम० बी-बी० एस्०, डी० पी० एम०)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

'तेरा कर्म करनेमात्रमें अधिकार है, फल तेरे अधिकारमें कभी नहीं; अतः तू फलकी कामना न कर, पर कर्मको छोड़नेकी भी इच्छा न कर। आसक्तिको त्यागकर तथा सफलता या असफलतामें समभाव रखकर योगमें स्थित होकर कर्मोंको कर। यह समत्व या समताका भाव ही योग कहलाता है' (गीता २। ४७-४८)।

श्रीमद्भगवद्गीता संसारके धर्मग्रन्थोंमें अन्यतम है। अनेक भाषाओंमें इसके असंख्य अनुवाद और टीकाएँ भी हो चुकी हैं। लाखों व्यक्ति प्रेम और श्रद्धासे गीताका पाठ करते हैं। पर दैनिक जीवनमें इसके उपदेशोंका पालन बहुत कम लोग कर पाते हैं। अधिकतर व्यक्ति समझते हैं कि भगवान्‌का यह आदेश केवल मोक्ष-प्राप्ति या परलोक सुधारनेके लिये है। साधारण मनुष्योंके लिये व्यावहारिक जीवनमें इन उपदेशोंका पालन सम्भव नहीं है। परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। युद्धभूमिमें मोहग्रस्त हुए अर्जुनने गीताका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद युद्ध भी किया। उसमें विजय पायी तथा जीवनपर्यन्त अपने कर्तव्योंका सफलता-पूर्वक पालन करते रहे। इसी प्रकार ऊपर लिखे भगवान्‌के आदेशका पालन हम सभीके लिये सम्भव है; न केवल सम्भव है, वरन् जीवनमें सुख, शान्ति एवं सफलता प्राप्त करनेका अचूक मन्त्र भी है। हम यहाँ गीताके निष्काम कर्मयोगपर और दैनिक जीवनमें उसकी उपयोगितापर विचार करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार हर व्यक्ति इसका पालन कर लाभ उठा सकता है।

निष्काम और आसक्ति-रहित कर्मका यह सिद्धान्त जीवनकी इस सच्चाईपर आधारित है कि इस संसारमें सुख और दुःख, सफलता या असफलता हमारे अधिकारमें नहीं हैं। हम कितना भी चाहें, पर इच्छानुसार भोगप्राप्ति सम्भव नहीं है। मिल भी जाय तो तृप्ति नहीं हो सकती। मनोवाञ्छित भोगोंकी प्राप्तिके लिये हम भ्रष्टाचार, झूठ तथा तरह-तरहके पापोंका सहारा लेते हैं, पर परिणाम क्या होता है?—या तो मनचाही वस्तु मिलती नहीं या मिल भी गयी तो उससे अपेक्षित सुख नहीं मिलता। चिन्ता और विषाद बढ़ते हैं; क्रोध और ईर्ष्यासे हम जलने लगते हैं। विभिन्न प्रकारके तनाव-जनित रोग जैसे—सिरदर्द, कब्ज, अपच तथा भूख न लगना आदि घेर लेते हैं। फिर हम कहते हैं—'जीवन बेकार है, कोई भी अपना नहीं है। सब मतलबी और बेईमान हैं। संसारमें सुख तो है ही नहीं। ऐसे संसारमें रहकर या जीकर क्या किया जा सकता है।' संसार जंजाल है, दुःखका सागर है।

तब हम क्या कर सकते हैं? क्या संसार छोड़े बिना सुख और शान्ति नहीं मिल सकती? क्या घरबार छोड़ना ही सच्चा संन्यास है? या फिर कोई और भी रास्ता है?—हाँ, है; और वह है निष्काम कर्मयोगका। गीतामें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना आवश्यक नहीं है, बल्कि कर्म करना ही आवश्यक है—**'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** तथा कर्म न करनेसे हमारे शरीरका भी निर्वाह न होगा—**'शरीर-यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'**। इसलिये संसारमें रहकर अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन आवश्यक है। परंतु **'मा कर्मफलहेतुर्भूः'**— फल प्राप्तिमें आसक्ति न हो; क्योंकि फल प्राप्ति इच्छानुसार हो ही—यह सम्भव नहीं है। मनोवाञ्छित फल-प्राप्तिका आग्रह करके हम स्वयंको छोड़नेके सिवा कुछ नहीं कर पायेंगे। जीवनमे

सुख-दु:ख तो आते ही रहेंगे, उन्हें सहना ही पड़ेगा। पर यदि इनको शान्तिपूर्वक समभावसे प्रभुका विधान समझकर स्वीकार करेंगे तो हमारा अपना ही लाभ होगा।

इस प्रकार भगवान्‌के आज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंका पालन एवं प्रत्येक परिस्थितिमें संतोष रखना ही सच्चा रास्ता है। पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या बिना आसक्ति और कामनाके सांसारिक कार्य ठीक प्रकारसे हो सकते हैं ? हाँ, थोड़ा विचार करनेसे स्पष्ट हो जायगा कि फल-प्राप्तिमें अत्यधिक आसक्ति तथा ध्यान होनेसे सफलताकी सम्भावना और घट जाती है। हाथमें आये कार्यको हम ठीक प्रकारसे करते नहीं, बल्कि किसी भी तरहसे धन, भोग तथा मानकी प्राप्तिमें ध्यान लगा देते हैं। कार्यमें भूलें अधिक होती हैं, भ्रष्ट और अनुचित साधन अपनाये जाते हैं। परिणामस्वरूप मनकी सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है। रातको नींद नहीं आती तथा चिन्ता, ईर्ष्या और क्रोधकी आगमें हम स्वयं जलते रहते हैं। इसके विपरीत यदि हमारा ध्यान फलप्राप्तिपर न होकर कर्तव्य-पालन पर होगा तो कार्य-कुशलता बढ़ेगी, बेईमानीका प्रश्न भी नहीं उठेगा, मनको शान्ति मिलेगी; और, विश्वास कीजिये, सफलताकी सम्भावना भी अधिक ही होगी। वैसे, मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिका आग्रह तो सदा पूरा नहीं होता है।

दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि फलकी इच्छा न होनेपर हमें कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? और इस प्रकार हम कर्मोंको छोड़कर आलसी बन जायँगे। पर यह प्रश्न निरर्थक है। कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है, अपने स्वभाववश कर्म तो हम करेंगे ही। हमारे शरीर और जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी कर्म तो स्वत: होते ही रहेंगे, पर आसक्ति न होनेपर उनके लिये चिन्ता एवं दु:ख न होगा। बाकी दूसरे सांसारिक कार्य व कर्त्तव्य कर्मोंका पालन भी हमें अपनी परिस्थिति, स्वभाव, आन्तरिक प्रेरणा या भगवान्‌के आदेशानुसार करना होगा। भलीभाँति किये हुए कर्त्तव्य-पालनका आनन्द भोगप्राप्तिके आनन्दसे कहीं अधिक होता है। और, यदि इन्हीं कार्योंको हम प्रभुकी सेवा समझकर करें तो फिर कहना ही क्या।

एक और महत्त्वपूर्ण आपत्ति है कि क्या इच्छा या आसक्तिको छोड़ना सबके लिये सम्भव है या भगवान्‌के उपदेश केवल कुछ बड़े-बड़े महात्माओं और संतोंके लिये हैं ? सच है, केवल पुस्तकमें पढ़ने या सुननेसे तो इच्छा या आसक्तिका त्याग सम्भव नहीं, केवल अपने बल-बूतेपर भी हम इस कर्मयोगकी राहपर प्रगति नहीं कर सकेंगे; पग-पगपर राग-द्वेष, लोभ और ईर्ष्या हमारा रास्ता रोकेंगे; पर इस पथपर हमारी सहायता स्वयं भगवान् करेंगे। आवश्यकता है शरणागति एवं सच्चे हृदयसे प्रार्थना करनेकी।

हमें निरन्तर प्रभुसे श्रद्धा, विश्वास एवं धैर्यके लिये प्रार्थना करनी होगी; परंतु बाधा तो यह है कि हम प्रार्थना भी करते हैं तो केवल सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये ही। ठीक है, यदि हम कामना या आसक्तिको छोड़ नहीं पाते तो सच्चे हृदयसे इन्हे भगवान्‌के सामने रख दें। यह आग्रह न हो कि भगवान् हमारी अमुक इच्छा जरूर पूरी करें और अमुक प्रकारसे करें। यह तो मानो प्रभुको आदेश देना होगा, न कि प्रार्थना। हमारा यह आग्रह क्योंकर पूरा होगा ? हमें तो अपनी इच्छा, कामना या संकटको पूर्णरूपसे प्रभुपर छोड़कर अपनी शक्तिभर कर्त्तव्य-पालनकी चेष्टा करनी चाहिये। अपनी जिस मन:कामनाको लेकर हम प्रभुकी शरणमें जायँ, फिर उसकी पूर्तिके लिये किसी प्रकारके अन्याय, अनाचार या गलत रास्तेको न अपनाये। जब हम अपनी मन:कामना उस मङ्गलमय, सर्वसमर्थ परमात्माके आगे रख देंगे तो वे स्वयं उसे पूरा करेंगे। यदि हमारी किसी मन:कामनाको पूरा करना उसके विधानमें नहीं है या भगवान् उसे पूरा नहीं करते तो

फिर हम कितना भी सर पटकें वह पूरी होनेवाली नहीं। अतः पूर्णरूपसे भगवान्‌की शरणमें जानेमें ही हमारा कल्याण है। प्रभु सर्वसमर्थ हैं, परम कृपालु हैं। या तो वे हमारी इच्छाको पूर्ण कर देंगे या फिर वह कामना ही मिट जायगी। पर हर प्रकारसे हम अनासक्ति एवं समभावकी ओर बढ़ते जायँगे, यह निश्चित है। गीता कहती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(२। ५९)

'केवल विषयोंके त्यागसे, आसक्तिसे निवृत्ति नहीं हो सकती। पर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।' भाव यह है कि राग-द्वेष या आसक्तिका त्याग परमात्माकी शरणमें जानेपर ही सम्भव है, न कि केवल दृढ़तापूर्वक संयम करने मात्रसे।

अन्तिम बात यह है कि निष्काम कर्मयोगका कर्म पूर्णतया पालन विरले लोग ही कर पाते हैं। इसके लिये जन्म-जन्मकी साधनाकी आवश्यकता होती है। पर हमें इससे घबराना नहीं है। ऐसा नहीं है कि हम यदि पूर्णतातक न पहुँचें तो हमारी मेहनत बेकार होगी। नहीं, यदि हम आसक्ति एवं कामनाओंका त्याग न भी कर पायें, पर उनको अपने वशमें रखें और थोड़ा-सा भी उनपर काबू पा सकें तो हमें बहुत लाभ होगा; यह भी परलोकमें नहीं, यहीं, इसी जन्ममें और निश्चय ही। हमारे जीवनमें सुख और शान्तिका प्रवेश होगा, चिन्ताजनित अनेक रोगोंसे मुक्ति मिलेगी और धीरे-धीरे निष्काम कर्मयोगकी राहमें हम आगे बढ़ते जायँगे। आवश्यकता है भगवान्‌में विश्वासकी तथा अपनेको भगवान्‌की शरणमें छोड़कर कर्तव्य कर्मोंका पालन करनेकी। यदि हम फलकी इच्छा छोड़ नहीं सकते तो भी कोई बात नहीं। फलकी पूर्ति प्रभुके हाथोंमें छोड़कर अपना काम सचाईपूर्वक, लगनसे व एकनिष्ठ होकर करनेमें हम एक ऐसे आनन्दका अनुभव करेंगे, जो भोगोंकी प्राप्तिमें नहीं मिल सकता। एक बार शुरू करनेपर जैसे-जैसे अभ्यास करेंगे आगे बढ़ते जायँगे गीता (२। ४०) का साक्ष्य है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

'इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे उद्धार कर देता है। इसमें आरम्भका नाश नहीं है और न कोई विघ्न-बाधा ही होती है। इस प्रकार यह निष्काम कर्मयोग सभीके लिये सम्भव है और सभीके लिये त्वरित लाभप्रद है। इसका थोड़ा-सा पालन भी हमें बहुत कुछ सुख और शान्ति प्रदान कर सकता है।

शास्त्रानुसार कर्तव्याचरण

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्। स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव।
व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च। यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे॥

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह। संसारमें आने-जानेवाले सहस्रों व्यवहार हैं। उनमें सुख और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। (योगवासिष्ठ मु० प्र० ६। २८, ३०)

व्यावहारिक जीवन एवं अर्थोपार्जनमें निष्कामकर्मयोगका महत्त्व

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथजी बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

खाद्यसामग्री सभी जीवधारियोंके लिये प्राथमिक आवश्यकताकी वस्तु है। भोजनके सहारे ही समस्त चेतन प्राणी जीवित रहते हैं। इस मूलभूत नियमको सभी जानते-मानते हैं। भौतिक प्रगतिका यही केन्द्र-विन्दु है। इसी केन्द्रविन्दुसे भौतिकचिन्तन प्रारम्भ होता है। ऐतरेय-उपनिषद्में आता है कि लोको और लोकपालोंकी रचना कर लेनेके पश्चात् परमात्माने उनके जीवन-निर्वाहके लिये अन्नको उत्पन्न किया (१। ४। १-२)। प्रश्नोपनिषद्में ब्रह्मकी सोलह कलाओमें अन्नका भी नाम आया है (६। ४)। यह शरीर रेतसरूपी अन्नसे उत्पन्न होता है। वह अन्नको ग्रहणकर सुरक्षित तथा क्रियाशील रहता है और मृत्यूपरान्त अन्नस्वरूप पञ्चतत्त्वोंमें विलीन हो जाता है (तैत्ति० ३। २)। महर्षि वरुणने अपने पुत्र भृगुको ब्रह्म-प्राप्तिके द्वारोको गिनाते हुए सर्वप्रथम अन्नका नाम लिया था (तैत्ति० ३। १)। इन औपनिषदिक वचनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्नकी महत्ता बहुत ही अधिक है। तभी तो कह दिया गया है कि **'अन्नं वै प्रजापतिः'**—'अन्न ही प्रजापति है' (प्रश्नोप० १।१४)।

अन्नके विषयमें वैदिक वाङ्मयमें जो मत देखनेको मिलते हैं, उनसे अर्थोपार्जनके साधनो और उपासनाके सम्बन्धोंकी भी जानकारी मिलती है। यदि अन्न प्रजा-पति है तो अन्नोत्पादनकी क्रिया ब्रह्मोपासना। कृषि-कार्यको यज्ञके समान सात्त्विक रीतिसे सम्पादित करनेवाला व्यक्ति ऋषि कोटिमें भी गिना जा सकता है। भारतीय कृषक भी उक्त नीतिमें आस्था रखते हैं। कृषि करना कृषक अपना पावन कर्तव्य समझते हैं, किंतु उपजको वे दैवयोगपर आधृत मानते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो भौतिक क्रियाओमे भी आध्यात्मिक चेतना जाग्रत करता है। फलके लक्ष्य किया जानेवाला कार्य निष्काम कर्मयोगकी परिधिसे बाहर हो जाता है। जो कार्य ईश्वरको समर्पितकरके कर्तव्य पालनकी दृष्टिसे किया जाता है, वह लौकिक होनेपर भी निष्काम-कर्मयोगकी परिधिमें आ जाता है।

कर्मका सम्बन्ध शरीरसे है। मुमुक्षु व्यक्तिको अनेक बार मानवयोनि धारणकर ब्रह्मज्ञानके लिये यत्न करते रहना पड़ता है, तब कहीं जाकर उसे परमसिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञान-प्राप्तिकी शृङ्खलामें अवरोध आ जानेपर परमसिद्धिका मार्ग लम्बा हो जाता है। और आत्माको पर्याप्त समयतक भटकना पड़ता है। कर्मके लिये शरीरकी आवश्यकता होनेपर भी पुनर्जन्मकी कामना न करनेवाला व्यक्ति शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वेदोंमें त्रिविधतापोंकी बात उठायी गयी है। इनके निवारणके लिये तीन प्रकारके कर्म भी निर्धारित हैं। यज्ञानुष्ठानसे इन तीनों प्रकारके कष्टोका निवारण एक साथ हो जाता है। हविष्यके रूपमें जो अन्न यज्ञकी अग्निमें डाला जाता है, यद्यपि वह प्रत्यक्षरूपसे जल कर नष्ट हो जाता है, किंतु अप्रत्यक्षरूपसे, उसीके धूपसे वर्षा होती है, जो अन्नोत्पादनमें सहायक है। इससे वायु भी शुद्ध होती है, जिसके ग्रहण करनेसे शरीर नीरोग होता है और इसीके एक अंशसे प्रारब्ध बनता है, इसी आधारपर कृषिको भी एक प्रकारका यज्ञ कहा जा सकता है। खेतोमें बीज बोनेका अर्थ है—अन्नको फेंक देना; किंतु वही बीज उपजके रूपमें आठ या दस गुणा लाभ भी देता है। अन्नके पौधोंसे वायुकी भी शुद्धि होती है। अन्नराशिका कुछ अंश दान देनेसे दरिद्रनारायणकी सेवा होती है और ब्रह्मको उसका अंश मिल जाता है। कृषिसे यज्ञका प्रसार भी होता है। मांसको प्रमुख

आहार बनानेवाले देश एवं समाजमें यज्ञका प्रसार नहीं हो सका और उनका अर्थोपार्जन हिंसक हो गया। हिंसक प्रवृत्ति व्यक्तिको मोक्षकी कामना भी नहीं करने देती है। क्षुधापूर्ति ही उसके लिये सब कुछ होती है।

महर्षि पतञ्जलिने राजयोगके पाँच यम और पाँच नियमके अङ्ग बताये है (योग० २। ३० और ३२)। पाँच यम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पाँच नियम हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। धनोपार्जन करते समय या सर्वत्र व्यावहारिक जीवनमें अहिंसाका पालन करना चाहिये, सदा सत्यमार्गको ग्रहण करना चाहिये; यतः किसीके धनकी चोरी नहीं करनी चाहिये; यतः—**'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** होता है। इसलिये संयमित रहना चाहिये अर्थात् अधिक धन कमानेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये तथा धनके संचयकी प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिये। धन कमाते समय विचार शुद्ध रहे, स्वाध्यायके द्वारा सत्य-मार्गका अनुशीलन करे, ईश्वरको समर्पित करके शारीरिक श्रम करे तथा जो कुछ प्राप्त हो उसीमें संतोष करे। महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रतिपादित उक्त दसों निर्देशोंको आचरितकर जो धन कमाया जाता है, उसमें सकामताका भाव नहीं होता है। इन भावनाओंकी उत्पत्ति होनेपर समाजमें पारस्परिक सद्भावना, सहिष्णुता, सहयोग और प्रेमकी वृद्धि होती है। देश धनधान्यसे पूर्ण हो जाता है। अन्यान्य सामाजिक बुराइयाँ अर्थोपार्जनके तरीकोंको सही दिशा प्रदान न करनेके कारण उत्पन्न होती हैं। इसलिये इसके बारेमें गम्भीर चिन्तन-मननकी आवश्यकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि मांसाहारी स्वार्थी और क्रूर होते हैं। अत्याचार और अनाचार-सम्बन्धी भावोंकी उत्पत्ति मांसाहार और मादक द्रव्योंके सेवनसे होती है।

जिस समय महर्षि पतञ्जलि यमों और नियमोंकी रचना कर रहे थे, उस समय उनके मस्तिष्कमें यह स्पष्ट कल्पना थी कि व्यक्ति क्षुधापूर्तिके लिये किन-किन रीतियोंका उपयोग कर सकता है। साथ ही उनको मानवीय दुर्बलताओंकी भी कल्पना थी। तभी तो उन्होंने इन बातोंकी ओर साधकोंका ध्यान आकृष्ट करनेकी आवश्यकता अनुभूत की। वस्तुतः अर्थोपार्जनके क्षेत्रमें जबतक व्यक्ति निष्काम कर्मयोगको निष्ठापूर्वक व्यवहृत नहीं करता है, तबतक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध सम्भव ही नहीं है। योग और साधनाका अन्तिम लक्ष्य कैवल्यकी प्राप्ति है। निष्कामकर्मयोग भी मोक्षकी ओर इङ्गित करता है। दोनोंमें अन्तर यह है कि कैवल्यकी प्राप्तिके लिये शरीरको योग और साधनाके द्वारा उसके योग्य बनाना पड़ता है, जबकि व्यक्ति निष्कामभावसे कार्य करते रहनेपर बुराइयोंके बन्धनोंसे मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्त करता है।

सकाम और निष्काम भावोंके बारेमें प्राचीनकालसे ही चर्चा होती आयी है। मनुजी कहते हैं कि अत्यधिक 'कामात्मता' एवं सर्वथा निष्कामता ये—दोनों ही श्रेष्ठ नहीं है। वैदिक कर्मयोगके यज्ञ, व्रत, यम, धर्म आदि सभीका मूल संकल्प ही है (मनु० २। २-३)। संकल्पका उद्देश्य कोई-न-कोई कामना होती है। कामनाकी उत्पत्ति होनेपर ही उसके सम्पादनके लिये प्रयत्न किया जाता है। जबतक व्यक्ति कामना नहीं करता है, तबतक वह कार्यका कारण नहीं बनता है। कारणके अभावमें कार्य नहीं होता (वैशेषिक० १। २। १)। कार्य मुख्यतया दो प्रकारके होते हैं—नित्य एवं नैमित्तिक। जब किसी फल-विशेषकी प्राप्तिके निमित्त यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, तब वे नैमित्तिक कहे जाते हैं और वे सकाम हो जाते हैं। नैमित्तिक कर्मोंसे फलकी प्राप्ति होती है; किंतु जब यज्ञादि कर्म नित्य किये जाते हैं तब उनका कोई निमित्त न होनेसे वे निष्काम हो जाते हैं। संन्ध्या आदि नित्य कृत्योंसे व्यक्तिको भौतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं; हाँ, केवल प्रत्यवाय नहीं होता। फिर भी

भोजन आदि दैनिक आवश्यकताकी वस्तुओंके प्रति व्यक्तिको सचेष्ट रहना पड़ता है। इनके प्रति निष्क्रिय हो जानेपर शारीरिक रक्षा सम्भव नहीं है। मनुका उक्त कथन इन्हीं भावोंको प्रकट करता है। निष्कामभावका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिको कोई कामना करनी ही नहीं चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कोई कार्य करे, उसके फलको न्यायकारी परमात्माके ऊपर छोड़ दे। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें ऐसे ही भावोंके निर्माणका उपदेश देते हैं (वही ९।२७-२८ व १२।११-१२)। नित्य किया जानेवाला कर्म आध्यात्मिक हो अथवा शुद्ध भौतिक—वह ईश्वरको समर्पित होकर करनेसे मोक्ष-प्राप्तिका साधन बनता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस बातकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि प्राप्त कर लेता है (गीता १८।४५-४६)। स्वाभाविक कर्मोंके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके गुण-कर्म आते हैं (गीता १८।४२—४४)।

मनुष्यके लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ—निर्धारित हैं। इनमें अर्थ, काम—ये सांसारिक तथा धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक तथा व्यापक हैं। महाभारतमें कहा गया है कि 'सर्वप्रथम धर्मका पालन करना चाहिये, तत्पश्चात् धर्मयुक्त सात्त्विक धनका उपार्जन एवं उपभोग करना चाहिये। ऐसा करनेसे अनुष्ठाताको सिद्धि प्राप्त होती है (शान्ति० १६७।१७)। मुमुक्षु व्यक्तिको किसी भी वस्तुमें प्रीति अथवा अप्रीति नहीं रखनी चाहिये (महाभा० शान्ति० १६७।४६)।

निष्कर्ष यह कि अर्थोपार्जनमें निष्काम कर्मयोगका महत्त्व आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों ही दृष्टियोंसे है। वैदिक संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थोंके भौतिक पक्षोंका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निष्काम कर्मयोगका सिद्धान्त आर्थिक विकासमें सहायक है। निष्कामभावसे स्वार्थ, अनैतिकता, दुष्कृत्य और चरित्रहीनतापर अङ्कुश लगानेमें सहायता मिलती है। आर्थिक प्रगतिके नामपर अपनायी जानेवाली भ्रष्ट रीतियोंपर काबू पानेके लिये निष्कामकर्मयोगके सिद्धान्तके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। इस सिद्धान्तके सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्वको देखते हुए इसका व्यापक प्रचार किया जाना चाहिये।

कर्मयोग या भागवत-धर्म

कर्मयोगके आकरग्रन्थ—श्रीमद्भगवद्गीतामें यही पक्ष सर्वोत्तम ठहराया गया है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये यद्यपि कर्मकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसके साथ-ही-साथ दूसरे कारणोंके लिये—एक तो अपरिहार्य समझकर और दूसरे जगत्‌के धारण-पोषणके लिये आवश्यक जानकर—निष्काम-बुद्धिसे सदैव समस्त कर्मोंको करते रहना चाहिये अथवा गीताका अंतिम मत ऐसा है कि 'कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः' (मनु १-९७)के अनुसार कर्तृत्व और ब्रह्मज्ञानका योग या मेल ही सबमें उत्तम है और निरा कर्तव्य या कोरा ब्रह्मज्ञान प्रत्येक एकदेशीय है।xxx तात्पर्य यह कि पहले चित्तशुद्धिके निमित्त, और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर, फिर केवल लोक-संग्रहार्थ, (अथवा भगवदर्थ) मरणपर्यन्त भगवान् श्रीकृष्णके समान लोकसंग्रहार्थ निष्कामकर्म करते रहना (गीता ५।२)—ज्ञान-कर्म-समुच्चय कर्मयोग या भागव-धर्म है। मोक्षमें बाधा न देकर कर्म करनेकी युक्ति (कर्मकौशल) ही कर्मयोग है।

—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

निष्काम-कर्मयोग और राष्ट्रियता

(लेखक—श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र, 'विनय', एम्० ए० रिसर्चफेलो (संस्कृत)

शरीर-सहजात क्रियात्मकताके प्रतिफलको ही 'कर्म' शब्दसे अभिहित किया जाता है । कोई भी व्यक्ति यदि वह मृत नहीं हो गया है अथवा मातृगर्भमें अर्धचेतनात्मक स्थितिमे नहीं पड़ा है तो किसी भी क्षण विना कर्म किये रह ही नहीं सकता । प्रकृतिकी परम्परा ही गतिमयी है । उसके सत्त्व रज, तम ये—गुण त्रितय अपने-अपने प्रभावसे प्रत्येक सृष्टिजात चेतनको कर्म करने-हेतु वाध्य किये रहते हैं । मानवके लिये उसकी यह स्वभावजात क्रियात्मकता ही उसके अपने वन्धन और मोक्षका कारण वनती है । अज्ञानजन्य कर्तृत्वाभिमान एवं कामनाका सुविस्तृत वात्याचक्र (ऑधीका ववण्डर) उसके लिये घोर अशान्ति किंवा तमोमय निरयद्वारो (नरक-द्वारो)को प्रस्तुत कर देता है । और, कामना-विरहित अथवा कामनाके व्यापक स्वरूपमें किये गये कर्म ही उसे 'अणु'से 'भूमा'तक पहुँचाकर उसके अमृतपुत्रत्वको सार्थक कर देते हैं । अतएव भारतीय शास्त्रोने श्रेयोमूलक औचित्यानौचित्यके विवेकको देखते हुए कर्ममें विधि-निषेधकी वैज्ञानिक व्यवस्था की है ।

मानवके लिये कौनसे कर्म वस्तुतः कर्म हैं और कौनसे विकर्म—इसका वहुशः विवेचन स्मृतियो तथा गीतादि अध्यात्मग्रन्थोमे प्राप्त होता है । देश, काल, पात्र एवं भावनादिका विचार करके कर्म-विकर्मकी यह सूची यथानुसार परिवर्तित होती रहती है; क्योंकि कर्मके वन्धन-कारक वननेमें निर्वाध कामना ही कारण है जिसमें उच्चावचता होती रहती है ।

सेवासाद्गुण्याधान एवं भगवत्पूजाके योग-यज्ञ-जप आदि शुभकर्म भी कामनाके आतिशय्यसे कषायित (मलिन) होकर मानवको अनन्त जन्मोकी परम्परामें बाँधनेके लिये शृङ्खलाका कार्य करते हैं । और, युद्ध-जैसा भीषण हिंसात्मक कार्य भी कामनाहीन होनेपर कर्ताको ब्रह्मसायुज्य किंवा मुक्तितक पहुँचा देता है । अस्तु ।

भारतीय-मनीषियोंने कामना-विहीन निष्कामकर्मयोगको ही इस विचिकित्साका उपाय निर्धारित किया है । मानवका कोई भी कर्म, यदि वह उसकी व्यष्टिगत संकुचित भावनासे आविल नहीं है तो निश्चय ही वह भगवत्प्राप्तिका एक अन्यतम साधन—'कर्मयोग' वन जाता है । श्रीगीता-(३ । ३)में भगवान् यही वात इस प्रकारसे कहते हैं—

'निष्पाप अर्जुन ! भगवत्प्राप्तिकी दो निष्ठाएँ मैंने पहले ही कही हैं—पहली तो सांख्यसिद्धान्तानुसारियोंकी ज्ञानयोगाग्मिका एवं दूसरी कर्मनिष्ठोंकी कर्मयोगात्मिका ।' स्पष्ट है कि कर्मयोग भगवत्प्राप्तिकी प्रवृत्तिवादी चरम निष्ठा है । ज्ञानयोग-जैसी निवृत्तिपरक निष्ठामें वे ही साधक आरूढ हो सकते हैं, जिनमें देहाभिमान किंचित् भी अवशिष्ट न हो और आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सारा संसार और उसके कार्यकलाप जिन्हें अशाश्वत दिखायी पड़ते हो । उनके लिये सर्वत्र एक आत्मतत्त्व मुखरित रहता है । 'आत्मौपम्येन सर्वत्र'की दृष्टि रखनेवाले ये महाभाग प्रायः नैष्कर्म्यसिद्धिमें सफल हो जाते हैं एवं कालान्तरमें बहुधा उनके वाह्यकर्म भी निःशेष होने लगते है ।*

* भारतीय इतिहासमें प्राप्त आत्मनिष्ठ विदेह जनक, महर्षि शुकदेव-प्रभृति कतिपय महानुभावोको आपाततः उपर्युक्त कथनके अपवादरूपमें रखा जा सकता है । जनकके राज्यपालन, शुकदेवजीने श्रीमद्भागवत अध्ययन-प्रवचन आदि उनके कार्योंको क्रमशः उसके समर्थनमें उद्धृत भी किया जा सकता है । किंतु इन कतिपय अपवादोसे सिद्धान्त-कथनमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं आती । इनके ये लोकसंग्रहात्मक तथा परम आध्यात्मिक उपर्युक्त कार्य भी राष्ट्रियता आदिकी रागात्मक भावनाओंसे वहुत ऊँचे उठे होनेके कारण ज्ञानजन्य सहजकर्म हैं, साभिनिवेश अनुष्ठित कर्म- योग नहीं ।

अतएव ऐसे योगियोंको राष्ट्रियता-जैसी रागात्मक भावनाओंसे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रिय भावनाका उद्रेक ऐसे चित्तमें ही होना सम्भव है, जिसमें राग और द्वेष दोनों ही कर्तव्य-बुद्धिमें बाधक न होते हों। जिसके लिये सारा विश्व ही एक है, उस ज्ञानयोगीको एकदेशीय राष्ट्रका आकर्षण बाँधनेमें सफल नहीं हो सकता। और, जो शुभ और अशुभ, नय और अनय—दोनोंको ही प्रकृतिगत कार्योंका समवाय समझकर उदासीनप्राय रहता हो, उसके लिए विधर्मी आततायीपर गरजकर शस्त्र उठाना असम्भव नहीं तो दुःशक्य अवश्य है। अतः ज्ञानयोगी राष्ट्रियतासे ऊपर रहकर ही राष्ट्रहित करते हैं। वे प्राणिमात्रमें ही नहीं, भूतमात्रमें ब्रह्मानुभूति करते हैं।

हमारा यहाँ यह आशय नहीं कि ज्ञानयोगी धर्म-युद्ध या देशसेवामें प्रवृत्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसी दशामें श्रीभगवान्‌की उस वाणीसे हमारा विरोध हो जायगा, जहाँ वे ज्ञानयोगका आश्रय लेकर अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरित करते हैं (देखिये, गीता अ० २ श्लोक १३–३० तक)। अवश्य ही किसी भी कर्तव्यकर्मकी करणीयता ज्ञानपूर्वक भी सिद्ध की जा सकती है, और वही श्रीकृष्णने उपर्युक्त प्रसङ्गमें किया भी है। कर्तव्यकर्ममें संशयालु पण्डितंमानी अर्जुनने जब अनुचित (अनवसर) वैराग्याभिनिवेश दिखलाया, और स्थिररूपसे **'न योत्स्ये'** (युद्ध नहीं करूँगा) यह मत भी स्थिर कर लिया, तब श्रीकृष्णको ज्ञाननिष्ठाका आश्रय लेकर तत्त्वनिरूपण करना अनिवार्य हो गया। बिना ज्ञाननिष्ठाकी व्याख्याके उसकी धर्म्य-मूलक शङ्काका सम्यक् समाधान सम्भव नहीं था।

अतः उन्होंने तत्त्वनिरूपण करते हुए भी **'तस्माद् युध्यस्व'** (गीता २।१८ में) कहा, किंतु भगवान्‌का सम्पूर्ण प्रयत्न अर्जुनको उसके विहित और अवसर प्राप्त कर्तव्यकर्ममें लगानेका है। अतएव वे येनकेन प्रकारेण उसे उसके कर्तव्यकर्मकी अवश्यकरणीयता दिखलाते हुए उसके मूलमें विभिन्न निष्ठाओं एवं व्यावहारिक सिद्धान्तोंके औचित्यको सिद्ध करते हैं। आगे २६वें श्लोकमें तो वे देहात्मवादी नास्तिकोंकेमतके अनुसार भी युद्धकी अवश्य-करणीयता सिद्ध कर देते हैं। वे अर्जुनसे कहते हैं—'यदि तू इस नित्य आत्माको (नित्य न मानकर, स्वेच्छासे देहात्मवादी, नास्तिकोंकी तरह) प्रतिदिन जन्मने-मरनेवाला माने तब भी, यतः तू 'महाबाहु' है—वीर है, अतः तेरे लिए इस (अपरिहार्य) विषयमें शोक करना युक्त नहीं है' अतएव हम यह नहीं कह सकते कि श्रीभगवान् अर्जुनको सांख्ययोगी (निःस्पृह राग द्वेष-शून्य) बनाकर युद्धमें प्रवृत्त करना चाहते थे। किसी भी सिद्धान्तसे अर्जुनको अपने युद्धरूप कर्तव्यकर्मका बोध हो जाय, यही उनका अभीष्ट था। श्रीकृष्णने उसके कर्त्तव्यके लिये बुद्धियोगकी वह पद्धति दिखलायी, जो कर्मयोगकी निष्ठा है, किंतु कर्मयोग ज्ञानशून्य निष्ठा नहीं है। सांख्योगकी भाँति कर्मयोग भी ज्ञानाश्रित है। यहाँ हमारा मात्र इतना ही कथन है कि राष्ट्रियभावना तथा देशहितमें शरीर-समर्पणरूप देशसेवा अनायास ही निष्कामकर्मयोगके महिमाशाली वृत्तमें अन्तर्मुक्त हो जाती है। और, प्रत्यक्षरूपसे कामनाका तादृश परित्याग न करके भी देशसेवक, वीर सैनिक, जो अपने प्यारे राष्ट्रके लिये प्राणोंको भी हँसते-हँसते न्योछावर कर देता है, वह अनायास ही परमादरणीय कर्मयोगीका पद प्राप्त करके सूर्यमण्डलको भी भेदकर आगे पहुँच जाता है—महाभारत-(विदुर प्रजागर० ३३ । ६१)में उपर्युक्तका समर्थन निम्नाङ्कित श्लोकसे ही बारबार किया गया है—

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥*
(विदुर० प्रजा० १ । ६८)

व्यष्टिगत कामनाको हम बंद कक्षमें जलाये जाते हुए एक मरिचखण्डसे उपमित (तुलना) कर सकते हैं । सर्वतोदिक् बंद प्रकोष्ठ-(कमरे-)में जलते मिर्च—का धूपधूम कक्षमें स्थित जलानेवालेके प्राणतक ले सकता है । किंतु; यदि उसीको सुविस्तृत आकाशके तले, जहाँ व्यापक वायुसञ्चार हो रहा हो, जलाया जाय तो वही मारक गन्ध अणु-अणुमें निखर कर निःशेषप्राय हो जाता है । उसी प्रकार संकुचित स्वके वृत्तमें घिरी शरीरसुख-कामना मानवको भोगलिप्सु बना देती है । यतः भोग प्राणीको प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं, अतः उनकी अप्राप्तिमें उसे अशान्ति होती है, जिससे विभिन्न दुष्फलोंके जनक मानसिक रोगोंसे वह आक्रान्त हो जाता है । पश्चात् विधि-निषेधकी वैदिक वागुरा-(फंदा—मृगजाल-)को बलात् तोड़कर पापाचरणके द्वारा अपने आत्मनाशकी पृष्ठभूमि उपस्थित कर लेता है ।

यही कामना जब क्रमशः घर-परिवार, जाति और राष्ट्रको लक्ष्य कर तदपेक्षा व्यापक होने लगती है, तो इसका स्वरूप अधिक निखरने लगता है । यह सबका अनुभव है कि कुछ लोग अपने माता-पिता, पत्नी या अपत्यकी सुख-सुविधाओंके लिये अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओंको भी छोड़ देते हैं । व्यापकताका यह प्रथम सोपान है । इस स्थितिमें आकर व्यक्ति अहंतासे मुक्त होकर ममताकी ओर अग्रसर होने लगता है ।

जैसे ही इस ममताकी परिधि बढ़ती जाती है, व्यक्ति किसी सीमातक अपने क्षुद्र स्वार्थोंके लिये निष्काम भी होता जाता है । हाँ, इस ममताको देहात्मवादी भावनासे भावित और उसीमें केन्द्रित नहीं होना चाहिये; अन्यथा निष्काम बनानेके स्थानपर यही (भावना) मोहका विस्तृत पाश उपस्थित कर देती है । ममताके क्षेत्रके साथ इसकी दिशा भी व्यापक हो, तभी पूर्वोक्त स्थिति संघटित हो पाती है । और, यह असम्भव या दुष्कर बात नहीं है । भारतीय इतिहासमें इसके प्रभूत उदाहरण प्राप्त हैं । मानव जैसे-जैसे स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होता है, उसका हृदय भी वैसे-वैसे अधिक संवेदनशील और विशाल होता जाता है । दूसरे शब्दोंमें कहें तो, निष्कामताके अंकुरणके लिये उपयुक्त क्षेत्र बनता जाता है, जिसमें पहले भले ही कामनाके लघु पादप उगें, पर एक-न-एक दिन अखण्डफलदायिनी निष्कामता लहलहाती ही है । इस क्रमिक पद्धतिपर चलना चाहिये ।

महाराज दिलीपने पुत्रकामनासे गोसेवा आरम्भ की थी, किंतु नन्दिनीके सिंहद्वारा अभिभूत होनेकी स्थितिमें गौकी प्राणरक्षाके लिये वे स्वयंको ही समर्पित करनेको उद्यत हो गये । स्थूलशरीरके प्रति उनका सारा मोह उस व्यापक गोरक्षाजन्य यशः-शरीरके प्रति उन्मुख हो गया । उस क्षण उनके मनमें पुत्रकामना और उसके साक्षात् उपादान स्थूलशरीरके प्रति कोई आस्था ही शेष नहीं रही ।

सिंहके यह कहनेपर कि 'राजन् ! तुम अल्प वस्तु इस गौके लिये अपने बहुमूल्य चक्रवर्ती शरीरका नाश करके विचारमूढ़ सिद्ध हो रहे हो' दिलीपने कहा था—'यदि तुम मुझपर कृपा ही करना चाहते हो तो मेरे यशःशरीरकी रक्षा करो; क्योंकि मुझ-जैसे व्यक्तिको इन एकान्त नश्वर भौतिक शरीरोंके प्रति आस्था नहीं होती है ।'† (कामना और ममताकी संकुचित सीमासे

---

* पुरुषश्रेष्ठ (सिंह) ! ये दो पुरुष सूर्यमण्डलको लाँघकर तपःलोकोंमें प्रविष्ट होनेके अधिकारी होते हैं, एक योगयुक्त परिव्राजक और दूसरा युद्धमें सम्मुख मारा गया वीर योद्धा ।

† द्रष्टव्य-रघुवंश महाकाव्य २ । ५७

दृष्टि विश्वीपकी यह भावना निष्कामताकी दिशाकी निर्देशिका है।)

महाराज शिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्र प्रभृति इसी व्यापक मानसिकताके निदर्शन हैं, जिनकी संकुचित लघुकामना अपने यशःशरीरको सुरक्षित रखने-हेतु प्रायः निष्कामतामें परिवर्तित हो गयी। इससे भी उत्कृष्ट कोटिका एक अन्य उदाहरण श्रीमद्भागवतमें महाभाग रन्तिदेवका चरित्र है। अड़तालीस दिनोंकी भीषण क्षुधामें प्राप्त करस्थ भोजनका थाल और सम्पूर्ण जल आर्त याचकोंको निवेदित करके वे भरे कण्ठसे भगवान्से यही कामना करते हैं कि 'हे प्रभो! (वरकी तो बात ही क्या) मैं अष्टसिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति अथवा अपुनर्भव (मोक्ष) भी नहीं चाहता। मैं तो यही चाहता हूँ कि सब प्राणियोंके हृदयदेशमें रहकर उनपर पड़नेवाला दुःख स्वयं भोगूँ, जिससे वे सभी दुःखमुक्त हो जायँ।*'

भारतीय-मनीषियोंके लिये राष्ट्र और राष्ट्रियता ऐसे ही व्यापक भावक्षेत्र हैं, जहाँ पहुँचकर उनकी क्षुद्रकामना निष्कामतामें परिवर्तित हो जाती है। लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय और महात्मा गाँधी इस पथके पथिक थे।

यहाँके लिये राष्ट्र शब्दमात्र, नदी-पर्वत और समुद्रसे घिरी किसी सीमित भूमि-विशेषका अभिधायक नहीं है। उदारचरित एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावनासे भावित भारतीय वीर कंकड़-पत्थर एवं जड़ पृथ्वीके लिये युद्ध नहीं करते। उनके लिये राष्ट्रका अर्थ है—व्यापक विश्वकल्याणकारी धर्मका पारम्परिक अवस्थान। और उनकी राष्ट्रियताका भी यही आशय है कि वे सच्चे अर्थोंमें धर्मभावनाके पुजारी हैं। उनका राष्ट्र उनके लिये धर्मस्वरूप भगवान्की ही एक प्रत्यक्ष मूर्ति है—जिसकी उपासनामें वे अपना तन-मन-धन सहर्ष न्योछावर कर देते हैं। भारतके प्रायः सभी ऐतिहासिक और स्मरणीय युद्ध—चाहे वे प्राचीन रामायण या महाभारतके युद्ध हों या अर्वाचीन स्वतन्त्रता-संग्राम—धर्मयुद्ध रहे हैं और यही कारण है कि भारतकी राष्ट्रियता भी केवल दिखावेकी वस्तु न होकर हमारी धर्मभावनाका एक अंग रही है। हमारी भौतिक राष्ट्रियताकी भावनामें भी 'देश-धर्मपर बलि-बलि जाने'की निष्कामता-मूलक कामना होती है। 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' (यजुर्वेद ९। २३) 'हम अपने राष्ट्रमें सावधान पथप्रदर्शक बनें'—हमारा राष्ट्र अधःपतित न हो—यह हमारे वैदिक ऋषिकी कामना है। किसीको आक्रान्त करके उसका सौख्य नष्ट करनेकी नीति भारतकी नहीं रही। 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे†' (यजु० ३६। १८)—की उदात्तभावनासे भावित भारतीय वीर किसीके प्रति आक्रामकभाव रख ही कैसे सकते हैं? फिर भी 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'—इस गीतोक्त निर्देशके अनुसार वे अपने उपास्यके प्रतीक अपने राष्ट्रमें अपना ही राज्य—स्वराज्य चाहते हैं तभी वे निष्कामता आदि सफल अवान्तर धर्मोंके मूलस्रोत सनातनधर्मका आचरण करनेमें सफल भी होंगे। वेद (ऋग्वेद ५। ६६। ६)—का यह सुस्पष्ट समुद्घोष है—'यतेमहि स्वराज्ये' हम स्वराज्य—आत्मराजके लिये प्रयत्नशील हों। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ इस भावनामें भी हमारी दृष्टि निरी भौतिक नहीं है। मनु महाराजका कथन है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
(मनुस्मृति १२। ९१)

---

* न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा। आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

† हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।

—'जो सब प्राणियोंमें स्वकीय आत्मतत्त्वको देखते हैं तथा आत्मतत्त्वमें सब प्राणियोंको प्रोत देखते हैं, वे समदर्शी-आत्मयज्ञके महाभाग ऋत्विक् स्वाराज्य—अविनश्वर आत्मराज्यको प्राप्त करते हैं।' टीकाकार मेधातिथि इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'××× स्वे राज्ये भवं स्वाराज्यम्, परमात्मवत् स्वतन्त्रः सम्पद्यते।'

सारांश यही है कि भारतीय स्वाधीनताकी कामना इसलिये नहीं करते कि वे किसीसे द्वेष करके झूठे अहंकारका पोषण करें या स्वशासित राष्यमें आकण्ठ विलासमें डूबे रहें; अपितु वे इस स्वराज्य—स्वशासित राज्यके माध्यमसे समष्टिरूपमें स्वाराज्य—आत्मराज्यका परमलाभ प्राप्त करनेमें सक्षम हों—इस भावनासे करते हैं। पाश्चात्त्य विचारक एडमण्डबर्क महोदयने भी कुछ ऐसी ही बात लिखी है। वे लिखते हैं—

'स्वाधीनता एक भाव है और दूसरे भावोंके समान यह भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है।* उनका यह भी कथन है कि 'प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय धारणाओंको लेकर स्वाधीनताके रूपको गठित करती है, जिसकी पूर्णताके ऊपर सुखके मानदण्डकी कल्पना की जाती है।××' और हिन्दूजातिकी प्रिय धारणा रही है—सबके धारयिता—धर्मकी रक्षा करना; क्योंकि उसके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि† उसीपर आधृत है। हिन्दूजातिका सम्पूर्ण सौख्य धर्ममें ही अवलम्बित है—**'धनाद्धर्मस्ततःसुखम्'**।

पाश्चात्त्योंका आरोप है कि हिन्दुओंमें तथाकथित राष्ट्रियता और जातिप्रेम अंग्रेजोंके प्रभावसे आये हुए हैं, किन्तु कोई भी निष्पक्ष विचारक भारतीय इतिहास तथा पूर्वोल्लिखित वैदिक-मन्त्रोंमें अनुस्यूत भावनाका परिशीलन करके ऐसा नहीं कह सकता। विधर्मियों—विदेशियोंसे इस पवित्र भारतभूमिके आक्रान्त होनेके क्षणसे ही हमारे राष्ट्रप्रेमी महाराज विक्रमादित्य, पूरु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त प्रभृतिने क्रमशः शकों, यूनानियों एवं हूणों आदिका डटकर सामना किया तथा उन्हें इस आर्यभूमिसे बाहर खदेड़ा। और, यह सब केवल उसी राष्ट्रिय-भावनासे जिसमें निर्बाध धर्माचरण हो सके; हम अपनी विरासत संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा कर सकें।

विदेशियोंके प्रवेशकालसे लेकर महाराज-पृथ्वीराज, मेवाड़के महाराणा, दक्षिणके मराठा नरेश, बुन्देलखण्ड-के युवराज छत्रसाल, सिखगुरु गोविन्दसिंह, बन्दावैरागी आदि कितने ऐसे सच्चे वीरपुरुषोंने भारतको आदर्श बनाकर निष्काम-कर्मयोगपूर्वक युद्धोंमें अपना सम्पूर्ण जीवन व्यय कर दिया। अपने भारत-राष्ट्रकी शान, भारतीयता एवं धर्मकी आनपर मर-मिटनेवाले कितने बलिदानियोंका आत्मदान, वीरबालाओंका जौहरव्रत एवं धर्मरक्षकोंका स्वेच्छया कष्टवरण—इस निष्काम-कर्म-योगकी ही अमिट कथालिपियाँ हैं, जिन्हें आज कोई भी विवेकशील अस्वीकार नहीं कर सकता है।

महारानी लक्ष्मीबाईसे लेकर आधुनिक बलिदानियों-तककी इस पवित्र परम्पराको तुच्छ कामनासे कौन कलुषित कर सकेगा? इन सबके लिये तो बस उत्पी-ड़ितोका कष्टनिवारण, दुष्टों एवं आततायियोसे देश-रक्षण आदि कार्य ही भगवत्पूजा बन गये थे, और धर्मप्राण भारत ही इनके लिये उन सच्चिदानन्दघन श्रीहरिका प्रतीक बन गया था। इन सबकी राष्ट्र-सेवा निष्कामताकी दिशाकी पगडण्डियाँ थीं।

---

* conoieliation with America

×× Every nation has formed to itself soms favourite point, which by way of emmence becomes the crterion of their happiness,

†—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः —कणाद

आजके इस पदलिप्सा, अनय और स्वार्थ-पूरित युगमें, जबकि तथाकथित नेतृवृन्द जनताका उत्पीडन करके झूठी राष्ट्रियताका दम भरते हैं, इन निष्काम-कर्मयोगियोंके पावन-चरित्रोका चिन्तन-मनन अवश्य ही हम स्वार्थान्ध भारतीयोंका नेत्रोन्मीलन करके हममे सच्ची राष्ट्रियता अथ च सच्चे निष्काम-कर्मयोगके बीज अंकुरित कर सकते हैं; क्योंकि पूर्ण राष्ट्रियता निष्कामताकी ऊँची श्रेणी है, जहाँसे हम लक्ष्य निष्कामकर्मयोगपर पहुँच सकते हैं।

निष्कामकर्मयोग-साधन विश्वको वैदिकधर्मकी महान् देन

(लेखक—श्रीरामनाथजी खैरा)

कर्म जड़ है, उसमें 'चेतन'को बाँधनेकी शक्ति कहाँ ! संसारके पदार्थ भी जड़ प्रकृतिके बने हैं, उनमें भी हमें बन्धनमें रखनेकी सामर्थ्य नहीं। इनमें जान तो हमारी आसक्ति फूँकती है। बौद्धदर्शनके अनुसार वासनाएँ ही जन्म-मरणके चक्रमें भ्रमण कराती हैं। वासनाओंकी लौ-(ज्योति-) का निर्वाण ही मोक्ष है। वासनाएँ अन्तःकरणमें उगती और पनपती हैं। कर्मफल-की प्राप्तिमें मन आनन्दित होता है। जिनका फलसे कोई सम्बन्ध नहीं, मन उनमें रस नहीं लेता। मनकी विषय-भोगकी ओर प्रवृत्ति तृष्णाओंको उत्पन्न करती है। इससे अन्तःकरणमें वासनाओंके अङ्कुर उत्पन्न होते हैं, जो जन्म-परम्पराके कारण बनते हैं। यह अन्तःकरण मृत्युके बाद भी जीवके साथ लगा चलता है। इसलिये गीतामें श्रीकृष्णने कहीं कर्मोंमें अनासक्त रहने और कहीं कर्मफलमें आसक्ति त्यागनेका उपदेश दिया है।

'जैनदर्शन' कर्मको पुद्गल (जड़ पदार्थ) मानता है। क्रिया सम्पन्न होते ही मनुष्यके चतुर्दिक् लोकाकाशमें भरे हुए परमाणुओमें हलचल उत्पन्न हो जाती है। कर्मफल देनेवाले इन परमाणुओंको जैनदर्शनमें **'कर्माण वर्गणा'** कहा जाता है। वह (हलचल) पुनः आत्माकी ओर आकृष्ट होती है। आत्माकी ओर इस हलचलके वापस आनेको 'आश्रव' कहा जाता है, किंतु राग-द्वेषकी भावना न होनेसे वह परमाणुओंका समूह (कर्म) आत्मासे चिपकता नहीं, निकल जाता है और शरीरके हलचल मात्रसे कोई कर्म बँधता नहीं। जैन-धर्मका कथन है कि मनुष्यके कोई बात जानने या अनुभव करने आदिकी क्रियाएँ भी उन कर्माण बर्गणामें कर्मफल देनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकतीं; क्योंकि किसी बातका ज्ञान होना तो आत्माका स्वभाव है। उस धर्मने राग द्वेषरूप भावनामात्रको ही कर्मफल देनेवाली शक्तिका उत्पादक माना है। रागसे ही द्वेष उत्पन्न होता है, अतः रागासक्तिके कारण ही कर्म बन्धनकारी हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि अनासक्तभावसे यदि कर्म किया जाय तो वह 'अकर्म' रहता है, जो बन्धनकारी नहीं मुक्तिका दाता है। यही वेदों एवं गीताने बताया है। सांख्य, योग, वेदान्त-दर्शनोंकी यह मान्यता है कि प्राणी जो कर्म करता है उसके संस्कार पड़ जाते हैं। उसके अनुसार प्राणीको कर्मफल मिलता है और कर्मफल बिना भोगके नष्ट नहीं होता—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'**। (गरु० पु० सारोद्धार) इसलिये हमें पुनः-पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। किंतु यह संसार केवल उन कर्मोंके पड़ते हैं, जिनमें हमारी रागासक्ति जुड़ी हो।

हम यदि गृहस्थ-आश्रममें हैं तो उस आश्रमके भी कर्तव्यकर्म किये जायँ, किंतु उन कर्मोंमें फलकी आसक्ति न रहे। इसकी युक्ति वैदिक हिंदू-धर्मने बड़े सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है। कुछ उपनिषदोंमें भी यह बात बतायी गयी है, किंतु जिस ढंगसे भगवद्गीतामें उसे

कि भले ही कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रमके भी रहे या सभी सांसारिक कार्य करता रहे, किंतु उसको मुक्ति प्राप्त हो जाये। गीता अध्याय ५, श्लोक १ में 'संन्यास' शब्द ज्ञानयोगके लिये आया है, उसका आश्रमसे सम्बन्ध नहीं, इसलिये ज्ञानमार्गमें भी संन्यासी होना आवश्यक नहीं—'नहिसंन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'।

जो लक्ष्य ज्ञानयोगद्वारा प्राप्त किया जाता है, वही कर्मयोगी अपने कर्मयोगसाधनसे प्राप्त करता है (गीता ५।५)। कर्मयोग-मार्ग ज्ञानयोग-मार्गसे सुगम और शीघ्र ही फलदायक है (गीता ५।६)। कर्मयोग-साधन इसी कारण ज्ञानयोगसाधनसे श्रेष्ठ ठहराया गया है (गीता ५।२)। कर्मयोग-साधनमें कर्मफलका भगवान्के लिये त्याग ध्यानके साधनसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है (गीता १२।१२)। वह तपस्यासे भी श्रेष्ठ है तथा कर्मयोगका साधक शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ है (गीता ६।४६)। ज्ञान मुक्ति देनेवाला होता है, किंतु वह ज्ञान कर्मयोग-साधनसे स्वतः उत्पन्न हो जाता है (गीता ४।३८)। यदि कर्मयोग-साधन प्रारम्भ कर दिया जाये तो उसका बीज पड़ जाता है। यह बीज कभी नष्ट नहीं होता। वह साधन छूट जाय, योग भ्रष्ट हो जाय तो उसकी दुर्गति नहीं होती, अगले जन्ममें जहाँसे अभ्यास छूटा है, वहींसे स्वतः आगे बढ़ने लगता है, जबतक कि अपने लक्ष्य-मुक्तिको प्राप्त न करा दे (गीता २।४०, ६।४०)। कर्मयोग-साधकसे कर्तव्य-पालनमें यदि हिंसादि पाप बन जाय तो अनासक्ति निःस्वार्थभावके कारण उसके वे कर्म पाप नहीं होते (गीता ८।२७, १८।४७-४८)।

कर्मयोगका साधन अन्तःकरणसे अशुद्ध व्यक्ति भी आरम्भ कर सकता है। मलिन-अन्तःकरण अशुद्धचित्त तथा कर्तापनका अभिमान रखनेवाला व्यक्ति ज्ञानयोगके साधनके लिये अयोग्य है, किंतु कर्मयोगके साधकके लिये यह कोई शर्त नहीं है; क्योंकि यह साधन स्वयं अन्तःकरण पवित्र करता है और कर्तव्यका भान उसकी साधनामें बाधक नहीं है। वह तो कर्म, कर्मफल, परमात्माको अपनेसे साधनकालमें भिन्न मानता है, वह समझता है कि कर्म मैं कर रहा हूँ—जैसा सामान्य व्यक्ति सोचता है; जब कि ज्ञानयोगीको समझना होता है कि मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण गुणोंमे ही बर्तते हैं। इन्द्रियाँ अपने अर्थों अर्थात् विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ नहीं करता। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (गीता ५।११), पर ज्ञानयोगी नहीं मानता (गीता ५।७-८)। ज्ञानयोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (गीता १८।१७)। कर्मयोगी प्रकृतिको, उससे बने संसारको तथा उसके पदार्थोंकी सत्ताको सामान्य जनकी भाँति स्वीकार करता है ज्ञानयोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी सत्ता स्वीकार नहीं करता (गीता १३।२७)।

कर्मयोगकी साधनाके आधार हैं—निष्कामभाव और समत्वबुद्धि। निष्कामभावके कारण कर्म और फलमें आसक्ति नहीं रहती और अनासक्त कर्म बन्धनका कारण नहीं है। निष्कामभावसे स्वार्थबुद्धि अस्त होती है। कर्मके परिणाममें समत्वबुद्धि भी निष्काम-भाव उत्पन्न करती है। लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, सुख-दुःख, यश-अपयश आदिमें बुद्धिको एक समान रखना ही समत्व बुद्धियोग है। यदि कर्ममें फलाशा छोड़ दी जाय तो कोई कर्म ही क्यों करेगा, यह एक प्रश्न है। यदि हम अपने इष्टको सर्वव्यापी जानकर उसे चराचरमें देखने लगते हैं तो जिसके साथ हमारे कर्मका सम्बन्ध होता है, वह हमें अपने इष्टदेव भगवान्के रूपमें दीखता है। दुकानदारको ग्राहक, डॉक्टरको मरीज, वकीलको मुवक्किल अपने भगवान्के रूपमें दीखता है, इससे [illegible] यह दुराचारोंसे

बच जाता है तथा कर्मफलसे आसक्ति घट जाती है। कर्मयोग-साधनमें जितनी ही भगवान्‌के प्रति भक्ति होगी, साधन उतना ही सुगम होगा। इसी कारण गीतामें कृष्णने कर्मयोग, साधनके दूधमें भक्तिकी मिश्री मिश्रित कर दी। इससे प्रेम और सुगमताके साथ दुग्ध-पानकर शक्तिरूपी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। कर्मयोगीकी संसारके सम्पूर्ण कर्मोंमें निष्कामता हो, यही उसकी साधनाका प्राथमिक लक्ष्य है। भगवान्‌की भक्ति ही इस साधनकी सुगमताका कारण है; क्योंकि भक्तिके कारण उसके प्रत्येक कर्म और चेष्टाएँ अपने लिये नहीं भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये हैं। यही कारण है कि गीतामें ज्ञानयोगके साथ भक्तिका मेल नहीं रखा गया, पर कर्मयोगीकी सुगमताके लिये कर्मयोगके साथ भक्ति मिश्रित रखी गयी है। भक्ति कर्मयोगकी सहकारिणी साधना है।

निष्कामकर्मका सिद्धान्त

(लेखक—आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

नाना-शाखा-प्रशाखाओंसे संवलित विशालकाय विश्व-वटवृक्षका मूलकारण—(बीज) कामना ही है। सृष्टिके आरम्भमें काम ही प्रथमतः उत्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होनेके अनन्तर ही अन्यान्य पदार्थोंकी सृष्टि हुई। अतएव पदार्थोंके संवर्धन, सापल्लवन तथा संसरणमें कामकी क्रियाशीलता शास्त्रोंमे स्पष्ट शब्दोंमें निर्दिष्ट की गयी है। ऋग्वेद० १०। १२९के 'नासदीयसूक्त'की यह ऋचा कामको सदसत्के निषेधपूर्वक इस महनीय शक्तिमत्ता तथा आदि सृष्टिका मूलकारण प्रथित करती हुई कहती है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
(ऋ० १०। १२९। ४)

शास्त्रानुसार जो ब्रह्माण्डके भीतर है, वही पिण्डके भीतर है। अतः अण्डस्थित प्रधान वायुतत्त्व पिण्डमें प्राणरूपसे अवस्थित है। अष्टाङ्गहृदयमें वाग्भटका कथन है—

पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मल धातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति वेगवत्॥

आयुर्वेदमें सर्वाधिक शक्तिशाली वात ही माना जाता है। पित्त एवं कफ तो पङ्गु हैं। वायु उन्हें जहाँ प्रेरित करती है, वे वहीं जाते हैं।

'मानस'के अन्तमें वर्णित मानसरोगोंमें 'काम' भी अन्यतम है। वहाँ भी यह 'वात'का प्रतिनिधि प्रदष्ट है—

काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

गीतामें इन तीनोंको नरकका द्वार भी बतलाया गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

कारणमाला-अलंकारद्वारा गीता कामको ही क्रोधादिका जनक बतलाती है। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' कामसे क्रमशः मनुष्य क्रोध, संमोह (कार्याकार्यका अविवेक), स्मृतिविभ्रम (स्मृतिका भ्रंश), बुद्धिनाश और प्रणाश (पुरुषार्थकी अयोग्यता)को प्राप्त होता है (गीता २। ६३)। भगवान् श्रीशंकराचार्यके मतमें पुरुष तभीतक पुरुषपदवाच्य होता है, जबतक वह कार्य तथा अकार्यके करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होता है और उस विवेकशक्तिसे विवेचन हीन होनेपर वह सर्वथा मृततुल्य ही माना जाता है—

'तावत् एव हि पुरुषो यावत् अन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविषये विवेकयोग्यम्, तदयोग्यत्वे नष्ट

एव पुरुषो भवति । अतः तस्य अन्तःकरणस्य बुद्धेः नाशात् प्रणश्यति, पुरुषार्थायोग्यो भवति इत्यर्थः ।'
(गीता शांकरभाष्य २ । ६३)

मानस जगत्में 'काम'रूप वातका प्रभाव सर्वथा लक्षित होता है । जिस प्रकार झञ्झावात पेड़-पौधोंको झकझोरकर अशान्ति उत्पन्न कर देता है और वात नाना प्रकारकी पीड़ाओंको उत्पन्न कर शरीरको बेचैन बना देता है, उसी प्रकार कामकी प्रक्रिया होती है । इसकी सर्वथा पूर्ति तो हो नहीं सकती । इसकी पूर्तिमें जहाँ कहीं अवरोध उत्पन्न हुआ, वहीं क्रोध उत्पन्न हो जाता है और वह मानवको पुरुषार्थसाधनमें अयोग्य बना डालता है । अतः उसका नियन्त्रण अभीष्ट है । उद्दाम कामका समूल नाश कभी सम्भव नहीं, नियन्त्रण ही साध्य हो सकता है । यह संक्षेपमें 'निष्काम'के अर्थकी विवृति हुई । अब कर्मके स्वरूपका भी किंचित् परिचय देखें ।

कृष्णद्वैपायन व्यासजीने महाभारत, शान्तिपर्व-(२४१ । ७)मे शुकदेवजीको उपदेश देते हुए कहा था—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥*

'कर्म तथा ज्ञान परस्पर विरोधी तत्त्व हैं; क्योंकि प्राणी कर्मके द्वारा बद्ध होता है और ज्ञानके द्वारा कर्म बन्धनसे मुक्त होता है । इसलिये पारदर्शी यति लोग कर्म नहीं करते । वे ज्ञानके उपार्जनमें ही अपनेको व्यस्त रखते हैं । **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**—इस उपनिषद् वाक्यका भी यही बोधगम्य तात्पर्य है ।

कर्म किस प्रकार बन्धनकारक होते हैं

इस कर्मका विश्वमें अखण्ड साम्राज्य है । प्रायः कोई भी प्राणी क्षणभर भी मानसिक आदि काम किये बिना नहीं रह सकता । अतः उसे इस कौशलसे सम्पादन करना चाहिये कि वह कर्म बन्धन उत्पन्न न कर सके । गीताके अनुसार कर्मफल ही वह विषदन्त है, जिसके तोड़ देनेपर कर्मरूपी सर्पकी प्राणघातकता समाप्त हो जाती है । फलकी कामना 'काम'के द्वारा ही होती है । इस कामका त्याग किसप्रकार किया जा सकता है, इसका त्रिविध उपाय गीता (३ । ३०)में इस प्रकार बतलाया गया है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

ईश्वरमें कर्मोंका समर्पण—कर्म करनेमें जीवको विवेक बुद्धिका आश्रय लेना चाहिये । उसे समझना चाहिये कि मैं सब कर्म ईश्वरके लिये सेवककी तरह कर रहा हूँ । इसी विवेकबुद्धिसे कर्मोंका समर्पण ईश्वरमें करना चाहिये । आचार्य शंकरके द्वारा व्याख्यात—**'अध्यात्म चेतसा'** शब्दका यही तात्पर्य है—**विवेकबुद्ध्या—'अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत् करोमि' इति अनया बुद्ध्या सर्वेषां कर्मणां मयि परमेश्वरे संन्यासः निक्षेपः'** (शाकरभाष्य) । **निराशीः**—मङ्गल-आशा शून्य, कामनारहित होकर संसारमें स्वकर्माचरण या मोक्षार्थ संघर्ष करना चाहिये । जीवन संघर्षमय है । 'युध्यस्व'में वास्तव लड़ाई करनेका भाव नहीं है, प्रत्युत अपनी विषम परिस्थितियोंसे संघर्षकर उनपर विजय-युक्ति पानेका भाव है । पुनः **निर्ममः**—ममतारहित होकर ही जीवन बितानेका उपदेश है । **'मम'** ये दो अक्षर बन्धनमें डालनेवाले हैं तथा **'न मम'** ये तीन अक्षर मुक्तिके साधन माने जाते है—**'ममेति हि बन्धायं न ममेति विमुक्तये ।'** श्रीमद्भागवतमे भी यही तथ्य कुछ विशदता और स्पष्टतासे प्रतिपादित किया गया है—

तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ।
(३ । ९ । ६)

इन तीनों उपायोंका एक साथ आश्रयण करनेसे कामनारहित होनेके कारण कर्म जीवको बन्धनमें नहीं

* इस वचनको आचार्य शंकरने अपने गीताभाष्य ३ । १ आदि ग्रन्थोंमे बार-बार उद्धृत किया है ।

डाल सकता। गीताके अनुसार—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५)। फलकामनासे रहित पुरुषोंके लिये यज्ञ, दान तथा तप—ये तीनों कर्म पवित्र करनेवाले होते हैं, अतएव ये 'त्याज्य' नहीं, 'कार्य' हैं। परंतु इन पावन कर्मोंका भी सम्पादन फलकी आकाङ्क्षा तथा आसक्तिको छोड़कर ही करना चाहिये। आसक्तिके त्यागके विरहमें फलका त्याग अपूर्ण ही रहता है। फल तथा संग दोनोंका त्याग ही पूर्ण त्याग है। एकका त्याग—चाहे वह फल हो या संग हो—अधूरा ही होता है। गीताका उपदेश है—

> एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
> कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
> (१८।६)

इसीलिये गीता फल तथा सङ्ग (आसक्ति)के त्यागको 'सात्त्विक त्याग' कहती है। (गीता १८।९) गीतामें त्यागी शब्दका अर्थ कर्मयोगी है। गीता १८ अ० ११ श्लोकके—यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते—उत्तरार्धमें कर्मफलत्यागी शब्दको देखकर यह न समझना चाहिये कि यहाँ केवल फलके त्यागनेका ही निर्देश है। शंकर तथा रामानुज दोनों आचार्योंके मतसे इस शब्दका अभिप्राय इससे कहीं अधिक है। शंकराचार्यने इस शब्दका अर्थ 'कर्मफलाभिसंधिमात्रसंन्यासी' किया है, जिससे वे त्यागीको कर्मफलकी वासनामात्र छोड़नेवाला मानते हैं, अर्थात् वह कर्मफलको ही नहीं छोड़ देता, प्रत्युत उसकी वासनाका भी परिहार करता है। रामानुजाचार्य इस शब्दकी व्याख्यामें कहते हैं—यहाँ 'फलत्यागी कहना उपलक्षणके लिये है। इसका भाव फल, कर्तापन तथा संग—इन तीनोंका त्यागी है; क्योंकि प्रकरणके आरम्भमें ही त्यागके त्रिविध होनेकी प्रतिज्ञा प्रथमतः कर दी गयी है—फलत्यागीति प्रदर्शनार्थः। फलकर्तृत्व-कर्मसङ्गानां त्यागी इति। 'त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' इति प्रक्रमात्। फलतः दोनों आचार्योंका अभिप्राय एक समान ही है। गीता इस तथ्यके ऊपर बारंबार आग्रह करती है। इसीका निर्देश गीता इस श्लोकमें भी करती है—

> ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
> (५।१०)

फलतः निष्काम कर्मका तात्पर्य यही सिद्ध होता है कि कामनासे रहित एवं सिद्धि-असिद्धिमें समभाव होकर कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये। वही साधक सच्चा निष्काम कर्मयोगी है। फलाशाके साथ अपने कर्तृत्वाभिमानका भी त्याग कर देता है, ऐसा साधक निश्चयेन मोक्षका अधिकारी होता है। इसीलिये निवृत्तिमार्गके समान ही प्रवृत्तिमार्ग भी साधकको परमपदतक प्राप्त करानेमें समर्थ होता है, यदि वह ऊपर निर्दिष्ट उपायोंके आलम्बन करनेसे अपने शुद्धरूपमें प्रतिष्ठित किया जाता है। 'निष्काम-कर्म'के विषयमें शास्त्रोंका यही मुख्य तात्पर्य है।

अमृतत्व-प्राप्तिके उपाय

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

'जो मनुष्य विद्या एवं अविद्या इन दोनोंको, अर्थात् ज्ञानके तत्त्वको और कर्मके तत्त्वको भी साथ-साथ यथार्थतः जान लेता है, (वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे मृत्युको पार करके ज्ञानके अनुष्ठानसे अमृतको भोगता है, अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है।' (ईशावा० उ० ११)

निष्कामभावकी महत्ता

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके महत्त्वपूर्ण विचार)

श्रीभगवद्गीताके अनुसार श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन करना संसार-सागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला सर्वोत्तम एवं सुगम उपाय है (गीता १२।७, ८।१४)। इसी प्रकार निष्काम-कर्म भी शीघ्र उद्धार करनेवाला तथा परमात्म-प्राप्तिका सुगम उपाय है (गीता ५। ६)। निष्कामभावके साथ यदि भगवान्‌का स्मरण होता रहे, तब तो फिर बात ही क्या ! वह तो सोनेमें सुगन्धकी तरह अत्यन्त महत्त्वकी चीज हो जाती है। इससे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। किंतु भगवान्‌की स्मृतिके बिना भी यदि कोई मनुष्य फलासक्तिको त्याग कर निःस्वार्थभावसे चेष्टा करे तो उससे भी उसका कल्याण हो सकता है, बल्कि इसे ध्यानसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है। श्रीभगवान्‌ने गीता (१२। १२)में कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'(परमात्मतत्त्वको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, (केवलशास्त्र) ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।' अतः यह प्रयत्न करना चाहिये कि भगवान्‌को याद रखते हुए ही समस्त चेष्टाएँ निष्कामभावपूर्वक हों। यदि काम करते समय भगवान्‌की स्मृति न हो सके तो केवल निष्कामभावसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इसलिये निष्कामभावको हृदयमें दृढ़तासे धारण करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई थोड़ी-सी भी चेष्टा संसार-सागरसे उद्धार कर देती है। गीता (२। ४०)में भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि, इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।' फिर जो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे क्रिया करनेके ही परायण हो जाय, उसके लिये तो कहना ही क्या ? इसलिये मनुष्यको तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, आसक्ति, ममता और अहंता आदिका सर्वथा त्याग करके जिससे लोगोंका परम हित हो, उसी काममें अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये। (इस त्यागसे परमकल्याण मिलता है।)

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई आदि अपने पास रहते हुए भी उनकी वृद्धिकी इच्छा करनेको 'तृष्णा' कहते हैं। जैसे किसीके पास एक लाख रुपये हैं तो वह पाँच लाख होनेकी इच्छा करता है और पाँच लाख हो जानेपर उसे दस लाखकी इच्छा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाकी वृद्धिका नाम तृष्णा है। इसी तरह मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, गृह, पुत्र आदि अन्य सांसारिक वस्तुओंके विषयमें समझना चाहिये। यह तृष्णा बहुत ही बुरी, असत् है, मनुष्यका पतन करनेवाली है। इससे बचना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यकी कमीकी पूर्तिके लिये जो कामना होती है, उसका नाम 'इच्छा' है, जैसे किसीके पास अन्य सब चीजें तो हैं, पर पुत्र नहीं है तो उसके अभावकी मनमें जो कामना होती है, उसे 'इच्छा' कहते हैं। पदार्थोंकी कमीकी पूर्तिकी इच्छा तो नहीं होती, पर जो बहुत आवश्यक वस्तुओंके लिये कामनाएँ होती हैं, जिनके बिना निर्वाह होना कठिन है, उसका नाम 'स्पृहा' है। जैसे कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है अथवा शीतसे कष्ट पा रहा है तो उसे अन्नकी अथवा मकानकी जो

इच्छा होती है, उसको 'स्पृहा' कहा जा सकता है। जिसके मनमें ये तृष्णा, इच्छा, स्पृहा आदि तो नही हैं, पर यह वात मनमे रहती है कि और तो किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है, पर जो वस्तुएँ, प्राप्त है, वे वनी रहे, मेरा शरीर वना रहे, ऐसी इच्छाका नाम 'वासना' है।

उपर्युक्त कामनाओमे पूर्व-से-पूर्व उत्तर-से-उत्तरवाली कामना सूक्ष्म और हल्की है तथा सूक्ष्म और हल्की कामना-का नाश होनेपर स्थूल और भारीका नाश उसके अन्तर्गत ही है। जिनमे उपर्युक्त तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना आदि किसी प्रकारकी भी कामना नहीं है, वह 'निष्कामी' है। इन सम्पूर्ण कामनाओकी जड़ आसक्ति है। शरीर, विषयभोग, स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, कीर्ति आदिमें जो प्रीति है—लगाव है, उसका नाम 'आसक्ति' है। शरीर और संसारके पदार्थोंमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव होना ही 'ममता' है। इस आसक्ति और ममताका जिसमें अभाव है, वही परम विरक्त वैराग्यवान् पुरुष है। ममता और आसक्तिका मूल कारण है—अहंता। स्थूल, सूक्ष्म या कारण—किसी भी देहमें, जो कि अनात्मवस्तु है, उसमें इस प्रकार आत्माभिमान करना कि 'मै देह हूँ'—यह 'अहंता' है। इसके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है, अर्थात् समस्त दोषोकी मूलभूत अहंताका नाश होनेपर आसक्ति, ममता आदि सभीका विनाश हो जाता है। अहंकारमूलक ये जितने भी दोष है, उन सबका मूल कारण है—अज्ञान (अविद्या)। वह अज्ञान हमलोगोकी प्रत्येक क्रिया और सम्पूर्ण पदार्थोंमें पद-पदपर इतना व्यापक हो गया कि हम उससे भूले हुए संसार-चक्रमे ही भटक रहे है। उस अज्ञानका नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है—अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे। हमलोगोंके अन्तःकरण रागद्वेष आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, मिथ्याचार आदि दुराचाररूप मलसे मलिन हो रहे हैं। इस मलको दूर करनेका उपाय है—ईश्वरकी उपासना या निष्काम-कर्म। इन दोनोंमेंसे एकको अपनाना आत्म-कल्याणके लिये आवश्यक है।

हमलोगोमें स्वार्थकी अधिकता होनेके कारण प्रत्येक कार्य करते समय पद-पदपर स्वार्थका भाव जाग्रत् हो जाता है। पर कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ईश्वर, देवता, ऋषि, महात्मा, मनुष्य और किसी भी जङ्गम या स्थावर प्राणीसे अथवा जड पदार्थोंसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। जव भी चित्तमें स्वार्थकी भावना आये तभी उसको तुरंत हटाकर उसके बदले हृदयमें इस भावकी जागृति पैदा करनी चाहिये कि सबका हित किस प्रकार हो। जैसे कोई अर्थका दास—लोभी मनुष्य दूकान खोलनेसे लेकर दूकान वंद करनेके समयतक प्रत्येक कामको करते हुए यही इच्छा और चेष्टा करता रहता है कि 'रुपया कैसे मिले, धन-संग्रह कैसे हो।' परंतु यह ठीक नहीं है। कल्याणकामी पुरुषको तो प्रत्येक क्रियामें यह भावना रखनी चाहिये कि संसारका हित कैसे हो? जो मनुष्य अपने कल्याणकी भी इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझकर लोकहितके लिये अपना तन, मन, धन लगा देता है, वही वास्तविक स्वार्थत्यागी, निष्कामी और श्रेष्ठ पुरुष है।

विचारणीय बात है कि स्वार्थके कारण हमलोग अज्ञानसे इतने अंधे हो रहे हैं कि निष्कामभावसे दूसरोंका हित करना तो दूर रहा, बल्कि दूसरोसे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और करते हैं। जितनी स्वार्थपरता इस समय देखनेमें आ रही है, उतनी तो इससे कुछ काल पूर्व भी न थी। फिर द्वापर, त्रेता और सत्ययुगकी तो बात ही क्या? इस समय तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य झूठ-कपट, चोरी-वेईमानी तथा विश्वासघात आदि करनेसे भी बाज नहीं आते तथा अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये ईश्वर और धर्मको भी

छोड़ बैठते हैं। भला, ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यका कल्याण कैसे हो सकता है ?

जो दूसरोंका हक (हिस्सा) है, उसे लेनेमें स्वभावतः ही ग्लानि होनी चाहिये; पर उस विषयमें हमारी ग्लानि न होकर हर प्रकारसे उसे हड़पनेकी ही चेष्टा रहती है। यह मनोवृत्ति बहुत बुरी है। उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, दूसरेके हकको सदा त्याज्यबुद्धिसे देखना चाहिये। परस्त्रीके स्पर्शकी तरह उसके स्पर्शको भी पाप समझना चाहिये। जो मनुष्य परस्त्री और परधनका अपहरण करते हैं या उनकी इच्छा करते हैं तथा पर-अपवाद करते हैं, उनका कल्याण कैसे हो सकता है; उनके लिये तो नरकमें भी स्थान नहीं है।

आजकल व्यापारमें भी इतना धोखेबाजी बढ़ गयी है कि हम दूसरेका धन हड़पनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसको हम चोरी कहें या डकैती। कोई आदमी जब अपना माल बेचता है तो वजन आदिमें कम देना चाहता है। पाट, सुपारी, रूई, ऊन आदि बिक्रीकी चीजोंको जलसे भिगोकर उसे भारी बना दिया जाता है तथा बेचते समय हरेक वस्तुको वजन, नाप और संख्यामें हर प्रकारसे कम देनेकी ही चेष्टा की जाती है, और माल खरीदते समय स्वयं वजन, नाप और संख्यामे अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा रहती है। बेचते समय नमूना दूसरा ही दिखलाया जाता है और वस्तु दूसरी ही दी जाती है। एक चीजमें दूसरी चीज मिला देते हैं—जैसे घीमे वेजिटेबुल, नारियलके तैलमे किरासिन, दालमें मिट्टी इत्यादि। इस प्रकार हर तरीकेसे धोखा देकर स्वार्थसिद्धि करनेवाले अपना परलोक बिगाड़ते हैं। कोई-कोई व्यापारी तो सरकार, रेलवे या मिलिटरीके किसी भी मालको उठानेका अवसर पाते हैं तो धोखा देनेकी ही चेष्टा करते है। उनसे माल खरीदते तो थोड़ा है और उनके कर्मचारियोंसे मिलकर जितना माल खरीद करते हैं उससे बहुत अधिक माल उठा लेते हैं। यह सरासर चोरी है। यह बहुत अन्यायका काम है। इस अनर्थसे सर्वथा बचना चाहिये।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी समस्त क्रिया निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। ईश्वर-देवता, ऋषि-मुनि, साधु-महात्माओंकी पूजा-सत्कार तथा यज्ञ-दान, जप-तप, तीर्थ-व्रत, अनुष्ठान एवं पूजनीय पुरुष और दुःखी, अनाथ, आतुर प्राणियोंकी सेवा आदि कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसे कर्तव्य समझकर ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावसे करना चाहिये, किसी प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये या सङ्कट-निवारणके लिये कभी नहीं। यदि कहीं लोक-मर्यादामें बाधा आती हो तो राग-द्वेषसे रहित होकर लोक-संग्रहके लिये काम्य-कर्म कर लेना सकाम नहीं है; इसमें कोई दोष नहीं है।'

उपर्युक्त धार्मिक कार्योंको करनेके पूर्व ऐसी इच्छा करना कि अमुक कामनाकी सिद्धि होनेपर अमुक अनुष्ठानादि कार्य करेंगे किंतु इसकी अपेक्षा तो वह मनुष्य अच्छा है जो उन धार्मिक कार्योंके करनेके समय ही इच्छित कामनाका उद्देश्य रखकर करता है और उससे वह श्रेष्ठ है जो धार्मिक कार्योंको सम्पादन करनेके बाद ईश्वर, देवता, महात्मा आदिसे प्रार्थना करता है कि मेरा यह कार्य सिद्ध करें तथा उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, जो किसी कामनाकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर तो नहीं करता, पर कोई आपत्ति आनेपर उसके निवारणार्थ कामना कर लेता है। इसकी अपेक्षा भी वह श्रेष्ठ है, जो आत्माके कल्याणके लिये धार्मिक अनुष्ठानादि करता है, और वह तो सबसे श्रेष्ठ है, जो केवल निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करता है तथा बिना माँगे भी वे कोई पदार्थ दें तो लेता नहीं है। हाँ, यदि केवल उनकी प्रसन्नताके लिये राग-द्वेषसे शून्य होकर लेना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार वस्तु-पदार्थोंसे भी कभी कोई कार्य-सिद्धिकी कामना नहीं करनी चाहिये; जैसे—बीमारीकी निवृत्तिके लिये शास्त्रविहित ओषधि, क्षुधाकी निवृत्तिके लिये अन्न, प्यासकी निवृत्तिके लिये जल और शीतकी निवृत्तिके लिये वस्त्र आदिका सेवन करनेमें अनुकूलता-प्रतिकूलता होनी स्वाभाविक है; पर उनमें भी राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे शून्य होकर निष्कामभावसे ही उनका सेवन करना चाहिये। यदि कहीं अनुकूलतामें प्रीति और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें द्वेष और शोक उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी हुई कामना है।

कभी किसी प्रकार भी किसीकी सेवा स्वीकार नहीं करनी चाहिये; अपितु अपनेसे जहाँतक बने, तन, मन, धन आदि पदार्थोंसे दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, किंतु किसीसे अपनी सेवा तो कभी नहीं करानी चाहिये। यदि रोगग्रस्तावस्था आदि आपत्तिकालके समय स्त्री, पुत्र, नौकर, मित्र, बन्धु-बान्धव आदिसे सेवा न करानेपर उनको दुःख हो तो उस स्थितिमें उनके संतोषके लिये कम-से-कम सेवा करा लेना कोई सकाम नहीं है।

लोग दहेज लेनेके समय अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं और यदि देनेवाले इच्छानुसार दहेज नहीं देते तो उनका सम्बन्ध तक त्याग कर देते हैं। यह ठीक नहीं है; क्योंकि एक प्रकारसे देखा जाय तो दहेज एक प्रतिग्रह ही है। उसे प्रतिग्रह समझकर अधिक-से-अधिक उसका त्याग ही करना चाहिये। दहेज आदि देनेकी इच्छा तो रखनी चाहिये, पर लेनेकी नहीं। जहाँ किसीसे दहेज आदि न लेनेमें यदि वह नाराज हो और दुःख मानता हो तो उसके संतोषके लिये कम-से-कम स्वीकार करनेमें भी कोई सकामता नहीं है।

इसी प्रकार किसी भी संस्था या व्यक्तिसे कभी किसी भी प्रकार कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यदि लेना ही पड़े तो लेनेसे पूर्व, लेते समय या लेनेके बाद उसके बदलेमें जितनी वस्तु उससे ली हो, उससे अधिक मूल्यकी चीज किसी भी प्रकार देनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

पूर्वके समयमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीकी तो बात ही क्या, गृहस्थीको भी किसी चीजके लिये किसीसे याचना नहीं करनी पड़ती थी, बिना ही माँगे विवाह-खर्च, मृतक-(खर्च) श्राद्ध-आदिके अवसरोंपर मित्र, बन्धु-बान्धवसे सम्बन्धित लोग आवश्यकतानुसार चीजें पहुँचा दिया करते थे और इसमें वे अपना अहोभाग्य समझते थे। यदि उनके पास कोई वस्तु नहीं होती तो वे दूसरे जान-पहचानवालोंसे लेकर भेज देते थे। इससे किसीको भी याचना नहीं करनी पड़ती थी। इसमें स्वार्थका त्याग ही प्रधान कारण है।

इसलिये हमलोग भी सबके साथ निःस्वार्थभावसे उदारतापूर्वक त्यागका व्यवहार करें तो हमारे लिये आज भी सत्ययुग मौजूद है, अर्थात् पूर्वकालकी भाँति हमारा भी काम बिना याचनाके चल सकता है। अतः हमको किसी चीजकी याचना नहीं करनी चाहिये और बिना याचना किये ही यदि कोई दे जाय—ऐसी इच्छा या आशा भी नहीं रखनी चाहिये। ऐसी इच्छा न रहते हुए भी यदि कोई दे जाय तो उसको रख लेनेकी इच्छा भी कामना ही है। इस प्रकारकी कामना न रहते हुए भी कोई आग्रहपूर्वक दे जाय तो उसे स्वीकार करते समय चित्तमें स्वार्थको लेकर जो प्रसन्नता होती है उसे भी छिपी हुई कामना ही समझना चाहिये। इसलिये भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरेकी सेवा और द्रव्य (माल-) को स्वीकार नहीं करना चाहिये। अपने निश्चयपर डटे रहना चाहिये। धैर्यका कभी त्याग न करे, चाहे प्राण भी क्यों न चले जायँ; फिर इज्जत और शारीरिक कष्टकी तो बात ही क्या है ? किंतु हमलोगोंमें इतनी कमजोरी आ गयी है कि थोड़ा-सा भी कष्ट प्राप्त होनेपर अपने निश्चयसे विचलित हो जाते हैं। किसी

स्वास्थ्यकी तो बात ही अलग है, साधारणसे कार्यके लिये भी याचना कर बैठते हैं। ऐसी हालतमें निष्काम कर्मकी सिद्धि भला कैसे सम्भव है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी और संन्यासी भिक्षाके लिये भोजनकी याचना करें तो वह याचना उनके लिये सकाम नहीं है। ब्रह्मचारी तो गुरुके लिये ही भिक्षा माँगता है और गुरु उस लायी हुई भिक्षामेंसे जो कुछ उसे दे देते हैं, उसे ही वह प्रसाद समझकर पा लेता है। संन्यासी गण अपने और गुरुके लिये अथवा गुरु न हों तो केवल अपने लिये भी भिक्षा माँग सकते हैं; क्योंकि भिक्षा माँगना उनका धर्म बतलाया गया है। और, यदि कोई बिना माँगे ही भिक्षा दे देता है तो उसे स्वीकार करना उनके लिये अमृतके तुल्य है। इस प्रकार माँगकर लायी हुई और बिना माँगे स्वतः प्राप्त हुई भिक्षा भी राग-द्वेषसे रहित होकर ही ग्रहण करनी चाहिये।

जहाँ विशेष आदर-सत्कार, पूजाभावसे भिक्षा मिलती हो, वहाँ भिक्षा नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ भिक्षा लेनेसे अभिमानके बढ़नेकी गुंजाइश है तथा जहाँ अनादरसे भिक्षा दी जाती हो वहाँ भी नहीं लेनी चाहिये, क्योंकि वहाँ दाता क्लेशपूर्वक देता है, अतः वह लेने योग्य नहीं है। मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिसे युक्त भोजन दूषित है। इसी तरह स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट, अच्छा-बुरामें अर्थात्—अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेषसे शून्य होकर प्राप्त की हुई भिक्षा अमृतके समान है। इसमें जो पदार्थ शास्त्र और मनके विपरीत हों, उनका हम त्याग कर सकते हैं, जैसे कोई मदिरा, मांस, अंडे, लहसुन, प्याज आदि भिक्षामें दे तो उन्हें शास्त्रनिषिद्ध समझकर उनका त्याग करना ही उचित है। और, यदि कोई घी, दूध, मेवा, मिष्टान्न देता है तो स्वाद और स्वास्थ्यके अनुकूल होते हुए भी वैराग्यके कारण मनके विपरीत लगनेवाले इन पदार्थोंका त्याग करनेमें भी कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी और संन्यासीको विशेष आवश्यकता पड़नेपर कौपीन, कमण्डलु और शीत-निवारणार्थ वस्त्रकी याचना करनेमें भी कोई दोष नहीं है।

वानप्रस्थीके लिये तप, अनुष्ठान आदि, ब्राह्मणके लिये यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना आदि, क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा और न्यायसे प्राप्त युद्ध आदि, वैश्यके लिये कृषि, वाणिज्य आदि तथा स्त्रियों और शूद्रोंके लिये सेवा-शुश्रूषा आदि कर्म जो सभी शास्त्रविहित हैं, उनके सम्पन्न होने या न होनेमें तथा उनके फलमें रागद्वेष और हर्ष-शोकसे रहित होकर उनका आचरण निष्कामभावसे ही करना चाहिये। यदि कहीं उनकी सिद्धिसे प्रीति या हर्ष और असिद्धिसे द्वेष या शोक होते हैं तो समझना चाहिये कि उसके अन्तःकरणमें छिपी हुई कामना विद्यमान है।

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारको त्यागकर केवल लोकोपकारके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यबुद्धिसे शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उसमें दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर स्वभावतः ही विवेक-वैराग्य, श्रद्धा-विश्वास, शम-दम आदि सद्गुणोंकी वृद्धि हो जाती है तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें इतनी निर्भयता आ जाती है कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी वह किसी प्रकार कभी विचलित नहीं हो सकता; अपितु धीरता, वीरता, गम्भीरताका असीम सागर बन जाता है एवं परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।
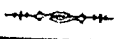
१—श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पाप नहीं लगेगा।'

निष्कामसाधनाका श्रीगणेश

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

मानव एक विवेक-प्रवण साधक प्राणी है। उसके जीवनका एक लक्ष्य है एवं उसके लिये प्रयत्न करना उसका कर्त्तव्य है। शेष अन्य सब जीव अपनी-अपनी प्रकृतिके वशीभूत हुए केवल उदर-पूर्ति और क्रीड़ा-कौतुकमें ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं और मानवशरीर कर्म-योनि है। गीतामें कर्म शब्द योगके साथ प्रयुक्त है। 'योग' अर्थात् परमार्थ-तत्त्वके साथ अभेद प्राप्त करना। इसीकी प्राप्तिके लिये परम उदार प्रभुने उसे विवेक-शक्ति दी है, जिससे वह अपने हिताहितका निर्णय कर सके। जो मनुष्य उसका अनुसरण न कर केवल भोग-संग्रहमें ही लगे हुए हैं, वे पशुसे भी गये-गुजरे हैं; क्योंकि पशु अपनी प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं करता और भोग-प्रवण मनुष्य प्रकृतिका भी उल्लङ्घन करके बहुत-से न करनेयोग्य कार्य भी कर बैठता है।

वस्तुतः यह एक विडम्बना ही है, जो मानव-समाजका बहुसंख्यक भाग विवेकी होकर भी भोगोंके पीछे पड़ा हुआ है। उसकी इस भोगप्रवणताको दूर करनेके लियेही शास्त्रोंने भी सकाम कर्म और उपासनाका प्रचुररूपसे वर्णन किया है। परंतु उसका उद्देश्य भी इसे लौकिक इष्ट भोगोंसे हटाकर पारलौकिक अदृष्ट और दिव्य भोगोंके प्रलोभनद्वारा उसके इष्टकी ओर आकृष्ट करना है। यदि मानव-देह प्राप्त करके उस इष्टको प्राप्त नहीं किया तो जीवन व्यर्थ ही है। श्रुति कहती है—**'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'** अर्थात्—इस जीवनमें उस परमतत्त्वको जान—लिया तो ठीक, और यदि नहीं जान पाया तो बड़ी भारी हानि हुई।

जबतक मनुष्य किसी लौकिक या अलौकिक भोगमें आसक्त है, तबतक उसे परमार्थकी जिज्ञासा नहीं हो सकती। परमार्थमें सबसे बड़ा रोड़ा सकामता है। यह आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य इसीके वशीभूत होकर अनेक अर्थसाध्य और श्रमसाध्य साधन भी प्रसन्नतापूर्वक करता रहता है और परमार्थ-प्राप्तिके लिये सत्य-अहिंसा आदि सहज साधन भी उसे अत्यन्त कठिन जान पड़ते हैं। पर निष्कामताके विना परमार्थ-पथमें प्रवेश भी नहीं हो सकता। बड़े-बड़े तप और त्याग करनेपर भी यदि चित्त निष्काम नहीं है तो परमार्थकी जिज्ञासा नहीं हो सकती और न सच्चा भगवत्प्रेम ही हो सकता है। वास्तवमें तो परमार्थकी जिज्ञासा ही साधनाका प्रथम सोपान है। इससे पहले सकामभावसे जो कुछ किया जाता है, वह वणिग्वृत्ति ही है। हम बाजारमें किसी दुकानदारसे पैसा देकर यदि कोई वस्तु खरीदना चाहते हैं तो हमारी आसक्ति उस वस्तुमें ही होती है, दुकानदारमें नहीं। इसी प्रकार किसी पुण्यकर्म या उपासनाके द्वारा यदि हम कोई लौकिक या पारलौकिक भोग प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारी प्रीति उस भोगमें ही होती है, जिस इष्टदेवसे प्राप्त करना चाहते हैं, उसमें नहीं। जिसे लौकिक या अलौकिक कोई कामना नहीं रहती, उसको सत्यकी जिज्ञासा होती है और उसीको अपने इष्टदेवमें आत्मीयता होकर उसकी प्रीति प्राप्त होती है। जो सभी प्रकारकी ममता और मोह त्याग देता है उसीका प्रभुसे सम्बन्ध होता है। प्रेममें विभाजन नहीं होता। ऐसा नहीं हो सकता कि हम विषयोंको भी चाहते रहें और भगवान्‌के प्रेमी भी हो जायँ। विना अनन्यभाव हुए प्रभुमें प्रेम नहीं होता। अनन्य भाव तभी आ सकता है, जब हमारा मन कामना शून्य बने, अतः इसमें संदेह नहीं कि परमार्थकी वास्तविक साधनाका श्रीगणेश निष्कामतासे ही होता है।

यह निष्कामता प्रारम्भिक साधन ही हो—ऐसी बात भी नहीं है। यदि दैव-दुर्विपाकसे किसी भक्त या ज्ञानीमें भी किसी कामना या वासनाका उन्मेष हो जाय तो वह भी पथभ्रष्ट हो जायगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें साधनका क्रम-निर्देश करते हुए कहा है कि—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
(१२।१२)

'अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है और ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागके अनन्तर शीघ्र ही शान्ति प्राप्त होती है।' यहाँ कर्मफलत्यागको ज्ञान और ध्यानसे भी श्रेष्ठ कहा है। यहाँ यह केवल उसकी महिमा या अर्थवाद नहीं है, इसमें वास्तविकता भी है। यद्यपि वास्तविक ज्ञानी और ध्यानी (योगी)में कर्मफलकी कामना या वासना होना असम्भव ही है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि यदि दैववश उनमें कामनाका उन्मेष हो जाय तो उनका भी पतन होगा और जीवनमुक्ति या शान्ति बाधित होगी। शान्तिकी एकमात्र शर्त है—कुछ भी न चाहना। वस्तुतः चाह ही अशान्ति है। अतः निष्काम होना साधक और सिद्ध दोनोंहीके लिये परम हितकर है। एक प्रकार यह साधनका आरम्भ तथा अन्त भी है। इस प्रकार यह साधनाका प्राण है, अन्यथा निष्कामताके बिना तो साधन निर्जीव ही है।

कर्म और धर्मनीति

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

तत्त्वजिज्ञासुके हृदयमें प्रायः चार प्रश्न उभरा करते हैं—(१) विश्वमें ज्ञेय क्या है ?, (२) मैं कौन हूँ, अर्थात् जीवका स्वरूप क्या है तथा मुझ जीवका सृष्टिकर्तासे क्या सम्बन्ध है ? (३) ज्ञेयकी प्राप्तिमें कौन-से कर्म सहायक होते हैं तथा कौन-से कर्म प्रतिबन्ध (बाधा) उत्पन्न करते हैं ? और (४) इस लक्ष्यकी प्राप्तिसे अन्ततः लाभ क्या होगा ?

इन प्रश्नोंमेंसे पहले और दूसरे प्रश्नका सम्बन्ध ब्रह्म-मीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा दर्शनोंसे है। तृतीय प्रश्नका सम्बन्ध धर्मशास्त्रविहित नीति और आचारसे है और चतुर्थ प्रश्नका सम्बन्ध अनुभवजन्य ज्ञान या परिणामसे है। इस लेखमें मुख्यतः तीसरे प्रश्नके विषयमें ही कुछ विचार उपस्थित किये जाते हैं। मानव-जीवनके ध्येयकी प्राप्तिमें जो कर्म सहायक होते हैं, उन्हें पुण्य कहते हैं, तथा जो प्रतिबन्धक होते हैं, उन्हें पाप कहते हैं। जीवोंके पाप और पुण्यका फल कर्मकी परिपाकावस्थामें अवश्य ही भोगना पड़ता है। इस पुण्य-पाप या धर्माधर्मका मुख्य आधार है मनुष्यकी आन्तरिक भावना तथा गौण आधार है शारीरिक कर्म। पुण्य किसे कहते हैं तथा पाप क्या वस्तु है और इनसे क्या लाभ-हानि होती है ? इन प्रश्नोंका निर्णय प्रमाणपूर्वक धर्मशास्त्र करते हैं। अतएव इनकी व्याख्या नैसर्गिक नियमोंके अनुसार धर्मनीतिके आधारपर ही होनी चाहिये। केवल तर्कके द्वारा ही धर्माधर्मका निर्णय करना ठीक नहीं होता।

सदाचार-दुराचारका सम्बन्ध जिस प्रकार व्यक्तिसे होता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, भावी संतति, जाति-देश, समाज तथा समस्त विश्वके प्राणियोंके साथ भी होता है। अतएव व्यष्टि तथा समष्टि (समाज)—दोनोंके कर्तव्याकर्तव्यका विचार करना पड़ता है। इसी विचारमें पुण्यापुण्यकी कल्पनाका बीज निहित रहता है। इस विषयकी आलोचना युगारम्भसे अर्थात् ऋग्वेदके कालसे हो रही है। ऋग्वेदमें पुण्यके लिये ऋत (अन्तःसत्य), सत्य (वाचिक सत्य) तथा व्रत

(सदाचार)के पालनका विधान किया गया है तथा इन पुण्यकर्मोंके विपरीत चिन्तन, कथन और आचरणको पाप बतलाया गया है।

ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि युगादिमें जन-साधारणका आचार उच्च श्रेणीका था। उस समय चोरी-डाका, व्यभिचार, द्यूत, अनीति-अनाचार, दूषित मन्त्र-तन्त्रोंका प्रयोग, माता-पिता आदि गुरुजनोंका अपमान, अतिथिका अनादर, असत्य, नास्तिकता, दान न देना, मन और इन्द्रियोंका संयम न करना आदि कर्मोंको पाप माना जाता था। ऋग्वेद ७। १०४। १४में नास्तिकताकी बड़ी निन्दा की गयी है। कुछ सूक्तोंमें बतलाया है कि परमेश्वर असत्य बोलनेवालेको दण्ड देता है, आदि-आदि। दुर्बल मनवाले मनुष्यकी प्रवृत्ति सहज ही पाप-कर्मोंमें हो जाती है और पापोंका संचय होनेपर मनुष्य भगवान्‌से दूर चला जाता है। अतएव ऋग्वेदमें पापके संस्कारोंको भारस्वरूप बतलाया है। इस भारको कम करनेमें परमात्मा ही समर्थ है, अतएव अनेक सूक्तोंमें परमात्माकी प्रार्थनाएँ की गयी हैं। बिना भगवान्‌की कृपाके जीव यमराज और वरुणके पाशमें बँध जाता है। ऋग्वेद एवं अन्यान्य संहिताओंमें यम[1], नरक[2] और स्वर्गका[3] भी वर्णन मिलता है। अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखरूपी फलकी प्राप्ति होती रहती है। यद्यपि आधिभौतिकवादियोंमें हर्बर्ट-स्पेन्सर-जैसे कुछ उदार विचारवाले यह कहते हैं कि हमें सारे मानव-समाजके कल्याणार्थ कार्य करना चाहिये, तथापि ईश्वरका त्याग कर देनेपर समाजमें विश्वप्रेम नहीं हो सकता। स्वार्थी लोगोंपर ईश्वरका अङ्कुश न होनेसे वे स्वार्थसिद्धिके लिये निष्ठुर पशुके समान निर्दय प्रयत्न करने लगेंगे, जैसी कि आजकल यूरोपमें लीला हो रही है। अतः ईश्वरका त्याग करके कपोलकल्पित नीतिके साथ कर्मका सम्बन्ध रखनेसे न तो न्याय ही हो सकता है और न शान्ति ही मिल सकती है। इस दृष्टिसे भी ईश्वरकी मान्यता आवश्यक है।

मनुष्यके अधःपतनके मुख्य हेतु तीन हैं—विहित कर्मोंका त्याग, निन्दित कर्मोंका आचरण और इन्द्रियोंका असंयम[4]। विहित कर्मोंके त्याग और निन्दित कर्मोंके आचरणसे मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है। यह बात नैतिक मर्यादाके अनुसार आस्तिक और नास्तिकको भी स्वीकार करनी पड़ती है। यद्यपि नास्तिक या मूढ़जन यह नहीं मानते कि इन्द्रियोंके असंयमसे मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है और इन्द्रियनिग्रहसे उन्नतिको प्राप्त होता है। पर शास्त्रदृष्टिसे विचार करनेपर इसका ज्ञान होता है। शास्त्रकारोंने इन्द्रियनिग्रहको ही मानसिक उन्नति तथा समस्त सुखोंका मूल कारण माना है। इन्द्रियोंका संयम न होनेपर काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश—ये सब दोष एकके बाद एक उत्पन्न होते जाते हैं और अन्तमें मनुष्य विनाशको प्राप्त हो जाता है[5]।

भोजन करना सबके लिये आवश्यक कार्य है और सभी प्राणी अपने जीवनकी रक्षाके लिये भोजन करते हैं। यदि नीतिपूर्वक धनकी प्राप्तिकर पवित्रताके साथ भोजन तैयार किया जाय, फिर भी जीभके स्वादके वशमें होकर पथ्य-भोजन अत्यधिक परिमाणमें ग्रहण किया जाय अथवा अपथ्य-भोजनके अल्प परिमाणमें भी

१—वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य। (ऋ० १०। १४। १)

२—ऋग्वेद ९। ७३। ८ तथा ४। ५। ५में नरकका विस्तारपूर्वक वर्णन है।

३—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'।

४—विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्। अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥

५—ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

ग्रहण किया जाय तो मनमें दूषित वासनाकी उत्पत्ति होती है। पश्चात् धीरे-धीरे मन स्वेच्छाचारी बनकर मनुष्यको पतित बना डालता है। अतएव ऐसे भोजनको शास्त्रकारोंने दूषित—पाप माना है। जिस कार्यसे मनका उत्कर्ष हो, वह पुण्यकर्म है तथा जिससे मनका पतन हो, वह पाप है। यदि शास्त्रमर्यादाके अनुसार सात्त्विक भोजन किया जाय तो मनकी शुद्धि होगी और वृत्तियाँ सात्त्विक रहेंगी और कर्मके सूक्ष्म-रहस्यका ज्ञान होगा।

कभी-कभी सदुद्देश्यसे सत्कर्म करनेपर भी हानिप्रद परिणाम देखनेमे आते हैं तथा दुष्ट उद्देश्यसे दूसरोंको हानि पहुँचानेकी इच्छा होनेपर लाभ होते देखा जाता है। मनुष्य-समाजमें बहुधा बाह्य प्रवृत्तिका ही विचार करके न्याय किया जाता है, परंतु परमात्माकी ओरसे ऐसा नहीं होता। कर्मका विधान करनेवाले परमात्मा सर्वाङ्गीण विचार करके सुख-दुःखका विधान करते हैं। कहते हैं, एक बार विक्रमादित्यके दरबारमे उनका नगर-कोतवाल चार अपराधियोंको लेकर उपस्थित हुआ और उनसे निवेदन किया—'महाराज! इन चारोंने गत रात्रिमें राजकीय कोषागारमें चोरी करनेके लिये जैसे ही किलेकी दीवार फाँदकर प्रवेश किया, ठीक उसी समय मैंने इन्हें बंदी बना लिया। इनमें एक तो जौहरीका लड़का है, दूसर राजपुरोहितका, तीसरा एक धनिक वैश्यका पुत्र और चौथा शूद्र है—जो बडा ही दुष्ट है।' सम्राट्के पूछनेपर उन चारोंने अपराध भी स्वीकार कर लिया। इसपर राजाने जौहरीके पुत्रसे मधुर शब्दोंमें इतना ही कहा—'तुम-जैसे कुलीनको ऐसे कर्मोंमें लगना उचित नहीं था; जाओ, भविष्यमें ऐसा मत करना।' फिर पुरोहितके पुत्रको थोड़ी फटकार बताते हुए उन्होंने तनिक रूक्ष शब्दोंमें कहा—'राज्य-सम्पत्तिमेंसे किसी भी ब्राह्मणकी आज्ञा होनेपर आवश्यकतानुसार धन मिल सकता है और तुम बुद्धिमान् होनेके कारण देव-सेवा और व्रतादिके द्वारा धनियोंसे भी धन प्राप्त कर सकते थे, फिर समस्त ब्राह्मण-समाजको कलङ्कित करनेवाले तथा अपने पूर्वजोंको नरकमे गिरानेवाले सुवर्णकी चोरीके समान महापातकके करनेमें कैसे प्रवृत्त हो गये? तुम दुष्टवृत्तियोंका परित्यागकर सत्सङ्गका सेवन करो, धर्मपरायण होकर भावी जीवनको भगवान्के चरणोमे समर्पित कर दो और अपना तथा अपने पूर्वजोका उद्धार करो।' इतना कहकर उसे भी जानेकी आज्ञा दे दी। वैश्य बालकको उन्होने मूढ़, पाखण्डी, नालायक आदि कहकर बन्धन-से मुक्त कर दिया। चौथे चोरको कोडे लगाकर मुँह काला करके गधेपर चढाकर चाण्डालोकी बस्तियो तथा शहरमें घुमवाकर छोड दिया।

इस प्रकार एक ही अपराध करनेवालोंको विभिन्न प्रकारकी दण्ड-विधानप्रक्रिया देखकर सभामें उपस्थित सदस्योंको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे इसका कुछ रहस्य समझ न सके। इधर महाराज भी सदस्योंकी भावना ताड़ गये। उन्होंने अपने गुप्तचरोंको इन चारों अपराधियोके ऊपर होनेवाले दण्डके परिणामका पता लगाकर राजसभामें सूचित करनेकी आज्ञा दी। गुप्तचरोने पता लगाकर दूसरे दिन राजसभामें निवेदन किया कि 'जौहरीके पुत्रने राजदण्डको सुनकर घर लौटते ही हीरेकी कनी खाकर प्राणत्याग कर दिया। पुरोहितके पुत्रने अवन्तिकापुरीमे लोगोको मुँह दिखलाना अनुचित समझकर दूसरे दिन सवेरे तड़के ही उठकर शास्त्राध्ययन तथा उपासना करनेके लिये काशीको प्रस्थान किया। वैश्यका पुत्र लज्जाके मारे घरके भीतर ही बैठा-बैठा रुदन करता हुआ पश्चात्ताप करने लगा और चौथे चोरको शहरमें घुमाते समय चारों ओरसे जनता देखनेके लिये आती थी तो एक स्थानपर उसकी स्त्री भी उसे देखनेके लिये आयी। उस निर्लज्जने स्त्रीपर दृष्टि पड़ते ही कहा कि अब थोड़ा ही और घूमना बाकी

रह गया है। घरपर जाकर जल्दी भोजन तैयार करो।' वह दुष्ट चाण्डालोंके अपमानजनक शब्दोंको सुन-सुनकर भी मुस्कराता था और कुछ भी दुःख न मानता था। इसके बाद उसने फिर उसी रात डाका डाला और बादमें पकड़े जानेपर उसके दोनों हाथ कटवा दिये गये।

इस न्यायप्रक्रियाके परिणामोंपर विचार करनेसे सहज ही समझा जा सकता है कि अधिक दण्ड किसे दिया गया। पाखण्डी पुरुषको भयानक शारीरिक दण्डसे जितनी आन्तरिक वेदना और लज्जा होती है, उससे अनेक गुना अधिक यन्त्रणा कीर्तिप्रिय राजा-महाराजा, पण्डित और कुलीन पुरुषको सामान्य वाग्दण्डसे ही हो जाती है। चारों ओर भटकनेवाले श्वानको चाहे जितनी ही ताड़ना क्यों न दी जाय, फिर भी बार-बार रोटीके टुकड़ेके लालचसे वह पास आ ही जाता है। परंतु राजसम्मानित हाथी जरा भी अपमान नहीं सह सकता। यही भेद मनुष्य और मनुष्यके बीच भी होता है। जिस प्रकार निषिद्ध कर्मोंके करनेसे विभिन्न प्रकृतिके पुरुषोंको अपने-अपने भावके अनुसार मानसिक व्यथा न्यूनाधिक होती है, उसी प्रकार शास्त्रविहित कर्मोंमें भी लक्ष्य-पद होनेसे विभिन्न पुरुषोंकी मानसिक उन्नति, आनन्द तथा व्यावहारिक लाभरूपी परिणामोंमें विभिन्नता होती है। यह बात निम्नलिखित उदाहरणके द्वारा स्पष्ट हो जाती है।

एक परोपकारी वैद्यने बुढ़ापेमें एक चिकित्सागृह बनवाया और वे निष्काम-भावसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक रुग्ण पुरुषोंकी शुश्रूषा करने लगे। एक बार धनी आदमी-का एक पुत्र, जिसे गलित कुष्ठ हो गया था, उस चिकित्सागृहमें भरती हुआ। उसके माता-पिताने उसके पास रहनेके लिये अपने निजी वैद्यको भी नियुक्त कर दिया। वहाँ उसकी चिकित्सा तथा सेवा-शुश्रूषा होने लगी। उसकी धर्मपत्नी भी स्वेच्छासे उसकी सेवा करनेके लिये वहीं रहने लगी। माता-पिता भी बीच-बीचमें आकर उसे देख जाते थे। परंतु इन सब सेवा करनेवाले लोगोंके अन्तःकरणमें विभिन्न प्रकारके भाव काम करते थे। अस्पतालके मालिक विश्व-वात्सल्यके भावसे प्रेरित होकर प्राणिमात्रमें अपनी ही आत्माका दर्शन कर निःस्वार्थ-भावसे सेवा करते थे। गृह्य-वैद्य अपने स्वार्थ (धन-लोभ)के कारण सेवा करता था। धर्मपत्नी पति-सेवा-रूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये सेवा करती थी और माता-पिता लोक-लज्जाके भयसे देखने आते थे।

इसी प्रकार भावनामें भेद होनेसे सबके फलोंमें भी विभिन्नता आ जाती है। निष्काम-भावनावाला पुरुष सबको नारायण मानकर सेवा करता है। चाहे धनी हो या निर्धन, सजातीय हो या विजातीय, ज्ञानी-अज्ञानी, शान्त-क्रोधी, शत्रु-मित्र, सुशील-दुःशील, स्त्री-पुरुष, छोटा-बड़ा—कोई भी हो, किसीके प्रति उसकी आन्तरिक भावनामें विभिन्नता नहीं आती है। अतएव आन्तरिक भावनाके अनुसार भगवान् उसे अन्तःकरणकी शुद्धि, सुदृढ मनोबल, बुद्धिका विकास, सङ्कल्पसिद्धि, दया, शान्ति, आनन्द तथा शुभ संस्कारोंकी प्राप्ति आदि फल प्रदान करते हैं।

सकाम पुरुष जहाँ स्वार्थकी सिद्धि नहीं होती, वहाँ सहायता या सेवाके लिये कदापि तत्पर नहीं होता और जहाँ केवल स्वार्थकी भावना होती है, वहाँ पूर्ण संतोष नहीं मिल सकता; क्योंकि प्रसन्नता अन्तःकरणके प्रेमसे उत्पन्न होती है। अतः उपर्युक्त दृष्टान्तमें गृह-वैद्यको केवल अर्थलाभ होता है, अन्तःकरणकी शुद्धि उसे नहीं प्राप्त होती। इसी प्रकार लोक-लज्जाके कारण सेवा करनेवालोंको पूर्ण संतोष नहीं मिल सकता। मनुष्य वाणीसे अपने भावोंको छिपा सकता है, परंतु हृदयसे भावको नहीं छिपा सकता। एक मनुष्यके हृदयमें दूसरेके

प्रति शुभाशुभ या राग-द्वेषका जब जैसा भाव उदय होता है, दूसरेके हृदयमें भी उसके प्रति तदनुरूप ही भाव उदित होते हैं। जैसे गौ आदि पशु मनुष्यके हार्दिक भावोंको जानकर उसके हाथमें हरित तृण आदि देखकर समीप आते हैं तथा उसके क्रोध या दुष्टभावको देखकर तुरंत दूर भाग जाते हैं, उसी प्रकार सब जीवोंके हृदयमें अपने प्रति व्यवहार करनेवालोंके हृदयका भाव प्रतिबिम्बित हो जाता है।

उपर्युक्त दृष्टान्तमे वैसे माता-पिताको अपकीर्तिका अभावरूपी फल ही प्राप्त होता है। ऐसे स्वार्थलोलुप अथवा लोक-लज्जामात्रका आश्रय लेनेवाले पुरुषोसे सर्वदा और सर्वथा समस्त दुःखी जीवोंके दुःख दूर करनेकी चेष्टा नहीं हो सकती। इसी प्रकार पति-सेवाकी दृष्टिसे परिचर्या करनेवाली धर्मपत्नीसे यद्यपि वह रोगी प्रसन्न रहता है, तथापि उसकी भावना एकदेशीय रहनेके कारण तथा भावनामें व्यापकता न होनेके कारण उससे भी असम्बन्धी एवं अपरिचित लोगोंकी सेवा नहीं हो सकती। भावनाके संकुचित होनेके कारण फल भी संकुचित एकदेशीय ही होता है। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने कर्म करनेवालोंको सात्त्विक, राजस तथा तामस इन तीन विभागोंमें विभाजित किया है (गीता १८। २६–२८)। इसी प्रकार गीताके १७वें तथा १८वें अध्यायोंमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक शुभाशुभ कर्तव्य—यज्ञ, दान, तप, धैर्य, श्रद्धा, आहार, सुख, ज्ञानादिमें त्रिविधता दिखलायी गयी है। सबका फलदाता एकमात्र भगवान् ही है।

यदि भूगोल या खगोलमें सर्वत्र प्रवर्तित सुदृढ़ नियमोंके अनुसार सृष्टि-व्यापारकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कर्मविपाकमें ईश्वरका ही विशेष हाथ है। सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी एवं समस्त तारागण अपनी-अपनी निश्चित सीमाके भीतर ईश्वरके आदेशानुसार परिभ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डके अणु-परमाणुकी नैसर्गिक प्रक्रिया तथा जीवोंके समस्त कर्मोंमें प्रभुका शासन निहित है। अतएव शुभाशुभ कर्मोंके फलदाता प्रभु ही हैं। इन्हीं सब हेतुओंसे कर्मका सम्बन्ध धर्मशास्त्रोक्त धर्म-नीति और आचरणके साथ माना गया है।

कर्मयोग

श्रीभगवान् स्वयं उसी कर्मसे प्रसन्न होते हैं, जो प्रेम और उत्साहपूर्वक किया जाता है। जो मनुष्य प्रेमपूर्वक निरन्तर कर्ममें लगे रहते हैं, उनका कर्म ही उनके लिये परम कल्याणका द्वार खोल देता है। जनक-प्रभृतिने कर्मसे ही सिद्धि पायी—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

'मैं केवल वही कर्म करूँगा, जिसे मैं परम पिताकी साक्षीमें रखके अपना मुख उज्ज्वल कर सकता हूँ'—ऐसी धारणा मनुष्यको अपवित्रतासे हटाकर पवित्रताकी ओर, असत्यसे हटाकर सत्यकी ओर और मृत्युसे हटाकर अमृतकी ओर ले जाती है। अतः पुरानी वैदिक प्रार्थना है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।

चाहे कुछ हो, मैं निश्चय करता हूँ कि मैं कर्मयोग-द्वारा पवित्रता प्राप्त करूँगा—ऐसा पावन विचार करनेवाला सदैव भगवान्की रक्षामें सुरक्षित रहता है। वह अपने प्रेमास्पदके दर्शन नित्य प्रत्येक स्थानमें करता है। भगवान् हमसे ज्ञान नहीं चाहते, मान नहीं चाहते, धन-धान्य नहीं चाहते, वे केवल हमारा प्रेम चाहते हैं और हमें अपने कर्तव्यमें रत देखना चाहते हैं। हमारा धर्म्यकाममें ही स्वारस्य है, कर्त्तव्य ही उनकी

पूजा है, अर्चा है, सिद्धि ही सत्कार है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।'**

भक्तकी प्रार्थना यह होती है कि हे मेरे भगवन् ! मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि मैंने तेरी प्रजाके साथ किया है । ये शब्द वही उच्चारण कर सकता है, जिसके व्यवहारमें कपट, ईर्ष्या, द्वेष और मोहको स्थान नहीं है, जिसके मनमें सरलताका निवास है और जो घट-घटमे व्याप्त प्रभुकी अलौकिक झाँकी लिया करता है ।

विश्वप्रेम वही कर सकता है, जो अपने बन्धुजनोंसे प्रेम करना जानता हो और हृदयमें स्वार्थकी गन्ध न हो; जिसके चित्तमें ममत्वका टेढ़ापन नही, ऐसा साधु ही प्रेमी हो सकता है, अन्य सब मोहको ही प्रेम समझते हैं ।

विश्वका हित करनेसे प्रेमकी ज्योतिका विकास होता है । अतः नित्य निश्चय करो कि आज मैं अवश्य किसीका हित-साधन करूँगा तथा अपना अथवा किसी औरका अहित कदापि नहीं करूँगा ।

भगवान्‌के प्रेम-राज्यमे हम फूलके समान सुगन्धियुक्त, अग्निके समान तापयुक्त और सूर्यके समान ज्योतिर्मय बनें—जिससे कि जो कोई हमारे सहवासमें आये, उसे हमसे और हमें उससे अवश्य प्रेम मिले, आनन्द मिले । (प्रेम ही स्वर्गीय जीवन है ।)

लाभके लिये सभी लोग कार्य करते है, केवल प्रेमी ही आनन्दके लिये कार्य करता है । आनन्द-लाभसे लौकिक उपलब्धि कहीं अधिक स्पृहणीय वस्तु है । प्रेमी होना और कर्मयोगी होना एक ही है । कर्मयोगी वही हो सकता है जो सहृदय हो और प्रेमी हो और कर्मयोग बिना प्रेमीका जीवन ही प्रेममय नहीं हो सकता । (विश्व-मङ्गलकारी कार्यकर्ता ही विश्वात्मा प्रभुका प्रिय एवं कर्मयोगी होता है) ।

प्रेम जीवन है, प्रेम अमृत है, प्रेम आनन्द है—और तो क्या, प्रेम सर्वस्व है; क्योंकि भगवान् स्वयं प्रेममय हैं (**'प्रेम हरिको रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप'**) ।

प्रेम और सौन्दर्यकी सच्ची परख जब मनुष्यको हो जाती है तो फिर उसे मोह नहीं होता । प्रेमके प्रकाशमें मोह-तमका वास हो ही कैसे सकता है !

प्रेममय भगवान्‌से ही प्रेम-धाराका विकास है, वह तो अमृतमयी, पावनी और जगत्-तारिणी है । वह सुन्दर ध्वनि करती हुई, प्रेमियोको छूती हुई निरन्तर बहती ही रहती है । उसका अन्त नहीं है । प्रेम-प्रपात प्रभुकी ऐसी ही प्रीति-जलराशि है ।

प्रेम-नदीके तीरपर शीतल नीर-समीरका आनन्द है। अंदर पैठनेपर मलोसे निवृत्ति है, जलपान करनेपर निरन्तर स्वस्थता और तृप्ति है, मानसके शब्दोंमें—

'दरस परस मज्जन अरु पाना । हरै पाप कह बेद पुराना' ॥

प्रेम-नदीके जलसे जो उपवन सींचा जाता है, उसमें अनेक अलौकिक सौन्दर्य दिखायी देते हैं । वहाँके नयनोंको तृप्त करनेवाले सुगन्धित सामान्य फूल और सुन्दर कमल एक विलक्षण आकर्षणके साथ हमें विमुग्ध कर देते हैं । ऐसे उपवनमें ध्यानावस्थित होनेपर जब सुन्दर बूँदें आँखोंसे गिरती है—प्रेमाश्रुबिन्दु झरने लगते हैं—तो सब मोह एवं पाप-सन्तापको हर लेती है और साधकको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है । उसी समय भगवान्‌की लीलाका रहस्य खुलता है । कर्मयोगका यह पथ दिव्य प्रेम-नगरसे आरम्भ होकर दिव्य प्रेम-धाममें समाप्त हो जाता है । भाग्यशाली साधक इस कल्याण-पथके पथिक होते हैं ।

कर्मयोगपर योगिराज अरविन्दके विचार

(प्रेषक—श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

कर्म आध्यात्मिक नवजन्मका साधन—

'जो कर्म तुम्हें यहाँ करना पड़ता है उसे अपने आन्तर, आध्यात्मिक नवजन्मका साधन बना लो, अपने दिव्य जन्मका साधन बना लो और फिर दिव्य होकर, भगवान्‌के उपकरण बनकर, लोकसंग्रहके लिये दिव्य कर्म करो।

सार्वजनीन कर्म और सामाजिक कर्तव्य—

'गीता आग्रह करती है कि जिस मनुष्यको सार्वजनीन कर्ममें भाग लेना है उसे सामाजिक कर्त्तव्यका अनुष्ठान एवं धर्मका अनुसरण करना ही होगा।

आध्यात्मिक जीवन और मानवीय कर्म—

'जो पूर्ण आध्यात्मिक जीवन अनन्तके सायुज्यमें बिताया जाता है और परम आत्माके साथ समस्वर तथा परिपूर्ण देवाधिदेवका प्रकाशक होता है, उसमें तथा सम्पूर्ण मानवीय कर्ममें गीता सामञ्जस्यकी प्रस्थापना करती है। कर्मका रहस्य वही है, जो सारे जीवन और जगत्‌का रहस्य है। यही गीताका एवं वक्ता श्रीभगवान्‌के सन्देशका सार कहा जा सकता है। जगत् प्रकृतिका केवल नियमचक्र नहीं है, जिसमें जीव क्षणभरके लिये या युग-युग जीने-मरनेके लिये जा फँसा हो। यह परमात्माकी निरन्तर अभिव्यक्ति है। जीवन केवल जीनेके लिये नहीं, बल्कि परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये है और मनुष्यका अन्तरात्मा उन्हीं परमेश्वरका सनातन अंश है। कर्मका प्रयोजन है आत्मानुसंधान, आत्मपूरण और आत्मसिद्धि। पदार्थ-मात्रके भीतर एक ऐसा आन्तरिक कर्मविधान और उसकी संचालिका शक्ति है, जो आत्माकी अव्यक्त परमा प्रकृतिको और साथ ही व्यक्त प्रकृतिको भी आश्रित किये है। वही कर्ममात्रका रहस्य है और वही परमात्मतत्त्व ही देश-काल-पात्रानुसार अपूर्णतया और अज्ञानसे आच्छादित-रूपमें मन, बुद्धि और उसके कर्मोंके बाह्यरूपमें प्रकट हुआ करता है। इसलिये कर्मका प्रमादरहित महत्तम परम विधान अपनी ही उच्चतम और अन्तस्तम सत्ताका अनुसन्धान करना और उसीमें रहना है, अन्य किसी मान या धर्मका अनुसरण करना नहीं है। जबतक यह नहीं होता, जीवन अपूर्ण रहता है और एक संकट, एक संग्राम और एक समस्या ही बना रहता है। अपने आत्माको ढूँढ़ पाना और उसकी यथार्थता, उसकी वास्तविकताके अनुसार अपने जीवनको बना लेना ही वह उपाय है जिससे जीवनकी पहेली सुलझायी जा सकती है, संकट और संग्रामको पार किया जा सकता है।

'अपने कर्मोंको साक्षात् आत्माके ही निरापद आश्रयमें पूर्ण करके दिव्य कर्मके रूपमें ढाला जा सकता है। इसलिये अपने-आपको जानो, अपने सदात्माको ईश्वर समझो और सबके अन्तरात्माओंके साथ उसे एक जानो—अपने आत्माको ईश्वरका अंश जानो। जो जानते हो उसीमें रहो, अपने आत्मामें स्थित हो, अपनी परा आत्म-प्रकृतिमें रहो, ईश्वरके साथ एक हो और ईश्वर-सदृश बनो। उत्सर्ग कर दो पहले अपने सब कर्मोंको उनके चरणोंमें, जो तुम्हारे अंदर सर्वोत्तम और एकमेव हैं, जो जगत्‌के अंदर सर्वोत्तम और एकमेव हैं; दे दो अन्तमें अपने-आपको जो कुछ तुम हो और जो कुछ करते हो—उन्हींके हाथोंमें, जिसमें परम जगदीश्वर, जगदात्मा तुम्हारे द्वारा जगत्‌में अपना संकल्प पूर्ण करें, तुमसे अपना कर्म करा।

(श्रीअरविन्दके 'Essays on the Gita', द्वितीयभागसे)

कर्मयोगका आदर्श

(१)

(स्वामी श्रीविवेकानन्दका कर्मयोगपर तात्त्विक विवेचन)

वेदान्तका सबसे उदात्त तत्त्व यह है कि हम एक ही लक्ष्यपर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे पहुँच सकते हैं। मैंने इन्हें साधारणरूपसे चार मार्गोंमें विभाजित किया है और वे हैं—कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग। परंतु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये बिल्कुल पृथक्-पृथक् विभाग नहीं हैं। प्रत्येक एक दूसरेके अन्तर्गत हैं। किंतु प्राधान्यके अनुसार ही ये विभाग किये गये हैं। ऐसी बात नहीं कि तुम्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिसमें कर्म करनेके अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति न हो, अथवा जिसमें केवल भक्ति या केवल ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ न हो। ये विभाग केवल मनुष्यकी प्रधान प्रवृत्ति अथवा गुण-प्राधान्यके अनुसार किये गये हैं। हमने देखा है कि अन्तमें ये सब मार्ग एक ही लक्ष्यमें जाकर एक हो जाते हैं। सारे धर्म और सारी साधन-प्रणाली हमें उसी एक चरम लक्ष्यकी ओर ले जा रही है।

वह चरम लक्ष्य क्या है ? मेरे मतानुसार वह है मुक्ति। एक छोटे-से परमाणुसे लेकर मनुष्यतक, अचेतन प्राणहीन जड वस्तुसे लेकर सर्वोच्च मानवात्मातक जो कुछ भी हम इस विश्वमें देखते हैं, अनुभव करते या श्रवण करते हैं, वे सब-के-सब मुक्तिकी ही चेष्टा कर रहे हैं। असलमें मुक्तिलाभके लिये इस संग्रामका ही फल है—यह जगत्। इस जगत्रूप मिश्रणमें प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणुओंसे पृथक् हो जानेकी चेष्टा कर रहा है, पर दूसरे उसे आबद्ध करके रखे हुए हैं। हमारी पृथ्वी सूर्यसे दूर भागनेकी चेष्टा कर रही है तथा चन्द्रमा पृथ्वीसे। प्रत्येक वस्तु अनन्त विस्तारोन्मुख है। इस संसारमें हम जो कुछ भी देखते हैं, उसका मूल प्रेरक मुक्ति-लाभके लिये यह संग्राम ही है। इसी प्रेरणासे साधु उपासना करता है और चोर चोरी। जब कार्यप्रणाली अनुचित होती है तो उसे हम बुरी कहते हैं और जब कार्यप्रणालीका प्रकाश उचित तथा उच्च होता है, तो उसे हम अच्छा या श्रेष्ठ कहते हैं। परंतु दोनो दशाओंमें प्रेरणा एक ही होती है और वह है मुक्ति-लाभके लिये चेष्टा। साधु अपनी बद्ध दशाको सोचकर कातर हो उठता है, वह उससे छुटकारा पानेकी इच्छा करता है और इसलिये ईश्वरोपासना करता है। इधर चोर भी यह सोचकर परेशान हो जाता है कि उसके पास अमुक वस्तुएँ नहीं हैं। वह उस अभावसे छुटकारा पानेकी, मुक्त होनेकी, कामना करता है और इसलिये चोरी करता है। चेतन अथवा अचेतन समस्त प्रकृतिका लक्ष्य यह मुक्ति ही है। जाने या अनजाने सारा जगत् इसी लक्ष्यकी ओर पहुँचनेका यत्न कर रहा है। पर हाँ, यह अवश्य है कि मुक्तिके सम्बन्धमें एक साधुकी धारणा एक चोरकी धारणासे नितान्त भिन्न होती है, यद्यपि वे दोनों ही छुटकारा पानेकी प्रेरणासे कार्य कर रहे हैं। साधु मुक्तिके लिये प्रयत्न करके अनन्त अनिर्वचनीय आनन्दका अधिकारी हो जाता है, परंतु चोरके तो बन्धनपर बन्धन बढ़ते ही जाते हैं। (उसे दुःखसे मुक्तिकी जगह दुःखका जंजाल प्राप्त होता रहता है।)

प्रत्येक धर्ममें मुक्ति-लाभकी इस प्रकार चेष्टाका विकास पाया जाता है। यही सारी नीतिकी, सारी निःस्वार्थपरताकी नींव है। निःस्वार्थपरताका अर्थ है—'मैं यह क्षुद्रशरीर हूँ', इस भावसे परे होना। जब हम किसी मनुष्यको कोई सत्कार्य करते, दूसरोंकी

सहायता करते देखते हैं, तो उसका तात्पर्य यह है कि यह व्यक्ति 'मैं और मेरे' के क्षुद्र वृत्तमें आबद्ध होकर नहीं रहना चाहता। इस स्वार्थपरताके वृत्तके बाहर बस 'यहींतक' जाया जा सकता है—इस प्रकारकी कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। सारी श्रेष्ठ नीति-प्रणालियाँ यही शिक्षा देती हैं कि सम्पूर्ण स्वार्थत्याग ही चरम लक्ष्य है।

अनन्त विकासकी प्राप्ति ही वास्तवमें समस्त धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओंका लक्ष्य है। मान लो, व्यक्तित्व-वादके अनुसार एक मनुष्य सम्पूर्णरूपसे अनासक्त हो गया तो हम उसमें तथा अन्य सम्प्रदायोंके पूर्ण सिद्ध व्यक्तियोंमें क्या भेद पाते हैं? वह तो विश्वके साथ एकरूप हो गया है और इस प्रकार एकरूप हो जाना ही तो सभी मनुष्योंका लक्ष्य है। केवल बेचारे व्यक्तित्ववादीमें इतना साहस नहीं कि वह अपनी युक्तियोंका, यथार्थ सिद्धान्तपर पहुँचनेतक अनुसरण कर सके। निःस्वार्थ कर्मद्वारा मानवजीवनकी चरमावस्था इस मुक्तिका लाभ कर लेना ही कर्मयोग है। अतएव हमारा प्रत्येक स्वार्थपूर्ण कार्य हमारे अपने इस लक्ष्यकी ओर पहुँचनेमें बाधक होता है तथा प्रत्येक निःस्वार्थ कर्म हमें उस चरम अवस्थाकी ओर आगे बढ़ाता है। इसीलिये 'नीतिसंगत' और 'नीतिविरुद्ध'-की यही एकमात्र व्याख्या हो सकती है कि जो स्वार्थपर है वह 'नीतिविरुद्ध' है और जो निःस्वार्थपर है वह 'नीतिसंगत' है।

परंतु यदि हम कुछ विशिष्ट कर्तव्योंकी मीमांसा करें तो इतनी सरल और सीधी व्याख्या दे देनेसे काम न चलेगा। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, विभिन्न परिस्थितियोंमें कर्तव्य भिन्न भिन्न [illegible] हैं [illegible] कार्य एक अवस्थामें निःस्वार्थ वही किसी दूसरी अवस्थामें बिल्कुल स्वार्थपरक हो जा सकता है। अतः कर्तव्यकी हम केवल एक साधारण व्याख्या ही दे सकते हैं; परंतु कार्य-विशेषोंकी कर्तव्यताकर्तव्यता पूर्णतया देश-काल-पात्रपर ही निर्भर रहेगी। एक देशमें एक प्रकारका आचरण नीतिसङ्गत माना जाता है; परंतु सम्भव है, वही किसी दूसरे देशमें अत्यन्त नीतिविरुद्ध माना जाय; क्योंकि भिन्न-भिन्न देशोंमे भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। समस्त प्रकृतिका अन्तिम ध्येय मुक्ति है और यह मुक्ति केवल पूर्ण निःस्वार्थताद्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक स्वार्थशून्य कार्य, प्रत्येक निःस्वार्थ विचार, प्रत्येक निःस्वार्थ वाक्य इसी ध्येयकी ओर ले जाता है और इसीलिये हम उसे नीतिसङ्गत कहते हैं। तुम देखोगे कि यह व्याख्या प्रत्येक धर्म एवं प्रत्येक नीतिप्रणालीमें लागू होती है। नीतितत्त्वके मूलके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न धारणाएँ हो सकती हैं। कुछ दर्शनोंमें नीति-तत्त्वका मूल सम्बन्ध परमपुरुष परमात्मासे लगाते हैं। यदि तुम उन सम्प्रदायोंके किसी व्यक्तिसे पूछो कि हमें अमुक कार्य क्यो करना चाहिये अथवा अमुक क्यों नहीं तो वह उत्तर देगा कि 'ईश्वरकी ऐसी ही आज्ञा है।' उनके नीतितत्त्वका मूल चाहे जो हो, पर उसका सार असलमें यही है कि 'स्वयं'की चिन्ता न करो, 'अहं'का त्याग करो। परंतु फिर भी नीतितत्त्वके सम्बन्धमें इस प्रकारकी उच्च धारणा रहनेपर भी अनेक व्यक्ति अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्वके त्याग करनेकी कल्पनासे सिहर उठते हैं। जो मनुष्य अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्वसे जकड़ा रहना चाहता है, उससे हम पूछें,—'अच्छा, जरा ऐसे पुरुषकी ओर तो देखो, जो नितान्त निःस्वार्थ हो गया है, जिसकी अपने स्वयके लिये कोई चिन्ता नहीं है, जो अपने लिये कोई भी कार्य नहीं करता, अपने लिये एक शब्द भी नहीं कहता और फिर

कि उसका 'निजत्व' कहाँ है ?' जबतक वह अपने स्वयंके लिये विचार करता है, कोई कार्य करता है या कुछ कहता है, तभीतक उसे अपने 'निजत्व'का बोध रहता है। परंतु यदि उसे केवल दूसरोंके सम्बन्धमें ध्यान है, जगत्के सम्बन्धमें ही ध्यान है, तो फिर उसका निजत्व भला कहाँ रहा ? उसका तो सदाके लिये लोप हो चुका है।

अतएव कर्मयोग निःस्वार्थपरता और सत्कर्मद्वारा मुक्तिलाभ करनेकी एक विशिष्ट प्रणाली है। कर्मयोगीको किसी भी प्रकारके धर्ममतका अवलम्बन करनेकी आवश्यकता नहीं। वह ईश्वरमें भी चाहे विश्वास करे अथवा न करे, आत्माके सम्बन्धमें भी अनुसन्धान करे या न करे, किसी प्रकारका दार्शनिक विचार भी करे अथवा न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका बस अपना निःस्वार्थपरता लाभरूप एक विशिष्ट ध्येय रहता है और अपने प्रयत्नद्वारा ही उसे उसकी प्राप्ति कर लेनी पड़ती है। उसके जीवनका प्रत्येक क्षण ही मानो प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिये; क्योंकि उसे तो अपनी समस्याका समाधान किसी भी प्रकारके मतामतकी सहायता न लेकर केवल कर्मद्वारा ही करना होता है, जब कि ज्ञानी उसी समस्याका समाधान अपने ज्ञान और आन्तरिक प्रेरणाद्वारा तथा भक्त अपनी भक्तिद्वारा करता है। (आगामी अङ्कमें समाप्य)

('कर्मयोग'से साभार)

निष्कामकर्मके लिये भगवत्प्रेमका प्रश्रय आवश्यक

(सेन्ट लॉरेन्सके विचार)

'स्वार्थरहित हो मैंने भगवत्प्रेमको ही अपने जीवनका ध्रुवतारा बनाया और मैंने निश्चय किया कि भगवत्प्रेममें ही मेरे प्रत्येक कर्मका पर्यवसान होगा; अपनी इस साधन-पद्धतिसे मुझे यथेष्ट संतोपका अनुभव भी हुआ। भगवत्प्रेम एवं भगवत्प्राप्तिके लिये मैं छोटा-से-छोटा कार्य करनेमें प्रसन्न होता और बदलेमें किसी प्रकारके पुरस्कार पानेकी मुझे कभी इच्छा नहीं हुई।

'भगवान्के साथ निरन्तर (मानसिक) वार्तालाप एवं उनके निमित्त सब कर्म करनेका स्वभाव बनानेके लिये हमें आरम्भकालमें कुछ उद्योग (साधना) तो करना ही होगा। उसमें जुट जानेपर हमें अनुभव होगा और थोड़ी-सी सावधानी रखनेपर हमारे हृदयमें भगवत्प्रेमकी एक तरङ्ग उठेगी जो बिना किसी बाधाके हमारे साधन-पथको प्रशस्त बनाती जायगी। × × ×

'रसोईके काममें स्वभावसे ही अपनी अभिरुचि न होनेपर भी मैंने भगवत्प्रीत्यर्थ पाकशालाका प्रत्येक कार्य करनेके लिये अपनेको अभ्यस्त बनाया। मेरा मन प्रार्थनामें इतना रम गया कि कार्यके प्रत्येक अवसरपर मैं भगवत्कृपाकी ओर ही निहारता और मेरे सब काम सुचारुरूपसे सम्पन्न होते। इस प्रकार पंद्रह वर्षोंतक मैंने रसोइयेका काम सुगमतापूर्वक किया।

'पंद्रह वर्षोंकी सुदीर्घ अवधि समाप्तकर मैं फिर जिस कामपर लगा, उससे पर्याप्त संतोष एवं प्रसन्नता रही। आसक्ति न होनेके कारण मैं उस कामको वैसे ही सुगमतासे छोड़ सकता था जैसे कि मैंने रसोइयेका काम छोड़ा था; क्योंकि छोटा-से-छोटा एवं बड़ा-से-बड़ा काम मैं एकमात्र भगवत्प्रसन्नताके लिये ही करता; इससे मेरा स्वभाव ऐसा बन गया कि प्रत्येक अवस्थामें मुझे भगवत्कृपाकी मन-मोहिनी झाँकी

दीखती और मैं आनन्दोल्लासका अनुभव करता रहा। (यह सब भगवत्प्रेमके प्रश्रयका फल था।)

'जीवनमें ऐसे क्षण भी उपस्थित हुए जब कि मुझे मानसिक वेदनाका सामना करना पड़ा, पर उपचारके लिये मुझे कभी किसी मनुष्यसे परामर्श लेनेकी आवश्यकता नहीं हुई; क्योंकि भगवद्विश्वासकी ज्योति मुझे भगवान्के सांनिध्यका सदा बोध कराती रहती और मैं उनके लिये प्रत्येक कार्य करता हुआ संतुष्ट रहता। मेरे अमुक कार्यसे क्या फल होगा, इसकी चिन्ता न करते हुए मैं सब काम भगवत्प्रीत्यर्थ ही करता।'

'भगवान्मे कर्म-संन्यासकी अविरल साधनासे ही हम अति अल्पकालमें भगवान्का साक्षात्कार कर सकते है। (कर्मसंन्यासका सुगमरूप भगवदर्पण है।)

बुद्धि और आत्मशक्तिद्वारा होनेवाली क्रियाओंमें हमें एक विशेष अन्तर देखना चाहिये। आत्मशक्तिसे सम्पन्न होनेवाली क्रियाओंके सामने बुद्धिद्वारा होनेवाली क्रियाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं। हमारे लिये यही एक कर्त्तव्य है कि भगवान्से प्रेम करें और उन्हींमें रमण करें।

'जिस कार्यके करनेमें हमे संदेह हो, उसके विषयमें भगवान्की इच्छा जाननेके लिये एवं जिस कार्यको हम स्पष्टरूपसे मानते हैं कि भगवान् हमसे करवाना चाहते हैं, उसको समुचित ढंगसे करनेके लिये हम उनसे सहायताकी याचना करें और कार्यको करनेके पहले उसे भगवान्को समर्पित कर दें तथा उसके सम्पन्न हो जानेपर उन्हें इसके लिये हार्दिक धन्यवाद दें। उत्तम तो यह हो कि प्रत्येक कर्त्तव्य भगवान्का कार्य माने।'

'हमारी शुद्धि हमारे कार्यपरिवर्तनपर कदापि निर्भर नहीं करती, बल्कि वह तो उन्हीं कार्योंको, जिन्हें बहुधा हम अपने स्वार्थके लिये किया करते हैं, भगवदर्थ करनेपर ही निर्भर करती है; पर खेदकी बात तो यह है कि अधिकतर लोग साधनको ही साध्य समझ लेते है। इसका फल यह होता है कि उन्हें ऐसे कार्य करनेकी आदत पड़ जाती है, जिन्हे वे स्वार्थपूर्ण भावनाओके कारण अत्यन्त दोषयुक्त बनाकर बीचमें ही छोड देते हैं। कार्यके समय कार्य करते हुए भी मैं भगवान्से निरन्तर सरलतापूर्वक बातचीत करता रहता, उनसे उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करता और उन्हींको अपने समस्त कर्म समर्पित कर देता। (भगवान्के माध्यमसे हमारे सभी कर्म निष्काम कर्मकी कोटिमें आ जाते है। निष्कामकर्म स्वतः कल्याण-फल-प्रद होते है।)

'कार्यकी समाप्तिपर मै स्वयं ही अपनी जॉच करता कि मुझसे कैसा कार्य हुआ है (आखिर, कर्मका अधिकार तो मेरा ही था।) यदि मुझे संतोष होता कि वह सुचारुरूपसे सम्पन्न हुआ है तो इसके लिये मै भगवान्को ही धन्यवाद देता, अन्यथा मै उनसे क्षमायाचना करता। और, बिना हतोत्साह हुए मैं अपने मनको सीधे फिर काममे लगाता, साथ ही भगवत्सांनिध्यकी प्रक्रियामे ऐसा संलग्न हो जाता मानो मै कभी उससे विचलित ही नहीं हुआ। इस प्रकार असफलतासे ऊपर उठते हुए और बार-बार भगवद्विश्वास तथा भगवत्प्रेमके कार्य करते हुए मेरी ऐसी स्थिति हो गयी है, जिससे भगवान्को भूलना मेरे लिये उतना ही कठिन है, जितना कि आरम्भमें उनकी स्मृति बनाये रखना मेरे लिये था।' (साधना सिद्धिकी दिशामें बढ़कर कामना शून्य हो जाती है और तब साधनाकी श्रान्ति मिट जाती है। प्रभुप्रेमके प्रश्रयसे निष्कामताकी साधना इसी पद्धतिसे सिद्ध की जा सकती है।)

अनोखा प्रभु-विश्वास और प्रभु-प्रीति

देवासुरसंग्राममें इन्द्रके साथ महायुद्ध करते हुए वृत्रासुरने कहा था—'देवराज! तुम मुझपर वज्रका प्रहार जारी रक्खो। मैं अपने मनको भगवान्‌के चरणोंमें विलीन किये देता हूँ। जो पुरुष भगवान्‌के हो गये हैं और उनके चरणोंके अनन्य प्रेमी हैं, उनको भगवान् स्वर्ग, पृथ्वी अथवा पातालकी सम्पत्ति नहीं देते; क्योंकि इनसे परम आनन्दकी प्राप्ति न होकर द्वेष, अभिमान, उद्वेग, मानस-पीड़ा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगते है। मुझपर भगवान्‌की अत्यन्त कृपा है, इसीसे वे मुझे उपर्युक्त सम्पत्तियाँ नहीं दे रहे हैं। प्रभुकी कृपाका तो अनुभव उनके अकिञ्चन भक्तोंको ही होता है। प्रभु अपने भक्तके अर्थ, धर्म और कामसम्बन्धी प्रयासोंको असफल करके ही उनपर कृपा करते हैं। मैं इसी कृपाका अधिकारी हूँ।' यों कहते-कहते वृत्रासुरने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! मेरा मन निरन्तर आपके मङ्गलमय गुणोंका ही स्मरण करता रहे। मेरी वाणी उन गुणोंका ही गान करे और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, भूमण्डलका साम्राज्य, पातालका एकच्छत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि अपुनर्भव (मोक्ष) भी नहीं चाहता। जैसे, जिनके पाँख नहीं उगे हैं, ऐसे माँपर निर्भर रहनेवाले पक्षियोंके बच्चे अपनी माँकी बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी गैया मैयाका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये नित्य उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही कमललोचन! मेरा मन आपके लिये छटपटा रहा है। मुझे मुक्ति न मिले, मेरे कर्म मुझे चाहे जहाँ ले जायँ, परंतु, नाथ! मैं जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनिमें जाऊँ वहाँ आपके प्यारे भक्तोंसे ही मेरी प्रीति-मैत्री रहे। जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न हो।'

वस्तुतः संसारकी कामनासे रहित प्रभुप्रीतिकी कामनारूपी निष्कामनाके प्रतीक वृत्रासुरकी याचना अद्भुत है। धन्य है प्रभु-विश्वास, प्रभु-प्रीति और परम निष्कामभाव।

निष्काम कर्मकी कर्त्तव्यता

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

'वेदोक्त कर्मोंकी वेदमें जो फलश्रुति कही गयी है, वह रोचनार्थ है; अर्थात्—इसीलिये है कि कर्ताको ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मोंको उस फल-प्राप्तिके लिये न करे, किंतु निःसङ्गबुद्धि अर्थात् फलकी आशा छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करे। जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्यसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है—(भागवत ११।३।४६,)। सारांश यह कि यद्यपि वेदोंमें कहा है कि अमुक-अमुक कारणोंके निमित्त यज्ञ करे, तथापि इसमें न भूलकर केवल इसीलिये यज्ञ करे कि वे यष्टव्य हैं, अर्थात् यज्ञ करना अपना कर्तव्य है, काम्यबुद्धिको तो छोड़ दे, पर यज्ञको न छोड़े (गी० १७।११) और इसी प्रकार अन्यान्य कर्म भी किया करे—यही गीताके उपदेशका भी सार है।

एकमात्र कर्तव्य क्या है ?

पुण्डरीक नामके एक बड़े भगवद्भक्त गृहस्थ ब्राह्मण थे। साथ ही वे बड़े धर्मात्मा, सदाचारी, तपस्वी तथा कर्मकाण्डमें निपुण थे। वे माता-पिताके सेवक, बड़े कृपालु और विषय-भोगोंसे सर्वथा निःस्पृह थे। एक बार अधिक विरक्तिके कारण वे पवित्र रम्य वन्य तीर्थोंकी यात्राकी अभिलाषासे निकल पड़े। वे केवल कन्द-मूल शाकादि खाकर गङ्गा, यमुना, गोमती, गण्डक, सरयू, शोशा-सरस्वती, नर्मदा, प्रयाग, गया तथा विन्ध्य एवं हिमाचलके पवित्र तीर्थोंमें घूमते हुए शालग्रामक्षेत्र (आजके हरिहर-क्षेत्र) पहुँचे और वहाँ पहुँचकर प्रभुकी आराधनामें तल्लीन हो गये। वे विरक्त तो थे ही अतएव इस तुच्छ क्षणभङ्गुर यौवन, रूप, आयुष्य आदिसे सर्वथा उपरत होकर सहज ही भगवद्ध्यानमें लीन हो गये और संसारको सर्वथा भूल गये।

देवर्षि नारदजीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ, तब उन्हें देखनेकी इच्छासे वे भी वहाँ पधारे। पुण्डरीकने विना पहचाने ही उनकी षोडशोपचारसे पूजा की और तब फिर उनसे परिचय पूछा। जब नारदजीने उन्हें अपना परिचय तथा वहाँ आनेका कारण बतलाया, तब पुण्डरीक हर्षसे गद्गद हो गये। वे बोले—'महामुने! आज मैं धन्य हो गया। मेरा जन्म सफल हो गया तथा मेरे पितर कृतार्थ हो गये। पर देवर्षे! मैं एक संदेहमें पड़ा हूँ, उसे आप ही निवृत्त कर सकेंगे। कुछ लोग सत्यकी प्रशंसा करते हैं तो कुछ सदाचारकी। इसी प्रकार कोई सांख्यकी, कोई योगकी तो कोई ज्ञानकी महिमा गाते हैं। कोई क्षमा, दया, ऋजुता आदि गुणोंकी प्रशंसा करता दीख पड़ता है। यों ही कोई दान, कोई वैराग्य, कोई यज्ञ, कोई ध्यान और कोई अन्यान्य कर्मकाण्डके अङ्गोंकी प्रशंसा करता है। ऐसी दशामें मेरा चित्त इस कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें अत्यन्त विमोहको प्राप्त हो रहा है कि वस्तुतः अनुष्ठेय क्या है?'

इसपर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—पुण्डरीक! वस्तुतः शास्त्रों तथा कर्म-धर्मके बाहुल्यके कारण ही विश्वका वैचित्र्य और वैलक्षण्य है। देश, काल, रुचि, वर्ण, आश्रम तथा प्राणिविशेषके भेदसे ऋषियोंने विभिन्न धर्मोंका विधान किया है। साधारण मनुष्यकी दृष्टि अनागत, अतीत, विप्रकृष्ट, (दूरस्थ) व्यवहित तथा अलक्षित वस्तुओंतक नहीं पहुँचती। अतः मोह दुर्वार है। इस प्रकारका संशय, जैसा तुम कह रहे हो, एक बार मुझे भी हुआ था। जब मैंने उसे ब्रह्माजीके सामने रखा, तब उन्होंने उसका बड़ा सुन्दर समाधान किया था। मैं उस बातको तुम्हें ज्यों-का-त्यों सुना देता हूँ।

ब्रह्माजीने मुझसे कहा था—नारद! भगवान् नारायण ही परम तत्त्व हैं। वे ही परम ज्ञान, परम ब्रह्म, परम ज्योति, परम आत्मा अथच परमसे भी परम परात्पर हैं। उनसे परे कुछ भी नहीं है।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परं मुने।
(नरसिंहपुराण ६४। ६३-६४)

'इस संसारमें जो कुछ भी देखा-सुना जाता है, उसके बाहर-भीतर, सर्वत्र नारायण ही व्याप्त हैं। जो नित्य-निरन्तर, सदा-सर्वदा भगवान्का अनन्यभावसे ध्यान करता है, उसे यज्ञ, तप अथवा तीर्थयात्राकी क्या आवश्यकता है। बस, नारायण ही सर्वोत्तम ज्ञान, योग, सांख्य तथा धर्म हैं। जिस प्रकार कई बड़ी-बड़ी सड़कें किसी एक विशाल नगरमें प्रविष्ट होती हैं, अथवा कई बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं,

उसी प्रकार सभी मार्गोंका पर्यवसान उन परमेश्वरमें होता है। मुनियोंने यथारुचि, यथामति उनके भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी व्याख्या की है। कुछ शास्त्र तथा ऋषि-गण उन्हें विज्ञानमात्र बतलाते हैं, कुछ परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, कोई सनातन जीव कहता है, कोई क्षेत्रज्ञ कहता तो कोई षड्विंशक तत्त्वरूप बतलाता है। कोई अङ्गुष्ठमात्र कहता है तो कोई पद्मरजकी उपमा देता है। नारद! यदि शास्त्र एक ही होता तो ज्ञान भी निःसंशय तथा अनाविद्ध (अविच्छिन्न) होता, किंतु शास्त्र बहुत हैं, अतएव विशुद्ध, संशयरहित ज्ञान सर्वथा दुर्घट है। फिर भी जिन मेधावी महानुभावोंने दीर्घ अध्यवसायपूर्वक सभी शास्त्रोंका पठन, मनन तथा समन्वयात्मक ढंगसे विचार किया है, वे सदा इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि सदा-सर्वत्र, नित्य-निरन्तर सर्वात्मना एकमात्र नारायणका ही ध्यान करना सर्वोपरि परमात्म कर्तव्य है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा*॥
(६४। ७८)

वेद, रामायण, महाभारत तथा सभी पुराणोंके आदि, मध्य एवं अन्तमें एकमात्र उन्हीं प्रभुका यशोगान है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥
(महाभारत० भा० सा०)

अतएव शीघ्र कल्याणकी इच्छा रखनेवालेको व्यामोहक जगज्जालसे सर्वथा बचकर सर्वदा निरालस्य होकर प्रयत्नपूर्वक अनन्यभावसे उन परमात्मा नारायणका ही ध्यान करना चाहिये।

'पुण्डरीक! इस प्रकार ब्रह्माजीने जब मेरा संशय दूर कर दिया, तब मैं सर्वथा नारायणपरायण हो गया। वास्तवमें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य अनन्त है। कोई नृशंस, दुरात्मा, पापी ही क्यों न हो, भगवान् नारायणका आश्रय लेनेसे वह भी मुक्त हो जाता है। यदि हजारों जन्मोंके साधनसे भी 'मैं देवाधिदेव वासुदेवका दास हूँ'—ऐसी निश्चित बुद्धि उत्पन्न हो गयी तो उसका काम बन गया और उसे विष्णुसालोक्यकी प्राप्ति हो जाती है—

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य देवदेवस्य शार्ङ्गिणः॥
प्रयाति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः।
(९४-९५)

'भगवान् विष्णुकी आराधनासे अम्बरीष, प्रह्लाद, राजर्षि भरत, ध्रुव, मित्रासन तथा अन्य अगणित ब्रह्मर्षि, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा वैष्णव-गण परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अतः तुम भी निःसंशय होकर उनकी ही आराधना करो।'

इतना कहकर देवर्षि अन्तर्हित हो गये और भक्त पुण्डरीक अपने हृत्पुण्डरीकके मध्यमें गोविन्दको प्रतिष्ठितकर भगवद्ध्यानमें परायण हो गये। उनके सारे कल्मष समाप्त हो गये और उन्हें तत्काल ही वैष्णवी सिद्धि प्राप्त हो गयी। उनके सामने सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र जन्तुओंकी भी क्रूरता नष्ट हो गयी। पुण्डरीककी दृढ़ भक्ति-निष्ठाको देखकर पुण्डरीकनेत्र श्रीनिवास भगवान् शीघ्र ही द्रवीभूत हुए और उनके सामने प्रकट हो गये। उन्होंने पुण्डरीकसे वर माँगनेका दृढ आग्रह किया; पर निष्काम भक्त आत्मकल्याणको छोड़कर कुछ भी नहीं चाहता। अतः पुण्डरीकने प्रभुसे गद्गद्स्वरसे यही माँगा कि

* यह श्लोक नरसिंहपुराण १८। ३४ तथा ६४। ७८, लिङ्गपुराण, उत्तरार्ध अध्याय ७, श्लोक—११; गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय २२२, श्लोक १ (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, वेङ्कटेश्वर प्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें यह २३०वाँ अध्याय है) तथा पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय ८१, श्लोक २६ आदि स्थानोंपर कई जगह उपलब्ध होता है, अतः इसका महत्त्व निर्विवाद एवं अत्यधिक है।

'नाथ ! जिससे मेरा कल्याण हो, आप मुझे वही दें । मुझ बुद्धिहीनमें इतनी योग्यता कहाँ, जो आत्महितका निर्णय कर सकूँ ।'

भगवान् उनके इस उत्तरसे बडे प्रसन्न हुए और उन्होंने पुण्डरीकको अपना पार्षद बनाकर प्रह्लादादिके मध्य रख लिया । इसीप्रकार ये चतुर्दश महाभागवतोंमें हैं । उनके नाम लेनेसे बड़ा पुण्य होता है । चतुर्दश परमभागवत ये हैं—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि ॥

अतः निष्काम होकर केवल आत्मकल्याणकी साधना करनी चाहिये । पुण्डरीकने भक्तिका पल्ला पकड़ा और सांसारिक इच्छाओंकी तिलाञ्जलि देकर प्रभु-प्रीति-रूप आत्मकल्याण माँगा । उन्हें मुहमाँगा वर मिल गया । इससे पुण्डरीक साक्षात् श्रीभगवान्के पार्षद हो गये । अतः निष्कामभावसे प्रभुप्रीतिके लिये उद्योगरूपी कर्मयोगमें जुट जाना ही मानव-लक्ष्यकी प्राप्तिका सुगम साधन है ।

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ०८१, नरसिंहपुराण अ०६४)

कर्मयोगके परम आदर्श तथा प्रतिष्ठापक

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

(लेखिका—श्रीमती शशिप्रभा, एम्० ए०, एम्० एड्०)

श्रीरामने अवतरित होकर आदर्श स्थापित किया अतः वे मर्यादा-पुरुषोत्तम थे । उनका जन्म त्रेतायुगके सर्वश्रेष्ठ चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दशरथजीके यहाँ हुआ था । राष्ट्रकी शासन-सत्ता राजामें केन्द्रीभूत होती है । राजाके आचरणोंका प्रभाव जन-मानसपर भी अवश्य पड़ता है—**'यथा राजा तथा प्रजाः'** (योगवा० ५)—की प्रसिद्धि है ही । गीता (३ । २१) भी कहती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

नेता अथवा प्रशासकजन श्रेष्ठ पुरुषोंकी श्रेणीमें परिगणित होते हैं । श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार जो भी कर्म करते हैं, साधारणजन उन्हें प्रमाणित या अनुकरणीय समझ लेते हैं, तथा उसका अनुसरण भी करने लग जाते हैं । अतएव उच्च पदपर आसीन प्रशासकका यह पुनीत कर्तव्य होता है कि वह समाजके श्रेयोऽर्थ श्रेष्ठ कार्य करे, कर्मठ बनकर सत्पथपर अग्रसर हो । वह त्यागी एवं कर्मयोगी बनकर जनताकी सेवा करता है । श्रीमद्भागवतमें जडभरतने भी राजाको प्रजाका सेवक-किंकर कहा है—**'शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां स किंकरो वै न पिनष्टि पिष्टम् ॥'** (५ । १० । २३) पालकका अभिगोप्ता अर्थ स्पष्ट है । इस प्रकार लोककल्याणमें ही उसका अपना कल्याण दीखता है ।

राजाके त्यागपूर्ण एवं परोपकारी जीवनसे धीरे-धीरे उसे उज्ज्वल यश भी उपलब्ध हो जाता है और कुछ समयके पश्चात् उसका सुयश समाजमें सत्कर्म करनेकी प्रेरणा देने लगता है । राज्यसंचालकका नाम उससे भी कहीं बढ़कर प्रभावोत्पादक हो जाता है ।

सामान्यतः कहा जाता है कि नेता या प्रशासकका प्रताप राज्यमें न्याय, नीति और मान-मर्यादाकी सुरक्षा करता है । और, दण्डकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव-शाली राजाका धर्म एवं प्रतापका होता है । रामराज्यके सफल प्रणेता एवं संचालक रामका यशोगान युग-युगान्तरतक होता ही रहेगा । राम एक निरङ्कुश शासक नहीं, अपितु कर्मोपासक, तपोमूर्ति, त्यागमूर्ति और प्रजाके सच्चे हितैषी हैं । रामके प्रशासनका अर्थ प्रजाजनोंकी

सेवा एवं सुख-सुविधाओंका एकमात्र ध्यान रखना है। श्रीरामकी दिनचर्या एवं कर्मका आधार परोपकार है, सेवा है, तपस्या है। कर्मयोगके आदर्श प्रतिष्ठापक रामका स्वरूप है कल्याणकारी एवं रक्षक राम, जनत्राता राम, जनसेवक राम, आर्तजनकी पीड़ा हरनेवाले दीनबन्धु राम। 'रामकी जय'का अर्थ है, प्रजाकी जय, पुण्यकी जय, सत्कर्मकी जय, न्यायकी जय और सत्यकी जय। श्रीराम अपने श्रेष्ठतम चरित्र, कर्मयोगोचित त्याग एवं तपस्यासे परिपूर्ण जीवनके द्वारा पवित्रता, त्याग एवं तपके अमर प्रतीक बन गये हैं।

राज्यके उत्तराधिकारी राम अपने अधिकारके लिये सङ्घर्ष तो क्या; कोई सामान्य प्रयासतक नहीं करते; अपितु, माता-पिताकी आज्ञा मानकर वे वन-वनमें भटकते हुए अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। एक तरुण प्रशासक जिसका राज्याभिषेक होनेवाला है, समस्त वैभव एवं सत्ताके प्रलोभनसे ऊपर उठकर कानन-निवासको सहर्ष अङ्गीकृत कर लेता है और एक पथिक (यात्री) की भाँति राज्य छोड़कर वनवासी उदासी बन जाते हैं।

राजीवलोचन राम चले तजि
बाप को राज बटाउ की नाईं॥
(कवितावली, अयोध्याकाण्ड)

पर वे अपने कर्त्तव्यपर सदा अटल रहते हैं। सीताकी प्रसन्नताके लिये राम अपनी कोई इच्छा न होते हुए भी स्वर्णमृगको मारनेके लिये उसका पीछा करते हैं। परिणामस्वरूप वनमें उन्हें भीषण कष्ट एवं वियोगका सामना करना पड़ता है। अत्यन्त कठिनाइयोंके बावजूद भी वानर-सेना लेकर समुद्रपर सेतु बाँधते हैं और अपने असीम बल-पौरुषके द्वारा रावणका विनाश कर देते हैं। विजय तो तपस्यापूर्ण सत्याचरणकी होती है और समस्त भौतिक शक्तियोंका समुच्चय भी परास्त हो जाता है। रामकी विजय सत्यकी विजय है, कर्म-उपासनाकी विजय है। राम तो सत्यके प्रतीक हैं। 'सत्यमेव जयते' सत्यकी जीत होती है, असत्यकी नहीं।

श्रीरामके जीवनमें अतिशय सङ्घर्ष है, किंतु वह स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं है; अपितु परोपकारके लिये है, कर्तव्यपालनके लिये है। रामका व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व विश्वके समस्त वाङ्मयमें अप्रतिम है। ऐसे प्रेरणाप्रद चरित्रका दर्शन अन्यत्र नहीं मिलता। राम समस्त सङ्घर्षमें खरे उतरते हैं। सङ्घर्षसे उनके व्यक्तित्वमें बल एवं दीप्ति आते हैं। कहीं भी किंचित् निर्बलता महसूस नहीं होती। रामकी चारित्रिक उपलब्धि एवं उत्कृष्टता यह है कि रामके लिये सघर्ष कोई संघर्ष नहीं। राम परिस्थितियोंके अनुसार सहजभावसे तथा प्रसन्नतापूर्वक कर्म करते हैं, अपने सम्पूर्ण जीवन-कालमें कर्मसे पीछे नहीं हटे।

रामका शौर्य सात्त्विक एवं सहज है। राम धर्म-कर्मके विग्रहवान् मूर्ति हैं। रामकी कर्म-उपासना एवं रामके गुणोंकी परिचर्या मानवमात्रके लिये युग-युगान्तरतक प्रेरणाका स्रोत बनी रहेगी। श्रीराम ईश्वरत्वका उपयोग कहीं नहीं करते। अन्यथा जब शुक-सारण उनकी सेनाके भीतर घुस जाते हैं तो वे अपनी ईश्वरताके बलपर बता देते कि देखो दो गुप्तचर अपनी सेनामें आ गये हैं, पर वे ऐसा नहीं करते। उन्हें अपने अतुलनीय बल और कर्मपर दृढ़ विश्वास है कि मेरी प्रत्येक स्थानपर विजय होगी। सीता-हरणके बाद भी वे अपने ईश्वरत्वका प्रयोग नहीं करते तथा मानवमात्रके समक्ष उन्हीं भावनाओंका और क्रिया-कलापोंका प्रदर्शन करते हैं, जो कि एक मानवको करना चाहिये। उनकी ऋक्ष-वानर-सेनाने भी नहीं कहा कि भगवन्! आप तो अन्तर्यामी हैं, सब कुछ समझ सकते हैं कि माँ कहाँ हो सकती है, फिर मुझे अकारण परेशान क्यों किया जा रहा है। राम बड़ी ही सूझ-बूझ और विवेकसे काम लेते हैं तथा एक कर्मठ व्यक्तिकी तरह कर्मक्षेत्रमें आकर और मर्यादित होकर मानवीय कर्म करते हैं।

रामका समस्त जीवन कठोर सयम, कष्टसहिष्णुता तथा मूक वेदनापूर्ण विपत्ति सहन करनेकी अद्भुत

कहानी है । राम अपने सम्पूर्ण जीवनकालमे कर्तव्यको ही ऊँचा समझते हैं तथा मानवमात्रके हृदय-पटलपर अपने सत्कर्मोकी छाप छोड जाते है, मानो वही कर्म आज हम सबको प्रेरणा दे रहे हैं कि रामकी भाँति त्याग, तपस्या तथा कर्ममें दृढ निष्ठावान् बनकर सदैव कर्तव्य-पथपर अग्रसर बने रहिये ।

श्रीराम सदैव, सर्वत्र, कर्मकी ओर तो अग्रसर रहते है, परंतु कहीं भी अधिकारोकी माँग नहीं करते । कर्तव्य-पथके राही रामके लिये कर्तव्य ही पुनीत मार्ग है तथा कर्तव्य ही लक्ष्य है । कर्मयोगी श्रीरामने लोक-रक्षणके लिये बड़ी-से-बडी मुसीबतोका सामना असीम बल तथा साहससे किया । रामचरितमानसमे—'निसिचर-हीन करउँ महि'की दृढ प्रतिज्ञा उनके असीम बल-पौरुषका प्रतीक है तथा मानवमात्रको कर्म करनेकी सीख देती है । सचमुच रामका जीवन त्याग, तपस्या और जन-सेवाकी होमाग्नि है । वे अपने समस्त सुखोंकी आत्माहुति देकर तथा दूसरोंको प्रकाश देकर पथ प्रदर्शित करते हैं । मोमबत्ती अपनी देह फूँककर ही अन्धकारको चीरती है तथा भटके हुए लोगोकी राह प्रशस्त करती है । इसी प्रकार रामके जीवनने अनेकका सत्-मार्ग प्रशस्त किया और अनेकानेक कर्मयोगी बने तथा भविष्यमे भी बनते रहेंगे । त्याग एव जनसेवा ही उनके जीवनका प्रमुख अङ्ग बन गया ।

कर्मयोगके कतिपय आदर्श प्रतिष्ठापक

'मानस'में कर्मयोगी भरतके चरित्रकी विलक्षणता

(लेखक—श्रीरामानन्दजी दुबे, साहित्याचार्य)

युवराज श्रीरामके अभिषेककी घोषणासे होनेवाला हर्ष—

'सुनत राम अभिषेक सुहावा । बाज गहागह अवध बधावा ॥'

फिर राम-वन-गमनसे सम्बद्ध जन-मनका विषाद—

'राम चलत अति भयउ बिषादू । सुनि न जाइ पुर आरत नादू ॥'

इन विपरीत भावोका समीकरणकर एक अलौकिक आनन्दमे उनको पर्यवसित करनेकी जो क्षमता भरत-चरितमे है, वह अन्यत्र कहाँ !

'प्रेम अमिअ मंदरु बिरह भरतु पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥'

भरत-चरितकी यह विलक्षणता मानव-हृदयके लिये इतनी मार्मिक है कि वह रामचरितमानसमें उसे प्रिय प्रसग बना देनेके लिये आधार बन जाती है । सुख-दुःख इन विपरीत भावोका समीकरण और एक लोकोत्तर आनन्दमे विलयन—भारतीय साहित्यकी यह विशेषता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि यही विश्वके अन्य साहित्योके समक्ष उसे अपनी मौलिकता सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है । इस क्षेत्रमें महाकवि गोस्वामी तुलसीदासने भारतीयता-का सच्चा प्रतिनिधित्व किया है ।

आज विश्व-बन्धुत्वका नारा तीव्र किया गया है; ऐसे समयमें भ्रातृभावके आदर्शको समझने और अपनानेकी आवश्यकता अत्यधिक है । प्राचीन शासन-प्रणालियोमें जहाँ सही पितृ-भाव रखकर राज-काज करनेकी परम्परा थी, आधुनिक राज्य-व्यवस्थाओमे सही भ्रातृ-भावनाके अनुसार कार्य करना अति वाञ्छनीय है । इस भावनाका जितना उदात्त आदर्श रामसाहित्यमे भरत-चरितके प्रसंगमें प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र नहीं । वनमे नित्य साथ रहनेवाले भाई लक्ष्मणसे श्रीराम कहते है—

'लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना ॥

सामाजिक जीवनमे भरतके त्यागका महत्त्व अतुलनीय है । मनुष्य एक नागरिकके रूपमे अपने देश, अपने समाजके लिये अपने निजी स्वार्थका एक सीमातक त्याग करता है । त्यागसे मानवका मानवरूप निखरता है और सामाजिकताकी प्रगति होती है । सामाजिकताका मूल स्वरूप इस त्यागपर आधारित है । बिना इस त्यागको समझे और ग्रहण किये वास्तविक सामाजिकता नहीं आ सकती ।

इस स्तरपर भी हम भरतजीके त्यागके महत्त्वका अनुभव करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं इस बातपर मुहर लगायी है—

'कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥'

भरतजी निष्काम और अनासक्त थे, अतः उन्होंने इन्द्र-कुबेर आदि लोकपालोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ महान् सुखप्रद साम्राज्यसे मुख मोड़ लिया। अध्यात्म-रामायणका साक्ष्य है—

अभिषेको भवत्वद्य मुनिभिर्मन्त्रपूर्वकम्।
तच्छ्रुत्वा भरतोऽप्याह मम राज्येन किं मुने॥

'मुनिजनोंद्वारा मन्त्रोच्चारपूर्वक आज तुम्हारा अभिषेक होना चाहिये'—वसिष्ठ मुनिसे यह सुनकर भरतजी बोले—'हे मुनिनाथ! राज्यसे मेरा क्या प्रयोजन है?' त्यागका यह कितना उज्ज्वल उदात्त निदर्शन है। भरतजी निष्कपट भक्तिभावके अधीन होकर प्रिय भाई श्रीरामके लिये चित्रकूट पर्वतपर पैदल गये। इस महान् त्यागके साथ प्रेमका अनुपम आदर्श है।

लक्ष्मणने भरतको प्रणाम करते देखा और श्रीरामसे निवेदन किया। सुनते ही श्रीराम प्रेममें अधीर होकर उठे। कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकस; कहीं धनुष और कहीं बाण। भरत और श्रीरामके मिलनेकी रीतिको देखकर सबको अपनी सुधि भूल गयी। उनके मिलनकी प्रीति वर्णनातीत है। दोनो भाई मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारको भुलाकर परम प्रेमसे पूर्ण हो रहे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

ऐसी तन्मयता और कहाँ मिल सकती है। किंतु यह त्याग भी भरतजीको स्थूल लगा। वे इसके भी आगे बढ़े। गुरु वसिष्ठने भरतसे पूछा—

केहिं बिधि अवध चलहिं रघुराई।
कहहु समुझि सोइ करिअ उपाई॥

महर्षिका प्रश्न विचारणीय है। अतः भरतजीने कहा—'मैं जन्मभर वनमें वास करूँगा, मेरे लिये इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है'—

कानन करउँ जनम भरि बासू।
एहि ते अधिक न मोर सुपासू॥

सुतरां समस्या सुलझ जाती है। परंतु श्रीरामका अध्यात्मरामायणधृत यह वचन भी सुना कि—

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्॥

'कैकेयीने राजासे वर माँगा, मैंने उनकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया। इसलिये भाई भरत! अब तुम मेरा कहना मानकर उन पृथ्वीपति राजाधिराज पिताजीको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो।' भरतजीने देखा कि पूर्वोक्त त्यागमें इस स्वार्थका संस्कार शेष है कि मैं भाईका हक लेनेकी अपकीर्तिसे बचूँ। विचारनेपर ऐसा त्याग तो अन्ततः अपने अहंकार-प्रेरित स्वार्थके लिये ही हुआ। अतः इस त्यागकी पूर्ण उपलब्धि हो जानेके बाद उन्होंने इस त्यागके अन्तस्तलमें स्थित स्वार्थका त्याग किया अर्थात् इस त्यागके त्यागत्वका भी त्याग कर त्यागकी वास्तविक परिपूर्णता स्थापित कर दी; **'येन त्यजसि तत् त्यज'** का कैसा उदाहरण है। श्रीरामचन्द्रजी तैयार हो गये भरतका कहना करनेके लिये—

'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आज॥'

उस त्यागकी पराकाष्ठापर पहुँचकर भरतजी कह उठते हैं—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची॥
स्वारथु नाथ फिरे सबही का।
किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥

*

भरतने श्रीरामचन्द्रजीसे अयोध्या लौटनेका आग्रह छोड़ दिया। अध्यात्मरामायणके शब्द-चित्रमे भरतजी बोले—

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥

'हे राजेन्द्र! आप मुझे राज्यशासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरणपादुकाएँ दीजिये। जबतक आप लौटेंगे, तबतक मै उन्हींकी सेवा करूँगा।' भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकारूपी राजाके मन्त्री बनकर पृथ्वीका पालन करते रहे।

'पृथ्वीके जितने राज्यकार्य होते, उन सबको रघुश्रेष्ठ भरतजी पादुकाओंके सम्मुख निवेदन कर दिया करते थे। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके आगमनकी प्रतीक्षामे अवधिके दिन गिनते हुए वे राममे ही मन लगाकर साक्षात् ब्रह्मर्षिके समान रहने लगे—अनासक्त भावसे प्रभुसमर्पित कर्म करते रहे।'

समाजके लिये वे सब लोग उपयोगी सदस्य हैं, जो अपनेको सद्गुण-सम्पन्न बनानेमें लगे रहते है। किंतु इनसे आगे वे हैं, जो अपनेको सद्गुणी बनानेके साथ दूसरोंको भी सद्गुणसम्पन्न करते चलते है। जो बहुमूल्य साद्गुण्य जीवनरत्न होते है, उन्हे हीरा कहे तो भी उनके पूर्ण महत्त्व नहीं प्रकट होते। किंतु उन्हीं सद्गुणोंके कारण भरतका स्मरणकर दूसरे लोग पवित्र होते है। भरत पुण्यश्लोक है; क्योकि वे निष्काम गुणराशि है। अपने स्वार्थकी बलि देकर परमार्थ-साधन ही निष्कामताकी कसौटी होती है। इस कसौटीपर भरत खरे उतर रहे है।

समाजमे दो प्रकारके व्यक्ति होते है—प्रवृत्तिमार्गी एव निवृत्तिमार्गी। भेद प्रस्थानमात्रका है। दोनो श्रेयस्के भागी है। भरत **'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि'** (गीता ३।२२) के बहुत निकट होते हुए कर्मयोगी है; इसीसे भरतके चरित्रसे हमे दोनो मार्गवालोंके लिये एक ही स्थानपर संकेत मिल जाता है। नारद, सनकादिक निवृत्तिमार्गके उदाहरण है। प्रह्लाद एवं अम्बरीष आदि प्रवृत्तिमार्गके आदरणीय उदाहरण है।

भरतजीका यशरूपी चन्द्र दोनोके लिये मार्गप्रदर्शक है। तभी तो भरद्वाज मुनि भरतजीसे कहते है—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥

'तात! आपका यश नवीन निर्मल चन्द्ररूप है और रघुनाथके भक्त उसके लिये कुमुद और चकोररूप है।' कुमुद निवृत्तिमार्गी भक्तोंका प्रतिनिधित्व करता है और चकोर प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंका। निवृत्तिमार्गी भक्तोंका प्रतिनिधि कुमुदका जीवन जलपर निर्भर होते हुए भी जलसे निर्लिप्त अनासक्त रहता है, एकमात्र चन्द्रकी ओर आसक्त रहकर उसके दर्शनसे प्रफुल्लित होता है; इसी प्रकार विरक्त पुरुषोंकी शरीररक्षा संसारसे होती है, किंतु वे निर्लिप्त रहकर भगवान्के अनन्य प्रेममे आसक्त रहते है। भगवत्प्रेमासक्ति कामीकी आसक्तिकी सीमामें नहीं आती। श्रीमद्भगवद्गीतामे जलमे रहकर जलसे अलग रहनेवाले कमल-पत्रके समान संसारमे रहनेकी प्रक्रिया बतलायी गयी है—**'पद्मपत्रमिवाम्भसा।'**

प्रवृत्तिमार्गका प्रतिनिधि चकोर दाम्पत्य-जीवनमें रहते हुए भी चन्द्रमे ही निश्चल प्रेम रखता है। इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्गी पुरुष गृहधर्मोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी भगवत्प्रेममे अचल एवं दृढ रहकर जीवन व्यतीत करते है। इस प्रकार भरतजीका त्यागपूर्ण जीवन संसारके किसी एक वर्गके लिये नहीं, अपितु समस्त वर्गोंके लिये आदर्श है। तभी तो तुलसीदासजी कहते है—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

तीसरी बात समाजमे गुणी बनकर रहनेका महत्त्व है, किंतु अपने सद्गुणोंका अहकार छोड़ना उससे भी

महत्त्वपूर्ण है; अन्यथा सद्गुण फिर कभी दुर्गुणमें बदल जाते हैं। इसकी साधनाकी बात लें। हमें समाज अपना प्रतीत हो, यह बात साधनाके योग्य है; किंतु इससे बढ़कर साधनाके योग्य बात यह है कि हम समाजके बनकर रह जायँ। 'समाज हमारा' यह पहली साधना हुई 'हम समाजके लिये' यह अन्तिम साधना हुई। भरतका त्याग हमें शुरूसे लेकर इस अन्तिम स्थलतक पहुँचाता है। भरतजीके त्यागकी कीर्तिमें सुधा है और यह वसुधाको सुलभ होती है। लोक-संग्रहकी कैसी सिद्धि है—

रामभगत अब अमियँ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥

यह 'समाज हमारा' की उक्ति सिद्ध हुई। पर बात यहीं नहीं रुकती, भरतजीके त्यागके यशमें 'हम समाजके' यह भी अनुभव करना है। इसीलिये यह कहा है—

कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा। तहँ बस राम पेम मृगरूपा॥

भरतजीने जो यशश्चन्द्र प्रकट किया उसमें श्रीरामचन्द्रजीद्वारा किया गया प्रेम मृगरूपमें जा बसा। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'

श्रीरामचन्द्रजी स्वयं भरतजीको भजते हैं—

जग जपु राम राम जपु जेही।

यह प्रपत्तिका रहस्य है। प्रपत्तिके सहायक भाव हैं—

(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः—अनुकूल बनानेका सकल्प।

(२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—प्रतिकूलताका अभाव।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासः—रक्षा-प्राप्तिमें विश्वास।

(४) गोप्तृत्ववरणं तथा—रक्षकके रूपमें 'विराट्'-का वरण करना।

(५) आत्मनिक्षेपकार्पण्ये—'विराट्'के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण और—

(६) दैन्य-मर्यादा।

(अहिर्बुध्न्यसंहिता)

ये भगवदर्थ कार्य-सम्पादनार्थ—

'सिंहासन प्रभु-पादुका बैठारे निरुपाधि।'

भरतजीने सिंहासनपर प्रभु श्रीरामकी पादुकाओंको रख दिया और उनसे आज्ञा ले-लेकर कार्य करने लगे। भगवदर्थ राजकार्य संचालित होने लग गया। भरतजी अपना सब कुछ और अपनेको भी विश्वात्मा श्रीरामकी सेवामें अर्पित कर देते हैं; उसपर अपना कोई स्वत्व नहीं मानते। फिर उनके पदकी पादुकाकी आज्ञा समझते हुए उनके होकर संसारयात्रा-सम्बन्धी विहित कर्म-विधिका पालन करते हैं। 'नियत कर्म'की सम्पन्नता होने लगती है।

भरतजीके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं है; उनके कार्योंमें एक ही हेतु है—भगवान् श्रीरामको हृदयमें बनाये रखनेकी स्थितिमें निर्बाधता। उनका लक्ष्य परमोच्च है, अतः कर्मके सांसारिक फलका कोई ख्याल नहीं रह जाता। भरतजीकी आसक्तिकी एक ही वस्तु है—हृदयमें श्रीरामकी अबाध स्थिति। यतः जगत्-के समस्त पदार्थोंकी आसक्ति छूटकर उनमें सैद्धान्तिक अनासक्ति हो गयी है; अतः काम्य कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्के आज्ञावाले कार्य ही भरत करते हैं। भगवदर्थ कर्म किसी दूसरेके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते; अतः भरतसे निषिद्ध कर्म तो हो ही नहीं सकते थे। भरत साधारण जनकी भाँति राजकाज करते दिखायी पड़ते हैं; किंतु उनके कार्य फल और आसक्तिका त्याग कर हर्ष-शोक-द्वन्द्वसे रहित होकर भगवान्के आज्ञानुसार केवल भगवान्के लिये किये जानेसे और विधानोक्त होनेसे वे कर्मयोगके सुन्दर उदाहरण हो जाते हैं। इस प्रकार

भरतजीमे श्रेष्ठ भक्तिमिश्रित कर्मयोगके आदर्शका दर्शन होता है। (भक्तिमिश्रित कर्मयोग कर्मयोगका सुपरिष्कृत रूप है। इसे भागवत-धर्म भी कहते हैं।)

भरत आदर्श निष्कामकर्मयोगके आदर्श है—

अवधराजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

भरतजीने कर्मोंके फल एवं आसक्तिका त्याग कर उन श्रीरामको हृदयमे रखा 'जो आनंद सिंधु सुखरासी, सीकर तें त्रैलोक सुपासी' है। उन्होने भरत-चरितकी इस विलक्षणताकी ओर सकेत करनेके लिये ही श्रीरामचरितमानसमे लिखा है कि—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

शीर्षस्थ कर्मयोगी लक्ष्मण

(लेखक—डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी)

वेदव्यासका महाभारतमे कथन है कि यह संसार विशेषकर भारतवर्ष एक कर्मभूमि है—**कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्।** भगवान् वेदका उपदेश है कि कर्मोंमें रत रहकर ही हम सौ वर्ष जीनेकी कामना करें—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।

ऐतरेय बिगुल बजाकर पुकारता है और कहता है—'आगे बढ़, आगे बढ। ऐ मनुष्य! जो भाग्यके भरोसे बैठा रहता है उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो कर्मरत हो आगे बढ़ता है, उसका भाग्य भी आगे बढता है।'

कर्मयोगी लक्ष्मणकी यही मान्यता है। वाल्मीकिरामायण- (२। २२। २२)मे वनगमनके अवसरपर कौसल्या-कक्षमे श्रीराम राज्यतिलकके स्थानपर वनवासकी प्राप्ति भाग्यवशात् मानते है। वे कहते हैं कि जीवनमे सुख-दुःख, भय, क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति-विनाशकी प्राप्ति भाग्यानुसार ही होती हैं—

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥

लक्ष्मण श्रीरामके इस भाग्यवादी सिद्धान्तका पूरे जोरके साथ खण्डन करते है। उनका मत है कि साधारण मनुष्य अपनेको असमर्थ समझकर ही ऐसा कहा करते है कि मेरे भाग्यमें ऐसा ही था। आत्मजयी कर्मवीर भाग्यकी उपासना नहीं करते है—

'किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥'
(वा० रा० २। ३२। ७)

वे पुनः कहते है कि घबड़ाये हुए पराक्रमरहित पुरुष ही भाग्यके भरोसे रहते हैं; वीर और स्वाभिमानी दैवकी उपासना नहीं करते—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
(वा० रा० २। ३२। १६)

रामचरितमानसके लक्ष्मण भी ऐसा ही कथन करते हैं, जब श्रीराम सिंधु-तटपर कुशासनपर बैठकर प्रार्थना करनेका उपक्रम करते है—

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥

तीन दिन पश्चात् रामको वही करना पडा, जिसके लिये लक्ष्मणका अनुरोध था कि शरद्वारा सागरको दण्डित किया जाय। कहीं-कहीं कर्त्तव्य कठोरतासे होकर पूर्णता प्राप्त करता है। मनुष्य ही नहीं, सारा प्राणि-जगत् कर्म करता है। कर्म न करे तो वह जीवित ही न रहेगा। कर्मोंके दो प्रकार है—कुकर्म- (बुरे कर्म) और सुकर्म, जिन्हे असत्कर्म और सत्कर्मकी संज्ञा दी गयी है। डाकू और सैनिक, दोनो ही मारनेका कर्म करते है, किंतु डाकूका कर्म कुकर्म है तथा सैनिकका कर्म सुकर्म है। दोनोंकी ऐसी अवधारणामें भावनाकी कारणता है। कर्मका मूल्याङ्कन भावनासे होता है, स्वरूपसे नहीं।

कर्मोंका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, जिसमें नैत्यिक, नैमित्तिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक,

शैक्षिक, साहित्यिक, पारिवारिक प्रभृति कर्म संनिविष्ट हैं। इन सभी कर्मोंकी दो सीमाएँ हैं, 'स्व'की सीमा और 'पर'की सीमा। स्वकी सीमाको लाँघकर मनुष्य जितना ही परकी सीमामें प्रवेशकर कर्मरत होता है, वह उतना ही ऊँचा, उदात्त और महान् बनता है। खटमल, जूँ और जोंकें केवल दूसरोंके रक्तसे अपना उदर भरती हैं, अजगर थोड़ा-बहुत इधर-उधर चलकर मुँहमे आये जीवोंसे अपना पेट भरता है, चिड़िया इधर-उधर उड़कर अपना पेट भरती है तथा अपने बच्चोंके लिये भी खाद्यान्नके कण लाती है; बंदरी अपने बच्चेको छातीसे चिपटाकर तथा बिल्ली बच्चेको मुँहमें दबाकर कुछ समयतक खाना-पानीका कार्य अपने लिये तथा अपने बच्चोंके लिये करती है। अपने शरीर, अपनी संतति तथा अपनोंके लिये कार्यरत रहना 'स्व'की सीमा है। मनुष्य ही ऐसा बौद्धिक जीव है, जो 'स्व'की सीमा लाँघकर परार्थ कर्म करता है। परार्थ कार्य करनेवाला कुछ-न-कुछ त्याग तो करता ही है। जो जितना अधिक परार्थ काम करता है, वह उतना अधिक त्यागमय जीवन बिताता है। यही परहित जीवन कर्मयोगीका साध्य-जीवन होता है। (त्यागकी महिमासे कर्म 'योग' हो जाता है, जिसका फल निःश्रेयस है।)

भाव और कर्म पद्धतिकी दृष्टिसे कार्य करनेवालोंकी कई कोटियाँ हैं—(१) कर्मी, (२) कर्मकार, (३) कर्मशील, (४) कर्मनिष्ठ, (५) कर्मवीर और (६) कर्मयोगी। कर्मी वह है जो अपने ही लिये कार्य करता है। अपनेसे अधिककी ओर पैर बढ़ाकर दूसरोंके लिये भी पदार्थोंका निर्माण करनेवाला 'कर्मकार' है। कर्मके साथ जो शालीनता-सभ्यता और सज्जनताको प्रश्रय देता है, कार्यमें अनवरत लगा रहता है वह कर्मशील है। छोटा हो या बड़ा, कर्मके प्रति जिसकी गहरी हार्दिक निष्ठा है, कर्म ही मेरे भगवान् हैं—यह समझकर जो कार्यरत है, वह 'कर्मनिष्ठ' है। हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक जीवन-संघर्षमें जो देश, जाति या कुलहिताय कदाचारियों और कुमार्गियोका सोत्साह डटकर विरोध करता है, वह कर्मवीर है। अनासक्त होकर धृति, श्रद्धा, उत्साह पूरी निष्ठासे जो परहितायमें दृष्टि रखकर जीवन-क्षेत्रके कर्म सम्पादित करता है, वही कर्मयोगी है। हमारी पावनभूमिमें कर्मयोगियोंकी संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें लक्ष्मणका नाम पंक्तिके आगे है।

कर्मयोगकी सबसे ऊँची उद्घोषणा करनेवाला ग्रन्थ है भगवद्गीता। गीतामें आरम्भसे अन्ततक योग (कर्मयोग)की चर्चा है। अठारहों अध्यायोंको भी योगकी संज्ञा दी गयी है, जैसे कि अर्जुन-विषाद-योग, सांख्य-योग, कर्मयोग, ज्ञानकर्म-संन्यासयोग आदि-आदि। अनेक योगोका उल्लेख आरम्भसे अन्ततक प्राप्त होता है[१]

किंतु सभी योग कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगमें समाहित हो जाते है। गीतोपदेशद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण कर्मविमुख हो संन्यासकी ओर कदम बढ़ानेवाले अर्जुन-को कर्मकी ओर उन्मुख करते हैं। इससे कर्मयोगकी प्रधानता प्राप्त होती है। साथ ही 'भक्तियोग' भी समन्वित है। कर्मयोगके मूलमें ज्ञान है और समापनमें भक्ति है। ईश्वरको जानकर कर्मयोगी अपने सब कर्म-धर्म भगवान्को अर्पितकर अनासक्त हो कर्मरत रहता है तथा उसके हृदयमें जगत्के चराचरमें व्याप्त भगवान् प्रतिष्ठित रहते हैं। लक्ष्मणसे बढ़कर ऐसा कर्मयोगी भारतीय साहित्यमें

१—यथा—ज्ञानयोग (३ । ३, ९ । २८, १६ । १), कर्मयोग (३ । ३, ५ । १, ५ । २, ५ । ५), आत्म-संयमयोग (४ । २७), आत्मयोग (१० । १८, ११ । ४७), ब्रह्मयोग (४ । २५, ५ । २१), अभ्यासयोग (८ । ८), बुद्धियोग (१० । १०, १८ । ५७, २ । ४९), अनन्ययोग (१२ । ६, १३ । १०) ध्यान-योग (१८ । ५२), भक्तियोग (१३ । १०)।

प्राप्त नहीं होता है, जिनका सारा जीवन स्वकी सीमा लाँघकर परहिताय हो गया था। लक्ष्मणके सम्पूर्ण कर्म श्रीरामको सामने रखकर सम्पन्न होते थे। उनके हृदयमें राजा राम थे, बाहर राम थे और चारों ओर सर्वत्र राम ही राम व्याप्त थे जिनके लिये वे अधिक-से-अधिक त्याग कर सकते थे। जब श्रीराम राजकीय सुख-सुविधाओंको छोड़कर विश्वामित्रके साथ चले तो लक्ष्मण भी उनके साथ हो लिये और भ्राता राम तथा गुरु विश्वामित्रकी सेवामें प्रातःकालसे शयन-समयतक रत रहने लगे। भगवान् रामको चौदह वर्षोंका वनवास मिला था, लक्ष्मणको नहीं; किंतु लक्ष्मण श्रीरामके समझानेपर भी अयोध्यामें न रहे और माता-पिताके साथ ही नववधू उर्मिलाको भी छोड़कर रामके साथ चल दिये। मार्गमें पड़नेवाले नदी-नालोंमें अधिक जल होनेपर जहाँ नाव प्राप्त न थी वहाँ, लक्ष्मण लकड़ियाँ काटकर, घास-फूस ढककर बेड़ा बनाते थे। चित्रकूट तथा पञ्चवटीमें सुन्दर कुटियोंका निर्माण श्रीलक्ष्मणने ही किया था। राम-सीताके लिये बाँस, लकड़ी काटकर तथा घास-फूस पत्तोंसे ढककर सुविधावाली सुन्दर बड़ी कुटिया निर्मित करते थे तथा कुछ दूरपर एक छोटी-सी कुटिया अपने लिये बनाते थे जो वर्षा-शीतसे तो बचाये, परंतु राम-सीताकी कुटियापर दृष्टि रखनेमें व्यवधान न उत्पन्न करे। चौदह वर्ष रात्रिमें जगकर लक्ष्मणने पहरा दिया। वर्षाकालमें वे कुटियामें बैठकर ही रामकुटीपर निगाह रखते थे। वन-मार्गमें वे आगे-आगे रास्ता साफ करते चलते थे। जहाँ रात्रिमे टिकाव होता था, उस स्थानको स्वच्छ कर वे घास-फूसकी शय्या बनाते थे। जंगलोंमेसे लकड़ियाँ काटकर कंधेपर लाते थे, फलादि एकत्र करते थे और ब्राह्ममुहूर्तमे चार-पाँच बजे उठकर सरिता-सरोवरपर पहुँच जाते थे; नैत्यिक कर्मकर, स्नानकर पानी भरकर लाते थे। घोर वर्षा हो रही है, मार्गमें कीचड़ तथा भीगे पत्ते हैं, काँटे पडे हैं, कीट-चींटे घूम रहे हैं, परंतु लक्ष्मणको क्या ? वे तो पानी भरने जायँगे ही। शिशिर शीत हाड़को कँपा रहा है, भूमि ओस-तुषारसे आच्छादित है, पृथिवीपर पैर रखनेमें जी घबराता है, पर लक्ष्मणजी मिट्टीका घड़ा लिये नदीकी ओर जाते मिलेंगे। भारतीय क्षितिजपर लक्ष्मणसे अधिक निद्राजयी नक्षत्र नहीं मिलता है। चौदह वर्ष बराबर रात्रिमें जगे, दिनमें थोड़ा-बहुत सो लेते थे। पर उनकी निष्काम रामभक्ति निरन्तर चलती रहती थी सेवा रूपमें, सुखके चिन्तनमें सुविधाके विधानमे। ऐसे थे निष्काम-कर्मी भक्त लक्ष्मण।

रामकी प्रतिष्ठापर जरा-सी आँच आनेपर धीर-वीर लक्ष्मण तप्त हो जाते थे। तीन बार ऐसा हुआ। (१) जनकने स्वयंवर-सभामें रामकी उपस्थितिमें यद्यपि यह एक सामान्य बात ही कही थी कि—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

परंतु अनन्य सेवक लक्ष्मणके नेत्र लाल हो गये, होंठ फड़कने लगे। रामके पदकमलमें सिर नवाकर उन्होंने गर्जना की—

कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

प्रभो! आप आज्ञा दे, यह धनुष तो क्या वस्तु है, मैं ब्रह्माण्डको उठा सकता हूँ। आप आयसु दें, इस धनुषको कंधेपर रखकर सौ योजन दौड़ जाऊँगा और कच्चे घड़ेकी भाँति इसे तोड़ डालूँगा। यह मैं विवाह-हेतु नहीं करूँगा, वरन् भगवान् रामका प्रताप दिखाऊँगा और बताऊँगा कि पृथ्वीमें वीर पुरुष अब भी हैं! मेरे लिये यह खेलभर होगा, इससे अधिक नहीं; सीताकी प्राप्तिकी कोई कामना नहीं है।

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥

(२) धनुष टूट चुका है। सीताने रामके गलेमें जयमाला डाल दी है, तभी भृगुकुल-कमल-पतंग

भगवान् परशुराम प्रविष्ट होकर घोषणा करते हैं कि धनुष तोडनेवालेको मैं सहस्रबाहुके समान परशुसे काट डालूँगा ! वह मुझसे युद्ध करे । फिर क्या हुआ ? लक्ष्मण खडे हो गये निर्भीक, निश्शङ्क और निर्भय तथा उन्होंने परशुरामसे वह वाग्युद्ध किया कि सारे सभासद् अवाक् रह गये । भला, रामका कोई अपमान करे, उन्हें दण्ड देनेकी धमकी दे और लक्ष्मण शान्त तथा मौन बैठे रहे ? निष्काम कर्मी भक्तका भी कुछ काम होता है; पर वह अपने आराध्यकी महिमाके सिवाय अन्य कुछ नहीं जानता । (उसकी यही अनन्यता निष्कामता होती है । 'निष्कामता' पारिभाषिक है, यौगिक नहीं ।)

(२) भरत चतुरंगिणी-सज्जित सेनाके साथ चित्रकूट पधारे । लक्ष्मणको शंका होती है कि भरत रामको मारकर निष्कण्टक होनेके लिये आये हैं । लक्ष्मणजीने धनुष उठाया और रामसे बोले—

भरतु नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राज पदु पाई। चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आए करै अकंटक राजू॥

किंतु, भरतको आज प्रमाणित हो जायगा कि राम अकेले या असहाय नही है । भाई होते हुए भी मैं भरतको पाठ पढाऊँगा । भाई आज्ञा दे तो मैं युद्ध कर भरतको सेनासहित गाजर-मूलीके समान काट डालूँगा । वे रामकी कीर्तिमें, उसकी किसी प्रकारकी क्षतिमें अपनी वीरताकी आहुति दे सकते हैं—अपने लिये नहीं, अपने आराध्य श्रीरामके लिये । इसीलिये गोस्वामीजी लक्ष्मणकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥

लक्ष्मणके प्राण तीन बार संकटमें पड़े; अपने लिये नहीं, जग तथा जगहितकारी रामके लिये । (१) राक्षसराज रावण जगत्को रौंद रहा था । वह वैष्णवयज्ञ न होने देता था, आश्रमों और आध्यात्मिक केन्द्रोंको नष्ट करता था और सुन्दर स्त्रियोंको बलात् पकड़कर अपने रनिवासमें ले जाता था । इसी काम-लिप्सासे उसने अनिन्द्यसुन्दरी सीताका अपहरण किया । श्रीरामपर वज्राघात टूट पड़ा । वे बहुत मर्माहत हुए; कई बार मूर्च्छित हो गये । वाल्मीकिके अनुसार यदि लक्ष्मण रामके साथ न होते तो उनका जीवित रहना कठिन होता । लक्ष्मणने रामको बहुत समझाया । रामने संसारके लाखों नर-नारियों, शास्त्र-ब्राह्मणों, गौओंके रक्षार्थ और सीताको अभिमानी-कामी राक्षसराज रावणके बन्धनसे छुड़ानेके लिये लंकापर आक्रमण किया । (२) लंकामें हुए भीषण युद्धमें लक्ष्मण सदा रामके आगे रहते थे और युद्ध करते थे । रावणकी शक्तिसे लक्ष्मण मरणासन्न हो गये (वा० रा० ६ । ९९) । मेघनादने भी युद्धमें ब्रह्मास्त्र-प्रहारसे उन्हें मृत्युद्वार-तक पहुँचा दिया था (वा० रा० ६ । ७३) । दोनो बार हनुमान्‌द्वारा लायी ओषधिसे लक्ष्मणके प्राण बचे । तीसरी बार (३) अयोध्याको विनाशसे बचानेके लिये स्वयं लक्ष्मणने मृत्युका वरण किया । एक बार एकान्त कक्षमें महाराज राम तथा यम गुप्तवार्ता कर रहे थे । द्वारपर लक्ष्मण प्रहरी थे । श्रीरामका निर्देश था कि कोई भीतर न आये । जो आयेगा उसे प्राणदण्ड दिया जायगा । ऐसे समय अनीतिपर क्रोधका प्रतीक बननेवाले दुर्वासाकी उपस्थिति असमञ्जसमें डाल देनेवाली होती है । पर कर्मनिष्ठ अपने ऊपर उनकी विपद् मोल लेकर भी कर्तव्यका निर्द्धारण करनेमें नहीं हिचकते । महर्षि दुर्वासाने रामसे तुरत भेंट करनेकी इच्छा व्यक्त की । लक्ष्मणने प्रणामकर निवेदन किया कि महाराज गुप्त वार्तामें रत हैं । ऋषि दुर्वासा शापद्वारा समस्त अयोध्याके विनाशपर उतारू हो गये ! लक्ष्मणने सोचा—एक ओर मेरे प्राणकी बात है, दूसरी ओर सारी अयोध्याके विनाशका भय । वे भीतर गये और श्रीरामको सूचना दी कि दुर्वासा आये है । श्रीरामपर मानो वज्र गिर पडा ! वे अत्यन्त

दुःखित हो गये। लक्ष्मणको प्राणदण्ड कैसे दे सकते हैं? लक्ष्मणने स्पष्टतया उनसे कहा—आपको नियमकी रक्षा करनी है। कानूनकी दृष्टिमें सब समान है। कानूनोंमें बड़े-छोटे, मित्र-शत्रुकी विभाजक रेखाएँ मान्य नहीं हैं। और, राजतन्त्रमे देवस्वरूप राजाकी आज्ञा ही पालनीय कानून है। मुझे प्राणदण्ड दिया जाय। वसिष्ठ तथा मन्त्रियोने महाराज श्रीरामको अपनी सम्मति दी कि लक्ष्मणको बहिष्कृत कर दिया जाय। लक्ष्मण निर्जन स्थानपर गये। आसन मारकर साँस रोककर बैठ गये। उनकी प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर ब्रह्मलोक चली गयी (वा० रा० ७।१०५ तथा १०६)!

स्त्री तथा ब्राह्मण अवध्य थे। किंतु यदि वे दुराचारी, कुमार्गी, आततायी और हत्यारे बन जायँ तो क्या उन्हें दण्डित न किया जाय? नहीं, वे भी दण्डित होंगे; राम-लक्ष्मणका मत था। तभी तो रावणका वध हुआ और ताड़का मारी गयी। (१) ताड़काने गाँव-के-गाँव उजाड़ दिये थे। लक्ष्मणने पहले उसके नाक-कान काटे (वा० रा० १।२६।१८)। इतनेपर भी वह न मानी तो विश्वामित्रद्वारा व्यवस्था देनेपर रामने उसका वध किया। (२) सूपनखा व्यभिचारिणी थी, मानवघातिनी थी। उसने पहले रामसे काम-तृप्तिकी याचना की, फिर लक्ष्मणसे। दोनोसे निराश हो उसने सीताको खाना चाहा। इसपर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट डाले। (३) एक और कुरूपा राक्षसी थी जिसका नाम था 'अयोमुखी'। सीताकी खोजमें लगे राम-लक्ष्मण मतग-आश्रमकी ओर जा रहे थे। आगे लक्ष्मण थे, पीछे राम। सहसा लक्ष्मणको पकड़कर उसने आलिङ्गन-बद्ध कर लिया तथा कामतृप्तिकी याचना की। राक्षसीका यह दुःसाहस, उसकी यह असभ्यता! लक्ष्मणने उसके नाक और कानको काट डाले (वा०रा० ३।६९)। लोकसंग्रहार्थ अनीतिकी इति कर्मयोगियोकी कृत्यपरम्परा-में इतिहास बन चुकी है। सर्वश्रेष्ठ लोकसंग्रही कर्मयोगी श्रीकृष्णने कैसी-कैसी अनीतियोको समाप्त किया—इसे भागवतके साक्ष्यसे समझा जा सकता है।

लक्ष्मणके लिये रामकी आज्ञा सर्वोपरि थी। उन्होने एक बारको छोड़कर सदा आज्ञाका पालन किया। (१) खर-दूषण-युद्धमे लक्ष्मण भी रामका साथ देना चाहते थे, किंतु रामकी आज्ञा थी कि दूर ले जाकर गुहामें सीताकी रक्षा करो। लक्ष्मणको आज्ञा माननी पड़ी। (२) एक बड़ा भयंकर कष्टदायक समय लक्ष्मणपर टूटा—जब रामने आज्ञा दी कि 'लक्ष्मण! प्रजाके सामने चरित्रका उदाहरण रखना है।' जैसा आचरण बड़े, उच्चस्थ व्यक्ति करते हैं, वैसा ही नीचेवाले भी—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**।' अतः प्रजाके हितकी दृष्टिसे मेरी आज्ञा है कि सीताको निर्जन वनमें सरिता-सरके निकट छोड़ आओ। लक्ष्मणको आज्ञा माननी पड़ी (वा० रा० ७।४५)। किंतु रामकी एक आज्ञाका पालन उन्होने नहीं किया। राजा बननेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणको बुलाकर कहा—लक्ष्मण! मैं तुम्हे युवराज बनाना चाहता हूँ। लक्ष्मणको राज्य प्राप्त हो रहा था। किंतु लक्ष्मण तो त्यागमूर्ति थे। उन्होंने रामके पैर छूकर कहा—भाई! भाई! मैं आपकी यह आज्ञा इस जन्ममे न मानूँगा; चाहे जो दण्ड दीजिये। मैं युवराज नहीं बनूँगा (वा० रा० ६।१२८)। वस्तुतः वे राज्य तो क्या साम्राज्यको भी अपनी निष्कामनामे मूल्यहीन माननेवाले भक्ति-कामी सेवा-परायण भक्त कर्मयोगी थे। उन्हे राज्यका लोभ क्यो हो?

इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्ष्मणमें जहाँ एक ओर कष्ट सहनेकी असीम क्षमता है, वहीं अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचारके प्रति वे घोर असहिष्णु हैं। उनमें शील, स्नेह, निष्ठा, वीरता, स्वार्थत्याग, परहित-लीनता, साहस-सदाचार तथा कर्तव्य-परायणताकी गङ्गा और त्यागकी कालिन्दी सगम करती हैं। लक्ष्मण उच्चकोटिके भक्त हैं, ज्ञानमय हैं तथा सदा उदात्त कर्मममे लीन रहनेवाले हैं।

वे काम-रहित कर्मके प्रतीक हैं। वे त्याग और तपस्याकी प्रतिमूर्तिके रूपमें वनवासमें श्रीरामजी निरन्तर सेवामें लगे रहे और श्रीरामके आग्रहपर भी सुखभोग स्वीकार नहीं किया। निष्कामता और कर्मतत्परताका ऐसा उदाहरण भी कर्मयोगका अनुपम उदाहरण हो सकता है। वस्तुतः लक्ष्मण आदर्श कर्मयोगी थे।

निष्काम भक्त श्रीहनुमान्

(लेखक—श्री[illegible])

जो कुछ किया जाय, उस व्यापारमात्रका नाम कर्म है—'क्रियते इति कर्म'—व्यापारमात्रम् (कर्म)—(गीता ४।१८ का शां० भा०)। ऐसे तो कर्मको संसारमें सब करते ही रहते हैं, पर सब कर्मयोगी नहीं होते। कर्तव्य कर्मोंका योग भगवान्‌के साथ करके उन्हें करनेवाले कर्मयोगी कहलाते हैं। कर्मयोगियोंके कर्म भगवदर्पित या भगवदर्थ होते हैं। वे निजार्थ कुछ नहीं करते। महावीर हनुमान् भी इस कोटिके एक आदर्श कर्मयोगी हैं; क्योंकि इनके चरित्रमें भगवदर्थ कर्मके अतिरिक्त कोई निजी कार्य देखनेमें नहीं आता।

सर्वोपनिषद्-सार गीता (१८।५७)में उपदेश है कि 'मुझमें अर्पण करके, मुझमें परायण होकर बुद्धियोगका (कर्मयोगका) अवलम्बन कर निरन्तर मुझमें चित्तवाला होओ।' ये चार सूत्र—(१) मनसे सब कर्म भगवदर्पित करना, (२) भगवत्परायण होना, (३) बुद्धियोगका अवलम्बन करना और (४) भगवान्‌में चित्तको लीन करके रहना—प्रतिपादित हैं। ये वस्तुतः कर्मयोगियोंके जीवन-जीनेके चार सूत्र हैं। श्रीहनुमान्‌जीका जीवन इन चार सूत्रोंमें अनुस्यूत है—

(१) मनसे सब कर्म भगवदर्पित करना—ईश्वरार्पण बुद्धिके बिना कर्म करनेसे भवश्रम ही प्राप्त होता है, विश्राम नहीं मिलता। मानस (३।२१)का कथन है—

> राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
> बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़े किएँ अरु पाएँ॥

कर्मोंको स्वयंसे नहीं जोड़कर भगवान्‌से जोड़ना चाहिये। जैसे जड़ी देखकर साँप सहम जाता है और ऐसेमें सर्प नहीं हो सकता, वैसे ही कर्म भगवान्‌के अभिमुख होकर बन्धनकारी नहीं हो पाते हैं। यह जीवको बन्धनमें नहीं डालता। निष्काम कर्मयोगी ईश्वरार्पणके प्रतीक हैं। इनका जीवन ही प्रमाण है। भगवान्‌की सेवाके लिये ही वे हरसे हनुमान् रूपमें अवतरित हुए—

> जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
> पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान॥
> (दोहा० १४३)

हनुमान्‌जीके जीवनकी एक घटना उल्लेखनीय है। सीताजीके अन्वेषणके लिये जब इन्होंने लङ्काकी उड़ान भरी, तब सर्पोंकी माता सुरसा परीक्षा लेने आयी और उसने इनको अपना देवताओंद्वारा दिया हुआ आहार कहा—'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।' उस समय इन्हें प्राणोंकी चिन्ता भी किञ्चित् न हुई। वे सुरसाका भोजन बननेको राजी हो गये, पर प्रभुका कार्य पूरा करनेके लिये थोड़ा समय माँगा। वे विनयपूर्वक बोले—हे माता! रामकार्य करके लौटकर सीताजीकी सुधि प्रभुको सुनाकर मैं स्वयं आकर तुम्हारे मुँहमें प्रवेश कर जाऊँगा। अभी मुझे जाने दे। रामचरितमानस (५।२।२) की चौपाई देखिये।

> राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
> तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥

स्पष्ट है कि हनुमान्‌जी भगवत्कार्य करनेमें जीवनकी कृतार्थता माननेवाले देहासक्ति-विरहित भक्तयोगी महात्मा हैं। धर्मसंस्थापन, साधुसंरक्षण, असुर-विनाशादिके लिये भगवान्‌का अवतार होता है। यही सब भगवान्‌के कार्य

हैं। उनके (भगवान्‌के) सब कार्योंको उन्होंने किया।

'तिन्हके काज सकल तुम्ह साजा।'

मनसे सब कर्म ईश्वरको अर्पित करनेपर स्वधर्मरूप कर्म छोटा नहीं मालूम पड़ता है। कर्मयोगी स्वधर्मरूप कर्मको भगवान्‌के लिये करके भगवान्‌की अर्चना करते हैं—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** हनुमान्‌जी सेवाके लिये अवतरित हुए थे। सेवा इनका स्वधर्म है। इसलिये इन्होंने सेवाको कभी हीन नहीं समझा। प्रभुकी जब जैसी सेवाकी आवश्यकता हुई, तब वैसी सेवा इन्होंने पूरी की। ये आवश्यकतानुसार कभी स्वामीकी सवारी बने तो कभी सचिव, कभी संवादवाहक बने, तो कभी सैन्य-संचालक। इन्हे किसी भी सेवामें कोई हिचक नहीं। ऐसी भगवदर्पणताके कारण ही हनुमान्‌जी कर्मको मथकर अशक्त कर देनेवालेके रूपमें स्मरण किये जा रहे हैं। महात्मा तुलसीदासका साक्ष्य है—

'जयति काल-गुन-कर्म-माया मथन' (विनय० २६)

२-भगवत्परायण होना—भगवत्परायणताके बिना लोग अर्पणके बाद भी कर्मका कर्ता बनकर आनन्द लेते हैं। कोई अच्छा काम बननेपर सोचते हैं कि मैने बड़ा अच्छा काम किया। दूसरोंके सामने अपने अच्छे कामका वर्णन करके और दूसरोंसे वर्णन सुनकर आनन्दित होते हैं। इस प्रकार कर्तापनका आनन्द लेते रहनेसे बंधन बना रहता है। कर्मयोगकी साधना कर्तापनके अभिमानको मिटानेके लिये है। भगवदर्पणताके साथ भगवत्परायणताके मिलनेसे यह कार्य सिद्ध होता है। इस भावनाका उदय होनेपर सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करनेमें परम आनन्द आता है, बिना अर्पण किये कल नहीं पड़ती और भगवान्‌को ही क्रियादि शक्तियोंका परमाधार समझते रहनेके कारण कर्तापनका अभिमान भी नहीं होता है। यद्यपि यह भगवत्परायणता दुर्लभ है, पर हनुमान्‌जीमें मूर्तिमन्त है। हनुमान्‌जी भगवान्‌को ही परमप्रिय मानते हैं। इस तथ्यका सबसे सबल प्रमाण तो यही है कि भगवान् भी **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**के अनुसार इन्हें परमप्रिय मानते हैं (रा० च० मा० ७। ३२)।

भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परम प्रिय पवन कुमारा॥

कर्तृत्वाभिमान हनुमान्‌जीको छूतक नहीं सका है। इन्होंने इतने वीरोचित कर्म किये कि महावीर शब्द इनका (विशेषणसे 'विशेष्य') वाचक बन गया। इन्होने मनसे अगम अनेक कार्योंको तनसे सुगम किया। इनकी महावीरताकी गाथा पुराणेतिहासोमें अमिटरूपसे अङ्कित है; किंतु इन्होंने महावीरताका श्रेय स्वयं कभी नहीं लिया; सम्पूर्ण श्रेय भगवान्‌को दिया। अशोकवन-विध्वंसके बाद जब ये रावणके दरबारमें लाये गये, तब रावणने इनसे पूछा—'रे कीश! तू कौन है? और तूने किसके बलसे अशोक-वन नष्ट कर दिया?' हनुमान्‌जीने बड़ा ही मार्मिक उत्तर दिया। इन्होंने अपने परिचयमे अपने प्रभुका बल-प्रभुत्व विस्तारसे कहकर अन्तमें कहा—'सुनो रावण! जिसके बल-लवलेशसे तुमने चर-अचर सबको जीत लिया है और अब जिसकी प्रिय नारीको हर ले आये हो, मै उस सर्वसमर्थका दूतमात्र हूँ'—

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥
(रा० च० मा० ५। २१)

हनुमान्‌जीके उत्तरसे विदित होता है कि इनकी मान्यतामें कोई भी कार्य भगवत्प्रदत्त-शक्तिसे ही सम्पन्न होता है। अतः इस भावनाके कारणसे, कर्तापनके अभिमानसे बचे रहे। कर्मयोगमे कर्तृत्वाभिमान-शून्यता स्वर्णमें सुगन्ध है—**'यस्य नाऽहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।'** हनुमान्‌जी ऐसे ही थे।

हनुमान्‌जीकी कर्तृत्वाभिमानरहितताको दर्शानेवाला एक बड़ा ही प्रेरक प्रसङ्ग रामचरितमानसमें आया है। जब ये लङ्कासे लौटकर आये, तब भगवान् रामने इन्हे

हाथ पकड़कर अपने समीप बैठाया और साग्रह पूछा कि जिस लङ्काकी रक्षा स्वयं रावण कर रहा था और जो परम दुर्गम और विकट है, उसे तुमने किस प्रकार जला दिया ? श्रीहनुमान्‌जीने सविनय उत्तर दिया—

सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ॥
(रा० च० मा० ५ । ३३)

हनुमान्‌जीके उत्तरमें तीन तत्त्व ऐसे हैं जो इनमे कर्तापनके अभिमानका अभाव दर्शाते हैं । पहला है कि हनुमान्‌जीने अपने कृत्यकी सब बातें एक ही पङ्क्तिमें कह दी । उन्हें अपने विशिष्ट कार्योंका विस्तार वाञ्छनीय नहीं था; देखिये—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा । निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥

इन्हें अपने कार्योंको विस्तारसे कहनेमें कोई आनन्द नहीं है । यह उनकी अभिमान-शून्यताका प्रमाण है । उनकी निरभिमानताका निदर्शक दूसरा तत्त्व है कि इन्होने अपने कृत्यकी बातोंके कथनमें प्रसङ्गक्रमका कोई विचार नहीं रखा; (जैसा कि शीघ्रतामें स्वभावतः हो जाता है) । इन्होंने समुद्र लाँघनेके बाद लङ्का जलानेकी बात कही, फिर निशाचरोंके मारनेकी और अन्तमें वाटिका उजाड़नेकी । कार्योंके सम्पादनका यह यथाक्रम ठीक नहीं था । मन्दोदरीके कथनमे क्रम है, यथा—सागर-लंघन, रक्षकमर्दन, वन-विध्वंसन, अक्षय-विनाशन और अन्तमें लङ्कादहन है । मन्दोदरीने हनुमान्‌जीके प्रभावको दर्शानेके लिये कार्योंको सिल-सिलेसे सँवारकर कहा । हनुमान्‌जीको अपने द्वारा किये गये कार्योंमें अपनी कोई प्रभुता ही नहीं दिखायी पड़ती, इसलिये इन्होने इस सामान्यतासे कह दिया कि प्रसङ्ग-क्रमका भी निर्वाह नहीं रहा । तीसरा तत्त्व है—हनुमान्‌जीद्वारा अपने कृत्य-कथनको निरभिमानताकी भावनासे सम्पुटित कर दिया जाना । कथनकी प्रथम पङ्क्ति है—'बोला बचन बिगत अभिमाना' और अन्तिम पङ्क्ति है—नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ।' हनुमान्‌जी बहुत बडी बहादुरी करके भी निरभिमान बने रहे; क्योंकि इन्होने निरभिमानताका सम्पुट लगाकर सेवामूलक कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त कर दिया । इस प्रसङ्गमे इनकी जो कर्तृत्वाभिमानरहितता दिखायी पड़ती है, वह इनके कर्मयोगी होनेके साथ भगवत्परायण होनेका प्रमाण है ।

कर्ममें ईश्वरार्पण-बुद्धि रखकर आनन्दानुभव करनेमें विभ्रमबुद्धिसे बाधा उत्पन्न होती रहती है । कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुख-दुःख या कर्मके साधक-बाधक तत्त्वोके प्रति राग-द्वेषसे चित्त उद्वेलित होता रहता है । यह संकट बुद्धियोग अर्थात् समचित्ततासे दूर होता है । समबुद्धिके अवलम्बनसे निर्विकारता आती है, परमात्म-दृष्टि विकसित होती है, जिससे सृष्टिके साथ समताका व्यवहार होता है । व्यवहारमें आवश्यकतानुसार समचित्तता रखते हुए भी कोमलता या कठोरता लायी जाती है । यह समचित्तता हनुमान्‌जीमें जैसी है, वह सद्ग्रन्थोंमें उल्लिखित है । सुरसा इन्हे खानेको उत्सुक थी । उस स्थितिमें भी इन्होने उसे माता कहकर सम्बोधित किया—'सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ।' सुरसाके मुँहमें प्रवेश करके पुनः बाहर निकल आनेमें सफल होनेपर भी ये इतराये नहीं, पूर्ववत् नम्रता धारण किये रहे और प्रणाम करके विदा माँगी—माँगी बिदा ताहि सिर नावा ॥

उपर्युक्त विवरणसे विदित होता है कि कर्मयोगियोके जीवन जीनेके चारो सूत्रोके अनुसार ही हनुमान्‌जीका चरित्र है । अतः ये निःसंदेह एक आदर्श भक्त-कर्मयोगी है । कर्मयोगका यथोचित पालन करनेसे ज्ञान अथवा भक्तिकी भी सिद्धि हो जाती है । श्रीमद्भागवत (११ । २० । ११)का स्पष्ट उद्घोष है कि—

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥

अर्थात्—स्वधर्ममें स्थित पुरुष इस देहमे रहते-रहते ही अनघ और शुचि होकर विशुद्ध ज्ञान अथवा मेरी

भक्ति पा जाता है। हनुमान्‌जी इस तथ्यके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। सुग्रीवके संकटके समय भी उनके सेवारूप स्वधर्ममे स्थित रहनेके कारण हनुमान्‌जीको अखण्ड ज्ञानस्वरूप श्रीराम और भक्तिस्वरूपा सीताजी मिल गयीं। फिर भगवान्‌की सेवा करते-करते ही ये **'ज्ञानिनामग्रगण्य'** और **'रघुपतिके प्रियभक्त'** बन गये।

तुलसीदासजीने इनकी गुणनिर्देशात्मक वन्दनामे इनकी साधना और सिद्धिके क्रमका सकेत करते हुए कहा है कि ये पहले **'खलवनपावक'** अर्थात् कर्मी, फिर **'ग्यानघन'** अर्थात ज्ञानी और अन्तमें अपने हृदयागारमे श्रीरामको बसानेवाले अर्थात् भक्त है। यथा—

> प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यानघन।
> जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥
> (रा० च० मा० १। १७)

हनुमान्‌जीने 'खलबन-पावक' होकर भगवदर्थ कर्म किया और ज्ञान-भक्तिकी भी सिद्धि कर ली। इनके चरितके अनुकरणसे कर्म, ज्ञान और भक्तिकी समन्वित सिद्धि सुनिश्चित है।

माता कैकेयी

कैकेयी महाराज कैकयकी पुत्री और दशरथजीकी छोटी रानी थीं। ये केवल अप्रतिम सुन्दरी ही नहीं थीं, प्रथम श्रेणीकी पतिव्रता और वीराङ्गना भी थीं। बुद्धिमत्ता, सरलता, निर्भयता, दयालुता आदि सद्‌गुणोंका कैकेयीके जीवनमे पूर्ण विकास था। इन्होने अपने प्रेम और सेवाभावसे महाराजके हृदयपर इतना अधिकार कर लिया था कि महाराज तीनो पटरानियोंमे कैकेयीको ही सबसे अधिक मानते थे। कैकेयी पति-सेवाके लिये सभी कुछ कर सकती थीं। एक समय महाराज दशरथ देवताओकी सहायताके लिये शम्बरासुर नामक राक्षससे युद्ध करने गये। उस समय कैकेयी भी पतिके साथ रणाङ्गणमे गयी थीं—आराम या भोग भोगनेके लिये नहीं, सेवा और शूरतासे पतिदेवको सुख पहुँचानेके लिये। कैकेयीका पातिव्रत और वीरत्व इसीसे प्रकट होता है कि इन्होंने एक समय महाराज दशरथके सारथिके मर जानेपर स्वयं बड़ी ही कुशलतासे सारथिका कार्य करके महाराजको संकटसे बचाया था। उसी युद्धमे दूसरी बार एक घटना यह हुई कि महाराज घोर युद्ध कर रहे थे, इतनेमें उनके रथके पहियेकी धुरी गिर पडी। राजाको इस बातका पता नहीं लगा। कैकेयीने इस घटनाको देख लिया और पतिकी विजय-कामनासे महाराजसे बिना कुछ कहे-सुने तुरंत धुरीकी जगह अपना हाथ डाल दिया और बड़ी धीरतासे बैठी रहीं। उस समय वेदनाके मारे कैकेयीकी आँखोंके कोये काले पड़ गये, परतु उन्होंने अपना हाथ नहीं हटाया। इस विकट समयमे यदि कैकेयीने बुद्धिमत्ता और सहनशीलतासे काम न लिया होता तो महाराजके प्राणोका बचना कठिन था। इस सेवामे विशेषता यह थी कि कैकेयीने अपनी सेवाका उल्लेख स्वयं नहीं किया। ये तो पातिव्रत धर्मके नाते ही इस सेवामे लगी थीं।

शत्रुओका संहार करनेके बाद जब महाराजको इस घटनाका पता लगा, तब उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। उनका हृदय कृतज्ञता तथा आनन्दसे भर गया। ऐसी वीरता और त्यागपूर्ण क्रिया करनेपर भी इनके मनमे कोई अभिमान नहीं। ये पतिपर कोई अहसान नहीं करतीं। महाराज वरदान देना चाहते हैं तो ये कह देती है कि 'मुझे तो आपके प्रेमके सिवा अन्य कुछ भी नही चाहिये।' प्रेममे निष्कामताका यह अनूठा उदाहरण था। जब हठ करने लगते है, तब दैवी प्रेरणावश आवश्यक होनेपर माँग लूँगी कहकर अपना पिण्ड छुडा लेती है। इनकी यह अपूर्व निष्कामता सर्वथा श्लाघनीय है।

भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये है। पीछेसे महाराजने चैत्रमासमें श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी

की। किसी भी कारणसे हो, उस समय महाराज दशरथने इस महान् उत्सवमें भरत और शत्रुघ्नको बुलवानेकी भी आवश्यकता नहीं समझी और न केकयराजको ही निमन्त्रण दिया गया। कहा जाता है कि कैकेयीके विवाहके समय महाराज दशरथने इन्हींके द्वारा उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका अधिकारी मान लिया था; परंतु रघुवंशकी प्रथा और श्रीरामके प्रति अधिक अनुराग होनेके कारण चुपचाप युवराजपद प्रदान करनेकी तैयारी कर ली गयी। यही कारण था कि रानी कैकेयीके महलमे भी इस उत्सवके समाचार पहलेसे नहीं पहुँचे थे। रानी कैकेयी अपना स्वत्व जानती थीं। इन्हे पता था कि भरतको मेरे पुत्रके नाते राज्याधिकार मिलना चाहिये; परंतु कैकेयी इस बातकी कुछ भी परवा न करके राम-राज्याभिषेककी बात सुनते ही प्रसन्न हो गयीं। दैवप्रेरित कुबड़ी मन्थराने आकर जब उन्हे यह समाचार सुनाया, तब वे आनन्दमें डूब गयीं। वे मन्थराको पुरस्कारमें एक दिव्य उत्तम गहना देती हैं।

'दिव्याभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्'

और फिर कहती है—

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥
रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥
न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु॥
(वा० रा० २। ७। ३४-३६)

'मन्थरे! तूने मुझको यह बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है। इसके बदलेमे मै तेरा और क्या उपकार करूँ? यद्यपि भरतको राज्य देनेकी बात हुई थी, फिर भी राम और भरतमे कोई भेद नहीं देखती। मै इस बातसे बहुत प्रसन्न हूँ कि महाराज कल रामका राज्याभिषेक करेंगे। हे प्रियवादिनि! रामके राज्याभिषेकका संवाद सुननेसे बढ़कर मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। ऐसा अमृतके समान सुखप्रद वचन सब नहीं सुना सकते। तूने यह वचन सुनाया है, इसके लिये तू जो चाहे सो पुरस्कार माँग ले, मैं तुझे देती हूँ।'

इसपर मन्थरा गहनेको फेंककर कैकेयीको बहुत कुछ उलटा-सीधा समझाती है; परंतु फिर भी कैकेयी तो श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करती हुई यही कहती है कि 'श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान्, संयतेन्द्रिय, सत्यव्रती और पवित्र है। वे राजाके ज्येष्ठ पुत्र है, अतएव हमारी कुलप्रथाके अनुसार उन्हे युवराजपदका अधिकार है। दीर्घायु राम अपने भाइयो और सेवकोंको पिताकी तरह पालन करेंगे। मन्थरे! तू ऐसे रामचन्द्रके अभिषेककी बात सुनकर क्यों दुःखी हो रही है? यह तो अभ्युदयका समय है। ऐसे समयमें तू जल क्यो रही है? इस भावी कल्याणमे तू क्यो दुःख कर रही है?

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं तथा भ्रातृंस्तु राघवः॥
(वा० रा० २। ८। १८-१९)

'मुझे भरत जितना प्यारा है, उससे कहीं अधिक प्यारे राम हैं; क्योंकि राम कौसल्यासे भी अधिक मेरी सेवा करते है। रामको यदि राज्य मिलता है तो वह भरतको ही मिलता है—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते है।' इसपर जब मन्थरा महाराज दशरथकी निन्दा करके कैकेयीको फिर उभाड़ने लगी, तब तो कैकेयीने बड़ी बुरी तरह उसे फटकार दिया—

ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता।
जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्तव्यं तव पापिनि॥

यहाँ तुलसीके शब्दोंमें कैकेयीकी भाव-रक्षा देखिये—

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥

इस प्रसङ्गसे पता लगता है कि कैकेयी श्रीरामको कितना अधिक प्यार करती थीं और इन्हें श्रीरामके राज्याभिषेकमे कितना बड़ा सुख था। इसके बाद मन्थराके पुनः बहकानेपर कैकेयीके द्वारा जो कुछ कार्य हुआ, उसे यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। उसी कुकार्यके लिये तो कैकेयी आजतक पापिनी और अनर्थकी मूलकारणरूपा कहलाती है, परंतु विचार करनेकी बात है कि श्रीरामको इतना चाहनेवाली, कुलप्रथा और कुलकी रक्षाका सर्वदा ध्यान रखनेवाली, परमसुशीला कैकेयीने राज्यलोभसे ऐसा अनर्थ क्यो किया? जो थोड़ी देर पहले रामको भरतसे अधिक प्रिय बतलाकर उनके राज्याभिषेकके सुसंवादपर दिव्याभरण पुरस्कार देती थीं और राम तथा दशरथकी निन्दा करनेपर, भरतको राज्य देनेकी प्रतिज्ञा जाननेपर भी मन्थराको 'घरफोरी' कहकर उसकी जीभ निकलवाना चाहती थीं, फिर ये जरा-सी बातपर इतनी कैसे बदल जाती है कि ये रामको चौदह सालके लिये वनके दुःख सहन करनेके लिये भेज देती है और भरतके शील-स्वभावको जानती हुई भी उनके लिये राज्यका वरदान चाहती है?

इसमे रहस्य है। वह रहस्य यह है कि कैकेयीका जन्म भगवान् श्रीरामकी लीलामे प्रधान कार्य करनेके लिये ही हुआ था। कैकेयी भगवान् श्रीरामको परब्रह्म परमात्मा समझती थीं और श्रीरामके लीलाकार्यमे सहायक बननेके लिये इन्होंने श्रीरामकी रुचिके अनुसार यह जहरकी घूँट पी ली थी। यदि कैकेयी श्रीरामको वन भिजवानेमें कारण न बनती तो श्रीरामका लीलाकार्य ही सम्पन्न न होता; न सीताका हरण होता और न राक्षस-राज रावण अपनी सेनासहित मारा जाता। श्रीरामने अवतार धारण किया था—'दुष्कृतोका विनाश करके साधुओका परित्राण करनेके लिये। दुष्टोंके विनाशके लिये हेतुकी आवश्यकता थी। विना अपराध मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम किसीपर आक्रमण करने क्यों जाते। आजकलके राज्यलोभी लोगोंकी भाँति वे जबरदस्ती परस्वाहरण करना तो चाहते ही नहीं थे, उन्हे मर्यादाकी रक्षा करके ही सारा काम करना था। रावणको मारनेका कार्य भी दयाको लिये हुए था, मारकर ही उसका उद्धार करना था। दुष्टकार्य करनेवालोका वध करके ही साधु और दुष्टोंका—दोनोंका परित्राण करना था। साधुओको दुष्टोसे बचाकर सदुपदेशसे और दुष्टोंके लिये कालमूर्ति होकर मृत्यु-रूपसे—एक ही वारसे दो शिकार करने थे। पर इस कार्यके लिये भी कारण चाहिये, वह कारण था सीताहरण। इसके सिवा अनेक शाप-वरदानोंको भी सच्चा करना था। पहलेके हेतुओंकी मर्यादा रखनी थी, परंतु वन गये विना सीताहरण होता कैसे? राज्याभिषेक हो जाता तो वन जानेका कोई कारण नहीं रह जाता। महाराज दशरथकी मृत्युका समय समीप आ पहुँचा था, उसके लिये भी किसी निमित्तकी रचना करनी थी। अतएव इस निमित्तके लिये देवी कैकेयीका चुनाव किया गया और महाराज दशरथकी मृत्यु एवं रावणका वध—इन दोनो कार्योंके लिये कैकेयीके द्वारा राम-वनवासकी व्यवस्था करायी गयी।

सर्वनियन्ता भगवान् श्रीरामकी ही प्रेरणासे देवताओंके द्वारा प्रेरित होकर जब सरस्वतीदेवी कैकेयीकी बुद्धि फेर गयीं और जब उनपर उनका पूरा असर हो गया—'भावी बस प्रतीति उर आई'—तब भगवदिच्छानुसार वरतनेवाली कैकेयी भगवान्के मायावश ऐसा कार्य कर बैठीं, जो अत्यन्त क्रूर होनेपर भी भगवान्की लीलाकी सम्पूर्णताके लिये अत्यन्त आवश्यक था। इससे कैकेयीके मूल भावोको अन्यथा नहीं समझा जा सकता।

अब प्रश्न यह है कि जब कैकेयी भगवान्की परम भक्ता थीं, प्रभुकी इस आभ्यन्तरिक गुह्यलीलाके अतिरिक्त प्रकाशमे भी श्रीरामसे अत्यन्त प्यार करती थीं, राज्यमे

और परिवारमे उनकी बड़ी सुख्याति थी, सारा कुटुम्ब कैकेयीसे प्रसन्न था, तब भगवान्‌ने इन्हींके द्वारा यह भीषण कार्य कराकर इन्हे कुटुम्बियो और अवधवासियोके द्वारा तिरस्कृत, पुत्रद्वारा अपमानित और इतिहासमें सदाके लिये लोकनिन्दित क्यो बनाया ? जब भगवान् ही सबके प्रेरक है, तब साध्वी सरला कैकेयीके मनमे सरस्वतीके द्वारा ऐसी प्रेरणा ही क्यो करवायी, जिससे इनका जीवन सदाके लिये दु:खी और नाम सदाके लिये वदनाम हो गया ?' इसीमें तो रहस्य है । भगवान् श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा है । कैकेयी उनकी परम अनुरागिणी सेविका हैं । जो सबसे गुह्य और कठिन कार्य होता है, उसको सबके सामने न तो प्रकाशित ही किया जा सकता है और न हर कोई उसे करनेमें ही समर्थ होता है । यह कार्य तो किसी अत्यन्त कठोरकर्मी, घनिष्ठ और परम प्रेमीके द्वारा ही [illegible] वदनामी हो, ऐसे कार्यके करके [illegible] उसीको चुना जाता है, जो अत्यन्त ही अन्तरंग हो । रामका लोकापवाद मिटानेके लिये श्रीसीताजी वनवास स्वीकार करती हुई संदेशा कहलाती है कि 'मै जानती हूँ मेरी शुद्धतामें आपको संदेह नहीं है, केवल आप लोकापवादके भयसे मुझे त्याग रहे है, तथापि मेरे तो आप ही परम गति हैं । आपका लोकापवाद दूर हो, मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी शोक नहीं है ।' यहाँ सीताजी 'रामकाज'के लिये कष्ट सहती हैं । परंतु उनकी वदनामी नहीं होती, प्रशंसा होती है । उनके पातिव्रतकी आजतक पूजा होती है । परंतु कैकेयीका कार्य इससे अत्यन्त महान् है । इन्हें तो 'रामकाज'के लिये रामविरोधी प्रख्यात होना पड़ेगा । **'यावच्चन्द्रदिवाकरौ'** गालियाँ सहनी पड़ेंगी । पापिनी, कलंकिनी, कुलघातिनीकी उपाधियाँ ग्रहण करनी पड़ेंगी, वैधव्यका दु:ख स्वीकार कर पुत्र और नगरवासियोंके द्वारा तिरस्कृत होना पड़ेगा । फिर भी 'रामकाज'के लिये श्रीरामने कैकेयीको ही प्रधान पात्र चुना है । इसीसे यह कलङ्कका चिर टीका उन्हींके सिर पाया गया है । यह इसीलिये कि वे परब्रह्म श्रीरामकी परम अन्तरङ्ग प्रेमपात्रा है । वे श्रीरामकी लीलाओमे सहायिका हैं; उन्हे वदनामी-खुशनामीसे कोई काम नहीं; उन्हे तो सब कुछ सहकर भी 'रामकाज' करना है । रामरूपी सूत्रधार जो कुछ पार्ट दें, उनके नाटककी साङ्गताके लिये उनके आज्ञानुसार इन्हें तो वही खेल खेलना है—चाहे वह कितना ही क्रूर क्यों न हो । कैकेयी अपना पार्ट बड़ा अच्छा खेलती हैं । राम अपने 'काजके' लिये सीता और लक्ष्मणको लेकर खुशी-खुशी वनके लिये विदा होते है । कैकेयी इस समय पार्ट खेल रही थीं, इसीलिये इनको उस सूत्रधारसे, नाटकके स्वामीसे, जिसके इङ्गितसे जगन्नाटकका प्रत्येक परदा पड़ रहा है और उसमे प्रत्येक क्रिया [illegible] मिलनेका अवसर नहीं मिलता । इसीलिये ये भरतके साथ वन जाती हैं और वहाँ श्रीरामसे—नाटकके स्वामीसे एकान्तमें मिलकर अपने पार्टके लिये पूछती है और साधारण स्त्रीकी भाँति लीलासे ही लीलामयसे उनको दु:ख पहुँचानेके लिये क्षमा चाहती हैं, परंतु लीलामय भेद खोलकर साफ कर देते है कि यह तो मेरा कार्य था, मेरी ही इच्छासे, मेरी मायासे हुआ था । तुम तो निमित्तमात्र थी, सुखसे भजन करो और मुक्त हो जाओ ।'

वहाँका प्रसङ्ग इस प्रकार है । जब भरत श्रीरामको लौटा ले जानेका बहुत आग्रह करते है, और वे किसी प्रकार नहीं मानते, तब भगवान् श्रीरामका रहस्य जाननेवाले मुनि वसिष्ठ श्रीरामके सकेतसे भरतको अलग ले जाकर एकान्तमें समझाते है—'पुत्र ! आज मैं तुझे एक गुप्त रहस्य सुना रहा हूँ । श्रीराम साक्षात् नारायण है, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावण-वधके लिये प्रार्थना की थी, इसीसे इन्होने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लिया है । श्रीसीताजी साक्षात् योगमाया हैं । श्रीलक्ष्मण

शेषके अवतार हैं, जो सदा श्रीरामके साथ उनकी सेवामें लगे रहते है। श्रीरामको रावणका वध करना है, इससे वे जरूर वनमें रहेंगे, तेरी माताका कोई दोष नहीं है—

कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम्॥
सर्वं देवकृतं नो चेदेवं सा भाषयेत् कथम्।
तस्मात् त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥

(अ० रा० २। ९। ४५–४६)

'कैकेयीने जो वरदान माँगे और निष्ठुर वचन कहे थे, सो सब देवका कार्य था—रामकाज था। नहीं तो भला, कैकेयी कभी ऐसा कह सकतीं? अतएव तुम रामके अयोध्या लौटा ले चलनेका आग्रह छोड़ दो।' रास्तेमें भरद्वाज मुनिने भी सकेतसे कहा था—'भरतजी! आप माता कैकेयीपर दोषारोपण न करें। रामका वनवास समस्त देव-दानव और ऋषियोंके परम हित और परम सुखका कारण होगा।' अब श्रीवसिष्ठजीसे स्पष्ट परिचय प्राप्तकर भरत समझ जाते हैं और श्रीरामकी चरणपादुका सादर लेकर अयोध्या लौटनेकी तैयारी करते हैं। इधर कैकेयीजी एकान्तमें श्रीरामके समीप जाकर आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहाती हुई व्याकुल-हृदयसे हाथ जोड़कर कहती हैं—'श्रीराम! तुम्हारे राज्याभिषेकमें मैंने विघ्न किया था। उस समय मेरी बुद्धि देवताओंने बिगाड़ दी थी और मेरा चित्त तुम्हारी मायासे मोहित हो गया था। अतएव मेरी इस दुष्टताको तुम क्षमा करो; क्योंकि साधु क्षमाशील हुआ करते हैं। फिर तुम तो साक्षात् विष्णु हो, इन्द्रियोंसे अव्यक्त सनातन परमात्मा हो, मायासे मनुष्यरूपधारी होकर समस्त विश्वको मोहित कर रहे हो। तुम्हींसे प्रेरित होकर लोग साधु-असाधु कर्म करते हैं। यह सारा विश्व तुम्हारे अधीन है, अस्वतन्त्र है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं कर सकता; जैसे कठपुतलियाँ नचानेवालेके इच्छानुसार ही नाचती हैं, वैसे ही यह बहुरूपधारिणी नर्तकी माया तुम्हारे ही अधीन है। तुम्हें देवताओंका कार्य करना था, अतएव तुमने ही ऐसा करनेके लिये मुझे प्रेरणा दी। हे विश्वेश्वर! हे अनन्त! हे जगन्नाथ! मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। तुम अपनी तत्त्वज्ञानरूपी निर्मल तीक्ष्णधारवाली तलवारसे मेरी पुत्र-वित्तादि विषयोंमे (मोह-) स्नेहरूपी फाँसी काट दो। मैं तुम्हारे शरण हूँ।' (अध्यात्मरामायण)

कैकेयीके स्पष्ट और सरल वचन सुनकर भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—'हे महाभागे! तुम जो कुछ कहती हो—सत्य कहती हो, इसमें किञ्चित् भी मिथ्या नहीं है। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मेरी ही प्रेरणासे उस समय तुम्हारे मुखसे वैसे वचन निकले थे। इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है। तुमने तो मेरा ही काम किया है। अब तुम जाओ और हृदयमें सदा मेरा ध्यान करती रहो। तुम्हारा स्नेहपाश सब ओरसे टूट जायगा और मेरी इस भक्तिके कारण तुम शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी। मै सर्वत्र समदृष्टि हूँ। मेरे न तो कोई द्वेष्य है और न प्रिय। मुझे जो भजता है, मैं भी उसीको भजता हूँ, परंतु हे मातः! जिनकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित है, वे मुझको तत्त्वसे न जानकर सुख-दुःखोंका भोक्ता साधारण मनुष्य मानते है। यह बड़े सौभाग्यका विषय है कि तुम्हारे हृदयमें मेरा यह भवनाशक तत्त्वज्ञान हो गया है। अपने घरमे मेरा स्मरण करती रहो। तुम कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होओगी।' (अध्यात्मरामायण)

भगवान्‌के इन वचनोंसे कैकेयीकी स्थितिका पता लगता है। भगवान्‌के कथनका सार यही है कि 'तुम महाभाग्यवती हो—लोग चाहे तुम्हे अभागिनी मानते रहे। तुम निर्दोष हो—लोग चाहे तुम्हें दोषी समझें। तुम्हारे द्वारा तो यह कार्य मैंने ही करवाया था। जिन लोगोंकी बुद्धि मायामोहित है, वे ही तुमको मामूली

भी समझते हैं। तुम्हारे हृदयमें तो मेरा तत्त्वज्ञान है। तुम धन्य हो।'

भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको सुनकर कैकेयी आनन्द और आश्चर्यपूर्ण हृदयसे सैकड़ो बार साष्टाङ्ग प्रणाम और प्रदक्षिणा करके सानन्द भरतके साथ अयोध्या लौट गयीं।

उपर्युक्त वर्णनसे यह भलीभाँति स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कैकेयीने जान-बूझकर स्वार्थ-बुद्धिसे कोई अनर्थ नहीं किया था। उन्होने जो कुछ किया सो श्रीरामकी प्रेरणासे 'रामकाज'के लिये। इस विवेचनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि कैकेयी बहुत उत्तमकोटिकी भक्तहृदया देवी थीं। ये सरल, स्वार्थहीन, प्रेममय, स्नेहवात्सल्ययुक्त, धर्मपरायणा, बुद्धिमती, आदर्श-पतिव्रता, निर्भय वीराङ्गना होनेके साथ ही भगवान् श्रीरामकी अनन्यभक्ता थीं। इनकी जो कुछ बदनामी हुई और हो रही है, सो सब श्रीरामकी अन्तरंग प्रीतिका निदर्शनरूप ही है। जिस देवीने जगतके आधार, प्रेमके समुद्र, अनन्यरामभक्त भरतको जन्म दिया, वह देवी कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं हो सकती। ऐसी प्रातःस्मरणीया देवीके चरणोंमें बार-बार अनन्त प्रणाम हैं।

निष्काम भक्त माता कुन्ती

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चित-रूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और दर्शन हो जानेपर फिर जीव जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं पड़ता।'

उपर्युक्त उक्ति पाण्डव-जननी देवी कुन्तीकी है, जिन्होंने अपने जीवनमें भगवान्‌से न कभी कुछ चाहा और न कभी कुछ माँगा ही। यदि उनकी कोई अभिलाषा थी तो वह मात्र प्रभुके नित्य दर्शनोंकी। वे श्रीकृष्णकी बुआ थीं और उनका सांनिध्य उन्हें सदा सुलभ था, पर उन्होंने अपने सुखके लिये कभी कोई याचना नहीं की। विपत्तिको मात्र उन्होंने इसलिये चाहा कि विषमतामें भगवान्‌का निरन्तर स्मरण बना रहता है।

पाण्डवोंकी माता कुन्ती वसुदेवजीकी सगी बहन थीं तथा राजा कुन्तिभोजकी गोद ली गयी थीं। जन्मसे उन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परंतु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्ती नामसे विख्यात हो गयीं। ये आरम्भसे ही बड़ी संयमशीला सुशीला एवं भक्तिमती थीं। एक बार कुन्तिभोजके यहां तेजस्वी ऋषि दुर्वासा अतिथिरूपमें पधारे। उनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया। कुन्तीकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी। राजपुत्री पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मण देवताकी सेवामें मनसा, वाचा, कर्मणा संलग्न हो गयी। उसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मण देवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया। ब्राह्मण देवताका व्यवहार बड़ा अव्यवस्थित था। वे कभी अनियत समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी वस्तु खानेको माँगते, जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता। किंतु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर देती, मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी कर रखी हो। उसके शीलस्वभाव और संयमसे ब्राह्मणको बड़ा संतोष हुआ। कुन्तीके बचपनकी यह ब्राह्मण-सेवा उसके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई; इससे उसके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे जाकर इन गुणोंका उसके अंदर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीमें निष्कामभावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। उन्हे बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ

निष्काम भक्त माता कुन्ती

श्रीकृष्ण और कुन्ती — भीमसेन और कुन्ती

श्रीकृष्ण–कुन्ती — गान्धारी–कुन्ती

महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। उनके सेवाव्रतका अनुष्ठान पूरा हुआ। महर्षि दुर्वासाको ढूँढ़नेपर भी इनकी सेवामे कोई त्रुटि नहीं दिखायी दी। वे इनपर बडे प्रसन्न हुए। उन्होने कहा—'बेटी! मै तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वरदान मॉग ले।' कुन्तीने ब्राह्मण देवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बूआ और पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वर मॉगनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्क बालिकाके अंदर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-काञ्चन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओको कुन्तीके इस आदर्श निष्कामसेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय, जिसमे भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो और जिसके बदलेमे कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामे प्रायः इन दोनों बातोका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याणका परम साधन बन जाती है। अस्तु!

जब कुन्तीने महर्षिसे कोई वर नहीं माँगा, तब उन्होंने कुन्तीके भविष्यपर गम्भीरतासे विचार किया। उन्होने समाधिसे देख लिया कि इसका विवाह पाण्डुसे होगा और संतानोत्पत्तिमें बाधा पड़ेगी। अतः उन्होने इन्हे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए दिव्य मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि—'इन मन्त्रोके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा। यह कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। आगे चलकर उनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे कुन्तीने धर्म, वायु, इन्द्रका आवाहन करके उनसे क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। इनकी सपत्नी माद्रीको अश्विनीकुमारसे दो पुत्र प्राप्त हुए—नकुल और सहदेव।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बडे ही धर्मात्मा थे। उनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे इनके मनमे बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ तथा उन्होने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलाञ्जलि देकर अपने पतिके साथ वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे उन्होने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। परंतु माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा—'बहन! मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी। तुम मेरे बच्चोकी सँभाल रखना।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा भी हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये। पतिके जीवनकालमें इन्होने माद्रीके साथ छोटी बहनका-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोके प्रति वही भाव रक्खा जो एक साध्वी स्त्रीको रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो उनकी विशेष ममता थी और वे भी इन्हे बहुत अधिक प्यार करते थे।

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बराबर कष्टमे बीता; परंतु ये बड़ी ही विचारशीला एव धैर्यवती थीं, अतः इन्होने कष्टोंकी कुछ भी परवा न की

और अन्ततक धर्मपर आरूढ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं रहती थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनो वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी सङ्कट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता था। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था।

एक दिन जिस ब्राह्मणके घरमें पाण्डवलोग भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको जब इस बातका पता लगा तो उनका हृदय दयासे भर आया। इन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर पाकर उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' ऐसा विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं। इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे अपनी पत्नीसे कह रहे थे—'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, स्वामी! मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे। पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका संदेहग्रस्त। इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये।' माता-पिताकी दुःखभरी बातें सुनकर उनकी कन्या बोली—'आप दोनों क्यों दुःखी हो रहे हैं! देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे। इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते! लोग संतान इसलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचाये।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे, कन्या भी रोये बिना न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण बालक कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहन! आप न रोएँ।' उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा।' उस अबोधकी भोली बातपर सब लोग हँस पड़े।

कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं। ये आगे बढ़कर बोलीं—'महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है। मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं। राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसी एकको भेज दूँगी, आप चिन्ता न करें।' ब्राह्मणदेवताने कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनते ही अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—देवि! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है, परंतु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्याका पाप नहीं ले सकता। 'कुन्तीने उन्हें बतलाया कि अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्र-सिद्ध और तेजस्वी है, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये। तब कुन्तीने भीमसेनको ब्राह्मणके कार्य-हेतु राक्षसके पास भेज दिया। भीमने उस राक्षसका अन्त कर देशको निष्कण्टक कर दिया। क्या, दूसरोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर भला कोई सामान्य

माता इस प्रकार बलिदान कर सकती है ? कहना न होगा कि कुन्तीके इस आदर्श त्याग और निःस्वार्थ (निष्कामतापूर्वक) परहितकी भावनाका संसारपर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा ।

कुन्तीदेवीका जीवन आरम्भसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्यामय और अनासक्त था । पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके समय ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहाँसे उन्होंने अपने पुत्रोंके लिये क्षत्रियधर्मपर डटे रहनेका अपना विशेष संदेश अपने भतीजे श्रीकृष्णके द्वारा भेजा । उन्होंने विदुला और संजयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हे कहला भेजा—'पुत्रो ! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, वह कार्य सम्पन्न करनेका समय आ गया है । इस समय तुमलोग मेरे दूधको न लजाना ।' महाभारत-युद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज सम्राट्‌के पदपर अभिषिक्त हुए और उन्हे राजमाता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, तब कुन्तीने इसपर कोई विशेष उत्साहका भाव न दिखाकर तटस्थ और संयत रहकर, (निर्लेप भावसे) पुत्रवियोगसे दुखी अपने जेठ-जेठानी धृतराष्ट्र और गान्धारीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया और द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिताने लगीं; यहाँतक कि जब वे दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वनमें जाने लगे तो उस समय कुन्तीने मौनभावसे उनका अनुगमन किया । जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उस समय भी स्वेच्छासे सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ही काम था । जिन जेठ-जेठानीसे उन्हे तथा उनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन्हीं पूज्य स्वजनों (जेठ-जेठानी)के प्रति सम्मान तथा सेवात्यागका ऐसा उदाहरण संसारमें अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता । हमारी माताओं एवं बहनोंको कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये । निष्कामताकी दिशामें त्यागका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

धर्मराज युधिष्ठिर

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
शत्रुर्विनश्यति धनंजयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः ॥

(पाण्डवगीता २)

धर्मराज युधिष्ठिर पाण्डव भाइयोंमें सबसे बड़े थे । वे सत्यवादी, धर्ममूर्ति, सरल, विनयी, मद-मान-मोहवर्जित, दम्भ-काम-क्रोधरहित, दयालु, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, महान् विद्वान्, ज्ञानी, धैर्यसम्पन्न, क्षमाशील, तपस्वी, प्रजावत्सल, मातृ-पितृ-गुरु-भक्त और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे । धर्मके अंशसे उत्पन्न होनेके कारण वे धर्मके गूढ तत्त्वको खूब समझते थे । धर्म और सत्यकी सूक्ष्मतर भावनाओंका यदि किसीके भीतर पूर्ण विकास था तो वह पाण्डवोंमे धर्मराज युधिष्ठिरमें ही था, सत्य और क्षमा तो इनके सहजात सद्गुण थे । बड़े-से-बड़े विकट प्रसंगोंमें भी उन्होने सत्य और क्षमाका त्याग नहीं किया । जब द्रौपदीका वस्त्र उतर रहा था, भीम-अर्जुन-जैसे योद्धा भाई इस अपमानका बदला लेनेके लिये धर्मराजका संकेत पाते ही समस्त कुरुकुलका नाश करनेको उद्यत थे और बडे भाईके सम्मान और संकोचसे कुछ कर न पा रहे थे, तब धर्मराज धर्महेतु सब कुछ चुपचाप सुन और सह रहे थे ।

नित्यशत्रु दुर्योधन जिस समय अपना ऐश्वर्य दिखला-कर पाण्डवोको नीचा दिखानेके लिये द्वैत वनमें गया था, उस समय अर्जुनके मित्र गन्धर्व चित्रसेनने कौरवोंकी

बुरी नीयत जानकर उन सबको जीतकर उन्हें स्त्रियों-सहित कैद कर लिया था; तब युद्धसे भागे हुए कौरवोंके सैनिक तथा मन्त्रिगण युधिष्ठिरकी शरण गये। उन्होंने दुर्योधन तथा कुल-कुल-कामिनियोंको छुड़ानेके लिये धर्मराजसे अनुरोध किया। उस समय भीमने तो प्रसन्न होकर कहा—'अच्छा हुआ, हमारे करनेका काम दूसरोंने ही कर डाला।' परंतु धर्मराजको यह बुरा लगा। उन्हें भीमके वचन नहीं सुहाये। उन्होंने तुरंत कहा—'भाई! ऐसा न कहो, यह समय कठोर वचन कहनेका नहीं है; अपितु कुछ करनेका है। प्रथम तो ये लोग हमारी शरण आये हैं; अतः भयभीत आश्रितोंकी रक्षा करना हम क्षत्रियोंका कर्तव्य है। दूसरे अपने स्वजाति-बान्धवोंमें परस्परमें चाहे जितना कलह हो, पर जब कोई बाहरी शत्रु आकर सताये या अपमान करे तो हम सबको मिलकर उसका प्रतिकार अवश्य करना चाहिये। हमारे भाइयों और पवित्र कुरुकुलकी स्त्रियोंको गन्धर्व कैद करें और हम बैठे रहें, यह सर्वथा अनुचित है।'

युधिष्ठिरने पुनः कहा—'भाइयो, पुरुषसिंहो! उठो और जाओ। शरणागतकी रक्षा और कुलके उद्धारके लिये तुम चारों भाई जाकर शीघ्र ही कुल-वधुओंसहित दुर्योधनको छुड़ाकर ले आओ।' युधिष्ठिरकी यह कैसी अजातशत्रुता, धर्मप्रियता और नीतिज्ञता तथा अपने शत्रुके भी प्रति यह कैसा निःस्वार्थ हितकारी भाव है!

अजातशत्रु धर्मराजके इन द्वेषहीन नीतियुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुनने प्रभावित हो, यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि उन गन्धर्वोंने दुर्योधन आदिको प्रेम तथा शान्ति-पूर्वक नहीं छोड़ा तो आज गन्धर्वराजको पराजयका मुँह देखना पड़ेगा।'

वनमें जब द्रौपदी और भीम धर्मराजको युद्धके लिये उत्तेजित करते हैं और उन्हें मुँह आयी (अनर्गल) बातें सुनाते हैं, तब भी धर्मराज सत्य तथा धर्मकी अपनी नीतिपर अटल बने रहते हैं। वे कह जाते हैं कि बारह वर्ष वनवास और एक वर्षके अज्ञातवासकी जो शर्त मैंने स्वीकार की है, उसका पालन करना आवश्यक है। दिये हुए अपने उस वचनको मैं तोड़ नहीं सकता—

> मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
> वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
> राज्यं च पुत्रांश्च यशो धनं च
> सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥

'मैं अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करूँगा, मेरी समझमें सत्यके सामने अमरत्व, जीवन, राज्य, पुत्र, यश और धन आदिका कोई मूल्य नहीं है।'

एक बार परिस्थितिविशेषवश युद्धके समय रणभूमिमें द्रोणाचार्यके वधके प्रसङ्गमें असत्य बोलनेका काम पड़ा, पर धर्मराज अन्ततक पूरा असत्य न रख सके, सत्य शब्द 'कुञ्जर'का उच्चारण उन्होंने कर ही दिया। कठिन समयमें भी सत्य, धर्म, न्याय तथा दूसरोंके हितपरक नीतिकी रक्षा तथा स्वयं अपने स्वार्थ-त्यागकी भावना युधिष्ठिरके चरित्रकी विशेषता है।

महाराज युधिष्ठिर निष्काम तथा धर्मात्मा थे। एक बार उन्होंने अपने भाइयों और द्रौपदीसे कहा—'सुनो, मैं धर्मका पालन इसलिये नहीं करता कि मुझे उसका फल मिले। धर्माचरण तो शास्त्रोंकी आज्ञा है, इसलिये उसका पालन करना अनिवार्य है; अतएव मैं तदनुसार आचरण करता हूँ। धर्माचरण भी पूर्णतः निष्काम तथा किसी प्रकारकी फलेच्छासे सर्वथा रहित होना चाहिये। ऐसे धर्मानुष्ठानका ही विशेष मूल्य है।

वनमें यक्षरूप धर्मके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेपर जब धर्मने युधिष्ठिरसे कहा कि तुम जिसे कहो तुम्हारे इन भाइयोंमेंसे किसी एकको जीवित कर दूँ! तब युधिष्ठिरने कहा—'नकुलको जीवित कर दीजिये।'

यक्षने पूछा—'ऐसा क्यों ? तुम्हे कौरवोंसे लड़ना है तो भीम और अर्जुन-जैसे अत्यन्त बलवान् भाइयोंमेसे किसी एकको जीवनदान न दिलाकर तुम नकुलके लिये मुझसे प्रार्थना क्यों करते हो ?' 'युधिष्ठिरका उत्तर था—'मेरी दो माताएँ थीं कुन्ती और माद्री। कुन्तीका तो मैं एक पुत्र जीवित हूँ, मेरी दिवंगत माता माद्रीका भी तो एक पुत्र रहना चाहिये; धर्म यही कहता है। राज्य जाये या रहे मुझे इसकी कोई कामना नहीं है।' युधिष्ठिरकी धर्ममय ऐसी समबुद्धि देखकर धर्म बड़े संतुष्ट हुए। उन्होने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकटकर, प्रसन्न हो, युधिष्ठिरके सब भाइयोको जीवित कर दिया।

जिस समय वनमें भगवान् कृष्णने पाण्डवोंको उपदेश दिया, उस समय हाथ जोड़कर युधिष्ठिरने कहा था—'केशव! निःसंदेह पाण्डवोंकी आप ही गति हैं। हम सब आपकी ही शरण हैं। हमारे जीवनका एकमात्र अवलम्बन आप ही हैं। हमें आपके सिवा और कुछ नहीं चाहिये।' अनन्यता, निष्कामता तथा भगवान् वासुदेवके प्रति युधिष्ठिरकी नैष्ठिक-भक्तिका यह उदाहरण है। निष्कामताके उद्भावक भगवान् श्रीकृष्णमें यह निष्काम-निष्ठा कितनी अनूठी है !

द्रौपदीसहित पाँचों पाण्डवोंने जब हिमालयमें गल जानेके लिये प्रस्थान किया तो उनके साथ एक कुत्ता भी था। आगे जाकर द्रौपदी और चारों भाई तो एक-एक करके गिर पड़े, पर युधिष्ठिरके साथमें कुत्ता चलता रहा। पश्चात् युधिष्ठिरके लिये स्वयं देवराज इन्द्र रथ लेकर आये और उन्होंने कहा—'महाराज! रथपर सवार होकर सदेह स्वर्ग पधारिये।' इसपर धर्मराजने उत्तर दिया—'यह कुत्ता मेरे साथ आ रहा है, इसको भी साथ ले चलनेकी आज्ञा दें तो मैं आपके साथ चल सकता हूँ।' देवराज इन्द्रने कहा—'धर्मराज! यह आपका कैसा मोह है! आप सिद्धि और अमरत्वको प्राप्त हो चुके हैं, पर यह कुत्ता स्वर्गको कैसे जा सकता है ?' युधिष्ठिरने कहा—'देवराज! ऐसा सोचना-कहना आर्योंका धर्म नहीं है। जिस ऐश्वर्यके लिये अपने सहगामीका त्याग करना पड़े, वह मुझे नहीं चाहिये, चाहे स्वर्ग न मिले, परंतु इस कुत्तेका त्याग मैं नहीं कर सकता।' इतनेमें ही कुत्ता अदृश्य हो गया और उसके स्थानपर साक्षात् धर्मराज प्रकट होकर बोले—'राजन्! मैंने तुम्हारे सत्य और कर्तव्यकी निष्ठा देखनेके लिये ही ऐसा किया था। तुम परीक्षामें उत्तीर्ण हुए।' वस्तुतः महाराज युधिष्ठिरकी नैष्कर्म्य-भावना और उनकी धर्मनिष्ठा हमारे लिये परम आदर्श और प्रेरणादायी हैं।

महाराज युधिष्ठिरकी अपूर्व पूर्व निर्विण्णता

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः। गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥
क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पन्थाः कोऽस्तीति पृच्छ माम्। अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥
हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः। अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥
जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन्। कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥

'मैं ग्राम्य सुखोंका परित्याग करके साधु पुरुषोंके चले हुए मार्गपर तो चल सकता हूँ, परंतु तुम्हारे आग्रहके कारण कदापि राज्य नहीं स्वीकार करूँगा। एकाकी पुरुषके चलनेयोग्य कल्याणकारी मार्ग कौन-सा है ? यह मुझसे पूछो, अथवा यदि पूछना नहीं चाहते हो तो बिना पूछे भी मुझसे सुनो। मैं ग्राम्य सुख और आचारपर लात मारकर वनमें रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करूँगा, फल-मूल खाकर मृगोंके साथ विचरूँगा। दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित आहार करके शरीरको दुर्बल कर दूँगा। मृगचर्म तथा वल्कल-वस्त्र धारण करके सिरपर जटा रखूँगा। (महाभा० शान्तिपर्व ९। २—५)

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण योगेश्वर तथा पूर्ण मुक्त लीला-पुरुषोत्तम थे। वे सांसारिक कामनाओंसे सदा निःस्पृह तथा अहंता-ममतासे सर्वथा रहित थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन अपने निजी स्वार्थके साधनमें नहीं, अपितु मानवजातिके परम कल्याण-साधनमें ही व्यतीत किया। उनके लिये कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु-न थी, जिसको पानेकी वे इच्छा करते। उनका कहीं भी कोई निजी स्वार्थ नहीं था, जिसे सिद्ध करनेकी वे चेष्टा करते। उन्हें नित्य समाधि सदा प्राप्त थी, जिसके पा लेनेपर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६। २२)

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें भीष्म-जैसे महान् पुरुषने सर्वप्रथम उनकी ईश्वरवत् पूजा की और उनके इस प्रस्तावका अकेले चेदिराज शिशुपालको छोड़कर सारी सभाने एक स्वरसे अनुमोदन किया था। श्रीकृष्णने सांदीपनि-ऋषिके यहाँ रहकर चौदह विद्याओ तथा चौंसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया था। यही नहीं, पाण्डवोके वनवासके समय उन्होने बारह वर्षोंतक अङ्गिरा नामक ऋषिसे घोर योगकी क्रियाएँ सीखी थीं और योगाभ्यास तथा आध्यात्मिक-चिन्तनमें समय बिताया था। इस प्रकार वे पूर्ण योगेश्वर बन गये थे। श्रीमद्भगवद्गीतामे उन्होने स्वयं अपनेको ईश्वर बतलाया है, इसमें कोई संदेह भी नहीं है; क्योंकि ईश्वरभावको प्राप्त प्रत्येक पुरुष अपनेको ईश्वर कह सकता है। इस भाँति तो श्रीकृष्ण सबके स्रष्टा, सबकी आत्मा, पूर्णब्रह्म, पूर्णतम और साक्षात् भगवान् थे। लोककल्याणकी अपनी इच्छासे ही वे इस धराधामपर अवतरित हुए थे। गीताके ग्यारहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया था। महाभारतके उद्योगपर्वमें कथा आती है कि जब वे दूत बनकर कौरवोंकी सभामें गये थे, तब जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्रको भी उन्होंने अपना वही विश्वरूप दिखलाया था। अश्वत्थामाके द्वारा छोडे हुए ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे, जब उत्तराका गर्भ जलने लगा, उस समय श्रीकृष्णने कहा था—

'यदि मैं कभी झूठ न बोला होऊँ, यदि मैंने किसीके प्रति भी द्वेष न रखा हो, यदि मेरा धर्म एवं ब्राह्मणोंमें सदा प्रेम रहा हो तो पाण्डवोंका एकमात्र आधार यह बालक जी उठे।' श्रीकृष्णके इस कथनके अनुसार अभिमन्युपुत्र परीक्षित्की रक्षा हुई थी। श्रीकृष्णमें गम्भीर ज्ञान, दूरदर्शिता, प्रेम, निःस्वार्थता तथा लोक-कल्याण-निष्ठा आदि ऐसे अनेक गुण-गण-समूह हैं, जिनका यथार्थतः वर्णन किया जाना सम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि वे इस धराधामपर एकमात्र पूर्णतम आदर्श पुरुष थे। जो पूर्णावस्थाको प्राप्त होकर सदा आत्मामें स्थित होते हैं, वे लोगोको अपने-अपने विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओसे अच्छे-बुरे कर्म करते हुए केवल प्रतीत मात्र होते हैं।

वास्तवमें वे कर्मोंसे परे होते हैं। स्वयं उन्हींके वचन हैं—'जिसके अंदर अहंकार नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक कार्योंमें लिप्त नहीं होती, वह लोकोंका संहार करता हुआ भी वास्तवमें न तो हिंसा करता है और न वह उस कर्मसे बँधता ही है' (गी० १८। १७) यद्यपि श्रीकृष्णके कुछ बालचरित्रोंके विषयमें बहुत लोगोने आक्षेप किये हैं, परंतु आक्षेप करनेवाले इस बातको भूल गये हैं कि जिस समय श्रीकृष्णने गोपिकाओंके साथ रास-लीला की थी, उस समय वे निरे बालक थे। इसके अतिरिक्त उन लीलाओंमें भी आध्यात्मिक-रहस्य, उनका लोकहितकारी उद्देश्य तथा विश्व-कल्याणका भाव ही निहित था। विशेष ध्यान देनेयोग्य बात जो हमारे लक्ष्यमें आती है, वह यह है कि श्रीकृष्णने सदा साधुओंका साथ दिया और दुष्टोंका संहार किया।

भगवान् श्रीकृष्णका जीवन बाल्यकालसे लेकर अन्ततक एक-दो नहीं, किंतु अनन्त अलौकिक लीलाओं तथा घटनाओंसे भरपूर है। यही कारण है कि कृष्ण-तत्त्वको जाननेवाले भक्तों तथा आर्य महर्षियोंने— **'एते चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'** कहकर अन्य अवतारी-पुरुषोंको तो अंशावतार ही, पर भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार माना है। युगवादके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णका जन्म द्वापरयुगमें माना जाता है। जिस समय अन्यायी राजा कंसके अत्याचारोंसे प्रजामें हाहाकार मचा हुआ था, गो-ब्राह्मण सताये जा रहे थे, धर्म-कर्म नष्टप्राय हो चुके थे एवं पवित्र भारतभूमि पापके भारसे दबी जा रही थी, ऐसे समयमें कंसके कारागारमें पड़ी हुई माता देवकीकी परमपावन कुक्षिसे भाद्रपद-मासकी कृष्णाष्टमीकी ठीक अर्धरात्रिके समय उसी कारागारमें भगवान् कृष्णका जन्म हुआ।

श्रीकृष्णकी दैवी-शक्ति—श्रीकृष्णके बाल्य तथा उत्तर जीवनकी प्रत्येक घटना आश्चर्य और चमत्कारोंसे भरी हुई हैं। छोटी-अवस्थामें ही कितने ही छद्म-वेषधारी दैत्योंको मारना, गोवर्धन-गिरिका धारण एवं कालियनागका दमन आदि घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्णकी किसी महान दैवी-शक्तिकी परिचायिका हैं। भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रमें सबसे बड़ी विचित्रता तो यह है कि किसी भी अवस्थामें उनमें मानव-सुलभ विकारोंके दर्शन नहीं होते। विषमसे-विषम कालमें भी उनकी वंशीका वही देव-विमोहित निनाद अव्याहत रहता है। वंशीका जो मधुर, सुरीला स्वर गोपियोंको कदम्बके-वृक्षके ऊपरसे निनादित हुआ सुनायी पड़ता है, वही मधुर ध्वनि कालियनागके फणके ऊपर बजनेवाली वंशीमें भी स्वनित होती है। इन दोनों अवस्थाओंमें कितना भी अन्तर क्यों न हो, किंतु श्रीकृष्णके संकल्पमें और तदनुरूप वंशीके निनादमें कोई भी अन्तर नहीं पाया जाता।

भगवान् श्रीकृष्णकी जितेन्द्रियता—साधारणतया लोकमें भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रके सम्बन्धमें कुछ भ्रम-सा फैला हुआ है। इसका मुख्य कारण है—श्रीकृष्ण-चरित्रका तत्त्वतः विचार करनेकी पात्रताकी कमी है। धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि जब माधव—श्रीकृष्ण समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तुम कैसे जानते हो और मैं उन्हें क्यों नहीं जानता। संजय कहते हैं कि 'हे राजन्! जिनका ज्ञान अज्ञान-के द्वारा ढका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। भगवान् केशव अपनी योगमायासे मनुष्योंको ठगते हैं। जो केवल उन्हींकी शरणमें चले जाते हैं, वे ही मायासे मोहित नहीं होते। वस्तुतः श्रीकृष्ण-जैसे महायोगेश्वरपर किसी प्रकार किंचित् भी विलासिताका आरोप नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भागवतकी जिस रासपंचाध्यायीके आधारपर भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाका अनुकरण किया जाता है, वहाँ भी उनके लिये **'साक्षान्मन्मथमन्मथः'** तथा **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'** इत्यादि वाक्योंका ही प्रयोग किया गया है। श्रीमद्भागवतमें विभिन्न-नामोंसे जिन गोपिकाओंका वर्णन प्राप्त है, वे सब तत्त्वतः योगिराजभगवान् श्रीकृष्णकी चिरसहचरी श्रुतियाँ कही गयी हैं। अपनी अलौकिक आत्म-शक्तिके परीक्षणार्थ उन दिव्य सिद्धियोंके प्रलोभनसे प्रलोभित न होकर यथासमय उनका आवाहन तथा विसर्जन करना भगवान् श्रीकृष्ण-जैसे योगिराजके लिये ही सम्भव हो सकता है। जिन त्रिकालज्ञ महर्षि वेदव्यासने भगवान् श्रीकृष्णके लिये—**'गो-गोप-गोपी-पतिः'** इस सुन्दर विशेषणका प्रयोग किया है, वे ही उनकी आदर्श जितेन्द्रियताकी महत्ताका वर्णन करनेमें समर्थ हैं, अन्य सब असमर्थ हैं।

श्रीकृष्णने कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध कराया और उस युद्धके आरम्भमें जीवको मुक्त कर देनेवाले दिव्य

योगकी अलौकिक शक्तिका महत्त्व सुनाया। उन्हीं उपदेशोंका जो अठारह अध्यायोंमें निबद्ध संग्रह गीताके नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध है। गीता-ज्ञानके सदृश पूर्ण ज्ञानका उपदेश केवल श्रीकृष्णके समान कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है। महाभारत-युद्धके परिणामको देखकर तथा विभिन्न संग्रामोंमें जो अनेक घटनाएँ हुईं, उनका निरीक्षण करके हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि श्रीकृष्णने अपने अवतारके उद्देश्य अर्थात् धर्म-संस्थाओंको पूर्ण करनेके हेतुसे ही पाण्डवोंका पक्ष लिया था। उनका अक्षुब्ध मन, प्रगल्भबुद्धि, साधुओंके प्रति अहैतुभ प्रेम, भ्रमात्मक विचारों या भावोंका पूर्ण अभाव उनके ऐश्वर्यके परिचायक हैं। यद्यपि वे अपूर्ण मनुष्योंके बीचमें रहते हुए उन मनुष्योंके समान ही व्यवहार करते, बोलते-चलते और विचार करते हुए हमें दीख पड़ते हैं।

संसारको लोक-संग्रहका सच्चा मार्ग और महत्त्व बतलानेवाले श्रीकृष्ण धर्म और नियमोंके प्रवर्तक थे। श्रीकृष्णका यथार्थ रूप जाननेका सर्वोत्तम उपाय उनसे प्रेम करना तथा उनकी भक्ति करना है। श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि 'मेरे आचरणोंका अनुकरण न करो, यदि तुम मोक्ष चाहते हो और मुझसे प्रेम करते हो तो मेरी आज्ञाका पालन करो—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

'जो कोई मेरे दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वसे जान लेगा, वह (सब पापोंसे) मुक्त होकर पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होगा, वह मुझे पा लेगा।' योगेश्वर श्रीकृष्णके श्रीमुखके ये दिव्य वचन सर्वथा धारण करने योग्य एवं सहज कल्याण-प्रदायक हैं। निःसंदेह श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् थे और योगेश्वरोंके ईश्वर थे। उन्होंने जिस प्रकारका कर्म करनेको और जिस प्रकारसे करनेको कहा है—उसका अनुसरण जो कोई करता है, वह धन्य है। भगवान्‌के वचनोंके अनुसार स्वकर्म या शुभ कर्तव्यकर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं हो सकती—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।'

सकाम ऐश्वर्य स्थायी नहीं होता

जब भगवान् विष्णुने वामनरूपसे बलिसे पृथ्वी तथा स्वर्गका राज्य छीनकर इन्द्रको दे दिया, तब कुछ ही दिनोंमें राज्यलक्ष्मीके स्वाभाविक दुर्गुण—गर्वसे इन्द्र पुनः उन्मत्त हो उठे। एक दिन वे ब्रह्माजीके पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले—'पितामह! अब अपार दानी राजा बलिका कुछ पता नहीं लग रहा है। मैं सर्वत्र खोजता हूँ, पर उनका पता नहीं मिलता। आप कृपाकर मुझे उनका पता बताइये।' ब्रह्माजीने कहा—'तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं; तथापि किसीके पूछनेपर झूठा उत्तर नहीं देना चाहिये, अतएव मैं तुम्हें बलिका पता बतला देता हूँ। राजा बलि इस समय ऊँट, बैल, गधा या घोड़ा बनकर किसी खाली घरमें रहते हैं।' इन्द्रने इसपर पूछा—'यदि मैं किसी स्थानपर बलिको पाऊँ तो उन्हें अपने वज्रसे मार डालूँ या नहीं?' ब्रह्माजीने कहा—राजा बलि—'अरे! वे कदापि मारने योग्य नहीं हैं। तुम्हें उनके पास जाकर कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।'

इसके बाद देवराज इन्द्र दिव्य आभूषण धारणकर, ऐरावतपर चढकर बलिकी खोजमें निकल पड़े। अन्तमें एक खाली घरमें उन्होंने एक गदहा देखा। कई लक्षणोंसे उन्होंने अनुमान किया कि ये ही राजा बलि हो सकते हैं। इन्द्रने कहा—'दानवराज! इस समय तुमने बड़ा विचित्र वेष बना रक्खा है। क्या तुम्हें अपनी इस दुर्दशापर कोई दुःख नहीं होता?

इस समय तुम्हारे छत्र, चामर कहाँ है अब तुम्हारी वैजयन्ती माला कहाँ गयी ? कहाँ गया वह तुम्हारा अप्रतिहत दानका महाव्रत और कहाँ गया तुम्हारा सूर्य वरुण, कुबेर, अग्नि और जलका रूप ?'

बलिने कहा—'देवेन्द्र ! इस समय, तुम मेरे छत्र, चामर, सिंहासनादि उपकरणोंको नहीं देख सकोगे। पर फिर कभी मेरे दिन लौटेंगे और तब तुम उन्हें देख सकोगे। तुम जो इस समय अपने ऐश्वर्यके मदमें आकर मेरा उपहास कर रहे हो, यह केवल तुम्हारी तुच्छ बुद्धिका ही परिचायक है। मालूम होता है, तुम अपने पूर्वके दिनोंको सर्वथा ही भूल गये। पर सुरेश ! तुम्हें समझ लेना चाहिये कि तुम्हारे वे दिन पुनः लौटेंगे। देवराज ! इस विश्वमें कोई वस्तु सुनिश्चित और सुस्थिर नहीं है। काल सबको नष्ट कर डालता है। इस कालके अद्भुत रहस्यको जानकर मैं किसीके लिये भी शोक नहीं करता। यह काल धनी, निर्धन, बली, निर्बल, पण्डित, मूर्ख, रूपवान्, कुरूप, भाग्यवान्, भाग्यहीन, बालक, युवा, वृद्ध, योगी, तपस्वी, धर्मात्मा, शूर, बड़े-से-बड़े अहंकारियोंमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ता और सभीको एक समान ग्रस्त कर लेता है—सबका कलेवा कर जाता है। ऐसी दशामें महेन्द्र ! मैं क्यों सोचूँ ? कालके ही कारण मनुष्योंको लाभ-हानि और सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। काल ही सबको देता और पुनः छीन भी लेता है। कालके ही प्रभावसे सभी कार्य सिद्ध होते हैं। इसलिये वासव ! तुम्हारा अहंकार, मद तथा पुरुषार्थका गर्व केवल मोहमात्र है।

ऐश्वर्योंकी प्राप्ति या विनाश किसी मनुष्यके अधीन नहीं है। मनुष्यकी कभी उन्नति होती है और कभी अवनति। यह संसारका नियम है, इसमें हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये। न तो सदा किसीकी उन्नति होती है और न सदा अवनति या पतन ही। समयसे ही ऊँचा पद मिलता है और समय ही गिरा देता है। इसे तुम अच्छी तरह जानते हो कि एक दिन देवता, पितर, गन्धर्व, मनुष्य, नाग, राक्षस—सब मेरे अधीन थे। अधिक क्या—

'नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनिर्बलिः'

'जिस दिशामें राजा बलि हों, उस दिशाको भी नमस्कार'—यह कहकर मैं जिस दिशामें रहता था, उस दिशाको भी लोग नमस्कार करते थे। पर जब मुझपर भी कालका आक्रमण हुआ, मेरा भी दिन पलटा खा गया और मैं इस दशामें पहुँच गया, तब किस गरजते और तपते हुएपर कालका चक्र न फिरेगा ? मैं अकेला बारह सूर्योंका तेज रखता था, मैं ही पानीका आकर्षण करता और बरसाता था। मै ही तीनों लोकोंको प्रकाशित करता और तपाता था। सब लोकोंका पालन, संहार, दान, ग्रहण, बन्धन और मोचन मैं ही करता था। मैं तीनों लोकोंका स्वामी था, किंतु कालके फेरसे इस समय मेरा वह प्रभुत्व समाप्त हो गया। विद्वानोंने कालको दुरतिक्रम और परमेश्वर कहा है। बड़े वेगसे दौड़नेपर भी कोई मनुष्य कालको लाँघ नहीं सकता। उसी कालके अधीन हम, तुम—सब कोई हैं। इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि सचमुच बालकों-जैसी है। शायद तुम्हें पता नहीं कि अबतक तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और नष्ट हो चुके। यह राज्यलक्ष्मी, सौभाग्यश्री, जो आज तुम्हारे पास है, तुम्हारी बपौती या खरीदी हुई दासी नहीं है; वह तो तुम-जैसे हजारों इन्द्रोंके पास रह चुकी है। वह इसके पूर्व मेरे पास थी। अब मुझे छोड़कर तुम्हारे पास गयी है और शीघ्र ही तुमको भी छोड़कर दूसरेके पास चली जायगी। मैं इस रहस्यको जानकर रत्तीभर भी दुःखी नहीं होता।

बहुत-से कुलीन धर्मात्मा गुणवान् राजा अपने योग्य मन्त्रियोंके साथ भी घोर क्लेश पाते हुए देखे जाते हैं; साथ ही इसके विपरीत मैं नीचकुलमें उत्पन्न मूर्ख मनुष्योंको बिना किसीकी सहायताके राजा बनते देखता हूँ तो अच्छे

लक्षणोंवाली परम सुन्दरी अभागिनी और दुःखसागरमें डूबती दीख पड़ती है और कुलक्षणा, कुरूपा भाग्यवती देखी जाती है। मैं पूछता हूँ, इन्द्र ! इसमें भवितव्यता-काल यदि कारण नहीं है तो और क्या है ? कालके द्वारा होनेवाले अनर्थ बुद्धि या बलसे हटाये नहीं जा सकते। विद्या, तपस्या, दान और बन्धु-बान्धव—कोई भी कालग्रस्त मनुष्यकी रक्षा नहीं कर सकता। आज तुम मेरे सामने वज्र उठाये खड़े हो, पर मैं यदि अभी चाहूँ तो एक घूसा मारकर वज्रसमेत तुमको गिरा दूँ। चाहूँ तो इसी समय ऐसे अनेक भयंकर रूप धारण कर लूँ, जिनको देखते ही तुम डरकर भाग जाओगे। परंतु करूँ क्या ? यह समय सह लेनेका है—पराक्रम दिखलानेका नहीं। नीति कहती है—'**बुद्धिमन्तः सहन्ते।**' इसलिये यथेच्छ गदहेका ही रूप बनाकर मैं अध्यात्म-निरत हो रहा हूँ। शोक करनेसे दुःख मिटता नहीं, वह तो और बढ़ता है। इसीसे मैं बेखटके हूँ, बहुत निश्चिन्त, इस दुरवस्थामें भी।'

बलिके इतने विशाल धैर्यको देखकर इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा—निःसंदेह तुम बड़े धैर्यवान् हो जो इस अवस्थामें भी मुझ वज्रधरको देखकर तनिक भी विचलित नहीं होते। निश्चय ही तुम राग-द्वेषसे शून्य और जितेन्द्रिय हो। तुम्हारी शान्तचित्तता, सर्वभूत-सुहृदता तथा निर्वैरता देखकर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम महापुरुष हो। अब मेरा तुमसे कोई द्वेष नहीं रहा। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम मेरी ओरसे बेखटके रहो एवं निश्चिन्त और निरोग होकर समयकी प्रतीक्षा करो।'

यों कहकर देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर चले गये और बलि पुनः अपने स्वरूपचिन्तनमें स्थिर हो गये।

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २२३–२२७)

राजा रत्नग्रीव

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
न करोति हरेः पूजां स नरो गोवृषः स्मृतः॥

'जो मनुष्य जीवनभर अपना पेट भरनेमें ही लगा रहता है और श्रीहरिकी पूजा नहीं करता, वह मनुष्यरूपमें बैलके समान है।'

त्रेतायुगकी बात है। काञ्चीनगरमे रत्नग्रीव नामके एक भगवद्भक्त प्रजावत्सल आदर्श राजा राज्य करते थे। उनमे अहंकारका नामतक नहीं था। राज्यकोषको वे अपने विलासका साधन नहीं मानते थे। उनका मत था कि कोष तो प्रजाका है और प्रजा साक्षात् जनार्दनका स्वरूप है। राजाकी धर्मनिष्ठाके कारण पूरा राज्य आदर्श हो गया था। सब लोग वर्णाश्रमधर्मके अपने कर्तव्योंका यथोचित पालन करते थे। ब्राह्मण वेदाध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा स्वीकार किये हुए दानको दान कर देनेमें तत्पर रहते थे। क्षत्रिय सदा धर्मयुद्धके लिये प्रस्तुत, प्राणियोंकी रक्षामे उद्यत शूरवीर थे और वैश्य न्यायसंगत रीतिसे कृषि या वाणिज्यके द्वारा उपार्जन करते थे। शूद्र समाजकी सेवाको अपना कर्तव्य समझकर उसे तन्मयतासे करते थे। स्त्रियाँ पतिव्रता, गृहकार्यमें कुशल, मधुरभाषिणी तथा सुशीला थीं और पुरुष उद्योगी, धीर, परस्त्रीको माता समझनेवाले तथा सदाचारी थे। सब लोग सदा भगवन्नामके जपमें लगे रहते थे। सब भगवद्भक्त थे। दया, सत्य, शम, दम, दान आदि पूरे राज्यमें व्यापक थे। कहीं कोई असत्य बोलनेवाला, चोर, आचारहीन, कटुभाषी नहीं था। राजा प्रजासे उत्पादनका केवल छठा भाग ही लेते थे। दूसरा कोई भी 'कर' प्रजापर नहीं था। यह 'कर' भी प्रायः प्रजाके हितमे ही लगाया जाता था।

राजाकी आयुका बड़ा भाग कर्तव्यपालन करते हुए व्यतीत हो गया। अब राजाने अपना शेष समय

तीर्थवास और भगवान्के भजनमें लगानेका निश्चय किया। उन्होंने रानीसे सम्मति ली। पतिव्रता पत्नीने पतिका समर्थन किया। राजाने राज्यका भार पुत्रको सौंपकर तीर्थयात्राकी तैयारी की। उस दिन रात्रिमें उन्होंने स्वप्नमें एक तेजस्वी ब्राह्मणको देखा। दूसरे दिन राजाके पास एक जटा-वल्कलधारी तपस्वी ब्राह्मण आये। विप्रदेवका यथाविधि सत्कार-पूजन करके राजाने पूछा—'मैं किस तीर्थमें जाकर निवास करूँ? कहाँ रहकर भगवान्का भजन करूँ कि जिससे मैं जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाऊँ?'

ब्राह्मणने अयोध्या, हरद्वार, अवन्तिका, काञ्ची, काशी आदि तीर्थोंका माहात्म्य बतलाते हुए बताया कि राजाको श्रीपुरुषोत्तमपुरीमें जाकर निवास करना चाहिये। तीर्थयात्राकी विधि पूछनेपर उन्होंने कहा—तीर्थयात्राके लिये श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्में ही मन लगाना चाहिये। स्त्री-पुत्र, घर-सम्पत्तिको अनित्य समझकर इनका मोह सर्वथा त्याग देना चाहिये। तीर्थयात्री भगवन्नामका उच्चारण करता हुआ घरसे निकले और एक कोस जाकर किसी जलाशयपर क्षौर कराकर स्नान करे। तीर्थोंमें मनुष्योंके पाप उनके केशोंके आश्रयसे ही रह जाते हैं, इसीसे मुण्डन करानेकी विधि है। लोभ छोड़कर दण्ड, कमण्डलु और आसन लेकर तीर्थयात्रीके वेशमें चले। श्रीहरिके क्षेत्रकी ओर जिसके चरण जा रहे हैं, भगवान्की सेवामें जिसके हाथ लगे हैं, श्रीनारायणके चिन्तनमें जिसका चित्त लगा है, जिसकी जीभपर अखण्ड भगवन्नाम विराजमान हैं, जो भगवान्के ज्ञानको ही विद्या, भगवत्प्राप्तिके साधनको ही तप और नारायणकी सेवाको ही अपनी कीर्ति मानता है, उसीकी तीर्थयात्रा सफल है। भगवन्नामोंका उच्च स्वरसे कीर्तन करते हुए तीर्थयात्रीको पैदल ही चलना चाहिये। कोई भी सवारी काममें लेनेसे तीर्थयात्राका फल कम हो जाता है।'

राजाने विधिपूर्वक तीर्थयात्राका निश्चय किया। उन्होंने राज्यमें घोषणा कर दी कि यमदण्डसे मुक्त होकर भगवान्को पानेकी इच्छासे जो भी मेरे साथ चलना चाहें, चलें। इस राजाज्ञाकी घोषणा होनेपर बहुतसे नर-नारी उत्साहपूर्वक राजाके साथ पुरुषोत्तमक्षेत्र जानेको उद्यत हो गये। मनको कामादि दोषोंसे अलग करके भगवान्में लगाकर भगवन्नामका कीर्तन करते हुए वे सब लोग एक कोस गये और वहाँ क्षौर कराकर स्नान किया। मार्गमें भगवान्की कथा कहते-सुनते, भगवान्की लीला एवं गुणोंके ललित पदोंका गान करते, दीन-दुखियोंको दान देते, सब लोग गण्डकीके किनारे पहुँचे। ब्राह्मणने राजासे कहा—'राजन्! जिसके मस्तकपर तुलसीदल हो, हृदयपर सुन्दर शालग्राम-शिला हो, मुँहसे राम-नामका उच्चारण या कानसे उसका श्रवण होता हो, वह संसारसे निश्चय मुक्त हो जाता है। राजाने सबके साथ वहाँ गण्डकी-तीर्थमें स्नान-तर्पण आदि करके भगवान् शालग्रामका पूजन किया।

वहाँसे चलकर जब सब लोग गङ्गा सागर-सङ्गमपर पहुँचे, तब राजाकी भगवद्दर्शन-लालसा बहुत तीव्र हो गयी। जब ब्राह्मणने बताया कि हम नीलपर्वतकी सीमामें आ गये हैं, जहाँ भगवान्की महिमाका प्रत्यक्ष प्रभाव है, तब तो राजा और भी उत्सुक हो उठे। उनकी उत्कण्ठा देखकर ब्राह्मणने आदेश दिया—'जबतक भगवान्के दर्शन न हो जायँ, तबतक सब लोग यहीं बैठकर भगवान्का नामकीर्तन करें। वे भक्तवत्सल प्रभु कभी भक्तकी उपेक्षा नहीं करते।'

सब लोग निर्जल उपवास कर रहे थे। सबके मनमें भगवान्के दर्शनोंकी तीव्र लालसा थी। बड़े

प्रेमसे, एकाग्रचित्तसे सब मिलकर भगवन्नामोंका कीर्तन कर रहे थे। अनेक प्रकारसे सब भगवान्की स्तुति कर रहे थे। इस प्रकार जब उपवासव्रती राजाको पाँच दिन कीर्तन तथा स्तवन करते बीत गये, तब उन निष्पाप महाभागके सम्मुख वे लीलामय एक संन्यासीके वेशमें प्रकट हुए। राजाने 'ॐ विष्णवे नमः' कहकर उन्हें नमस्कार किया। पाद्य-अर्घ्य आदिसे पूजन किया। राजाने कहा—'प्रभो! जब मुझे आपने दर्शन दिया है, तब अब अवश्य श्रीगोविन्द भी मुझे दर्शन देंगे।'

संन्यासीने कहा—'राजन्! मैं अपने ज्ञानबलसे तीनों कालकी बातें जानता हूँ। मुझे इसीसे पता है कि कल मध्याह्नके समय आपको भगवान्के परम दुर्लभ दर्शन होंगे। केवल दर्शन ही नहीं होंगे, बल्कि आप, आपके मन्त्री, आपकी रानी, ये तपस्वी ब्राह्मण, और आपके नगरका करम्ब नामक साधुचरित जुलाहा—ये सभी परम पद प्राप्त करेंगे।' इतना कहकर वे सन्यासी वहीं अदृश्य हो गये। राजाने बहुत खोज करायी, पर उनका कहीं पता न चला। ब्राह्मणदेवताने बताया कि 'इस वेशमें भक्तवत्सल दयामय श्रीहरि स्वयं कृपा करके पधारे थे। अब कल मध्याह्नको वे अपने दिव्य रूपका दर्शन देंगे।'

राजाको उस समय बड़ा ही आनन्द हुआ। 'कल प्रभुके दर्शन होंगे', यह स्मरण करके उनके आनन्दका पार नहीं रहा। वे कभी भगवन्नाम एवं भगवान्के गुणोंका गान करते हुए नाचने लगते, कभी हँसने लगते, कभी भूमिपर लोटते, कभी स्तुति करते और कभी पद गाते। इस प्रकार दिन बीत गया। रातमें राजाको स्वप्नमें ऐसा दिखायी पड़ा कि शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान् नारायण अपने पार्षदों तथा शङ्करजी आदिके साथ नृत्य कर रहे हैं। जागनेपर उन्होंने अपना स्वप्न ब्राह्मणदेवताको सुनाया तो वे बहुत हर्षित हुए। उन्होंने कहा—'भगवान् आपको अपना सारूप्य देना चाहते हैं, ऐसा लगता है।'

सब लोग भगवन्नाम-कीर्तनमें लग गये। दोपहर होते ही आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं। इसी समय करोड़ों सूर्योंके तेजको अपनी ज्योतिसे मलिन करनेवाले तेजोमय नीलाचलके दर्शन हुए। उसके शिखर स्वर्ण एवं चाँदीके थे। इसी समय भगवान् प्रकट हुए। राजाने पत्नी तथा सेवकोंके साथ भगवान्का पूजन करके स्तुति की। भगवान्ने राजाको अपना नैवेद्य-प्रसाद देकर शीघ्र ग्रहण करनेका आदेश दिया। भगवान्का नैवेद्य पाकर राजा कृतार्थ हो गये। उस दिव्य प्रसादको पाते ही उनका शरीर तुरत दिव्य श्यामवर्ण, चतुर्भुज हो गया। उसी समय एक दिव्य विमान उतरा। भगवान्की आज्ञासे राजा रत्नग्रीव, उनकी पत्नी, सत्यनामका उनका मन्त्री, तापस ब्राह्मण, करम्ब जुलाहा—ये सभी उसमें बैठकर भगवान्के चिन्मय धामको चले गये। प्रजाके लोग भगवान्का दर्शन पाकर राजाकी प्रशंसा करते हुए तीर्थस्नान करके घर लौटे।

निष्कामभक्ति और शास्त्रविधि-विहित अपने कर्त्तव्यको करता हुआ मनुष्य मनुष्य-जीवनका चरमलक्ष्य मोक्ष (सालोक्य) प्राप्त कर लेता है। उसके कर्मनिष्ठ रहनेपर भी उसे कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि उसकी भक्ति प्रभुसमर्पित कर्ममें फलीभूत होती रहती है। निष्काम-भक्ति निष्कामकर्मयोगका अन्यतम अङ्ग है। रत्नग्रीव ऐसे ही भक्तयोगी निष्काम राजा थे।

निःस्पृह ब्राह्मण सुदामा

दक्षिणके विदर्भ* राज्यके किसी छोटे-से ग्राममें सुदामा नामके एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे । वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता, कर्मनिष्ठ, कुलीन एवं साधु प्रकृतिके मनुष्य थे । उनके कुटुम्बमें उनकी स्त्री और चार पुत्र थे (किसी-किसीका मत है कि उनके कोई पुत्र नहीं था) । सदाचारी और सद्गुणी होते हुए भी भाग्यवश वे ऐसे दरिद्र थे कि कभी-कभी लगातार उन्हें दो-दो लङ्घन हो जाते थे, किंतु वे इतने संतोषी भी थे कि किसीके यहाँ कभी कुछ माँगने न जाते थे, बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, उसीसे अपना और अपने कुटुम्बका पालन करते थे । उनके यहाँ दूसरे दिनके लिये कभी अन्नका दाना नहीं बचता था । जैसा हाल अन्नका था, वैसा ही वस्त्रोंका भी था । वर्षोंके फटे-पुराने वस्त्रोंसे ही दम्पति और बालकोंका कार्य चलता था । कभी-कभी तो वस्त्रोंको सीते-सीते ब्राह्मणी हैरान हो जाती थी, किंतु पुराने वस्त्र इनका पीछा नहीं छोड़ते थे । सुदामा सुख-दुःखको समान मानकर अपने धर्म-कर्ममें लगे रहते थे । जैसे वे ईश्वरभक्त और साधु पुरुष थे, सौभाग्यसे वैसी ही साध्वी स्त्री उन्हें मिली थी । उनकी स्त्रीका नाम था सुशीला । सुशीला वास्तवमें 'सुशीला' ही थी । तीन-तीन दीनोंतक भूखी रहकर भी वे श्रद्धा-प्रेमसे अपने पतिकी सेवा और बच्चोंका लालन-पालन किया करती थी । वह कभी भी पातिव्रत-धर्मसे विमुख नहीं हुई और न भोजन-वस्त्र और आभूषणोंका तकाजा करके उन्होने कभी निर्धन पति- (सुदामाजी-) का चित्त ही दुखाया । मिल गया तो खा लिया, नहीं तो यो ही रह गयी; और, उसपर भी सदा प्रसन्न मुख । दोनो (दम्पति) ही सदाचारकी मूर्ति थे ।

एक बार ऐसा प्रसग आया कि इस दरिद्र कुटुम्बको दो उपवास हो गये और कहीं कुछ न मिला । तीसरे दिन भूखसे व्याकुल होकर छोटे-छोटे बच्चे रोने लगे, तो सुशीलाका धैर्य जाता रहा और वे हाथ जोड़कर डरती हुई सुदामाजीसे बोलीं—'नाथ ! बच्चे भूखके मारे व्याकुल हो रहे है, किंतु आप उदासीन बैठे हैं, कोई प्रयत्न नहीं कर रहे है । यदि भिक्षासे कार्य नहीं चलता तो किसी कुटुम्बी या पडोसीके यहाँसे अन्नका प्रबन्ध कीजिये अथवा किसी मित्रकी शरण लीजिये । क्या आपके कोई मित्र नहीं है ? अब तो उदरकी ज्वाला सही नहीं जाती । मैं अकेली होती तो चाहे जैसे भी दिन काट डालती, किंतु इन छोटे-छोटे बच्चोका रोना-कलपना तो मुझसे नहीं देखा जाता । हाय ! हमलोग बड़े अभागी हैं । पूर्व-जन्ममे न जाने कौन-से पाप किये हैं, जिससे ऐसा कष्ट भोग रहे हैं ।'

सुदामाने हँसते हुए उत्तर दिया—सुशीले ! आज तुमने अपना धैर्य क्यों छोड़ दिया है ? तुम्हारा वह संतोष कहाँ गया ? क्या भूखकी ज्वालाको तुम दबा नहीं सकती ? बालक रो-धोकर स्वयं चुप हो जायँगे । देखती ही हो, मैं लगातार भिक्षाको जाता हूँ, किंतु कहींसे कुछ नहीं मिलता । फिर मैं क्या करूँ ? पड़ोसियोसे मै कई बार भिक्षा माँगकर ले आया हूँ और कुटुम्बियोके पास इस अवस्थामें माँगने जाना मैं उचित नहीं समझता । रह गये मित्र, सो इस ससारमे मेरे वे दो हैं—एक नारायण (श्रीकृष्ण) और दूसरे दरिद्रनाराण । दरिद्रनारायण तो सदा मेरे यहाँ डटे ही रहते हैं और नारायण यहाँसे बहुत दूर द्वारिकामे निवास करते हैं ।

* कई लोगोने इनका स्थान द्रविडदेश (जो उड़ीसाके दक्षिण-पूर्वीय सागरके किनारेसे रामेश्वरतक है) बताया है, किंतु मदनकोशकारने गुजरात-प्रदेशमें सागरके किनारे पोरबन्दर (सुदामापुरी) इनका स्थान बताया है और यही ठीक भी जँचता है; क्योकि पोरबन्दरमें इनकी और इनकी स्त्रीकी मूर्ति अबतक विराजमान है । अतः इनका द्रविड़-ब्राह्मण न होकर गुर्जर-ब्राह्मण होना अधिक उपयुक्त मालूम होता है ।

मेरी-उनकी साधारण मित्रता नहीं; बड़ी घनिष्ठ मित्रता है। मैं और वे दोनों महर्षि सान्दीपनिके यहाँ साथ-ही-साथ पढ़े और खेले थे। मित्रताकी दृष्टिसे तो इतना भाग्यवान् हूँ कि संसारमें शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो। किंतु मैने उनसे माँगनेके लिये मित्रता नहीं की है। कुछ लेनेके विचारसे मित्रता करना मित्रता नहीं, वंचकता है।

सुशीला बोली—'प्राणनाथ! श्रीकृष्ण जिसके मित्र हों, उसकी यह दशा! यह आश्चर्य नहीं तो क्या है? जब वे आपके परम मित्र और गुरुभाई हैं तो फिर उनके पास जानेमें क्या आपत्ति है? उन्होने तो गो-ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेके लिये ही अवतार लिया है। आप निःसकोच उनके पास जाइये; वहाँ जानेसे हमलोगोंका दारिद्र्य सदाके लिये दूर हो जायगा। निर्धन, गृहस्थ-ब्राह्मण और फिर मित्र समझकर वे आपको अवश्य सहायता करेंगे। उनकी कृपासे नित्यप्रतिकी भीखका झमेला भी मिट जायगा। हम शान्तिसे भजन कर सकेंगे।

संतोष-मूर्ति सुदामाने उत्तर दिया—'प्रिये! आज तुम्हारे मनमें यह तृष्णा कहाँसे उत्पन्न हो गयी, जो बार-बार हमें द्वारका जानेके लिये कह रही हो? क्या तुम इस बातको भूल गयी कि धनके लोभमें पड़ने और माँगनेसे ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है? इतने दिन जैसे व्यतीत हुए हैं, वैसे ही ईश्वरकृपासे शेष दिन भी बीत जायँगे। निर्धन-अवस्थामें जैसा भगवद्भजन होता है, वैसा धनी होनेपर कदापि नहीं होता। तुच्छ धनके लिये मैं उनके पास जाऊँ, यह महती विडम्बना है। पूर्वजन्ममें यदि मैंने दिया होता तो मुझे इस जन्ममे मिलता, जब दिया ही नहीं तो पानेकी आशा करना व्यर्थ है।'

सुदामाजीके उत्तरसे सुशीला बहुत दुखी हुई और सकुचाती हुई पुनः बोलीं—'नाथ! दासीका अपराध क्षमा कीजिये। मै अपने लिये आपसे द्वारका जानेका इतना आग्रह नहीं कर रही हूँ, किंतु इन नन्हें-नन्हें बालकोंका ख्याल करके कह रही हूँ, कुछ विचार कीजिये। इनका पालन करना भी तो हमारा आपका कर्तव्य है? यदि ये भूखके कारण मर गये तो क्या आपको इसका प्रायश्चित्त नहीं करना होगा? आखिर मैं केवल धनके लोभसे ही आपको वहाँ भेज रही हूँ, ऐसी बात नहीं है। द्वारिकाधीशके पास जाने और उनके दर्शन करनेसे पारलौकिक एवं लौकिक दोनों कल्याण होंगे। एक तो द्वारकानाथ आपके परम मित्र हैं और दूसरे वे दीनानाथ हैं। उनके पास जानेमें क्या लज्जा है? लोभसे नहीं तो प्रेमसे ही जाइये।'

गृहिणीके विशेष आग्रहके कारण विवश हो सुदामाजी द्वारका जानेके लिये तैयार तो हो गये, पर अब उन्हें यह चिन्ता हुई कि सालों बाद मैं मित्रके यहाँ जा रहा हूँ; यदि उनके लिये कुछ भेंट न ले जाऊँगा तो वे क्या कहेंगे? यह सोचकर गृहिणीसे बोले—'प्रिये! शास्त्रोंकी आज्ञा है कि जब किसी गुरुजन या प्रियजनके यहाँ जाय तो कुछ भेंट अवश्य ले जाय। पर मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। मैं उनके लिये क्या ले जाऊँ? वहाँ खाली हाथ जाना उचित नहीं लगता। सुशीला कुछ देरतक सोचती रही, फिर बोलीं—'अच्छा, मैं अपनी पड़ोसिनोंसे कुछ माँग कर लाती हूँ। ऐसा कहकर वह चार घरोंसे चार मुट्ठी चावल माँग लायी और एक पुराने चिथड़ेके सात परतमें बाँधकर उन्हें पतिको देकर बोली—'लीजिये, अपने मित्र श्रीकृष्णके लिये यह भेंट, अब तो आप जायँगे?'

सुदामाने चावलकी पोटली बड़ी सावधानीसे रख ली और फटे-पुराने वस्त्रोंको किसी प्रकार पहनकर स्त्री-पुत्रोंसे विदा हो एक फटे बाँसकी लकुटिया लेकर नंगे पैर द्वारकाको चल दिये। पर आश्चर्यकी बात यह हुई कि जो द्वारका सुदामाजीकी कुटियासे कोसो दूर थी, वह

आतिथेय-निष्काम-कर्मका आदर्श

श्रीकृष्ण-सुदामा

सामने दीखने लगी—उसके स्वर्णजटित प्रासाद आँखोंको चकाचौंध करने लगे। द्वारका पहुँचनेपर पूछते-पूछते सुदामाजी द्वारकाधीश भगवान् श्रीकृष्णके द्वारपर पहुँच गये। उन्होंने द्वारपालको अपना परिचय दिया। सुदामाके ब्रह्मतेजसे प्रभावित हो द्वारपालने सादर उठकर उन्हें प्रणाम किया और तुरंत भगवान्के पास जाकर उनका संदेश सुनाया। सुदामाका नाम सुनते ही प्रभु प्रेम-विभोर हो उठे। वे प्रेमके आँसू बहाते हुए ड्योढ़ीपर पहुँचे, श्रीकृष्णने अपने मित्रको पहचानकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। वे बड़े प्रेमसे उनका हाथ पकड़कर अपने प्रासादमें ले गये और रत्नजटित सिंहासनपर उन्हें बैठाकर अपने पीताम्बरसे उनके पैरोंकी धूलि पोंछने लगे। पश्चात् स्वर्णिम थालमें उनके दोनो चरणोंको रखकर श्रीकृष्णने स्वयं धोया और चरण-जलको अपने सिरपर सींचकर उसे सर्वत्र छिड़कनेकी रानियोंको आज्ञा दी। रुक्मिणी आदिने बहुत चाहा कि वे उन विप्रवरके चरणोंको धोयें, पर आदर्श मित्र श्रीकृष्णने उन्हें अवसर ही न दिया।

अपने प्यारे सखाके इतने दिनो बाद मिलनेसे श्रीकृष्ण अत्यन्त आह्लादित हुए। सुदामाजीके अङ्ग-स्पर्शसे भगवान् आनन्द-मग्न हो गये। उनकी आँखोंसे प्रेमाश्रु झरने लगे। जिस प्रकार भगवान्को पाकर भक्तजन परम निवृत्तिको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार भक्तके सङ्गसे उस आनन्दमय जगदीशके हृदयमें भी आनन्दकी लहरें उठने लगती हैं।

सुदामाजीसे श्रीकृष्णने पूछा—'मित्र! कुछ उपायन (भेंट) लाये हो?' (जीव जब जगदीशसे मिलनेके लिये जाता है, तब उसे चाहिये उपायन। उपायन भी किसका? 'सुकर्मोंका—पुण्यका।' सुकर्म ही सुदामाके तण्डुल हैं। (चावल सफेद हुआ करते हैं, पुण्यका संचय भी सात्विकी बुद्धि किया करती है।) सुदामाजी संकुचित हो गये कि श्रीपतिको भला इन चावलोंको क्या दूँ? परंतु भगवान् ऊहापोहमें पड़े सुदामाकी काँखसे पोटली निकाल चावल खाने लगते हैं। (जीव भी बड़ा लज्जित होता है कि उस जगदीशके सामने अपने सुकर्मोंको क्या दिखलाऊँ? परंतु भगवच्चरणोंमें अर्पित थोड़ा भी सत्कर्म बड़ा महत्त्व रखता है।) भगवान्ने मित्र-पत्नी ब्राह्मणीद्वारा अर्पित चावलोंको एक करके दो मुट्ठियाँ अपने मुँहमें डालीं, किंतु तीसरी पर रुक्मिणीजीने उन्हें रोक दिया। अब तीसरी मुट्ठी उन्हें असह्य हो गयी।

सुदामाजी भगवान्के दिव्य प्रासादमें कई दिनोंतक सुखपूर्वक रहे, पश्चात् श्रीकृष्णने बड़े प्रेम और सम्मानके साथ उन्हें विदा किया।

सुदामा श्रीकृष्णसे मिलकर मन-ही-मन उनकी प्रशंसा और स्मरण करते हुए अपने गृह-ग्रामकी ओर चल पड़े। वे सोच रहे थे कि द्वारकाधीशने मुझ-जैसे निर्धनकी इष्टदेवके समान पूजा की और अपार स्नेह दिखाया। इसका बदला मैं तीन जन्मोंमें भी नहीं चुका सकता; किंतु जिसके लिये मेरी धर्मपत्नीने मुझे भेजा था वह कुछ न हुआ। श्रीकृष्णने द्रव्यके नामपर तो एक कौड़ी भी न दी, यह अच्छा ही किया; मुझे अनर्थकारी धनके सङ्गसे बचाकर उन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया है। धनसे नाना प्रकारके कुकार्य होते हैं। निर्धन मनुष्य हरिभक्त और सुशील होता है, उसे अभिमान नहीं होता। उन्होंने मुझपर बड़ी कृपा की है, जो मुझे धन नहीं दिया, नहीं तो मैं भी संसारके झगड़ेमें फँस जाता। मित्रका धर्म है कि मित्रको विपत्तिसे बचावे। श्रीकृष्णने वही किया है।

सुदामा जब अपने घर पहुँचे तो उन्हें अपनी टूटी मड़ैया नहीं दीख पड़ी, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। झोपड़ीके स्थानपर भव्य प्रासाद तथा साधारण गाँवके स्थानपर सुन्दर नगरकी रचना देखकर सुदामा अवाक्

रह गये, किंतु पत्नीद्वारा पतिको पहचानकर उनका स्वागत-सत्कार करने तथा महलके भीतर ले जाकर पूरी बात समझानेपर सुदामाजीके आगेसे रहस्यका पर्दा हटा। वे भगवान्की दानशीलता और भक्तवत्सलताका अनुभव करके कृतज्ञतापूर्वक भाव-विभोर हो गये। पर इतना अधिक ऐश्वर्य और धन पाकर भी सुदामाका अन्तर्मन प्रसन्न न हुआ। उनको चिन्तित देखकर एक दिन सुशीलाने उनसे हाथ जोड़कर पूछा—'नाथ! श्रीकृष्णका दिया हुआ यह धनैश्वर्य पाकर भी आप उदासीन दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है?' सुदामाने उत्तर दिया—'सुशीले! यह धन नहीं, बन्धन है। इसके चक्करमें जो मनुष्य पड़ जाता है, उसका संसारके जालसे छूट पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। भिक्षा माँगकर मैं ईश्वरका स्मरण कर सकता था, किंतु अब कर सकूँगा या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। इसीलिये मैं उदासीन हूँ। मनुष्यका जन्म केवल सांसारिक सुखभोगके लिये नहीं है, अपितु ईश्वरभक्ति और उसके स्मरण-उपासनाद्वारा इसी जन्ममें भगवान्को प्राप्त करनेके लिये है। बड़ी कठिन तपस्याके द्वारा यह मानव-जन्म प्राप्त होता है। मेरा तो तुमसे यही कहना है कि तुम इस धनको अपना न समझकर श्रीकृष्णका ही समझो और उन्हींके नामपर दान-धर्मादिमें इसे खर्च करती रहो और एकमात्र कृष्णका भजन करो।'

श्रीकृष्णकी कृपासे सुदामा और उनकी पतिव्रता पत्नीको कभी धनपर ममत्व नहीं हुआ और उन्होंने अपना समस्त जीवन निष्काम व्यवहार करते हुए श्रीकृष्णकी भक्तिमें ही बिताया। अन्तमें दोनों श्रीकृष्ण-कृपासे गोलोकधामको प्राप्त हुए।

राजा पुण्यनिधि

दक्षिण देशके पाण्ड्य और चोलवंशियोंके राज्य* चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। दोनों ही वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, न्यायशील, भगवद्भक्त राजा हो गये हैं। जिन दिनोंकी बात कही जा रही है, उन दिनों पाण्ड्यवंशकी राजधानी (दक्षिण) मथुरा थी—जिसे आजकल मदुरा कहते हैं। राजा पुण्यनिधि उसके एकच्छत्र अधिपति थे। पुण्यनिधिका नाम यथागुण सार्थक था। वास्तवमें वे पुण्योंके खजाने ही थे। उनका सादा जीवन इतना उच्च और आदर्श था कि जो भी उन्हें देखता, प्रभावित हुए बिना न रहता। उनके जीवनमें शान्ति थी। उनके परिवारमें शान्ति थी और उनके राज्यमें शान्ति थी। उनके पुण्य-प्रतापसे, उनके शुद्ध व्यवहारसे सम्पूर्ण प्रजा पुण्यात्मा हो रही थी। शासनकी तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। सब लोग बड़े प्रेमसे अपने-अपने कर्तव्य-का पालन करते थे। उनके पास सेना प्रजाकी रक्षाके लिये ही थी। उनका सारा व्यवहार प्रेम और आत्मबलसे ही चलता था। वे समय-समयपर तीर्थयात्रा करते, यज्ञ करते, दान करते और दिल खोलकर दीन-दुखियोंकी सहायता करते। उनमें सबसे बड़ा गुण यह था कि वे जो कुछ भी करते, सब भगवान्के लिये, भगवान्की प्रसन्नताके लिये और भगवान्की प्रेम-प्राप्तिके लिये करते। उनके चित्तमें लोक-परलोककी कोई भी कामना न थी। वे एक निष्काम कर्तव्य-परायण प्रजा-सेवी राजा थे।

एक बार अपने परिवार और सेनाके साथ राजा पुण्यनिधिने सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की। इस बार इनकी यह इच्छा हुई कि समुद्रके पवित्र तटपर, गन्ध-मादन पर्वतकी उत्तम भूमिमें अधिक दिनोंतक निवास किया जाय। इसलिये उन्होंने राज्यका सारा भार पुत्रको सौंप दिया और वे आवश्यक सामग्री एवं सेवकोंको लेकर वहीं जाकर निवास करने लगे। राजा पुण्यनिधिका

* ये दोनों दक्षिणके प्रदेश भी रहे हैं।

मन वहीं रम गया। वे बहुत दिनोंतक वहीं रह गये। उनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी। वे जहाँ जाते, जहाँ रहते, वहीं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन किया करते। मनमें कोई कामना तो थी नहीं, इसलिये उनका अन्तःकरण और शुद्ध हो गया। शुद्ध अन्तःकरणमें जो भी संकल्प उठता है, वह भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होता है और उस संकल्पके अनुसार जो क्रिया होती है, वह भी भगवान्‌के लिये ही होती है। राजाके चित्तमें विष्णु और शिवके प्रति कोई भेद-भाव न था। वे जानते थे कि **'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः।' 'उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाद्विभिन्नवद्भाति।'** वे कभी भगवान् शंकरकी पूजा करते-करते मस्त हो जाते तो कभी जंगलोंमें घूम-घूमकर भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका अनुसंधान करते। एक बार वे धनुष्कोटि-तीर्थमें गये। उस तीर्थमें स्नान करके राजाको बड़ा आनन्द हुआ। भगवान्‌की स्मृतिके साथ जो भी काम किया जाता है, वह आनन्ददायक होता है। उसमें उत्साह होता है। उत्साहसे अधिक आनन्दका अनुभव होता रहता है।

राजा पुण्यनिधि जब स्नान, दान, नित्यकर्म और भगवान्‌की पूजा करके वहाँसे लौटने लगे, तब उन्हें रास्तेमें एक बड़ी सुन्दर कन्या मिली। वह कन्या क्या थी, सौन्दर्यकी प्रत्यक्ष प्रतिमा थी। वास्तवमें वह भगवान्‌की प्रसन्नता ही थी। न जाननेपर भी राजाका चित्त उसकी ओर खिंच गया, मानो वह उनकी अपनी ही लड़की हो। उन्होंने वात्सल्य-स्नेहसे भरकर पूछा—'बेटी! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, यहाँ किस लिये आयी हो?' कन्याने कहा—'मेरे माँ-बाप नहीं हैं, भाई-बन्धु भी नहीं हैं, मैं अनाथा हूँ। मैं आपकी पुत्री बननेके लिये आयी हूँ। मैं आपके महलमें रहूँगी, आपको देखा करूँगी, लेकिन एक शर्त है, यदि कोई मुझे बलपूर्वक स्पर्श करेगा अथवा मेरा हाथ पकड़ लेगा तो आपको उसे दण्ड देना पड़ेगा। यदि आ ऐसा करेंगे तो बहुत दिनोतक मैं आपके पास रहूँगी।' राजाने कहा—'बेटी! तुम जो कह रही हो, वह सब मैं करूँगा। मेरे घर कोई लड़की नहीं है, एक लड़का है। तुम अन्तःपुरमें मेरी धर्मपत्नीके साथ पुत्रीके रूपमें निवास करो। जब तुम्हारी अवस्था विवाहके योग्य होगी, तब तुम जैसा चाहोगी, वैसा कर दूँगा।' कन्याने राजाकी बात स्वीकार की और उनके साथ राजधानीमें चली गयी। राजा पुण्यनिधिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावली अपने पतिके समान ही शुद्ध हृदयकी थीं। अपने पतिको ही भगवान्‌की मूर्ति समझकर उनकी पूजा करती थीं। उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करती थीं। उनका मन राजाका मन था, उनका जीवन राजाका जीवन था। इस कन्याको पाकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाने कहा—'यह हमलोगोंकी लड़की है, इसके साथ परायेका-सा व्यवहार कभी नहीं होना चाहिये।' विन्ध्यावलीने प्रेमसे उस कन्याका हाथ पकड़ लिया और अपनी गर्भजात पुत्रीके समान ही उसका पालन-पोषण करने लगीं। इस प्रकार कुछ दिन बीते।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब किस बहाने किसपर कृपा करते हैं, यह उनके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। राजा पुण्यनिधिपर कृपा करनेके लिये ही तो यह लीला रची गयी थी। अब वह अवसर आ पहुँचा। एक दिन वह कन्या सखियोंके साथ महलके पुष्पोद्यानमें फूल चुन रही थी। एक ही उम्रकी सब लड़कियाँ थीं। हँस-खेलकर आपसमें मनोरञ्जन कर रही थीं। उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया। उसके कंधेपर एक घड़ा था, जिसमें जल भरा हुआ था। एक हाथसे वह उस घड़ेको पकड़े हुए था और दूसरे हाथमें छाता लिये हुए था, मानो अभी गङ्गा-स्नान करके लौट रहा हो। उसके शरीरमें भस्म लगा

हुआ था और मस्तकपर त्रिपुण्ड्र, हाथमें रुद्राक्षकी माला और मुखमें भगवान् शंकरका नाम विराजमान था। इस ब्राह्मणको देखकर वह कन्या स्तब्ध-सी हो गयी, वह मन-ही-मन जान गयी कि ब्राह्मणके वेशमें यह कौन है। यह छद्मवेशी ब्राह्मण इसी कन्याको तो ढूँढ रहा था। कन्याकी ओर दृष्टि जाते ही ब्राह्मणने पहचान लिया और जाकर उस कन्याका हाथ पकड़ लिया। कन्या चिल्ला उठी। उसकी सखियोंने भी साथ दिया। उनकी आवाज सुनते ही कई सैनिकोंके साथ राजा पुण्यनिधि वहाँ पहुँच गये और उन्होंने पूछा—'बेटी! तुम्हारे चिल्लानेका क्या कारण है, किसने तुम्हारा अपमान किया है?' कन्याकी आँखोंमें आँसू थे। वह खेद और रोषसे कातर हो रही थी। उसने कहा—'पाण्ड्यनाथ! इस ब्राह्मणने बलात् मेरा हाथ पकड़ लिया, अब भी यह निडर होकर पेड़के नीचे खड़ा है।' राजा पुण्यनिधिको अपनी प्रतिज्ञा याद हो आयी। वे सोचने लगे कि 'मैंने इस कन्याको वचन दिया है कि यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा तो मैं उसे दण्ड दूँगा। इस कन्याको मैंने अपनी पुत्री माना है, मुझे अवश्य ही इस ब्राह्मणको दण्ड देना चाहिये।' उनके चित्तमें इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मेरे भगवान् इस रूपमें मुझपर कृपा करने आये होंगे। उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी और ब्राह्मणदेवता पकड़ लिये गये। हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उन्हें रामनाथके मन्दिरमें डाल दिया गया। कन्या प्रसन्न होकर अन्तःपुरमें गयी और राजा अपनी बैठकमें गये।

रात हुई। राजाने स्वप्नमें देखा कि जिस ब्राह्मणको कैद किया गया है, वह ब्राह्मण नहीं है, वे तो साक्षात् भगवान् हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल छवि, चारों करकमलोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म, शरीरपर पीताम्बर एवं वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि और वनमाला धारण किये हुए हैं। मन्द-मन्द मुसकराते हुए मुखमेंसे दाँतोंकी किरण निकलकर दिशाओंको उज्ज्वल कर रही हैं। मकराकृति कुण्डलोंकी छटा निराली ही है। गरुडके ऊपर शेषशय्यापर विराजमान हैं। साथ ही राजाकी वह कन्या लक्ष्मीके रूपमें खिले हुए कमलपर बैठी है। काले-काले घुँघराले बाल हैं, हाथमें कमल है, बड़े-बड़े दिग्गज स्वर्ण-कलशोंमें अमृत भरकर अभिषेक कर रहे हैं। अमूल्य रत्न और मणियोंकी माला पहने हुए हैं। विष्वक्सेन आदि पार्षद, नारदादि मुनिगण उनकी सेवा कर रहे हैं। महाविष्णुके रूपमें उस ब्राह्मणको और महालक्ष्मीके रूपमें अपनी पुत्रीको देखकर राजा पुण्यनिधि चकित हो गये। स्वप्न टूटते ही वे अपनी कन्याके पास गये, परंतु यह क्या! अब कन्या कन्याके रूपमें नहीं है। स्वप्नमें जो रूप देखा था, वही रूप सामने है। महालक्ष्मीको साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे उनके साथ ही रामनाथ-मन्दिरमें गये। वहाँ ब्राह्मणको भी उसी रूपमें देखा, जिस रूपमें स्वप्नके समय देखा था। अपने अपराधका स्मरण करके राजा मूर्च्छित-से हो गये। 'हाय! त्रिलोकीके नाथको मैंने कैदमें डाल दिया। जिसकी पूजा करनी चाहिये, उसको बेड़ीसे जकड़ दिया; धिक्कार है, मुझे सौ-सौ बार धिक्कार है! भगवान्‌के हाथोंमें मैंने हथकड़ी डाल दी! मुझसे बड़ा अपराधी भला और कौन हो सकता है।' राजा पुण्यनिधिका हृदय फटने लगा, शरीर शिथिल हो गया, उनकी मृत्युमें अब आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं था। इतनेमें ही उन्हें भगवान्‌की कृपाका स्मरण हो आया। 'ऐसी अद्भुत लीला! भला, उन्हें कौन बाँध सकता है। यशोदाने बाँधा था प्रेमसे और मैंने बाँधा अपनी शक्तिके घमंडसे, रोषसे। पर मुझसे भी बँध गये! प्रभो! यह तुम्हारी कृपापरवशता नहीं तो और क्या है।'

राजा पुण्यनिधिने प्रेममुग्ध हृदयसे, गद्गद कण्ठसे, आँसूभरी आँखोंसे, सिर झुकाकर रोमाञ्चित शरीरसे, हाथ जोड़कर स्तुति की—'प्रभो ! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ । आप मुझपर कृपा करें, प्रसन्न हों, मैंने अनजानमें यह अपराध किया है । आपकी मूर्ति कृपामयी है । आप यदि अपनेको प्रकट न करें तो संसारी लोग भला आपको कैसे पहचान सकते हैं ? दयामूर्ते ! मैंने आपको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर महान् अन्याय और अपराध किया है । यदि आप मुझपर कृपा न करेंगे तो मेरे निस्तारका कोई साधन नहीं है । मैं आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करता हूँ ।'

राजा पुण्यनिधिने महालक्ष्मीकी ओर दृष्टि करके कहा—'हे देवि ! हे जगद्धात्रि ! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ! आपका निवास भगवान्‌का वक्षःस्थल है । मैंने साधारण कन्या समझकर आपको कष्ट दिया है । आपकी महिमाका भला, कौन वर्णन कर सकता है । सिद्धि, संध्या, प्रभा, श्रद्धा, मेधा तथा आत्मविद्या आदिके रूपमें आप ही प्रकट हो रही हैं । माँ ! संसारकी रक्षाके लिये आप ही श्रुतियोंके रूपमें प्रकट हुई हैं । हे ब्रह्मस्वरूपिणि ! अपनी कृपादृष्टिसे मुझे जीवनदान दो ।' इस प्रकार स्तुति करके राजाने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो ! मैंने अनजानमें जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दीजिये । मधुसूदन ! शिशुओं-का अपराध गुरुजन क्षमा करते ही आये हैं । प्रभो ! जिन दैत्योंने अपराध किया था, उनको तो आपने अपने स्वरूपका दान किया । भगवन् ! आप मेरे इस अपराधको भी क्षमा करें । हे कृपानिधे ! हे लक्ष्मीकान्त ! आप अपनी कृपाकोमल दृष्टि मेरे ऊपर भी डालें ।'

पुण्यनिधिकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने कहा—'राजन् ! मुझे कैद करनेके कारण तुम्हारा भयभीत होना उचित नहीं है । मैं तो स्वभावसे ही प्रेमियोंका बंदी हूँ, भक्तोंके वशमें हूँ । जो मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, वे मेरे भक्त हैं, तुम्हारी सेवासे मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ । इसीसे चाहे तुम हथकड़ी-बेड़ी पहनाओ या मत पहनाओ, मैं तुम्हारे प्रेमकी बेड़ीमें सदा बँधा हूँ । मैं अपने भक्तोंके अपराधको अपराध ही नहीं गिनता । इसलिये डरनेकी कोई बात नहीं है । ये महालक्ष्मी मेरी अर्द्धाङ्गिनी शक्ति हैं । तुम्हारी भक्तिकी परीक्षाके लिये ही मेरी सम्मतिसे ये तुम्हारे पास आयी थीं । तुमने इनकी रक्षा करके, अनाथ बालिकाके रूपमें होनेपर भी इन्हें अपने घरमें रखकर और सेवा करके मुझे संतुष्ट किया है । इनके साथ तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी रक्षाके लिये मुझे कैदमें डालना किसी प्रकार अनुचित नहीं है । तुमने इनकी रक्षा की है । अनाथकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये, यह तुमने दिखा दिया । इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । ये लक्ष्मी तुम्हारी पुत्री हैं, ऐसा ही समझो । यह सत्य है, इसमें संदेह नहीं ।

राजाने न्याय और कर्त्तव्यका पालन किया था, अतः प्रभु प्रसन्न थे । न्याय और कर्त्तव्य प्रभुकी व्यवस्था होते हैं । उनसे प्रभुकी प्रसन्नता स्वाभाविक है । महालक्ष्मीने कहा—'राजन् ! तुमने बहुत दिनोंतक मेरी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर बहुत ही प्रसन्न हूँ । भगवान्‌ने और मैंने तुम्हारी भक्तिको शुद्ध करनेके लिये ही प्रेमकलहका बहाना बनाया और इस प्रकार हम दोनों ही तुम्हारे सामने प्रकट हुए । तुमने कोई अपराध नहीं किया । हम तुमपर प्रसन्न हैं । हमारी कृपासे तुम सर्वदा सुखी रहोगे । सारे भूमण्डलका ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त होगा । जबतक जीवित रहोगे, हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहेगी । तुम्हारी बुद्धि कभी पापमें न जायगी, सदा धर्ममें ही लगी रहेगी । तुम्हारा हृदय निरन्तर भक्ति-रसमें डूबा रहेगा । इस जीवनके अन्तमें तुम हमारा सायुज्य प्राप्त करोगे ।' इतना कहकर महालक्ष्मी भगवान्‌के वक्षःस्थलमें समा गयीं । भगवान्‌ने कहा—'राजन् !

यह जो तुमने मुझे बाँधा है, यह बड़ा मधुर बन्धन है। मैं नहीं चाहता कि इससे छूट जाऊँ और इसकी स्मृति यहीं लुप्त हो जाय। इसलिये अब मै यहाँ इसी रूपमें निवास करूँगा और मेरा नाम 'सेतुमाधव' होगा।' इतना कहकर श्रीभगवान् चुप हो गये।

राजा पुण्यनिधिने भगवान्‌की इस अर्चा-मूर्तिकी पूजा की और रामनाथ-लिङ्गकी सेवा करके अपने घर गये। जीवनपर्यन्त वे अपनी पत्नीके साथ भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहे। अन्तमें दोनों भगवान्‌की सायुज्य-मुक्ति प्राप्तकर भगवान्‌से एक हो गये।

एक निष्काम परोपकारी भक्त राजा

एक बहुत ही धर्मात्मा राजा था। वह भगवान्‌का बड़ा भक्त था। धर्मपूर्वक राज्य करते रहनेवाले उस राजाकी मृत्यु यथाकाल हो गयी। पुण्यात्मा होनेपर भी किसी एक पापका फल भुगतानेके लिये यमदूत उसे सम्मानपूर्वक नरकमार्गसे ले गये। नरकोंका दृश्य देखकर राजाका हृदय दहल गया। वहाँके पीड़ित प्राणियोंका चीत्कार उससे सुना नहीं जाता था। वहाँका दृश्य देखकर ज्यों ही वह यमसेवकोंके साथ नरक छोड़कर जाने लगा त्यों ही नरककी असह्य पीड़ा भोगनेवाले सब-के-सब नरकवासी बड़े जोरोसे चिल्ला उठे और करुण विलाप करते हुए पुकारकर राजासे कहने लगे—'राजन्! आप कृपा कीजिये। घड़ीभर तो आप यहाँ और ठहर जाइये। आपके अङ्गका स्पर्श करके आनेवाली हवासे हमें बड़ा ही सुख मिल रहा है, इस सुखद-शीतल वायुके स्पर्शमात्रसे हमारी सारी नारकी पीड़ा और जलन एकदम चली गयी है और हमपर मानो आनन्दकी वर्षा हो रही है, दया कीजिये।' राजाने यह सुनकर यमदूतोंसे पूछा—'मेरे यहाँ रहनेसे इन लोगोंको सुख मिलनेका क्या कारण है? मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया है, जिसके कारण इनपर आनन्दकी वर्षा हो रही है?' यमदूतोंने कहा—'महाराज! आपने देवता, पितर, अतिथि और आश्रितोंका पूजन-सत्कार पहले करके उनसे बचे हुए द्रव्यसे अपना भरण-पोषण किया है, तथा श्रीहरिका स्मरण किया है, इसीलिये आपके शरीरसे स्पर्श की हुई हवासे इन पापियोंकी नरक-यातना सहज ही नष्ट हो रही है। आपके तेज और आपके दर्शनसे पापियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले यमराजके अस्त्र-शस्त्र, तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी, नरकाग्नि आदि सभी तेजोहत होकर मृदु हो गये हैं; इसीलिये नरकवासी पापियोंको इतना सुख मिल रहा है। यह सुनकर राजाने कहा—'इनके सुखसे मुझे बड़ा सुख मिल रहा है, मेरी ऐसी मान्यता है कि आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें जो सुख होता है, स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें भी वैसा सुख नहीं होता। यदि मेरे यहाँ रहनेसे इनकी पीड़ा दूर होती है तो दूतो! मैं तो पत्थरकी तरह अचल होकर यहीं रहूँगा। राजाकी यह बात सुनकर दूतोंने कहा—'चलिये, यह तो पापियोंके नरक-भोगका स्थान है। आप यहाँ क्यों रहेंगे—आप दिव्य-लोकोंमें अपने पुण्योंका फल भोगिये।' पापका फल आप भोग चुके, अब पुण्यके फल-भोग करनेकी बारी है।

राजाने कहा—'जबतक इनका दुःखोंसे छुटकारा नहीं होगा, तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा; क्योंकि मेरे यहाँ रहनेसे इन्हें सुख मिल रहा है। आर्त और आतुर होकर शरण चाहनेवाले शत्रुपर भी जो मनुष्य दया नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है। दुखियोंके दुःख दूर करनेमें जिसका मन नहीं है, उसके यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी इस लोक और परलोकमें सुखके कारण नहीं होते। विकल, आतुर, दुःखी और बूढ़ोंके प्रति जिसका चित्त कठोर है, मेरी समझमें वह

मनुष्य नहीं, राक्षस है। इन लोगोंके पास रहनेसे मुझे नारकीय अग्निके तापसे अथवा भूख-प्यासके कारण बेसुध कर देनेवाला महान् दुःख क्यों न भोगना पड़े, इनको सुखी करनेसे मिले हुए उस दुःखको मैं अपने लिये स्वर्गसुखसे भी बढ़कर समझूँगा। मुझ एकके दुःख पानेसे यदि इतने आर्त जीवोंको सुख होता है, तो इससे बढ़कर मुझे और क्या लाभ होगा।

यमदूतोंने कहा—'महाराज! देखिये, ये साक्षात् धर्म और देवराज इन्द्र आपको ले जानेके लिये यहाँ आये हैं, अब आपको जाना ही पड़ेगा, अतएव पधारिये।' धर्मने कहा—'राजन्! आपने सम्यक् प्रकारसे मेरी उपासना की है, इसीलिये मैं स्वयं आपको स्वर्गमें ले जाऊँगा; आप डर न करें, विमानपर जल्दी सवार हो।' राजाने कहा—'धर्मराज! हजारों जीव नरकमें दुःख पा रहे हैं और मेरे यहाँ रहनेसे इनका दुःख दूर होता है, ऐसी हालतमें मैं यहाँसे नहीं जा सकता।' इन्द्र बोले—'राजन्! अपने-अपने कर्मफलसे ये पापीलोग नरक भोग रहे हैं। आपको भी अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें चलना चाहिये। इन नरकवासियोंपर दया करनेसे आपका पुण्य लाखों गुना और भी बढ़ गया है। अतएव इस पुण्यफलके भोगके लिये आप अवश्य स्वर्ग चलिये।' राजाने कहा—'जब मेरे पुण्यसे इनको सुख मिलता है, तब मैं अपना सब पुण्य इनको देता हूँ। इस पुण्यसे ये सारे यातना-भोगी पापी नरकसे छूट जायँ। मैं यहीं रहूँगा।' इन्द्रने कहा—'महाराज! आपके पुण्यदानसे देखिये, सारे पापी नरकसे छूटकर विमानोंपर सवार होकर जा रहे हैं। पर इस पुण्यदानसे आपका पुण्य इतना बढ़ गया है कि अब आप और भी ऊँची गतिमें जायँगे। (पुण्यका त्याग पूर्णतः निष्कामताकी ऊँची स्थिति है। राजाने अर्जित पुण्यका त्यागकर निष्कामताकी सीमा कर दी। ऐसे कर्मयोगी राजाओंकी एक परम्परा रही है जो हमारे शास्त्रों-पुराणोंमें भरी पड़ी है।)

राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और इन्द्र उन्हें विमानपर चढ़ाकर स्वर्गमें ले गये। नरकके सारे प्राणियोंका उद्धार हो गया। **'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'** का प्राचीन उदाहरण इस कथामें भी प्रतिफलित है।

ईमानदार व्यापारी

महातपस्वी ब्राह्मण जाजलिने दीर्घकालतक श्रद्धा एवं नियमपूर्वक वानप्रस्थाश्रम-धर्मका पालन किया था। अब वे केवल वायु पी-पीकर निश्चल खड़े हो गये थे और कठोर तपस्या कर रहे थे। उन्हें गतिहीन देखकर पक्षियोंने कोई वृक्ष समझ लिया और उनकी जटाओंमें घोसले बनाकर वहीं अंडे दे दिये। वे दयालु महर्षि चुपचाप खडे रहे। पक्षियोंके अंडे बढ़े और फूटे, उनसे बच्चे निकले। वे बच्चे भी बड़े हुए, उड़ने लगे। जब पक्षियोंके बच्चे उड़नेमें पूरे समर्थ हो गये और एक बार उड़कर पूरे एक महीनेतक अपने घोंसलेमें नहीं लौटे, तब जाजलि हिले। वे स्वयं अपनी तपस्यापर आश्चर्य करने लगे और अपनेको सिद्ध समझने लगे। उसी समय आकाशवाणी हुई—'जाजलि! तुम गर्व मत करो। काशीमें रहनेवाले तुलाधार वैश्यके समान तुम धार्मिक नहीं हो।'

आकाशवाणी सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी समय काशीको चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि तुलाधार एक साधारण दूकानदार है और अपनी दूकानपर बैठकर ग्राहकोंको तौल-तौलकर सौदा दे रहा है। परंतु जाजलिको उस समय और

भी आश्चर्य हुआ, जब तुलाधारने बिना कुछ पूछे उन्हें उठकर प्रणाम किया, उनकी तपस्याका वर्णन करके उनके गर्व तथा आकाशवाणीकी बात भी बता दी। जाजलिने पूछा—'तुम तो एक सामान्य बनिये हो, तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ?'

तुलाधारने नम्रतापूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मैं अपने वर्णोचित धर्मका सावधानीसे पालन करता हूँ। मैं न मद्य बेचता हूँ, न और कोई निन्दित पदार्थ बेचता हूँ। अपने ग्राहकोंको मैं कभी तौलमें कम नहीं देता। ग्राहक बूढ़ा हो या बच्चा, भाव जानता हो या न जानता हो, मैं उसे उचित भावमें उचित वस्तु ही देता हूँ। किसी पदार्थमें दूसरा कोई दूषित पदार्थ नहीं मिलाता। ग्राहककी कठिनाईका लाभ उठाकर मैं अनुचित लाभ भी उससे नहीं लेता हूँ। ग्राहककी सेवा करना मेरा कर्तव्य है, यह बात मैं सदा स्मरण रखता हूँ। ग्राहकोंके लाभ और उनके हितका व्यवहार ही मैं करता हूँ, यही मेरा धर्म है। वाणिज्यका यह सिद्धान्त अपने-आपमें धर्म है और धर्मनिष्ठ किसी भी गर्वीले तपस्वीसे श्रेष्ठ है। तुलाधार धर्मके उन तत्त्वोंको आत्मसात् कर चुके थे, जो साधकोंके लिये अत्यन्त उपादेय ही नहीं, पालनीय भी होते हैं। अस्तु।

तुलाधारने आगे बताया—'मैं राग-द्वेष और लोभसे दूर रहता हूँ। यथाशक्ति दान करता हूँ और अतिथियोंकी सेवा करता हूँ। हिंसारहित कर्म ही मुझे प्रिय हैं। कामनाका त्याग करके सब प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखता हूँ और सबके हितकी चेष्टा करता हूँ।' (कामना-त्याग निष्काम दिशाकी अन्यतम सिद्धि है।)

जाजलिके पूछनेपर महात्मा तुलाधारने उनको विस्तारसे धर्मका उपदेश किया। उन्हें समझाया कि हिंसायुक्त यज्ञ परिणाममें अनर्थकारी ही हैं। वैसे भी ऐसे यज्ञोंमें बहुत अधिक भूलोंके होनेकी सम्भावना रहती है और थोड़ी-सी भी भूल विपरीत परिणाम देती है। प्राणियोंको कष्ट देनेवाला मनुष्य कभी सुख तथा परलोकमें मङ्गल नहीं प्राप्त कर सकता।' अहिंसा ही उत्तम धर्म है—'अहिंसा परमो धर्मः।'

अब जो पक्षी जाजलिसे उत्पन्न हुए थे, वे बुलानेपर जाजलिके पास आ गये। उन्होंने भी तुलाधारके द्वारा बताये धर्मका ही अनुमोदन किया। तुलाधारके उपदेशसे जाजलिका गर्व नष्ट हो गया। इस कथनसे सिद्ध होता है कि तप ही सर्वोपरि साधन नहीं है, प्रत्युत धर्मपूर्वक वर्णाश्रम कर्तव्योंका यथावत् पालन और निष्कामतापूर्वक जीवन-यापनका कर्मयोगी जीवन आदरणीय है।

(महाभारत, शान्ति० २६१। २६४)

निष्काम-कर्ममय जीवन तथा सेवाके प्रेरक चरित्र

दैन्य-मूर्ति संत फ्रान्सिस

संत फ्रान्सिस मध्यकालीन यूरोपमें सत्यनिष्ठा, दैन्यप्रियता, निष्कामसेवा, त्याग और दयाके मूर्तिमान् सजीव उदाहरण थे। उन्होंने इटलीके असिसाई नगरमें सन् ११८२ ई०में जन्म लिया था। उनका परिवार बड़ा सुखी समृद्ध था, पर उन्हें इस वातावरणमें वास्तविक आत्मशान्तिका दर्शन नहीं हुआ। दीनताका जीवन अपनाकर सत्यपथपर चलना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। उन्हें असिसाई नगरमें भिक्षा माँगते देखकर लोग उनको अपमानित करते थे, कुत्तेकी तरह दुरदुराते थे, कहा करते थे कि शर्म नहीं आती, बड़े घरके होकर भिक्षा माँगते हो ! पर फ्रान्सिसने किसी भी कीमतपर अपनी जीवनसङ्गिनी-दीनताका परित्याग नहीं किया। दीनता प्रभुकी दिशाकी साधना बन जाती है—यदि इसकी वास्तविक चरितार्थता की जाय।

निःसंदेह दीनता उनकी जन्मजात सम्पत्ति थी। अपने लिये कुछ भी शेष न रखकर परमात्मापर पूर्ण निर्भर हो जाना दैन्यका उच्चतम रूप है। दरिद्र-नारायणकी सेवासे आत्मगत दैन्य पुष्ट होता है। फ्रान्सिसके विरक्त जीवनके पहलेकी एक घटना है। उस समय भी वे उदारता और दानशीलतामें सबसे आगे थे। कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ नहीं जाता था। एक समय वे अपनी रेशमी कपड़ेकी दुकानपर बैठे हुए थे। उनके पिता दुकानके भीतर थे। फ्रान्सिस एक धनी ग्राहकसे बातें कर रहे थे कि अचानक दुकानके सामने एक भिखारी दीख पड़ा। बातोंमें उलझे रहनेके कारण फ्रान्सिसको उसका ख्याल नहीं रह गया, वह चला गया।

'कितना भयानक पाप हो गया मुझसे!' वे दुकान छोड़कर भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दुकानपर लाखोंकी सम्पत्ति थी, खुली पड़ी रह गयी। चिंता थी तो भिखारीकी।

आखिर भिखारीको ढूँढ़कर विनम्र वाणीमें उन्होंने कहा—'भाई! मुझसे बड़ी भूल हो गयी। रुपये-पैसेका सौदा ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अंधा हो जाता है। आपने मुझे सेवाका अवसर दिया और मैं चूक गया। फ्रान्सिसने अपने पासके सारे रुपये उसे दे दिये और कोट पहना दिया।

फ्रान्सिसने संतोषकी साँस ली, दरिद्रनारायणकी निष्काम-सेवासे वे धन्य हो उठे। गीतामें भगवान्‌ने ऐसे ही दानको सात्त्विक दान कहा है—**'दीयतेऽनुपकारिणे'**। संत फ्रान्सिसकी एक उपाधि थी—'कोढ़ियोंके भाई'। एक समय वे घोड़ेपर सवार होकर अपनी गुफामें जा रहे थे। थोड़ी दूरपर सड़कपर उन्हें एक कोढ़ी दिखायी पड़ा। उन दिनों कोढ़ियोंको विशिष्ट कपड़ा पहनना पड़ता था, जिससे लोग उन्हें दूरसे ही पहचानकर दूसरा रास्ता पकड़ लेते थे। संत फ्रान्सिसने घोड़ेको मोड़ना चाहा, पर उनका दयापूर्ण कोमल हृदय हाहाकार कर उठा; ऐसा करना पाप है। कोढ़ी भी परमपिता ईश्वरकी संतान है, अपना ही भाई है। भाई तो भाई ही है, फिर उससे घृणा करना, उसकी सेवासे विमुख होना अधर्म है। फ्रान्सिस चल पडे कोढ़ीकी ओर। निकट जानेका साहस नहीं होता था; कोढ़ीका चेहरा विकृत था; अङ्ग-प्रत्यङ्ग गल गये थे; कहींसे सड़ा रक्त निकल रहा था तो कहींसे पीब चू रहा था। मवादसे उद्वेजक दुर्गन्ध आ रही थी। संत फ्रान्सिस उसके सामने खड़े देख रहे थे। मनने समझाया कि इसे सहायता चाहिये। संतने अपने पासके सारे पैसे कोढ़ीके सामने डाल दिये। वे वहाँसे चलनेवाले ही थे, घोड़ा मुड़ भी चुका था, पर हृदयने पुनः धिक्कारा—भाईके प्रति ऐसा व्यवहार उचित नहीं, इसे पैसेकी आवश्यकता नहीं; अपितु यह सेवाका आकाङ्क्षी है—इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भयानक पीड़ा है। इसे स्नेहशील हृदय तथा कोमल अँगुलियोंके स्पर्शकी आवश्यकता है।

फ्रान्सिस अपने-आपको न रोक सके। वे घोड़ेसे उतर पड़े। 'भाई! आपने मुझे अपने सेवाव्रतका ज्ञान करा दिया। मैं यह भूल गया था। आपने कितना बड़ा उपकार किया है मुझपर।' फ्रान्सिसने कोढ़ीका हाथ पकड़कर चूम लिया। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहलाकर अपनी अङ्गुलियोंको पवित्र कर लिया। कोढ़ीके घाव उनकी सेवासे ऐसे दीख पड़े, मानो वे अमृतसे सींचे गये हों। संत फ्रान्सिसकी निष्काम-सेवा-भावना कितनी पवित्र थी। 'कोढ़ियोंके भाई'—नाम उनके लिये कितना सार्थक हो गया। सेवासे निष्कामता अधिक प्रबल होकर साधन बन जाती है।

संत देवजान सकल्वी

सिकन्दरके समयमें यूनान देशमें देवजान सकल्वी नामक एक हकीम हुए हैं। वे बड़े विरक्त और वैराग्यवान् थे। वे जन्मभर ब्रह्मचारी रहे। उन्होंने अपने रहनेके लिये कोई मकानतक नहीं बनवाया। वे कभी एक स्थानपर भी न रहे। कभी जंगलमें, कभी मैदानमें, कभी नदीके किनारे और कभी वृक्षके नीचे रह लेते। विना अपने मतलबके वे किसीसे बोलते-चालते भी न थे। जब उनको भूख लगती, तब किसी-न-किसीसे माँगकर खा लेते थे। अमीरके उत्तम भोजन और गरीबकी सूखी रोटीको बराबर ही समझते थे, सिर्फ पेट भरनेसे उनका मतलब रहता था। हमेशा नग्न रहते थे, लंगोटीतक नहीं बाँधते थे।

एकबार किसीने उनसे कहा—'तुम कपड़ा पहनकर अपने शरीरको क्यों नहीं ढाँपते?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिसमें कोई ऐब होता है, वही अपने ऐबको छिपाता है, जिसमें ऐब न हो, वह क्या छिपाये?' वह व्यक्ति इस जवाबको सुनकर चला गया। वे नित्यप्रति एक नानबाई (तदूरवाले)की दूकानपर रोटी माँगकर खाते थे, उस नानबाईके यहाँ रोटी खाते हुए जब कई दिन गुजर गये, तब एक दिन नानबाईने उनसे कहा—'तुम रोज ही रोटी खानेको आ जाते हो?' फकीरने कहा—'तू रोज ही रोटी पकाता है और हमको रोज ही भूख लगती है, तब खायें नहीं तो क्या करें?' नानबाई हँस पड़ा; परंतु उसी दिनसे उन्होंने उसकी दूकानपर जाना छोड़ दिया। इधर-उधरसे माँगकर जो मिल जाता, उसीसे पेट भर लेते। नानबाईने उनकी बहुत खुशामद की, पर वे पुनः उसकी दूकानपर नहीं गये।

एक दिन एक आदमीने उनसे कहा—'तुम अपना घर क्यों नहीं बनाते?' उन्होंने कहा—'घर तो वह बनाये जिसका घर गिरा हो या जिसका अपना घर न हो। जिन लोगोंके परलोक सम्बन्धी सच्चे घर गिरे हुए हैं, वे ही वे इन झूठे घरोंको बनाते हैं। हमारा घर ऐसा है जो कभी गिरनेवाला नहीं है, फिर हम बने हुएको क्या बनावें?' दूसरे हमारा घर तमाम दुनिया है, जिसमें आकर करोड़ों आदमी आराम पाते हैं। जब हमारा इतना बड़ा घर है तब हम और घर क्या बनायें। हमारा घर इतना बड़ा है कि तमाम जमीन इसका आँगन, सहन है, आसमान जिसकी छत है, ऐसा घर तो किसी भी आदमीसे बन ही नहीं सकता।'

एक दिन वे एक जंगलमें लम्बे पड़े थे। इतनेमें ही सिकन्दरने आकर इनको लात मारकर कहा—'उठो जल्दी (रास्ता छोड़ो)। हमने एक मुल्क फतह कर लिया है। इसपर लम्बे पड़े-पड़े ही उन्होंने कहा—'मुल्कका फतह करना तो बादशाहोंका एक शऊर (नशा) है, इसमें नयी बात क्या है! पर इससे मुझे क्या लेना-देना है?' यह सुनकर सिकन्दर हतप्रभ रह गया और उसने पूछा—'इतनी बेपरवाही तुमको कहाँसे मिली?' संतने कहा—'सब्र (संतोष) करने और ख्वाहिशों (कामनाओं)के छोड़नेसे।

एक दिन किसी आदमीने उनसे पूछा कि 'दुनियामें कोई तुम्हारा सम्बन्धी भी है या नहीं?' उन्होंने कहा—'तमाम दुनियाके लोग अपने ही सम्बन्धी हैं। इसलिये मैं किसीको अपना (दूसरी बार) सम्बन्धी नहीं बनाता।' इसपर उसने कहा—'जब तुम मरोगे, तब तुमको दफन कौन करेगा?' उन्होंने तुरंत कहा—'जिसको हमारे मुर्देकी सड़ी गन्ध आयेगी, वही दफन करेगा। इसका तुमको क्या गम और हमको क्या फिकर है?' निष्काम संतकी आसक्ति-शून्य तथा निर्लेप अटपटी वाणीमें जीवन और जगत्‌का मर्म सुनकर वह व्यक्ति श्रद्धावनत हो गया।

कर्मयोगकी विशेषता—सामान्य समीक्षा

[कर्मयोगो विशिष्यते—गीता ५ । २]

(१)

(लेखक—आचार्य पं० श्रीराजवलिजी त्रिपाठी, एम्०ए०, साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री, व्याकरणशास्त्राचार्य)

मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है । यह सृष्टिका शृङ्गार है; क्योंकि यह अपने 'स्व' को सँवारता है । इसका सँवारा हुआ 'स्वरूप' ही परमेश्वर है, परात्पर परब्रह्म है—जो हमारे भीतर है । वह 'सत्-चित् आनन्दरूप' है और मानवका वही चरम प्राप्तव्य भी है । भगवान्‌ने निज-शक्तिसे वृक्ष, सरीसृप, पशु, खग, दंश, मत्स्यादिकी सृष्टिकर जब संतोष-लाभ नहीं किया, तब उन्होंने स्वात्मस्वरूपको पहचाननेवाले मनुष्यकी सृष्टि की; इससे उन्हें प्रसन्नता हुई—**मुदमाप देवः**[1] । निदान, मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य 'स्वात्मबोध' हुआ । यही कारण है कि मननशील[2] मानव स्वभावतः और विचारतः शाश्वत जीवनके मूलभूत—सत् (सत्ता), सर्वाधिक समझदारीका चित्' (चेतनता) और नित्य-सुख 'आनन्द' (आनन्दताकी पराकाष्ठा)के रूपका घनीभूत स्वरूप 'सच्चिदानन्दघन' चाहता है । यह इसलिये भी चाहता है कि अन्य योनियोंकी भाँति इसके जीवनका लक्ष्य या फल विषय-भोग अथवा अस्थायी, स्वल्प सुखदायक स्वर्ग भी नहीं है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है—**'मानुष जनम दुरलभ अहै, बहुरि न दूजी बार**; क्योंकि यह मनुष्य-जन्म बड़े भागसे कभी प्राप्त हो जाता है—**'बड़े भाग मानुष तन पावा'** अथवा **'कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।'**[3] अतः मनुष्य-जीवनका लक्ष्य उच्च है, जो मोक्ष है; किंतु वह स्वरूप-बोधके सिवा और कुछ नहीं है । उसे ही आत्मदर्शन, कैवल्यप्राप्ति, ब्रह्मात्मैक्य, स्वरूपमें अवस्थिति, मुक्ति अथवा चरम और परमसिद्धि कहा गया है । पुरुषार्थचतुष्टयकी सफलताकी चरम निष्पत्ति उसीमें हो जाती है । वही मनुष्य-जीवनकी सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है ।

उस सिद्धिकी प्राप्तिके लिये हमारे तत्त्वदर्शी प्राच्य ऋषि-मनीषियोंने तत्त्वान्वेषण कर जो तीन साधन-पद्धतियाँ निर्धारित की हैं, वे हैं—(१) कर्मपद्धति, (२) उपासना-पद्धति और (३) ज्ञान-पद्धति । ये लक्ष्य-साधनाकी परम्परामें चरम स्थिति होकर निष्ठाएँ बन जाती हैं । मूलतः (१) कर्मनिष्ठा, (२) भक्तिनिष्ठा या उपासना-निष्ठा और (३) ज्ञान-निष्ठाकी प्रतिष्ठा हो गयी है । भारतीय मोक्षधर्मकी ये निष्ठाएँ शास्त्रोंमें और साधकोंमें अत्यन्त समादृत हैं । श्रीमद्भागवत-(१० । २० । ६)मे श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥[4]

'प्रिय उद्धव ! मैंने ही वेदोमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारि-भेदसे तीन प्रकारके योगोंका (साधनाका) उपदेश किया है । वे हैं—(१) ज्ञानयोग, (२) कर्मयोग और (३) भक्तियोग । मनुष्यके परमकल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है ।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने तीनोका सामान्य विवेचन इस प्रकार किया है—

१—श्रीमद्भागवत ११ । ९ । २८ । २—'मननान्मनुष्यः (निरुक्त यास्कः) । ३—विष्णुपुराण । ४—ठीक इसी आशयका देवीभागवतका यह श्लोक भी है—

मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप । कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम ॥

'उद्धवजी! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है—उनमें दुःख-बुद्धि नहीं हुई—वे सकाम-व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं—'कर्मयोगस्तु कामिनाम्।' किंतु जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है। कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार (साधकको) तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय। उद्धव! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थित रहकर योगोंके (भक्तियोग-कर्मयोगोंके-) द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके (आसक्तिरहित होकर) मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर केवल विहित कर्मोंका ही (अनासक्तभावसे) आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता—उसके लिये कर्म बन्धन-कारक नहीं होता। अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला ऐसा पुरुष इस शरीरमें रहते-रहते ही निषिद्ध-कर्मका परित्याग कर देता है और रागादि मलोंसे भी मुक्त—पवित्र हो जाता है। इसीसे अनायास ही उसे आत्म-साक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुतचित्त होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त होती है—ज्ञान-निष्ठा अथवा भक्ति-निष्ठा प्राप्त हो जाती है।

निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ मुख्यतः ज्ञान-निष्ठा तथा भक्तिनिष्ठाको प्रतिपादित करते हुए (सकाम) कर्मयोगको गौणरूपमें रखा है एवं उनकी प्रकृत व्याख्या-में 'भक्ति-निष्ठा' अत्यन्त उत्कृष्ट रूपमें—प्रभुप्रीतिमें पर्यवसित होकर अद्वितीय बन गयी है; उदाहरणार्थ यथा—'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्'[8] और 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञान-मलं निरञ्जनम्'[9]—जैसे वाक्य उद्धरणीय हैं, फिर भी श्रीमद्भगवद्गीता-(२।३)में श्रीकृष्ण भगवान्ने ही स्वयं पहले अपने द्वारा जिन दो ही प्रकारकी निष्ठाओंकी बात दुहरायी है उनमें ज्ञानयोग और कर्मयोगकी ही चर्चा की है, भक्तिकी नहीं; देखिये—

५—यह ध्यातव्य है कि 'कर्मयोग' पहले सकाम-कर्मसे सम्बद्ध था, जैसा कि मनुके 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः (२।२) और भागवत (११।२०।७)के 'कर्मयोगस्तु कामिनाम्' वाक्योंसे स्पष्ट है; परन्तु यज्ञादि सकाम-कर्म होते हुए भी बन्धनकारक नहीं माने जाते थे। गीता-(४।९)में इसका उल्लेख 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' से किया गया है; अर्थात्—'यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मोंसे यह लोक बँधा हुआ है।' मीमांसकोंका प्रतिपादन भी ऐसा ही है। गीता निष्काम-कर्मको बन्धनकारक नहीं मानती और गीताका कर्मयोग निश्चितरूपसे निष्काम ही है, जो चरमसाधना या निष्ठा है।

६—संन्यास-मार्गकी ओर संकेत है। ७—भक्ति-निष्ठाकी अवतारणासे तात्पर्य है।

८—श्रीहरि निश्छल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, अन्य सभी साधन विडम्बना है (श्रीमद्भा० ७।७।५२)।

९—निष्कामता-पूर्ण ज्ञान भी भगवद्भक्ति-भावसे रहित होनेपर पूर्णतः सुशोभित नहीं होता (१।५।१२ तथा १२।१२।५२)।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

'हे निष्पाप अर्जुन ! मैंने इस लोकमें श्रेयः-सिद्धिके लिये दो प्रकारकी निष्ठा कही है, सांख्योंके लिये ज्ञानयोग और योगियोंके लिये कर्मयोग ।'

आगे चलकर वहीं उन्होंने मुक्ति-साधनके रूपमें ज्ञानयोगके साथ कर्मयोगकी तुल्ययोग्यता (**निःश्रेयसकरावुभौ**) बताते हुए विश्व-व्यवस्थिति अथवा लोकसंग्रहके मङ्गलमय दृष्टि-प्राधान्यसे उन दोनों निष्ठाओंमें कर्मयोगकी विशिष्टता भी निरूपित कर दी है—**'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** अर्थात्—'स्वरूपतः कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग—निष्कामभावसे अनासक्त रहकर जीवनपर्यन्त कर्तव्य कर्म करते रहना—विशिष्ट है, श्रेष्ठ है ।' कल्याणकारी तो समानरूपसे दोनों ही हैं, किंतु लोकसंग्रह अथवा विश्व-व्यवस्थाके सार्वजनीन (सर्वकल्याणकारी) पक्षके इस ओर होनेसे एवं सुगमताकी दृष्टिसे यह कर्मयोग विशिष्ट और श्रेष्ठ हो गया है । यही श्रीकृष्ण भगवान्का 'निजी मत' है और इसे ही उन्होंने 'उत्तम-रहस्य', 'सर्वगुह्यतम' अथवा **'मे परमं वचः'**, 'परम गुह्य' कहा है ।[10]

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि गीताका यह कर्मयोग अथवा कर्मनिष्ठा श्रीमद्भागवतके प्रकृत कामना-परक कर्मयोगकी अपेक्षा कहीं अधिक सुपरिष्कृत है । कहना चाहिये कि 'निष्कामता' की यही विशेषता कर्मयोगका सर्वोत्तम सँवारा हुआ स्वरूप है, जिसमें भक्तिनिष्ठाका सम्मिश्रण 'सोनेमें सुगन्ध' हो गया है । इस रूपमें कर्मयोगको लाकर ज्ञाननिष्ठाके समकक्ष चरम निष्ठाका पद देने एवं उसे विशिष्ट मान्यता प्रदान करनेका सर्वाधिक श्रेय श्रीकृष्णद्वारा गीत श्रीमद्भगवद्गीताको ही है । वस्तुतः ज्ञान-भक्ति-मिश्रित निष्कामता-विशिष्ट कर्मयोगका प्रधान प्रतिपादक ग्रन्थ गीता ही है—यद्यपि इसका मूल ईशावास्योपनिषद्[11], श्वेताश्वतरोपनिषद्[12], तैत्तिरीयोपनिषद्[13] आदि कतिपय वैदिक ग्रन्थोंमें एवं महाभारतमें वर्णित भागवतीय धर्म या नारायणीयाख्यान—(महाभा० शा० ३४८-७४)में भी विस्पष्टरूपमें विद्यमान है—**'सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः ।'** भागवतधर्मको तो कर्मयोगका सुपरिष्कृत स्वरूप ही समझना चाहिये । मूलतः गीताका कर्मयोग भागवत धर्म ही है ।

वास्तवमें कर्मनिष्ठामें आदर्श भक्तिका समन्वय हो जानेसे गीताका कर्मयोग पूर्णतः भागवतधर्म हो गया, जिसे नारायणीय-धर्म भी कहते हैं; क्योंकि इसका उपदेश स्वयं श्रीनारायणने ही सर्वप्रथम भगवान् विवस्वान्को दिया था, जिसकी परम्परा मनु, इक्ष्वाकु-प्रभृति राजर्षियोंसे होती हुई 'विदेह' (जनक) तक चलती आकर परिनिष्ठित (अन्तिम) रूपमें विकसित हो गयी । किंतु बहुत समयके बाद कर्मयोगका वह स्वरूप नष्ट हो गया था, जिसे श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देकर पुनरुज्जीवित (नवीनीकृत) कर दिया । यही क्यों, गीतामें कर्मयोग ज्ञानभक्तिसे युक्त तथा निष्कामता एवं अनासक्तिसे मिश्रित और लोकसंग्रह अथवा भगवदर्पणके महान् उद्देश्यपरक हो जानेसे विशिष्ट या सर्वश्रेष्ठ हो गया है । इसकी अतीत परम्परा ही इसमें प्रमाण है[14] ।

१०—द्रष्टव्य—गीता ३, ३१ । ४, ३ । ९, १ । १०, १ । १५, २० और १८, ६४ ।

११—देखिये मन्त्र २—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः' इत्यादि ।

१२—द्रष्टव्य—६ । ४—आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥

१३—१—९ को देखिये; विद्याके साथ-साथ स्वाध्याय आदि कर्म करना चाहिये—'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' इत्यादि ।

१४—द्रष्टव्य—गीता ४ । १, २ और महाभारतमें वर्णित भागवतधर्मकी त्रेतायुगीन परम्परा और वैशम्पायनका यह कथन कि 'गीतामें भागवतधर्म ही बतलाया गया है' (महाभा० शा० ३४६, १०) ।

मनु, इक्ष्वाकु, जनक प्रभृतिके जीवनका अध्ययन करनेपर हमें विदित होता है कि इनमें ज्ञान-भक्ति-मिश्रित कर्मनिष्ठाकी मान्यता ही नहीं थी, प्रत्युत अनुष्ठेयता (व्यावहारिता) भी रही है। यदि हम मनु-प्रभृतिका ही निदर्शन मानें तो उनकी भक्ति-परायणता 'मानस'के एकाधिक मार्मिक संदर्भोंके रूपमें सामने उभरी दीखती है और मनुस्मृति-वृद्धमनुके उपज्ञ (प्रथमाचार्य) होनेके नाते वे स्वयं विश्व-व्यवस्थाके विधि-विधायक होनेसे लोकसंग्रही-रूपमें भी सबके सामने आते हैं। इसी प्रकार जनककी उपनिषत्प्रसिद्ध ज्ञानगरिमा गीता-(३। २०) के **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'**से कर्म-निष्ठामें समंजस दीखती है। फलतः भक्त ज्ञानी तो होता ही है, वह लोकसंग्रही कर्मयोगी भी होता है। कोई भी भक्त इन दोनोंसे भिन्न नहीं देखा जाता। इसीलिये वह **'निज प्रभुमय देखहिं जगत'** में ज्ञानी और **'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'** की भावनामें अनन्य आदर्श भक्तिकी भूमिका निभाते हुए लोक-संग्रहके उपयुक्त कर्तव्यमें लगा रहता है। **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गी० १२। १३) उसका स्वभाव ही बन जाता है। यही कारण है कि भक्तिको भगवान् श्रीकृष्णने अलग निष्ठा रखनेकी अपेक्षा ज्ञान और कर्मयोगके साथ इस प्रकार समन्वित कर दिया है कि दो ही निष्ठाएँ (ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा) माननेपर भी भागवतकी भक्ति-निष्ठाकी मान्यता अव्याहत (अबाधित) ही रहती है। स्यात्, इसीलिये गीतामें भक्तियोग 'कर्म-षट्क' और 'ज्ञान-षट्क'के मध्यमें भावयोगका हृदय बनकर सर्वथा संवेदनशील हो गया है।[१५] यही कारण है कि हमारी मान्यता है कि गीताका निष्कामकर्मयोग सर्वथा भक्ति-मिश्रित है[१६]। उपनिषदोंका ब्रह्मज्ञान तथा कापिल-सांख्यके क्षर-अक्षर-विचार तो कर्मयोगकी आधारशिला ही हैं। पातञ्जलयोग भी साधनावस्थामें कर्मयोगका उपजीव्य (साधन या सहायक) है। सच तो यह है कि गीताके कर्मयोगमें सबका संयोजन-समन्वयकर शास्त्रीय रीतिसे उसे परिनिष्ठित (अन्तिम रूपमें) निष्ठाका स्वरूप दे दिया गया है; अतएव निःसंदिग्धरूपसे कहा जा सकता है कि गीताका कर्मयोग अन्यतर (ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा—इन दोनोंमें एक) अन्तिम निष्ठा या चरम साधनावस्था है, जिसके बाद मोक्षकी प्राप्ति सुतराम् सुगम हो जाती है—ठीक वैसे ही जैसे ज्ञाननिष्ठासे कैवल्य मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार कर्मयोगका विशेष विकास और विवेचन गीतामें ही हुआ है।

अत्यन्त प्राचीन कालमें वैदिक धर्म कर्म-प्रधान था और कर्मयोग शब्द काम्यकर्मों—यज्ञादि कर्तव्योंके लिये

१५—आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने गीताके १८ अध्यायोंमें प्रथम छः अध्यायोंको कर्मषट्क, दूसरे षट्कको उपासनाषट्क और तीसरे षट्कको 'ज्ञानषट्क' माना है। देखिये श्रीमद्भगवद्गीता उपोद्घात २–४

सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णोः परं पदम्। यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः॥
कर्मोपास्ति तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात्। तद्रूपाष्टादशाध्यायैर्गीता काण्डत्रयात्मिका॥
एकमेकेन षट्केन काण्डत्रयोपलक्षयेत्। कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः॥
यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः। भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता॥

कर्म और ज्ञानके मध्य 'उपासना' या भक्तिषट्कका सन्निवेश भक्तिकी कर्म और ज्ञान उभयमें व्याप्ति और उपादेयता सूचित करता है। १६—इस सम्बन्धका सुन्दर पठनीय प्रतिपादन 'गीतोक्त निष्काम-कर्मयोग'में परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने भी किया है। देखिये—इसी अङ्कमें पृ० सं० २६ पर 'गीतोक्त निष्कामकर्मयोगका स्वरूप' लेख।

प्रचलित था। मनुने (२।१९७) इसी पुराने अर्थमें **'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।'** (अर्थात् वेदोंकी (सम्पूर्ण) स्वीकृति, तदनुरूप क्रियायोग यानी क्रिया-कलापसम्पन्न करना कामनामूलक ही है) कहा है। उस समय न तो ज्ञानकी उतनी प्रतिष्ठा हो पायी थी कि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** तथा **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** का नितरां विवेचन किया जाय और न भक्तिकी ही प्रतिपादित प्रौढ़ि थी कि **'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।'** का ही दृढ़तासे प्रतिपादन किया जाय। वेद-संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कर्मकी मीमांसा और कर्म-प्रधान धर्मोंका प्रतिपादन किया गया था जो यज्ञादिकी महिमामें कृतार्थ थे। उन्हें 'त्रयीधर्म' कहा जाता था; क्योंकि तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति इन्हीं कर्मधर्मोंकी ओर अधिक थी। आगे यों र वेदान्त-उपनिषदोंसे उपजीवित ज्ञानमार्ग और आगमों एवं भक्तिसूत्रों (नारदभक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रों) से उपोद्बलित भक्तिमार्ग अत्यन्त प्रसिद्ध होते गये। आचार्य शंकरके समयमें ज्ञानमार्ग परमोत्कर्षपर आ गया और आचार्य रामानुजने भक्तिकी निष्ठान्त व्याख्या कर उसकी पद्धतिको अत्यन्त परिमार्जित कर दिया। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो भक्तिविषयक 'अपेल' सिद्धान्त ही प्रस्तुत कर दिया—'बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।' किंतु कर्ममार्ग अथवा प्राचीन कर्मयोगका परिष्कार भगवान् श्रीकृष्णने इस कौशलसे किया कि उसमें ज्ञानका आधार और भक्तिका सम्मिश्रण तो हुआ ही, लोक-संग्रहके पक्षमें निष्काम कर्मकी कर्तव्यता भी उद्दीप्त हो उठी। लोक-संग्रहमें विश्व-व्यवस्थाकी प्रेरिका प्रभु-प्रीति हुई, लौकिक कामना या फलेच्छा नहीं। आसक्ति, अकर्मण्यता एवं फलाधिकारिताके साथ कीर्ति-लिप्सा या लोकैषणा भी निष्काम कर्मयोगकी पद्धतिमें बाधा मानी गयी। अतः कर्मयोगका निखरा हुआ स्वरूप इस रूपमें प्रतिष्ठित हो गया—'जीव, जगत् और ईश्वरके ज्ञान हो जानेपर कर्मफलकी इच्छाको त्यागकर लोकसंग्रह (विश्व-व्यवस्था) अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे अनासक्तरूपमें अर्थात् कर्म-फलसे मनका लगाव न रखकर कर्तव्य कर्मोंको जीवन-पर्यन्त करते जाना निष्काम कर्मयोग है, जो निःश्रेयसकी अन्यतर अन्तिम साधनावस्था या निष्ठा है। (क) यतः विश्व-व्यवस्थिति भगवत्कार्य है और (ख) भगवत्सृष्ट वर्णाश्रमधर्म व्यवस्थाकी चरितार्थता इस कर्मयोगमें ही व्यवस्थितरूपमें निर्वहित होती है, अतः यह ज्ञान-निष्ठाकी अपेक्षा विशिष्ट है; **'कर्मयोगो विशिष्यते'** का तात्पर्य इसी दिशाका है। इसीका समर्थन करते हुए सूर्यगीत-(४।४७)ने इसको जाननेवालेको उत्तम पुरुष कहा है—

ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात्।
इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः॥

(अगले अङ्कमे समाप्य)

'यथाशक्ति करना निष्काम'

जीवनके सर्वोत्तम काम।
सत्पुरुषोंकी संगति करना, मुखसे जपना हरिका नाम॥
सदा पवित्र कर्म ही करने, तजने खोटे कर्म तमाम।
विषयोंका चिन्तन तज मनसे, भजना प्रभुका रूप ललाम॥
कभी किसीका जी न दुखाना, करना सबका ही सुख धाम।
सबकी सेवा तन-मन-धनसे यथाशक्ति करना निष्काम॥

—श्रीभाईजी (पदरत्नाकर–१३८१)

नम्र-निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

श्रीहरिकी अहैतुकी कृपासे सम्पादित-प्रकाशित निष्कामकर्मयोगाङ्कको अपने सहृदय पाठक, ग्राहक, अनुग्राहकों एवं मनीषी लेखकोंके हाथोंमें समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। इन विषम परिस्थितियोंमें, विघ्न-बाधाओंके बावजूद, हम उनकी प्रेममयी पुण्यतोयामें पावन अवभृथ—यज्ञान्त-स्नानके भाजन हो रहे हैं और कुछ समसामयिक अपेक्षामें निवेदन करनेका अवसर प्राप्त कर सके हैं। अस्तु !

देश और धर्ममें तथा व्यापक दृष्टिसे देखनेपर विश्वभरमें आज वैमनस्य, नैराश्य, आलस्य और अकर्मण्यताके साथ धार्मिक कुण्ठा व्याप्त हो गयी है। धर्मालोक क्रमशः क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम होता चला जा रहा है और मानव लक्ष्यच्युत होकर स्वार्थप्रेरित ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा और कलह-कोलाहलके कारण दिग्भ्रममें पड़कर अधःपतनके गर्तमें गिरना ही चाहता है। अतः आज वास्तविक पथ-प्रदर्शनकी नितान्त आवश्यकता, अपेक्षा या अनिवार्यता है।

'कल्याण' आरम्भसे ही विश्व-कल्याणकी चिन्तनामें, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और धर्म्य सदाचारके प्रसारद्वारा विश्वमङ्गलकी कामनाके साथ यथाशक्ति चेष्टाकी परम्परा रखता चला आया है। उसी परम्पराकी कड़ियोंमें संदर्भ-ग्रन्थभूत उपादेय विशेषाङ्क भी जुड़ते चले आये हैं। इस वर्षका यह विशेषाङ्क समसामयिक संसारकी कल्याण-भावनासे कर्मण्यता, निष्कामता और निष्कामता-पूर्वक लोक-संग्रहके प्रचारोद्देश्यको ध्यानमें रखकर प्रकाशित किया गया है। जीवनकी चरम साधना-त्रयोंमें जैसे ज्ञान और भक्तिकी उपयोगिता है, वैसे ही उन दोनोंसे संवलित निष्काम कर्मयोगकी भी उपादेयता है। इसका प्रवर्तन भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं किया था और पुनः गीताकालमें बड़े ही मनोयोगसे उसका पुनः कथन किया—

'स एवायं मया तेऽद्य योगःप्रोक्तः पुरातनः।'

यदि हमारे कृपालु ग्राहक-अनुग्राहकों और पाठक-पाठिकाओंने इसके अध्ययन, मननसे धर्म्यपथ-प्रदर्शन पाकर लोक-परलोकके सुधारनेमें प्रवृत्ति-लाभ किया तो फिर सारा-का-सारा यह प्रयासयज्ञ सफल समझा जा सकेगा; ऐसे तो हम कर्तव्य-मात्रसे और निष्कामभावसे भगवदर्पित इस प्रयासको सफल ही समझते हैं; क्योंकि—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

पूज्य आचार्यों, संत-महात्माओं और अधिकारी विद्वान् लेखक महानुभावोंके तो हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं और उनके प्रति श्रद्धा-विनयसे अवनत होकर **'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम'** कहकर त्रुटियोंके लिये—चाहे वे स्थान-निवेश अथवा संक्षेपण-संशोधन अथवा अन्य कारणोंसे जन्य हों—क्षमा-याचना करते हुए विलम्बके लिये ग्राहकोंसे भी क्षमाप्रार्थी हैं। हमारे सहयोगियों, टंकण-मुद्रण-कर्मचारियों और कागजकी सुविधा देनेवाली सरकारने जो स्तुत्य सहयोग किया है, उसके नाते हम सबके हृदयसे आभारी हैं।

पूर्णता पूर्ण परमेश्वरकी है; निमित्तता हमारी है अपूर्णता तो सम्पूर्णतः हमारी ही है, फिर भी—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण[illegible]
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा[illegible]

॥ शम् ॥

मोती

काल है। अन्तःकरण कल्पनाके संश्लेषण और आत्मज्ञानकी एकतासे अनिवार्यतः सम्बद्ध है। जीवात्माका ज्ञानकाल कल्पनाके संश्लेषण और आत्मज्ञानकी एकताके बिना सम्भव नहीं। कॉन्टका कहना है कि आत्मज्ञानकी एकता आभास-जगत्का मूलाधार है और आत्मा परमार्थतः एक स्वतः सद्वस्तु है, किन्तु वह अज्ञेय है, अनिर्वचनीय है। उसका ज्ञान शुद्ध बुद्धिसे नहीं हो सकता (**न मेधया**)। उसे हम किसी तरह नैतिक ज्ञानसे समझते हैं। पर नैतिक ज्ञानकी यह सम्बन्ध-बुद्धि नियमानुसार नहीं है। सामान्य आत्मज्ञान हमारे समस्त बौद्धिक ज्ञानमें निहित है, जो हमारे विषय-ज्ञानको संभव बनाता है। किन्तु यह केवल 'मै हूँ'का बोध है—'मै हूँ,' यह क्या है —इसे नहीं बताता। कॉन्ट इसे ही शुद्ध आत्मा या 'मै सोचता हूँ' (चेतन) कहते है।

कॉन्टकी ख्याति पश्चिमी जगत्में उच्चकोटिके दार्शनिकके रूपमे है—प्रायः जैसे भारतमें आचार्य शंकरकी है। दोनो दार्शनिकोंके विचारो (सिद्धान्तों)-में सारगर्भित दूरगामी साम्य पाया जाता है। डा० राधाकृष्णन् अपने 'भारतीयदर्शन'में लिखते हैं कि 'शंकरके ज्ञान-विषयक सिद्धान्तकी तुलना प्रायः कॉन्टके सिद्धान्तके साथ की जाती है। किन्तु इन दोनोंमें जहाँ अद्भुत समानताएँ है, वहाँ बहुत दूरतक भेद भी है।' लोकमान्य तिलकके कॉन्टके नीतिशास्त्रसे गीताके निष्काम-कर्मयोग या लोकसंग्रही कर्तव्यकी तुलनासे यह निष्कर्ष निकलता है कि गीताका निष्कामकर्ममार्ग कॉन्टके 'कर्तव्यके लिये कर्तव्य'के सिद्धान्तसे सर्वथा मिलता-जुलता है। निःसंदेह कॉन्टका दर्शन भारतीय दर्शनसे प्रभावित है और उसका चिन्तन शांकर-सिद्धान्तानुसार है—यद्यपि शैलीमें सूक्ष्म दृष्ट्या भेद भी है।

क्षमा-याचना एवं नम्र निवेदन

मानसके उपजीव्यभूत अध्यात्मरामायणपर विशेषाङ्क प्रकाशित करनेके प्राथमिक प्रस्तावके—साधक-बाधक प्रश्नोंपर विचार-विमर्शके बाद भगवत्तत्त्वाङ्क निकालनेका निर्णय किया गया और तदनुरूप विषयसूची प्रस्तुतकर उसे पूज्य आचार्यों, श्रद्धेय सन्त-महात्माओ एवं मान्य मनीषी लेखकोंकी सेवामे तदनुसार लेखार्थ प्रेषित किया गया। फलतः कृपालु आचार्यों, महात्माओ एवं लेखकोने अनुग्रहकर लेखादि प्रेषित किये। हमने वैषयिक, क्रमिक तारतम्यका ध्यान रखते हुए प्राप्त लेखोंको संयोजित किया। भगवत्तत्त्वाङ्क अब आपकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें जो कुछ अच्छाई है वह भगवत्कृपा-लभ्य आचार्यों, सन्तों, महात्माओ और मनीषी लेखकोंके अनुग्रहसे प्रसूत हैं और जो त्रुटियाँ, कमियाँ हैं वे सब हमारी अल्पज्ञता या कमजोरीकी प्रतिप्रसूत हैं। हम तदर्थ क्षमा-प्रार्थी है।

शास्त्रोंके परिशीलनसे यही निचोड़ निकलता है कि तत्त्वदर्शियोंने इस दृश्यमान सृष्टिके मूलमें जिस अद्वितीय नित्य तत्त्वकी अनुभूति की उसे ही भगवत्तत्त्वसे जाना गया। वह मूलमें शाश्वत सत्यके अर्थमें 'सत्' था अथवा अव्यक्त तत्त्वके अर्थमें 'असत्' से कहा गया। वह 'चित्' और 'आनन्द'का उपलक्षक भी था। अतः वह तत्त्व-चिन्तन-सरणीमें 'सच्चिदानन्द'रूपमें परिनिष्ठित हुआ। फलतः भगवत्तत्त्व सच्चिदानन्दरूप माना गया, जो 'ब्रह्म'के स्वरूप-निर्वचनमें साकेतिकरूपसे व्यवहृत होता चला आ रहा है। आगे चलकर ब्रह्म भगवत्तासे परिचेय होनेके कारण भक्तोके लिये 'भगवान्' बना; क्योंकि सच्चिदानन्दघनका साकार विकास *'सोऽइ सच्चिदानन्दघन'* श्रीराममें एवं **'पूर्णं ब्रह्म सनातनम्'** वाले श्रीकृष्णमें देखा गया। अन्य अवतारोंमें भी भगवत्तत्त्वके प्रत्यक्ष दर्शन अंशकलादि रूपोंमें हुए।

अतएव शास्त्रों—विशेषतः पुराणोंमें यत्र-तत्र तथा सर्वत्र भगवत्तत्त्वके सन्दर्भमें भगवान् अनेक रूपोंमें अवतीर्ण वर्णित हुए। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहनेवाले भागवतकार श्रीव्यासजीने और तदनुवर्ती व्याख्याकारोंने तो शास्त्र-प्रमाणसे श्रीकृष्णभगवान्‌को ही परमतत्त्व प्रसिद्ध किया। आचार्य मधुसूदन सरस्वती-जैसे अद्वैत-सिद्धान्तके प्रौढ व्याख्याकारकी भावुकताने तो कृष्णसे परे किसी अन्य परमतत्त्वकी मान्यता ही नहीं दी। स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी अपनी दिव्यवाणी-(गीता-) में इसके पोषक वाक्य—'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय' आदि कहकर आधार-भूमिका प्रस्तुत कर दी है। यही कारण है कि हमारे अर्च्य आचार्यों, श्रद्धेय संतों एवं मान्य मनीषी लेखकोंने भगवत्तत्त्वके इस पक्षपर भी विवेचन प्रस्तुत किया है, जिससे भगवत्तत्त्वके प्रत्येक पक्षका प्रतिनिधित्व हो पाया है। वस्तुतः शास्त्रकारोंने भगवत्तत्त्वकी जहाँ भी अनुभूति की है वहीं 'भगवान्' शब्दका व्यवहार किया है; इसीलिये मूलमें सूक्ष्म, सूक्ष्मतररूपमें अनुभूत भगवत्तत्त्व साकाररूपमें भगवत्स्वरूप बन गया और भगवत्तत्त्वका व्यापक क्षेत्र ज्ञान, कर्म और भक्तिके लिये समानरूपसे उपादेय हो गया। इस प्रकार भगवत्तत्त्वाङ्कका भी विषयक्षेत्र विपुल हो गया और उसको सँवारनेके लिये विषयसूचीको व्यापकदृष्टिसे बनाना पड़ा।

यद्यपि सूचीके प्रस्तावित कतिपय शीर्षकोंपर समयसे लेख नहीं आ पाये, फिर भी अपेक्षित विषयोंके विवेचन करनेवाले कुछ संकलित लेख देकर उनकी यथाशक्य पूर्ति करनेकी चेष्टा की गयी है। भगवत्तत्त्वके विविध पक्षोंपर आये लेख अपने-आपमें पूर्ण हैं और पठनीय सामग्री उपस्थित करते हैं—यह संतोषका विषय है। चरित्र और कथाएँ कम आयीं, अतः हम उन्हें साधारण पाठकोंके लिये अपेक्षित मात्रामें न दे सके।

जिन विभागीय सहयोगी विद्वानों, कुशल मुद्रण-कर्मियों तथा अन्य सम्बद्ध कर्मरत अन्तरङ्ग जनोंने विशेषाङ्कके सम्पादन-प्रकाशन-मुद्रण-कार्यमें योग दिया है, उन्होंने वस्तुतः इस ज्ञानयज्ञमें अपने कर्तव्यद्वारा सहयोग देकर प्रभुकृपा प्राप्त की है। अतः उनके लिये साधुवाद मुतराम् पुरस्कृत है। हाँ, जिन पूज्य आचार्यों, श्रद्धेय महात्माओं-संतों तथा विद्वान् लेखकों एवं भगवत्प्रेमी सज्जनोंने जिस किसी प्रकारकी सहायता की है या सहयोग दिया है, उन सबके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन-पुरस्सर हम सादर साधुवाद उपहृत कर रहे हैं।

अन्तमें यह निवेदन करते हुए कि कल्याण-विशेषाङ्कका कार्य प्रभुका कार्य है, उसमें हमारी प्रवृत्ति चाहे जैसी भी रही हो, सर्वथा कल्याण-कारिणी ही सिद्ध होगी; पर हमें अपनी अल्पज्ञताजनित त्रुटियोंके लिये सबसे करबद्ध क्षमा-याचना करनी है। शम्।

—मोतीलाल जालान
(सम्पादक)

त्वमेव सर्वं मम देवदेव !